* ओंनमोभगवतेवासुदेवाय *

भगवद्गीता

भाष्योपेता ।

इमोहपत्तनवास्तव्यश्रीहरिदास
कृतयाज्ञानामृतटीकया समेतम् ।

पण्डित भीमसेन शर्मणा स्वयंकृत टिप्पण्या
सहितं संशोध्य मुद्रापितम् ॥

BHAGWAT GITA

with
The Jnanamrit Hindi Translation

PRINTID AND PUBLISHED
BY
PANDIT BHIMSEN SHARMA
At The Brahm Press—Etawah.

प्रथमवार १०००	वि० संवत् १९६५ सन् १९०८	मूल्य २॥)

उपक्रमणिका

श्रीगणेशायनमः ॥

ओ३म्-नमो भगवते वासुदेवाय ॥

शेषाशेषमुखव्याख्या चातुर्यन्त्वेकववक्त्रतः।
दधानमद्भुतंवन्दे परमानन्दमाधवम् ॥
शुक्लाम्बरधरंविष्णुं शशिवर्णंचतुर्भुजम्।
प्रसन्नवदनंध्यायेत् सर्वविघ्नोपशान्तये ॥

भा०-संपूर्ण प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें विचार शक्ति है और उसी से वह अपनी उन्नति कर सकता है। सब सृष्टि की उत्पत्ति का बीज ब्रह्मरूप ज्ञान है और वह सब में वर्तमान है। परन्तु उसके प्रकाश व वृद्धि के हेतु नर देह ही साधनीभूत है क्योंकि वहीं पर उसे विचार रूप जीवन मिल सक्ता है अंत नहीं। यही ज्ञान सकल लोकहितावतार परम कारुणिक श्रीकृष्ण भगवान् देवकीनंदन ने महाभारत के प्रारम्भ में अर्जुन को उपदेश किया है कि जिससे अर्जुन का शोक मोह दूर हाकर उसको पर धर्म त्यागि के स्वधर्माचरण में दृढ़ प्रीति उत्पन्न हुई और धर्मज्ञान रहस्योपदेश की नौका के द्वारा वह शोक मोह सागर के पार होगया। युद्ध की गड़बड़ व शीघ्रता होने के कारण यह ज्ञान श्रीकृष्ण महाराज ने बहुत ही संक्षेप रूप से कहि पाया था और उसी को श्री व्यासकृष्ण द्वैपायन जी ने ७०० श्लोकों में प्रगट किया है। इन में प्रायः बहुत से श्लोक साक्षात् श्रीभगवान् के मुखारविंद से निकले हैं और कहीं उक्त व्यास जी ने भगवदुपदिष्ट आशय को स्वरचित श्लोकों में प्रगट किया है जैसा कि गीता माहात्म्य में लिखा है॥

गीतासुगीताकर्त्तव्या किमन्यैःशास्त्रविस्तरैः।
यास्वयंपद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

अनेकानेक विद्वज्जन पण्डित महात्माओं ने इस गीता पर अनेक भाषाओं में इस अभिप्राय से टीका किये हैं कि यह अपूर्व ज्ञान पूर्ण रीति से सर्वसाधारण की समझ में आने लगे। प्रथम यह टीका प्रायः संस्कृत भाषा में थे परन्तु इस भाषा का प्रचार कालमान से कम होने लगा तब इतर देश की भाषा में टीका प्रसिद्ध हुए परन्तु कालमान से फिर भी यह गूढ़ ज्ञान गुप्त रहा आया। क्योंकि हम लोग दिवसानुदिवस आत्मविद्या से दूर होते रहे। कतिपय टीका पद्यात्मक होने के कारण समझ में नहीं आते और प्रचलित उर्दू भाषा में इस ग्रन्थ के टीका बहुत कम देखने में आते हैं अतएव मैंने कई टीकों का सार लेकर यह ज्ञानामृत नामी टीका केवल अपने नर जन्म सफल करने के हेतु ऐसी साधारण प्रचलित हिन्दी भाषा में लिखी है कि सब लोग शब्दार्थ सहित उसे समझ लेवें॥

इस गीता के बोध से अर्जुन नारायण रूप होगया और वही पद प्राप्त होने के अनेक मार्ग श्री भगवान् ने इसी ग्रन्थ में बताये हैं। जैसे बन्दूक उठाना व शिस्त मिलाना इन दोनों बातों का शाब्दिक ज्ञान दोचार मिनट में हो सकता है। परन्तु ठीक २ निशाना लगाना बहुत समय के अभ्यास से ही होता है वैसे ही इस गीता शास्त्र के पठन व श्रवण से विद्वान् व बुद्धिमान् को इसका शाब्दिक ज्ञान सहज में हो सक्ता है। परन्तु इस ज्ञान के आचरण करने में बहुत अभ्यास होना चाहिये। इसकी जो अनेक रीति हैं उनमें एक यह है कि जो अपने समझ में आवे उसे औरों को भी समुझावे इससे व परस्पर संभाषण से यह ज्ञान बहुत जल्दी समझ पड़ता है यही बात भगवान् ने अध्याय १८ के श्लोक ६८ में कही है। और इस हिन्दी भाषा में टीका करने का मेरा भी यही मुख्य उद्देश रहा है यह ईश्वरसेवा तथा लोकसेवा है और मैंने अपना

हित इसी में विचारा है। मेरे कतिपय शुभ चिंतक मित्रों का भी यही अनुरोध रहा अतएव अपने उदरपोषणार्थ बृहत् २ कार्य संपादन करते हुए भी मैंने यथाशक्ति थोड़ा२ समय इस महोपयोगी काम में लगाया और सज्जनों से यही आशा रखता हूं कि मेरे इस प्राकृत टीका रूपी दीर्घ प्रयत्न को अवलोकन करके उसमें जो ग्रहण करने योग्य हो सो लेवें और जहां पर कोई दोष समझें तो उन पर लक्ष्य ही न देवें॥

इस गीता में श्रीकृष्णचन्द्र महाराज ने सगुण भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादन की है और यह उपदेश द्वापर युग के अन्त में व कलियुग प्रारम्भ होने के समय किया था। इस से ऐसा जान पड़ता है कि उस के पहिले अधिकांश निर्गुणोपासना का प्रचार था और इस उपासना में बहुत कष्ट व समय लगता था परन्तु उन युगों के मनुष्यों की आयुष्य बड़ी होती तथा बुद्धि-बल अधिक होता था अतएव वे निर्गुणोपासना के द्वारा अपनी मुक्ति का साधन कर सकते थे, सर्वज्ञ श्रीकृष्ण भगवान् ने कलियुग में वे बातें न देख निर्गुणोपासना से सरल अपना स्व-भक्ति मार्ग अर्जुन व उद्धवादि भक्तों को हम शक्तिहीन लोगों के हितार्थ उपदेश किया, यह बात अध्याय १८ के श्लोक ७५ में संजय ने धृतराष्ट्र से कही है, यह संजय श्रीव्यास जी का शिष्य था और गुरुकृपा से उस को ब्रह्म प्राप्ति हो गई थी। परन्तु जो ऐ-श्वर्ययोग भगवान् ने इस गीता में कहा है वह उसे उस समय तक विदित न था अतएव उस ने उसे गुह्य कहा है। इस गुह्य का स्प-ष्टीकरण अध्याय १८ के श्लोक ७५-७६—७७ में किया है॥

सनातन धर्मावलम्बी श्रीमच्छङ्कराचार्य स्वामी जी ने इस भगव-द्गीता का अर्थ निर्गुण परक किया है। अतएव बहुत लोग उसी को श्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि उक्त आचार्य महाराज भगवान् का अव-तार ही माने जाते हैं। अतएव इस बात का निर्णय करना अत्याव-श्यक है कि स्वामी जी ने गीता का अर्थ सगुण पर किस कारण से नहीं किया ?॥

श्रीभगवान् व्यास ने अद्वैत मार्ग की स्थापना की थी परन्तु पीछे से उन्हों ने इस मार्ग का साधन साधारण लोगों के द्वारा कठिन समझा क्योंकि उस के हेतु चित्त की शुद्धि अवश्य है और यह शुद्धि बिना कर्म किये हो नहीं सकती, व्यास जी ने समझा कि साधारण लोग यदि कर्म त्याग के एकदम ज्ञानमार्ग की ओर झुक जावेंगे तो उन की बड़ी क्षति होगी। अतएव उन्हों ने अपने शिष्य जैमिनि ऋषि के द्वारा मीमांसा शास्त्र उत्पन्न करवाया और उस में व्यास जी की आज्ञानुसार ज्ञानमार्ग का खण्डन व कर्ममार्ग का मण्डन जान बूझ कर किया गया। क्योंकि जबतक ज्ञान का खण्डन न होता तो कर्म का मण्डन असंभव था—कर्म करते २ धीरे २ चित्त की शुद्धि हो जाती है तब ज्ञानमार्ग के साधन में कोई अड़चल नहीं पड़ती, केवल इसी उद्देश से जैमिनि जी ने कर्म मार्ग का स्थापन किया था परन्तु अनादि विषयवासना व लोगों की समयानुसार प्रवृत्ति के कारण उस असल उद्देश पर किसी का लक्ष्य न रहा और सब लोग कर्म मार्ग ही को मुख्य कर्त्तव्य मानने लगे यह स्थिति यहां तक बढ़ी कि असल धर्म गुमही होने सरीखा दीखने लगा। तब ईश्वरकृपा से सच्चा धर्म स्थापन करने के हेतु श्रीमच्छङ्कराचार्य जी का अवतार हुआ उस समय के विद्वान् लोग मीमांसा को मुख्य मानकर कर्म शास्त्र में ऐसे प्रवीण हो रहे थे कि उपासना व ज्ञान को मानो परित्याग हीसा कर दिया था। अत एव आचार्य जी को उन लोगों के परास्त करने में विशेष उद्योग करना पड़ा और उपनयन होते ही उन्हों ने संन्यास दीक्षा लेकर अपना अवतार कृत्य प्रारंभ किया अर्थात् उपनिषद् वेदांत सूत्र व गीता शास्त्र इत्यादि के भाष्य तैयार किये और इन भाष्यों में कर्म मार्ग को विशेष श्रेष्ठता न देकर ज्ञान मार्ग की मुख्यता प्रतिपादन की। यद्यपि वेद में कर्म व उपासना व ज्ञान तीनों का प्रतिपादन है। और जिस संबंध का जो कांड है उसका विशेष महत्व उस में वर्णन किया है परंतु आचार्य जी को

उपासना व ज्ञान मार्ग की स्थापना करना था क्योंकि वे प्रायः लोप हो गये थे अतएव उन के उद्धार के हेतु अपने भाष्यों में आचार्य जी को कर्म मार्ग का खंडन करना ही पड़ा और उस समय के कर्म मंडन करने वाले जो मुख्य विद्वान् मंडनमिश्र थे। उनको शास्त्रार्थ में पराजय किया व अपना शिष्य संन्यासी बना लिया इस प्रकार दिग्विजय करके स्वामी शंकराचार्य जी ने कर्म का खंडन व उपासना ज्ञान का मंडन किया और यही उन के अवतार का महत् कर्त्तव्य था। इस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि आचार्य जी ने गीता का भाष्य निर्गुण पर केवल विशेष प्रसंग पर किया था सगुण के खण्डन करने का हेतु उनके मन में लेशमात्र भी न था क्योंकि मोक्ष प्राप्ति के हेतु कर्म उपासना व ज्ञान तीनों की आवश्यकता होती है और इन में ज्ञान भक्ति का अंग होने के कारण श्रेष्ठ है तो भला आचार्य जी महाराज एक का खंडन करके दो का मंडन क्यों करते। इसका कारण ऊपर कहि चुके हैं कि उस समय ऐसा करना उन को विशेष कारण से अवश्य था। उस पर से हम लोगों को ऐसा निश्चय नहीं करलेना चाहिये कि उन्हों ने कर्म का खंडन सर्वथा व निश्चय प्रकारसे करही डाला। देखो यदि आचार्य जी का आशय वास्तव में कर्म उपासना खंडन का होता तो दिग्विजय के पीछे वे बहुत से देवतों के स्तोत्र व भवगन्नाम की महिमा इत्यादि क्यों रचते इस से यही सिद्ध होता है कि जैसे जैमिनि ऋषि के कर्म स्थापन का विशेष व सच्चा आशय न समझ कर पीछे से लोगों ने कर्म ही को प्रधान मान रक्खा था वैसे ही आचार्य जी के ज्ञान स्थापन का विशेष व आवश्यक प्रसंग न समझ कर उन के शिष्य परंपराने ज्ञान ही का अभिमान धारण करके कर्म व उपासना को जड़ मूल से तुच्छ समझ लिया॥

आचार्य जी ने अपना भाष्य बहुत संक्षिप्त इस आशय से किया था कि जिस में वादाविवाद करने पर उस में कोई न्यूनता

एकाएकी पकड़ में न आ सके परन्तु उन के पीछे की ज्ञाना-भिमानी मण्डली ने उन के इस इंगित पर कुछ भी लक्ष्य न दिया व आचार्य जी के संक्षिप्त भाष्य का विस्तार अपनी २ रीति पर करने को उद्यत हो गये, यद्यपि ऐसा करने में उन लोगों को पद पद पै अड़चलें आपड़ीं क्योंकि आचार्य जी का मुख्य उद्देश भी श्री गीता के निर्गुण पर अर्थ करने का तो था ही नहीं परन्तु उनके अनुगामियों ने अपने ज्ञानाभिमान के कारण उस निर्गुण पर अर्थ ही को यहां वहां से जोड़ जाड़ कर दृढ़ किया—यह उन का वालू पर भीत बनाने का ही यत्न था परन्तु उस को समझता भी कौन ?। आचार्य जी के पीछे की मण्डली को परास्त करने के हेतु ईश्वरेच्छा से श्रीज्ञानेश्वर एकनाथ स्वामी, तुकाराम बुवा व श्रीमद्वामन पण्डित इत्यादि बहुत से भक्त लोग प्रगट हुए जिन्होंने श्रुति, स्मृति व शास्त्रादि के आधार से सगुण भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया और श्रीमद्वामन पण्डित ने तो अपनी "यथार्थदीपिका" नामी इस गीता की टीका में उक्त सगुण भक्ति पर मानो कलश ही रख दिया, पण्डितवर श्रीधर स्वामी जी के तिलक का भी यही वृत्तान्त है ॥

इस "ज्ञानामृत" नामी टीका में भी मैंने श्रीराधामाधव जी की प्रेरणानुसार अपनी लघु मति से मुख्यतर उक्त श्रीमद्वामन पण्डित कृत यथार्थदीपिका व श्रीधरस्वामी कृत सुबोधिनी का आशय लिया है और श्रीयुत परिव्राजकाचार्य आनन्द गिरिजीकृत टीका का उपयोग भी कहीं २ करके अन्यान्य टीकाकारों के मत अनेक स्थलों पर उद्धृत करदिये हैं॥

अनेकानेक धन्यवाद मेरे गुरू महाराज श्री १०८ नारायण स्वामी जी श्री—वृन्दावन निवासी को है कि जिन के सदुपदेश ने मेरे मलिन अन्तःकरण में श्री—युगलमनोहर के उज्वल प्रेम व भक्ति का वीज डाल कर भी सरकार के ऐसे २ गुणानुवाद की ओर झुकादिया अतएव यह टीका उन्हीं के चरण कमलों में सविनय समर्पण करता हूं ॥

हनुमानप्रसाद उपनाम हरिदास ग्रन्थ रचयिता

॥ श्रीगणेशायनमः ॥

अथश्रीभगवद्गीतामाहात्म्यप्रारंभः॥

ऋषिरुवाच॥गीतायाश्चैवमाहात्म्यं यथावत्सूतमेवद
पुराणमुनिनाप्रोक्तं व्यासेनमुनिनोदितम् ॥ १ ॥
सूतउवाच॥पृष्टंभवद्भिर्ऋषिभिर्यद्धिगोप्यंपुरातनम्॥
शक्यतेकेनवैवक्तुं गीतामाहात्म्यमुत्तमम् ॥ २ ॥
कृष्णोजानातिवैसम्य क्किञ्चित्कुन्तीसुतःफलम् ॥
व्यासोवाव्यासपुत्रोवा याज्ञवल्क्योऽथमैथिलः॥३॥
अन्येश्रवणतःश्रुत्वा लेशंसङ्कीर्त्तयन्तिच ॥
तस्मात्किञ्चिद्वदाम्यत्र व्यासस्यास्यान्मयाश्रुतम्॥४॥
सर्वोपनिषदोगावो दोग्धागोपालनन्दनः ।
पार्थोवत्सःसुधीर्भोक्ता दुग्धंगीतामृतंमहत् ॥ ५॥
सारथ्यमर्जुनस्यादौ कुर्वन्गीतामृतंददौ ॥
लोकत्रयोपकाराय तस्मैकृष्णात्मनेनमः ॥ ६ ॥
संसारसागरघोरं तर्तुमिच्छतियोनरः ॥
गीतानावंसमाद्य पारंयातिसुखेनसः ॥ ७ ॥
गीताज्ञानंश्रुतंनैव सदैवाभ्यासयोगतः ॥
मोक्षमिच्छतिमूढात्मा यातिवालकहास्यताम् ॥
येजनाःश्रद्धयानित्यं युक्तागीतामधीयते ॥
नतेवैमानुषाज्ञेया देवरूपानसंशयः ॥ ९ ॥
गीताज्ञानेनसंबोधं कृष्णःप्राहाऽर्जुनायवै ॥
मोक्षस्थानंपरंपार्थः सगुणंवाऽथनिर्गुणम् ॥ १० ॥
सोपानाष्टशतैरेवं परंब्रह्माधिगच्छति ॥

मलनिर्मोचनंपुंसां जलस्नानंदिनेदिने ॥ ११ ॥
सकृद्गीताम्भसिस्नानं संसारमलनाशनम् ॥
परास्याह्नस्तुतंज्ञानं तस्मिञ्छ्रद्धानभावना ॥ १२ ॥
गीतायाश्चनजानाति पठनंनैवपाठनम् ॥
सएवमानुषेलोके मनुजोविड्वराहकः ॥ १३ ॥
तस्माद्गीतांनजानाति नाधमस्तत्परोजनः ॥
धिक्तस्यमानुषंदेहं धिग्ज्ञानंकुलशीलताम् ॥ १४ ॥
गीतार्थंनविजानाति नाधमस्तत्परोजनः ॥
धिक्छरीरंशुभंशीलं विभवंसदगृहाश्रमम् ॥ १५ ॥
गीताशास्त्रंनजानाति नाधमस्तत्परोजनः ॥
धिक्प्रागल्भ्यंप्रतिष्ठांच पूजामानंमहत्तमम् ॥ १६ ॥
गीताशास्त्रेरतिर्नास्ति सर्वंतन्निष्फलंजगुः ॥
धिक्तस्यज्ञानमाचारं व्रतंनिष्ठांतपोयशः ॥ १७ ॥
गीतार्थपठनंनास्ति नाधमस्तत्परोजनः ॥
गीतागीतंनयज्ज्ञानं तद्विद्ध्यसुरसम्मतम् ॥ १८ ॥
तन्मोघंधर्मरहितं वेदवेदान्तगर्हितम् ॥
तस्माद्धर्ममयीगीता सर्वज्ञानप्रयोजिका ॥ १९ ॥
सर्वशास्त्रमयीयस्मात्तस्माद्गीताविशिष्यते ॥
योऽधीतेनित्यगीतांच दिवारात्रौयथार्थतः ॥ २० ॥
स्वपञ्जाग्रच्चलंस्तिष्ठञ्छाश्वतंमोक्षमाप्नुयात् ॥
शालग्रामशिलायांतु देवागारेशिवालये ॥ २१ ॥

तीर्थेनद्यांपठेद्यस्तु वैकुण्ठंयातिनिश्चितम् ॥
देवकीनन्दनःकृष्णो गीतापाठेनतुष्यति ॥ २२ ॥
यथानवेदैर्दानेन यज्ञतीर्थव्रतादिभिः ॥
गीताऽधीताचयेनापि भक्तिभावेनचेतसा ॥२३॥
तेनवेदाश्चशास्त्राणि पुराणानिचसर्वशः ॥
यागिस्थानेसिद्धपीठे शिलाग्रेसत्सभासुच ॥ २४ ॥
यज्ञेचविष्णुभक्ताऽग्रे पठन्यातिपरांगतिम् ॥
गीतापाठस्यश्रवणं यःकरोतिदिनेदिने ॥ २५ ॥
क्रतवोवाजिमेधाद्याः कृतास्तेनसदक्षिणाः ॥
यःशृणोतिचगीतार्थं कीर्तयत्येवयःपुमान् । २६ ॥
श्रावयेच्चपरार्थंवै सप्रयातिपरंपदम् ॥
गीतायाःपुस्तकंनित्यं योऽर्चयत्येवसादरात् ॥२७॥
विधिनाभक्तिभावेन तस्यपुण्यफलंशृणु ॥
सकलाभूःकृतातेन यज्ञस्तंभवतीकिल ॥ २८ ॥
कृतानिसर्वतीर्थानि दानानिचबहून्यपि ॥
भूतप्रेतपिशाचाद्यास्तत्रनप्रविशन्तिवै ॥ २९ ॥
अतिचारोद्भवंदुःखं परेणापिकृतंचयत् ॥
नोपसर्पतिनत्रैव यत्रगीतार्चनंगृहे ॥ ३० ॥
तापत्रयोद्भवापीडा नैवव्याधिभयंक्वचित् ॥
नशापोनैवपापंच दुर्गतिर्नारकीनच ॥ ३१ ॥
देहोर्मयःषडेतेवै नबाधन्तेकदाचन ॥
भगवत्परमेशाने भक्तिरव्यभिचारिणी ॥ ३२ ॥
जायतेसततंतत्र यत्रगीताभिवन्दनम् ॥

प्रारब्धंभुञ्जमानोऽपि गीताभ्यासरतःसदा॥ ३३॥
समुक्तःससुखीलोके कर्मणानोपलिप्यते ॥
महापापादिपापानि गीताध्यायीकरोतिचेत्३४॥
नकिञ्चित्स्पृशतेतस्य नलिनीदलमम्भसा ॥
अनाचारोद्भवंपापमवाच्यादिकृतंचयत् ॥ ३५ ॥
अभक्ष्यभक्षजंदोषमस्पृश्यस्पर्शजंतथा ॥
ज्ञानाज्ञानकृतंनित्यमिन्द्रियैर्जनितंचयत् ॥ ३६ ॥
तत्सर्वंनाशमायाति गीतापाठेनतत्क्षणात् ॥
सर्वत्रप्रतिभुक्त्वाच प्रतिगृह्यचसर्वशः ॥ ३७ ॥
गीतापाठंप्रकुर्वाणो नलिप्येतकदाचन ॥
रत्नपूर्णांमहींसर्वां प्रतिगृह्याविधानतः ॥ ३८ ॥
गीतापाठेनचैकेन शुद्धःस्फटिकवत्सदा ॥
यस्यान्तःकरणंनित्यं गीतायांरमते सदा ॥ ३९ ॥
सर्वाग्निकःसदाजापी क्रियावान्सचपण्डितः ॥
दर्शनीयःसधनवान् सयोगीज्ञानवानपि ॥ ४० ॥
सएवयाज्ञिकोयाजी सर्ववेदार्थदर्शकः ॥
गीतायाःपुस्तकंयत्र नित्यपाठश्चवर्त्तते ॥ ४१ ॥
तत्रसर्वाणितीर्थानि प्रयागादीनिभूतले ॥
निवसन्तिसदादेहे देहशेषेऽपिसर्वदा ॥ ४२ ॥
सर्वेदेवाश्चऋषयो योगिनःपन्नगाश्चये ॥
गोपालबालकृष्णोऽपि नारदोध्रुवपार्षदैः ॥ ४३ ॥
सहायोजायतेशीघ्रं यत्रगीताप्रवर्त्तते ॥
यत्रगीताविचारश्च पठनंपाठनंतथा ॥ ४४ ॥

तत्राहंनिश्चितंपार्थ निवसामिसदैवहि ॥
गीतामेहृदयंपार्थ गीतामेसारमुत्तमम् ॥ ४५ ॥
गीतामेज्ञानमत्युग्रं गीतामेज्ञानमव्ययम् ॥
गीतामेचोत्तमंस्थानं गीतामेपरमंपदम् ॥ ॥ ४६ ॥
गीतामेपरमंगुह्यं गीतामेपरमोगुरुः ॥
गीताश्रयेऽहंतिष्ठामि गीतामेपरमंगृहम् ॥ ४७ ॥
गीताज्ञानंसमाश्रित्य त्रिलोकींपालयाम्यहम् ॥
गीतामेपरमाविद्या ब्रह्मरूपानसंशयः ॥ ४८ ॥
अर्धमात्राक्षरानित्यमनिर्वाच्यपदात्मिका ॥
गीतानामानिवक्ष्यामि गुह्यानिशृणुपाण्डव ॥ ४९ ॥
कीर्त्तनात्सर्वपापानि विलयंयान्तितत्क्षणात् ॥
गीतागङ्गाचगायत्री सीतासत्यापतिव्रता ॥ ५० ॥
ब्रह्मावलीब्रह्मविद्या त्रिसंध्यामुक्तिगेहिनी ॥
अर्द्धमात्राचिदानन्दा भवघ्नीभ्रान्तिनाशिनी ॥ ५१ ॥
वेदत्रयीपरानन्ता तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी ॥
इत्येतानिजपेन्नित्यं नरोनिश्चलमानसः ॥ ५२ ॥
ज्ञानसिद्धिंलभेच्छीघ्रं तथान्तेपरमंपदम् ॥
पाठेऽसमर्थःसंपूर्णे तदर्धंपाठमाचरेत् ॥ ५३ ॥
तदागोदानजंपुण्यं लभतेनात्रसंशयः ॥
त्रिभागंपठमानस्तु सोमयागफलंलभेत् ॥ ५४ ॥
षडंशंजपमानस्तु गंगास्नानफलंलभेत् ॥
तथाध्यायद्वयंनित्यं पठमानोनिरन्तरम् ॥ ५५ ॥
इन्द्रलोकमवाप्नोति कल्पमेकंवसेद्ध्रुवम् ॥

एकमध्यायकंनित्यं पठतेभक्तिसंयुतः ॥ ५६ ॥
रुद्रलोकमवाप्नोति गणोभूत्वावसेच्चिरम् ॥
अध्यायार्धंचपादंवा नित्यंयःपठतेजनः ॥ ५७ ॥
समेतिरविलोकंच मन्वन्तरसमाःशतम् ॥
गीतायाःश्लोकदशकं सप्तपञ्चचतुष्टयम् ॥ ५८ ॥
त्रिद्व्येकमेकमर्द्धंवा श्लोकानांयःपठेन्नरः ॥
चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतंतथा ॥ ५९ ॥
गीतार्थमेकपादंच श्लोकमध्यायमेवच ॥
स्मरंस्त्यक्त्वाजनोदेहं प्रयातिपरमंपदम् ॥ ६० ॥
गीतार्थंवापिपाठंवा शृणुयादन्तकालतः ॥
महापातकयुक्तोऽपि मुक्तिभागीभवेज्जनः ॥ ६१॥
गीतापुस्तकसंयुक्तः प्राणांस्त्यक्त्वाप्रयातियः ॥
वैकुण्ठंसमवाप्नोति विष्णुनासहमोदते ॥ ६२ ॥
गीताध्यायसमायुक्तो मृतोमानुषतांव्रजेत् ॥
गीताभ्यासंपुनःकृत्वा लभतेमुक्तिमुत्तमाम् ॥६३॥
गीतेत्युच्चारसंयुक्तो म्रियमाणोगतिंलभेत् ॥
यद्यत्कर्मचसर्वत्र गीतापाठप्रकीर्तिमत् ॥ ६४ ॥
तत्तत्कर्मचनिर्दोषं भूत्वापूर्णत्वमाप्नुयात् ॥
पितॄनुद्दिश्ययःश्राद्धे गीतापाठंकरोतिवै ॥ ६५ ॥
संतुष्टाःपितरस्तस्य निरयाद्यान्तिस्वर्गतिम् ॥
गीतापाठेनसन्तुष्टाः पितरःश्राद्धतर्पिताः ॥ ६६ ॥
पितृलोकंप्रयान्त्येव पुत्राशीर्वादतत्पराः ॥
गीतापुस्तकदानंच धेनुपुच्छसमन्वितम् ॥ ६७ ॥

कृत्वाचतद्विदेसम्यक् कृतार्थोजायतेजनः ॥
पुस्तकंहेमसंयुक्तं गीतायाःशुद्धमानसः ॥ ६८ ॥
दत्त्वाविप्रायविदुषे जायतेनपुनर्भवः ॥
शतपुस्तकदानंच गीतायाःप्रकरोतियः ॥ ६९ ॥
सयातिब्रह्मसदनं पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥
गीतादानप्रभावेण सप्तकल्पावधिंसमाः ॥ ७० ॥
विष्णुलोकमवाप्नोति विष्णुनासहमोदते ॥
सम्यक्श्रुत्वाचगीतार्थं पुस्तकंयःप्रदापयेत् ॥ ७१ ॥
तस्मैप्रीतोहिभगवान्ददातिमनसेप्सितम् ॥
देहंमानुषमाश्रित्य चातुर्वर्ण्यतुभारत ॥ ७२ ॥
नशृणोतिनपठति गीताममृतरूपिणीम् ॥
हस्तात्त्यक्त्वामृतंप्राप्तं कष्टात्क्ष्वेडंसमश्नुते ॥ ७३ ॥
पीत्वागीतामृतंलोके लब्ध्वामोक्षंसुखीभवेत् ॥
जनैःसंसारदुःखार्तैः गीताज्ञानंचयैःश्रुतम् ॥ ७४ ॥
संप्राप्तममृतंतैश्च गतास्तेसदनंहरेः ॥
गीतामाश्रित्यबहवो भूभुजोजनकादयः ॥ ७५ ॥
निर्धूयकल्मषंलोके गतास्तेपरमंपदम् ॥
गीतासुनविशेषोस्ति जनेषूच्चावचेषुच ॥ ७६ ॥
ज्ञानेष्वेवसमग्रेषु समाब्रह्मस्वरूपिणी ॥
योऽभ्यसूयतिगीतांच योनिन्दांवाकरोतिच ॥ ७७ ॥
सप्रेतिनरकंघोरं यावदाभूतसंप्लवम् ॥
अहङ्कारेणमूढात्मा गीतार्थंनैवमन्यते ॥ ७८ ॥
कुम्भीपाकेषुपच्येत यावत्कल्पक्षयोभवेत् ॥
गीतार्थंवाच्यमानंयो नशृणोतिसमीपतः ॥ ७९ ॥

श्वशूकरभवांयोनि मनेकांसोऽधिगच्छति ॥
चौर्यंकृत्वाचगीतायाः पुस्तकंयःसमानयेत् ॥८० ॥
नतस्मैचफलंकिंचित्पठनाच्चवृथाभवेत् ॥
यःश्रुत्वानैवगीतार्थं मोदतेपरमार्थतः ॥ ८१ ॥
नैवाप्नोतिफलंलोके प्रमादाच्चवृथाश्रमः ॥
गीतांश्रुत्वाहिरण्यंच पट्टांबरप्रवेष्टनम् ॥ ८२ ॥
निवेदयेच्चतद्वक्त्रे प्रीतयेपरमात्मनः ॥
वाचकंपूजयेद्भक्त्या द्रव्यवस्त्राद्युपस्करैः ॥ ८३ ॥
अनेकैर्बहुधाप्रीत्या तुष्यतांभगवान्हरिः ॥
माहात्म्यमेतद्गीतायाः कृष्णप्रोक्तंपुरातनम् ॥८४॥
गीतान्तेपठतेयस्तु यथोक्तफलभाग्भवेत् ॥
गीतायाःपठनंकृत्वा माहात्म्यंनैवयःपठेत् ॥८५॥
वृथापाठफलंतस्य श्रमएव उदाहृतः ॥
एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीतापाठंकरोतियः ॥८६॥
श्रद्धयायःशृणोत्येव दुर्लभांगतिमाप्नुयात् ॥
श्रुत्वापठित्वागीतांच माहात्म्यंयःशृणोतिच ॥८७॥
तस्यपुण्यफलंलोके भवेद्वैमनसेप्सितम् ॥ ८८ ॥

इति श्रीभगवद्गीतामाहात्म्यं समाप्तम् ॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

श्रीगणेशायनमः ॥

अथ गीतापाठ विनियोगादिः ॥

दोहा

श्रीगुरु अरु गोविंद में किंचित् भेद न जान ॥
इनको पद रज आंजिदृग भो हरिदास सुजान॥१॥
रंग लालप्यारो रंग्यौ करत रह्यो गुणगान ।
तिनही के अनुरोध से वरन्यो गीता ज्ञान ॥२॥

कवित्त घनाक्षरी ॥

श्री गणेश शैलजा महेश पौनपूत गुरु रामनीय पंकजांघ्रि हीयं धार लीजिये ॥ जोरि पानि पद्मनाभ प्रेयसी श्री राधारानि श्रीगुपाल पादपद्म कौ पियूष पीजिये ॥ मांगि वार वार बुद्धि भक्ति गीता ज्ञानसार वासना विसार मारि प्रेमरंग भींजिये ॥ श्वास श्वास में निवास हरीदास राधाश्याम काम सिद्धि दीजिये निरास नाहिं कीजिये ॥ १ ॥

एक ही सुरत्नसार सारे महाभारत में गीता नाम जाकोहै सुगीत सोई गाइये ॥ कृष्णचंद के मुखारविंद सों प्रकाश पाय पार्थ पान कौ पियूष पात्र ढूंड लाइये ॥ योग शास्त्र सार है विचार ब्रह्म विद्या को याहि छांड़ि और शास्त्र चित्त नाहि ध्याइये ॥ होय के प्रसन्न नाहिं देवैं जौलों आप हरि तौलों नाहिं हरीदास यह प्रसाद पाइये ॥ २ ॥

ओं नमो भगवते वासुदेवाय ॥

ओं अस्य श्रीमद्भगवद्गीतामालामन्त्रस्य श्रीभगवान् वेदव्यास ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः श्रीकृष्णः परमात्मा देवता ॥

अर्थ—ओं यह नाम परमात्मा का है व इसको उच्चारण करके प्रत्येक शुभ कर्म का प्रारंभ होता है। इसी कारण इस गीता के पठन श्रवण के प्रारंभ में भी उसका उच्चारण किया है। इसका

माहात्म्य श्री कृष्ण महाराज ने श्री मुख से अध्याय ८ में वर्णन किया है ॥

(अस्य) इस (श्रीमद्भगवद्गीतामालामंत्रस्य) महान् भगवद्गीता रूपी माला मंत्र के (श्री भगवान् वेद व्यास ऋषि) षड़ैश्वर्य संपन्न श्रीवेदव्यास जी ऋषि हैं क्योंकि प्रत्येक मंत्र के जुदे २ ऋषि होते हैं। और इस मंत्र का (अनुष्टुप्छन्दः) अनुष्टुप् नामी छंद है व स्वयं (श्रीकृष्णः परमात्मा देवता) श्री कृष्ण परमात्मा इस मंत्र के देवता अर्थात् अधिष्ठाता हैं॥

"अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे" इति बीजम् ॥

अर्थ–अध्याय २ का श्लोक ११ जो ऊपर लिखा है यही इस गीता मालामन्त्र का बीज है अर्थात् सारभूत है, इस मन्त्र का अर्थ–आगे मिलेगा ॥

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकंशरणंव्रज" इति शक्तिः ॥

अर्थ–यह मन्त्र अध्याय १८ के श्लोक ६६ का पूर्वार्द्ध है, वही इस गीता मालामन्त्र की शक्ति है अर्थात् परमेश्वर की शरण लेना ही सबशक्ति का मूल कारण है और इसी मन्त्र का उत्तरार्द्ध–

"अहंत्वांसर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः" इति कीलकम् ॥

अर्थ–यही उत्तरार्द्ध इस गीतामालामन्त्र का कीलक है अर्थात् इस में जो श्रीकृष्णचन्द्र के अनन्य शरण होने का उपदेश है उस को ग्रहण करने से सब पापों का नाश होजाता है और उस के परे कोई उपाय कल्याण का दाता नहीं है॥

यहां तक इस भगवद्गीता मालामन्त्र का पूर्णस्वरूप वर्णन हुआ, आगे "करन्यास" की विधि लिखते हैं ॥

नैनंछिन्दन्तिशस्त्राणि नैनंदहतिपावकः ।
इत्यङ्गुष्ठाभ्यां नमः ॥

अर्थ-यह अध्याय २ के श्लोक २३ का पूर्वार्द्ध है उस को पढ़ कर दोनों हाथों की तर्जनी अंगुलियों से दोनों हाथों के अंगूठों को स्पर्श करना चाहिये ॥ अंगूठे के पास जो पहिली अंगुली है उस का नाम तर्जनी है ॥

"न चैनंक्लेदयन्त्यापो न शोषयतिमारुतः"इति तर्जनीभ्यां नमः ॥

अर्थ-यह उसी श्लोक २३ का उत्तरार्द्ध है उस को पढ़ कर दोनों हाथों की तर्जनी अंगुलियों को दोनों हाथों के अंगूठों से स्पर्श करना चाहिये ॥

"अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्यएवच। इति मध्यमाभ्यां नमः ॥

अर्थ-यह अध्याय २ के श्लोक २४ का पूर्वार्द्ध है, इस को पढ़ कर दोनों अंगूठों से दोनों मध्यमा अर्थात् बीच की अंगुलियों को स्पर्श करना चाहिये ॥

"नित्यःसर्वगतःस्थाणुरचलोऽयं सनातनः" इत्यनामिकाभ्यां नमः ॥

अर्थ-यह उसी श्लोक २४-का उत्तरार्द्ध है इस को पढ़ कर दोनों अंगूठों से दोनों अनामिका अर्थात् तीसरी अंगुलियों को स्पर्श करना चाहिये ॥

"पश्यमेपार्थरूपाणि शतशोऽथसहस्रशः" इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः ॥

अर्थ-यह अध्याय ११ के श्लोक ५ का पूर्वार्द्ध है। इसको पढ़कर दोनों अगूंठों से दोनों कनिष्ठिका अर्थात् छिगुंरियन को स्पर्श करना चाहिये ॥

"नानाविधानिदिव्यानि नानावर्णाकृतीनिच"
इति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ॥

अर्थ—उसी श्लोक के इस उत्तरार्द्ध को पढ़कर प्रथम दहिने हाथ की हथेली के नीचे वायें हाथ की हथेली को रखौ फिर वायें हाथ के नीचे दहिने हाथ की हथेली रखौ यहां तक "करन्यास" हुआ। अब आगे अङ्गन्यास की विधि बतलाते हैं॥

नैनंछिन्दन्तिशस्त्राणि नैनंदहतिपावकः ।
इति हृदयाय नमः ॥

अर्थ—यह मंत्र पढ़कर पांचों अंगुलियों से अपने हृदय का स्पर्श करौ ॥

नचैनंक्लेदयन्त्यापो नशोषयतिमारुतः। इति शिरसे स्वाहा ॥

अर्थ—यह मंत्र पढ़कर पांचों अंगुलियों से सिर का स्पर्श करौ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योयमक्लेद्योऽशोष्यएवच ।
इति शिखायै वषट् ॥

यह मंत्र पढ़कर पांचों अंगुलियों से चोटी का स्पर्श करौ॥

नित्यःसर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।
इति कवचाय हुम् ॥

यह मंत्र पढ़कर दाहिने हाथ से वाम खबे (कन्ध) का और वाम हाथ से दाहिने खबे (कन्धे) का स्पर्श करना चाहिये ॥

पश्यमेपार्थरूपाणि शतशोऽथसहस्रशः। इति नेत्रत्रयाय वौषट् ॥

इस मन्त्रको पढ़कर दहिने हाथ से दोनों नेत्रों को स्पर्श करौ॥

नानाविधानिदिव्यानि नानावर्णाकृतीनिच।
इति अस्त्राय फट ॥

यह मंत्र पढ़कर दाहिने हाथ की तर्जनी व मध्यमा दोनों अंगुली को वाम हाथ की हथेली पर मारते हैं ॥ यहां तक अंगन्यास हुआ इसके पीछे हाथ में जल लेकर–

श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे पाठे वा जपे विनियोगः ॥

इस वाक्य को कहिकर गीतापाठ का संकल्प करौ। व हाथ में का जल छोड़ दो, मन में यह चिंतवन करौ कि श्री कृष्णचन्द्र महाराज के प्रसन्न होने के हेतु यह पाठ करता हूं। तदनन्तर गीता के अधिष्ठाता जो श्रीकृष्ण महाराज हैं उन का ध्यान करना चाहिये। यह ध्यान उस समय की मूर्ति का निम्न लिखित अनुसार है ॥

कुरुक्षेत्र के अंतर्गत ज्योतीश्वर तीर्थ पर दोनों सेनाओं के बीच में रथ पर सवार हैं, चरण कमलों के अंगूठों में सुवर्ण के जड़ाऊ छल्ले पहिरे हुए, चरणों में सुवर्ण के कड़े व पचरंगी मणिजटित सुवर्ण की पैजन घूंघरूदार पहिरे हुए हैं। कदम्ब किंजल्क व दामिनी की दमक वाला पीताम्बर पहिने हुए पंच रंगा वेलदार अंगरखा जिस्में कलावत्तून और गोटापट्टा जगह २ जड़ा हुआ है। विशाल मोतियों की माला गले में व जड़ाऊ करधनी धारण किये हुये, दुपट्टे से कमर कसी हुई, घूंघरवारे वाल प्रसन्न मुख कमलनयन इत्यादि शोभा को वढ़ाय रहे हैं। एक हाथ में छड़ी व दूसरे में ज्ञानमुद्रा वनाये अर्जुन को समझाय रहे हैं ॥

श्री गीताजी का ध्यान

पार्थाय प्रतिबोधिता भगवता नारायणेन स्वयं, व्यासेन ग्रथिता पुराणमुनिना मध्ये महाभारते ॥ अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनीमम्ब ! त्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥ १ ॥

अर्थ–हे (अम्ब) माता (भगवद्गीते) भगवद्गीताजी ! आप को (भगवता नारायणेन) श्री नारायण भगवान् अर्थात् श्री कृष्ण जी ने (स्वयम्) खुद अपने मुख कमल से (पार्थाय) अर्जुन को (प्रतिबोधिता) बोध करने के हेतु कहा है और (पुराण) प्राचीन पुराणों के रचने वाले (मुनिना व्यासेन) व्यास मुनिजीने (महाभारते मध्ये) महाभारत पुराण के बीच में अर्थात् छठे भीष्मपर्व में (ग्रथिता) गूंथ दिया है, अर्थात् वर्णन किया है, आप (अद्वैतामृतवर्षिणीम्) सदैव अद्वैत रूपी अमृत को वरसाने वाली हो अर्थात् जीव ब्रह्म की द्वैतता यानी भिन्नता को नाश करके आपके पढ़ने सुनने वालों को अद्वैतमार्ग अर्थात् जीव ब्रह्म की एकता विदित होजाती है। और वही सब सिद्धान्तों का अमृत है। फिर आप (भगवतीम्) ऐश्वर्य श्री यशः धर्म ज्ञान वैराग्य अथवा उत्पत्ति नाश गति अगति विद्या व अविद्या इन छः गुणों को धारण करनेवाली हो, पुनः (अष्टादशाध्यायिनीम्) आपके अठारह अध्याय हैं। पठन में अठारहो विद्याओं का सारांश भरा हुवा है। और आप (भवद्वेषिणीम्) दुःखरूपी संसार का नाश करनेवाली हो अतएव मैं (त्वाम्) आपको अपने (मनसा) मनमें या मन की शक्ति से (दधामि) धारण करता हूं अर्थात् अपने मनमें आपका ध्यान धरता हूं ॥

टीका "पूर्ण ब्रह्म का नाम नारायण है और यह ग्रन्थ नारायण रूपी श्री कृष्णचन्द्र का स्वयं कहा हुवा है अतएव उस को भगवद्गीता उपनिषद् कहते हैं" इस को माता कहा है क्योंकि जैसे माता अपने भले बुरे सब पुत्रों का हित चाहनेवाली होती है तैसे यह गीता अपने पढ़ने व सुनने वालों का हित करती है व दुःख रूपी संसार से पार उतार कर मुक्ति देती है ॥

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे ! ।

फुल्लारबिन्दायतपत्रनेत्र ! ॥
येन त्वया भारततैलपूर्णः,
प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥ २ ॥

अर्थ-हे (विशालबुद्धे) बड़ी बुद्धिवाले व (फुल्लारबिन्दायतपत्रनेत्र) फूले कमल के चौड़े पत्रों के समान नेत्रवाले अर्थात् भूत भविष्य वर्त्तमान तीनों कालकी व्यवस्था जानने वाले व्यास जी (ते) तुमको (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो तुम ऐसे हो कि (येन त्वया) तुम्हारे द्वारा (भारततैलपूर्णः) महाभारत रूपी तेल से भरा हुवा (ज्ञानमयः) ज्ञान संयुक्त (प्रदीपः) दीपक (प्रज्वालितः) जलाया गया है अर्थात् तुम सर्वज्ञ हौ व तुम्ही ने महाभारत रचकर उसके बीच में इस गीता को ज्ञानरूपी दीपक के समान प्रज्वलित अर्थात् प्रकाश किया है अतएव तुम को नमस्कार करता हूं ॥

आगे श्रीकृष्ण परमात्मा का ध्यान व स्तुति है।

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्रायकृष्णाय गीताऽमृतदुहेनमः ॥३॥

अर्थ-(प्रपन्न) अपने भक्तों व शरणागतों के लिये (पारिजाताय) कल्पवृक्ष के समान यथेष्ट फल देने वाले तथा (एकपाणये) एक हाथ में (तोत्रवेत्र) वेंत की छड़ी धारण करने वाले तथा (ज्ञानमुद्राय) ज्ञानमुद्रा बनाये हुए व इसी अवस्था में (गीतामृतदुहे) इस गीता रूपी अमृत को दुहने व वर्षाने वाले (कृष्णाय) श्रीकृष्णचन्द्र को (नमः) नमस्कार है ॥

टीका ॥ जब श्रीकृष्णचन्द्र जी अर्जुन को ब्रह्म ज्ञान सुनाय रहेथे तब बिनके वायें हाथ में वेंत की छड़ी थी व दाहिने हाथ की तर्जनी अंगुली से अंगूठा मिलाये हुए थे इसी का नाम ज्ञानमुद्रा है ॥

यहां पर श्रीकृष्ण भगवान् को दुहने वाला कहा है अतएव

आगे के श्लोक में गाय वत्सादि का पूरा रूपक कहते हैं ॥

सर्वोपनिषदोगावो दोग्धागोपालनन्दनः ।
पार्थोवत्सःसुधीर्भोक्ता दुग्धंगीताऽमृतंमहत् ॥४॥

अर्थ-(सर्वं) सम्पूर्ण (उपनिषदः) उपनिषद् वेद जो हैं वही (गावः) गौ के समान हैं और इन गौओं का (दोग्धा) दुहने वाला (गोपालनन्दनः) नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र हैं, दुहते समय बच्छा चाहिये सो (पार्थः) अर्जुन (सुधीः) उत्तम बुद्धिवाला (वत्सः) बच्छा है और (महत्) श्रेष्ठ (गीताऽमृतम्) जो यह गीतारूपी अमृत है सोई श्रीकृष्णजी का दोहा हुवा (दुग्धम्) दूध है ॥

टीका ॥ श्रीकृष्ण महाराज ने सब उपनिषदों का सारांश अर्जुन को निमित्त करके शुद्धान्तःकरण वाले मनुष्यों के हेतु इस गीता में वर्णन किया है। इस का अर्थ जानने पर फिर कुछ सन्देह नहीं रहता, अतएव " महत् " कहा है और इस गीता के पठन व श्रवण करने वालों का मृत्युवाद पुनर्जन्म नहीं होता, अतएव उसका अमृत विशेषण दिया है ॥

अब श्रीकृष्णजी को गुरुरूप जान कर वंदना करते हैं ।

वसुदेवसुतंदेवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णंवन्देजगद्गुरुम् ॥ ५ ॥

अर्थ-(वसुदेवसुतं) वसुदेव जी के पुत्र (देवम्) ज्ञान स्वरूप दीप्तिमान् मूर्तिवाले व (कंसचाणूरमर्दनम्) कंस और चाणूर राक्षसों के मारने वाले व (देवकीपरमानंदम्) अपनी माता देवकी जी को परम आनन्द देनेवाले तथा (जगद्गुरुम्) संसारके गुरु व नियन्ता (कृष्णम्) श्रीकृष्ण महाराज को (वन्दे) वन्दना करता हूं ॥

टीका-इस श्लोक में किशोर अवस्था का ध्यान है निम्न लिखित श्लोक में भी किशोर अवस्था का ध्यान है । निम्न लिखित श्लोक में भी वही भाव दरशाया है-

अंतर्हृदिनियन्तारं बहिश्चगुरुरूपिणम् ।
उभयंचैवकृष्णाख्यं तंवन्देदेवकीसुतम् ॥

अब आगे के श्लोक में महाभारत के बीच में कौरवों की सेना को नदी की उपमा देकर श्री कृष्णचन्द्र को पांडवों के पार उतारने वाले कहते हैं ॥

भीष्मद्रोणतटाजयद्रथजलागान्धारनीलोत्पला
शल्यग्राहवतीकृपेणवहिनीकर्णेनवेलाकुला ॥
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरादुर्योधनावर्त्तिनी
सोत्तीर्णाखलुपाण्डवैःकुरुनदीकैवर्तकेकेशवे॥६॥

अर्थ—जिस नदी के (भीष्मद्रोण) भीष्मपितामह व द्रोणाचार्य (तटा) दोनों किनारे थे व जिस्में (जयद्रथजला) जयद्रथ ही जलरूप थे व (गांधारनीलोत्पला) गंधारी के पुत्र नील कमल थे व (शल्यग्राहवती) जो नदी शल्यजी को ग्राह यानी मगर रूप से धारण किये थी व जो (कृपेण वहिनी) कृपाचार्य के द्वारा वहने वाली थी व जिस्में (कर्णेन वेलाकुला कर्ण ही वेला रूप होकर उमड़ रहे थे व जिस्में (अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा) अश्वत्थामा व विकर्ण दोनों भयंकर मकर यानी मछलीथे जिस्में (दुर्योधनावर्तिनी) दुर्योधन स्वयं भंवर रूपी चक्र था (सा) सो (कुरुनदी) कौरवों रूप नदी (खलु) निश्चय करके (कैवर्तके केशवे) केशव श्री कृष्ण जी को मल्लाह बनाकर अर्थात् उनकी सहायता के कारण (पाण्डवैः) पांडवों के द्वारा (उत्तीर्णा) पार की गई अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्र जी की सहायता से पांडवों ने कौरवों को युद्ध में जीतलिया था ॥

अब आगे महाभारत की स्तुति करते हैं जिस में भगवत् सम्बन्धी व कल्याण करने वाली कथा है, व जिस में श्रीगीता जी विराजमान हैं ॥

पाराशर्यवचःसरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं ।
नानाख्यानककेशरंहरिकथा संबोधनाबोधितम्॥
लोकेसज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानंमुदा
भूयाद्भारतपङ्कजंकलिमलप्रध्वंसिनःश्रेयसे ॥

अर्थ–(कलिमल) कलियुग के पापों का (प्रध्वंसि) प्रकर्ष करके नाश करने वाला व (पाराशर्यवचः,) व्यास जी की वाणी रूपी (सरोजम्) तालाब में उत्पन्न हुआ व (अमलं) निर्मल (गीतार्थ) गीता के अर्थरूपी (उत्कटम्) तीव्र (गंध) सुगन्ध से भरा हुआ व (नानाख्यानककेशरं) भांति भांति की कथारूपी केशर संयुक्त व (हरिकथा संबोधनाबोधितम्) श्रीकृष्ण महाराज की ज्ञानरूपी वार्ता से खिला हुआ और (लोके) इस लोक में (सज्जनषट्पदैः) सज्जनरूपी भ्रमरों के द्वारा (अहरहः) प्रतिदिन (मुदा) आनन्द पूर्वक (पेपीयमानं) जिस का रस पिया जाता है ऐसा जो (भारतपंकजम्) महाभारतरूपी कमल है सो (नः) हमारे (श्रेयसे) कल्याण के हेतु (भूयात्) होवे अर्थात् जिस महाभारत में भगवत् सम्बन्धी कथा हैं व बीच में श्रीगीता जी विराजमान हैं व जिसे पढ़कर सज्जन लोग आनन्दरूपी अमृत पान करते हैं सोई हमारा कल्याण करै–यह एक प्रकार का आशीर्वाद है॥

अब आगेके दो श्लोकों में पूर्णब्रह्म श्रीकृष्ण जी की वंदना करते हैं ॥

मूकंकरोतिवाचालं पङ्गुंलंघयतेगिरिम् ।
यत्कृपातमहंवन्दे परमानन्दमाधवम् ॥८॥

अर्थ–(यत् कृपा) जिस की कृपा (मूकं) गूंगे को (वाचालं) वाणी युक्त (करोति) करती है अर्थात् गूंगा बोलने लगता है व (पङ्गुं) पांव हीन लंगड़े को (गिरिम्) पहाड़ (लंघयते) लंघा देती है (तं) उस (परमानन्दमा-

धवम्) परमानन्द रूप लक्ष्मीपति को (अहम्) मैं (वन्दे) नमस्कार करता हूं, पुनः ॥

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतःस्तुन्वन्ति दिव्यैस्तवै,
र्वेदैःसाङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्तियंयोगिनो,
यस्यान्तंनविदुःसुरासुरगणा देवायतस्मैनमः ॥

अर्थ–ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र पवन देवता (यं) जिस परमेश्वर को (दिव्यैः) अति उत्तम व शुद्ध (स्तवैः) स्तोत्रों के द्वारा (स्तुन्वन्ति) स्तुति करते हैं व (सामगाः) साम वेद के गाने वाले (यं) जिस को (सांङ्गपदक्रमोपनिषदैर्वेदः) अङ्ग और पद क्रम संयुक्त उपनिषदों के सहित वेदों के द्वारा (गायन्ति) गाते हैं अर्थात् स्मरण भजन करते हैं (तस्य) तिस को (योगिनः) अष्टांग योगसाधने वाले (ध्यानावस्थित) ध्यान में मग्न हो कर (तद्गतेन मनसा) उसी में मन लगा कर (पश्यन्ति) देखते हैं अर्थात् ध्यान में मन को स्थिर करके उसी ईश्वरको ज्ञान दृष्टि सेदेखा करते हैं और (सुरासुरगणाः) देवता व असुरों के समूह (यस्य) जिस का (अन्तम्) आदि अन्त (न विदुः) नहीं जानते (तस्मै देवाय) उस देवतों के देवता को मेरा (नमः) नमस्कार है ॥ इति ॥ध्यानम् ॥

यहां तक करन्यास, अंगन्यास, संकल्प, व ध्यान की विधि बताई जो पाठके प्रारंभ से पहिले की जाती है अब आगे श्री गीता जी को आरम्भ से लिखते हैं ॥

अथ प्रथमोऽध्यायः

॥ ओं नमो भगवतेवासुदेवाय ॥

इस गीता के उत्पन्न होने का जो कारण हुआ व जिस प्रसङ्ग पर जिस ने जिस को कही सो सब बातों का वर्णन इस प्रथम अध्यायमें होगा, वास्तविक में श्रीगीता जी का प्रारम्भ अध्याय २ के श्लोक ११ से होगा, । यहां पर श्लोक १ "धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे" से लगा कर श्लोक २८ के पूर्वार्द्ध "विषीदन्निदमब्रवीत्" तक श्रीकृष्णार्जुन संवाद प्रस्ताव की कथा का निरूपण किया जाता है ॥

धृतराष्ट्र उवाच

धर्म्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ! ॥१॥

अर्थ—राजा धृतराष्ट्र संजय से पूछते हैं कि हे संजय ! (धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे) कुरुक्षेत्र नामी पवित्र भूमि में (युयुत्सवः) युद्ध करने की इच्छा रख कर (मामकाः) मेरे पक्ष के दुर्योधनादि (चैव) और (पाण्डवाः) पाण्डु के पुत्रादि युधिष्ठिर इत्यादि ने (समवेताः) इकट्ठे हो कर (किम्) क्या (अकुर्वत) किया अर्थात् दोनों में लड़ाई हुई या कि मेल हो गया सो कहो ॥

टीका—इन लोगों का आदि पुरुष कोई कुरु नाम का था व उस ने जिस भूमि में धर्म किया उसी का नाम कुरुक्षेत्र है ॥ राजा धृतराष्ट्र नेत्र हीन थे अतएव वे तथा उन का सारथी संजय दोनों हस्तिनापुर में रहे थे लड़ाई में नहीं गये। यह संजय व्यास जी का शिष्य था और व्यास जी ने उसे यह वरदान

दे रक्खा था कि कुरुक्षेत्र में जो व्यवस्था होगी वह तुम्हें यहीं बैठे दीख पड़ैगी इसी कारण युद्ध का हाल धृतराष्ट्र संजय से पूछते हैं और संजय आगे श्रीकृष्णार्जुन संवाद का वर्णन करता है ॥

संजयउवाच ॥

दृष्ट्वातुपाण्डवानीकं व्यूढंदुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजावचनमब्रवीत् ॥

अर्थ-संजय बोला कि जिस समय रणभूमि में आमने सामने दोनों सेनायें खड़ीथीं (तदा) उस समय (पाण्डवानीकम्)पांडवों की सेना को (व्यूढम्) चक्र कमलाकार में रची हुई (दृष्ट्वा) देखकर (तु) फिर राजा दुर्योधन अपने (आचार्यम्) गुरु द्रोणाचार्य के (उप) समीप (संगम्य) जाकर यह (वचनम्) बात (अब्रवीत्) बोला जो आगे के श्लोक में कहेंगे ॥

टीका-द्रोणाचार्य जी शस्त्रविद्या के गुरू थे अतएव पांडवों की सेना को चक्रव्यूह के आकार में सजी हुई देख दुर्योधन घबराकर उनके पास इस अभिप्राय से गया कि वे उससे भी बढ़कर अपनी सेना की रचना करेंगे तो पांडवों का पराजय होगा नहीं तो नहीं ॥

पश्यैतांपाण्डुपुत्राणामाचार्यमहतींचमूम् ।
व्यूढांद्रुपदपुत्रेण तवशिष्येणधीमता ॥३॥

अर्थ-हे (आचार्य) गुरू जी ! (तव) तुम्हारे (धीमता) बुद्धिमान् (शिष्येण) चेला (द्रुपद पुत्रेण) धृष्ट द्युम्न के द्वारा (व्यूढाम्) चक्र व्यूह के आकार में रची हुई (पाण्डुपुत्राणाम्) पांडवों की (एताम्) इस (महतीम्) बड़ी विशाल (चमूम्) सेना को तो (पश्य) देखो अर्थात देखिये तो आपका शिष्य होकर उसने आगे से लड़ने के हेतु कैसी अच्छी सेना सजाई है ॥

अत्रशूरामहेष्वासा भीमार्जुनसमायुधि ।
युयुधानोविराटश्च द्रुपदश्चमहारथाः ॥४॥

अर्थ- (अत्र) इस सेना में (महा) बड़े २ (इष्वासाः) बाणचलाने वाले व (युधि) युद्ध में (भीमार्जुनसमाः) भीम व अर्जुन के समान (शूराः) और भी कई शूरवीर हैं जैसे (युयुधानः) सात्यकि विराट द्रुपद इत्यादि (च) और ये सब (महारथाः) युद्ध करने में बड़े कुशल हैं ॥

टीका-जो असंख्यात शस्त्रधारियों से युद्ध करै और अस्त्र शस्त्र विद्या में निपुण हो उसे "अतिरथ" कहते हैं। व जो अकेला दश सहस्त्र से युद्ध करै उसे महारथ कहते हैं और जो एक से एक लड़े उसे "रथी" ॥ व इस से कम को "अर्द्धरथी" कहते हैं ॥

आगे के २श्लोकों में और भी बड़े २ शूर वीरों के नाम कहते हैं ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्चवीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैव्यश्चनरपुङ्गवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्चविक्रान्त उत्तमौजाश्चवीर्यवान् ।
सौभद्रोद्रौपदेयाश्च सर्वएवमहारथाः ॥ ६ ॥

इन के अर्थ की आवश्य कता नहीं है।

अस्माकंतुविशिष्टाये तान्निबोधद्विजोम ।
नायकाममसैन्यस्य संज्ञार्थंतान्ब्रवीमिते ॥ ७॥

अर्थ-हे (द्विजोत्तम) ब्राह्मणों में श्रेष्ठ (अस्माकम्) हमारे अर्थात् हमारी सेना में (ये) जो जो लोग (विशिष्टाः) श्रेष्ठ हैं (तान्) उन को (निबोध) भली भांति जानलो व (मम) मेरी (सैन्यस्य) सेना के जो (नायकाः) सरदार हैं (तान्) उन को (तु) भी (संज्ञार्थम्) जानने के हेतु (ते) तुमको

(ब्रवीमि) कहता हूं अर्थात् आगे के दो श्लोकों में उन के नाम आप से कहता हूं ॥

भवान्भीष्मश्चकर्णश्च कृपश्चसमितिञ्जयः ।
अश्वत्थामाविकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः ॥८॥
अन्येचबहवःशूरा मदर्थेत्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वेयुद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अर्थ-(भवान्) स्वयं आप (च) व (भीष्मः) भीष्म जी (च) व (कर्णः) कर्ण (च) व (समितिंजयः) संग्राम जीतने वाले (कृपः) कृपाचार्य जी तथा अश्वत्थामा विकर्ण व सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा और जयद्रथ (च) इन के सिवाय (अन्ये) और भी दूसरे (बहवः) बहुत से (शूराः) योद्धा हैं जिन्हों ने (मदर्थे) मेरे हेतु (त्यक्तजीविताः) अपने जीवन की आशा त्याग दी है (सर्वे) ये सब (नानाशस्त्रप्रहरणाः) नाना प्रकार के शस्त्र चलाने वाले हैं व (युद्धविशारदाः) युद्ध में निपुण हैं ये सब बातें कहने से राजा दुर्योधन का जो आशय था सो आगे कहता है ॥

अपर्याप्तंतदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तंत्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

अर्थ-(तत्) इस प्रकार के शूर लोग संयुक्त होने परभी व (भीष्माभिरक्षितम्) भीष्म जी रक्षा करने वाले होने पर भी (अस्माकम्) हमारी (बलम्) सेना (अपर्याप्तम्) पांडवन के साथ युद्ध करने को असमर्थ है क्योंकि हमारे सेनापति भीष्म जी वृद्ध व उभयपक्षी हैं प्रत्यक्ष में वे हमारी ओर हैं परंतु जय पांडवन की चाहते हैं (तु) परन्तु (इदम्) यह (एतेषाम् बलम्) इन पांडवन की सेनाके (भीमाभिरक्षितम् रक्षक व सेनापति भीम हैं अंतएव वे हमारे जीतने को (प

र्याप्तम्) समर्थ हैं क्योंकि भीम जवान् व एक पक्षी है व श्री कृष्ण भी पांडवन के सहायक हैं अत एव–

अयनेषुचसर्वेषुयथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तःसर्वएवहि ॥ ११ ॥

अर्थ–हे गुरू जी आप से मेरी यह प्रार्थना है कि (भवन्तः) आप व्यूह से प्रवेश होने के (सर्वेषु) सब (च) ही (अयनेषु) मार्गों में अर्थात् सब मोरचों पर (यथाभागम्) अपने २ ठिकानों पर (अवस्थिताः) खड़े हुए (सर्वएवहि) सब ही शूरवीरों को देखते हुए (भीष्मम्) भीष्म जी की (एव) ही (अभिरक्षन्तु) रक्षा करते रहिये जिस से योद्धा लोग अपनी रणभूमि न छोड़ देवें और भीष्म जी को कोई धोखे से न मार जावे अथवा ऐसा हो कि भीष्म जी पांडवन से मिलकर हमारी सेना को न मरवा डारें अतएव सर्वदा उन को देखते रहना चाहिये ॥

द्रोणाचार्य के प्रति राजा दुर्योधन के इस प्रकार बहुमान व शंकायुक्त वचन सुनकर भीष्म जी ने समझ लिया कि राजा को हमारी ओर से कुछ शंका है अतएव उन्हों ने उसी समय पांडवों से लड़ने के हेतु शंख बजा दिया जिसका वर्णन आगे करते हैं ॥

तस्यसंजनयन्हर्षं कुरुवृद्धःपितामहः ।
सिंहनादंविनद्योच्चैः शंखंदध्मौप्रतापवान् ॥१२॥

अर्थ–(तस्य) उस को अर्थात् राजा दुर्योधन को (हर्षः) प्रसन्नता (संजनयन्) उत्पन्न करते हुए अर्थात् उसको प्रसन्न करने के हेतु (कुरुवृद्धः) कौरवों के स्याने व (प्रतापवान्) प्रतापवाले (पितामहः) भीष्म पितामह जी ने (उच्चैः) ऊंचे स्वर से (सिंहनादम्) सिंह के समान गर्जना (विनद्य) करके अर्थात् ऊंचे स्वर से हंस कर अपने (शंखम्) शंख को (दध्मौ) बजादिया ॥

टीका-"प्रतापवान्,, यह शंख का भी विशेषण हो सक्ता है अर्थात् भीष्म जी ने अपना प्रतापवान् शंख बजादिया जिस्में दुर्योधन समझै कि ये लड़ने को तैयार हैं ॥

ततःशंखाश्चभेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त सशब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

अर्थ-(ततः) तदनंतर (शंखाः) बहुत से शंख (च) व (भेर्यः) नगारे (च) और (पणव) ढोल व (आनक) सहनाई व (गोमुखाः) गोमुख इत्यादि अनेक प्रकार के जुझाऊ बाजे (सहसा एव) अकस्मात् एकही वार दुर्योधन की सेना में (अभ्यहन्यन्त)बजने लगे व (सः) उसका (शब्दः) घोर शब्द (तुमुलः) बड़ाभारी (अभवत्) हुवा ॥

ततःश्वेतैर्हयैर्युक्ते महतिस्यन्दनेस्थितौ ।
माधवःपाण्डवश्चैव दिव्यौशंखौप्रदध्मतुः॥१४॥

अर्थ-(ततः) तब पांडवों की सेना में भी (श्वेतैर्हयैर्युक्ते) सफेद घोड़ों के सहित (महति) बड़े शोभायमान (स्यन्दने) रथ में (स्थितौ) सवार हुए(माधवः) श्रीकृष्ण जी (चैव) और (पाण्डवः) अर्जुन ने भी अपने (दिव्यौ शंखौ) अलौकिक शंखों को (प्रदध्मतुः) खूब जोर से बजाये और सेनावालों ने भी अपने२ शंख बजाये अर्थात् ॥

पाञ्चजन्यंहृषीकेशो देवदत्तंधनंजयः ।
पौंण्ड्रंदध्मौमहाशंखं भीमकर्मावृकोदरः ॥१५॥

अर्थ-(हृषीकेशः) इन्द्रियों के स्वामी श्रीकृष्णजी ने पाञ्चजन्यम्) पांचजन्य नाम का शंख बजाया व (धनंजयः) अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख को व (भीमकर्मा) घोरकर्म वाले (वृकोदरः) भीमसेन ने (महाशंखम्) बड़ा भारी शंख (पौंड्रं) पौंड्र नाम का वजाया ॥

अनन्तविजयंराजा कुन्तीपुत्रोयुधिष्ठिरः ।
नकुलःसहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

अर्थ—कुन्ती के पुत्र राजा युधिष्ठिर ने "अनन्त विजय" नाम का शंख बजाया और नकुल ने सुघोष नाम का व सहदेवने मणिपुष्पक नामी शंख बजाया ॥

काश्यश्चपरमेष्वासः शिखण्डीचमहारथः ।
धृष्टद्युम्नोविराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदोद्रौपदेयाश्च सर्वशःपृथिवीपते ! ।
सौभद्रश्चमहाबाहुः शङ्खान्दध्मुःपृथक्पृथक् ॥१८॥

अर्थ—हे (पृथिवीपते) राजा धृतराष्ट्र ! (परम–इष्वासः) श्रेष्ठ धनुषबाण चलाने वाला (काश्यः) काशी का राजा (च) और महारथ शिखण्डी (च) व धृष्टद्युम्न व विराट व (अपराजितः) न जीतने योग्य सात्यकि तथा द्रुपद व (द्रौपदेयाः) द्रौपदी के पांचो पुत्र और (महाबाहुः) बड़ी २ भुजा वाला (सौभद्रः) अभिमन्यु इत्यादि सब योधाओं ने (सर्वशः) सब ओर से (पृथक् पृथक्) अपने न्यारे २ (शङ्खान्) शंख (दध्मुः) बजाये ॥

सघोषोधार्तराष्ट्राणां हृदयानिव्यदारयत् ।
नभश्चपृथिवींचैव तुमलोव्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

अर्थ—(सः) उस (घोषः) शंखों के घोरनाद ने (धार्तराष्ट्राणाम्) धृतराष्ट्र के पक्ष के संपूर्ण लोगों के (हृदयानि) हृदयों को (व्यदारयत) फाड़ दिया और (नभः) आकाश (चैव) व (पृथिवीम्) पृथिवी (तुमुलः) घोर शब्द से (व्यनुनादयन्) व्याप्त हो गये अर्थात् शंखों के घोर नाद से सारे आकाश व पृथिवी को प्रतिध्वनि से पूरित कर दियां ॥

अथव्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।

प्रवृत्तेशस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्यपाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशंतदावाक्यमिदमाहमहीपते ! ॥

अर्थ-संजय कहतेहैं कि हे (महीपते) राजा धृतराष्ट्र! (अथ) इसीसमय अर्थात् जब दोनों दलों में बाजे व शंख बाजने लगे और दुर्योधनादि के दिल कांप उठे तब (धार्तराष्ट्रान्) धृतराष्ट्र के पक्षवालों को (व्यवस्थितान्) युद्ध के हेतु सजे हुए (दृष्ट्वा) देखकर (कपिध्वजः) अर्जुन व जब (शस्त्रसंपाते प्रवृत्ते) हथियार उठाने का समय ही आगया था (तदा) तब (धनुः,उद्यम्य) धनुष उठाकर (पाण्डवः) अर्जुन (हृषीकेशम्) श्री कृष्णजी से (इदम्) यह (वाक्यम्) बचन (आह) बोले जो आगे कहते हैं ॥

टीका-अर्जुन की ध्वजा में हनुमान् जी की मूर्त्ति थी इसी से उसे "कपिध्वज" कहते हैं। उसका रथ स्वयं श्रीकृष्ण जी हांकते थे। धन्य है भक्ति की महिमा कि जिसके पीछे भगवान् को सारथी बनना पड़ा ॥

॥ अर्जुनउवाच ॥

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथंस्थापयमेऽच्युत ! ॥ २१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मयासहयोद्धव्य मस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं यएतेऽत्रसमागताः ।
धार्तराष्ट्रस्यदुर्बुद्धेर्युद्धेप्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

अर्थ-हे (अच्युत) श्रीकृष्णजी ! (मे) मेरे (रथम्) रथ को (उभयोःसेनयोः) दोनों सेनाओं के (मध्ये) बीचों बीच में (स्थापय) खड़ा करौ क्योंकि मुझे खुद लड़ना है सो विपक्षियों को प्रथम देख लेना अवश्य है और मेरा रथ वहीं तब तक खड़ा रखना कि (यावत्) जब तक (अहम्) मैं (योद्धु

कामान्) युद्ध करने की इच्छा से जो लोग यहां (अवस्थितान्) आकर खड़े हुए हैं (एतान्) इन सबको (निरीक्षे) देखलूं ताकि मुझे यह मालूम होजावे कि (अस्मिन् रणसमुद्यमे) इस युद्ध के प्रारंभ होते ही (कैःसह) किस किस के साथ (मया) मुझको (योद्धव्यम्) लड़ना चाहिये ॥ २२ ॥ (ये) जो (एते) ये सब लोग (धार्तराष्ट्रस्यदुर्बुद्धेः) कुबुद्धि दुर्योधन के अर्थात् दुर्योधन की कुबुद्धि के कारण (युद्धे) संग्राम में (प्रियचिकीर्षवः) उसे प्रसन्न करने की इच्छा से वा उसे जिताने के अभिप्राय से (अत्र) यहां पर (समागताः) इकट्ठे हुए हैं उन सब (योत्स्यमानान्) लड़ने वालों को (अहम्) मैं (अवेक्षे) खूब देखलूं ॥२३॥

अर्जुन के ऐसा कहने पर जो कुछ वृत्तान्त हुआ सो संजय आगे कहते हैं ॥

संजय उवाच ॥

एवमुक्तोहृषीकेशो गुडाकेशेनभारत ! ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वारथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषांचमहीक्षिताम् ।
उवाचपार्थपश्यैतान्समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

अर्थ—हे (भारत) धृतराष्ट्र ! (हृषीकेशः) श्रीकृष्ण के प्रति (गुडाकेशेन) अर्जुन के द्वारा (एवम्) इस प्रकार (उक्तः) कहे जाने पर अर्थात् अर्जुन का यह वचन सुनकर श्रीकृष्ण जी ने (भीष्मद्रोणप्रमुखतः) भीष्म व द्रोणाचार्य जो मुखिया थे उन के सामने (च) और (सर्वेषां महीक्षिताम्) सब राजों के सन्मुख (उभयोः सेनयोः मध्ये) दोनों सेनाओं के बीच में अपने (उत्तमंरथम्) सुंदर रथ को कि जिसके समान वहां दूसरा नथा (स्थापयित्वा) खड़ा करके अर्जुन से (इति) ऐसा (उवाच) कहा कि हे (पार्थ) अर्जुन (समवेतान्) यहां पर मिल कर खड़े हुए (एतान् कुरून्) इन सब कौरवों को (पश्य)देखलो॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथपितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्यसकौन्तेयःसर्वान्बन्धूनवस्थितान्॥२७॥
कृपयापरयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥

अर्थ-(अथ) तदनन्तर (तत्र) उस सेना में (पार्थः) अर्जुन ने अपने (पितृन्) चाचा आदि को (पितामहान्) पिता महों को (आचार्यान्) आचार्यों गुरुओंको (मातुलान्) मामोंको (भ्रातृन्) भाइयों को (पुत्रान्) दुर्योधनादि के और अपने पुत्रों को (पौत्रान्) नातियों को (तथा) (सखीन्) मित्रों को युद्ध के हेतु (स्थितान्) खड़े हुए (अपश्यत्) देखा ॥२६॥ पुनः (श्वशुरान्) ससुरों को (चैव) व (सुहृदः) अपने ऊपर हित करने वालों को (अपि) भी (उभयोः सेनयोः) दोनों सेनाओं में (तान्) उन (सर्वान्) सब (बंधून्) संबन्धियों के साथ (अवस्थितान्) मरने के हेतु खड़े हुए (समीक्ष्य) देखकर (सः) वह (कौन्तेयः) अर्जुन (परया कृपया) महान् करुणा से (आविष्टः) पूरित होकर (विषीदन्) विषाद करता हुआ (इदम्) यह बात श्रीकृष्ण जी से (अब्रवीत्) बोला जो आगे लिखी जाती है ॥

अर्जुन उवाच ॥

दृष्ट्वेमान्स्वजनान्कृष्ण युयुत्सून्समुपस्थितान्॥२८॥
सीदन्तिममगात्राणि मुखंचपरिशुष्यति ।
वेपथुश्चशरीरेमे रोमहर्षश्चजायते ॥ २९ ॥

अर्थ—हे कृष्ण ! (युयुत्सून्) युद्ध करने की इच्छा करके यहां पर (समुपस्थितान्) सामने खड़े हुए (इमान्) इन सब (स्वजनान्) बन्धुजनों को (दृष्ट्वा) देखकर (मम)

मेरे (गात्राणि) शरीर के अवयव यानी हाथ पांव इत्यादि (सीदन्ति) ढीले हुए जाते हैं (च) और मेरा (मुखम्) मुख (परिशुष्यति) बहुत सूखता है (च) और (मे) मेरे (शरीरे) शरीर में (वेपथुः) कंप कपी उठती है (च) व शरीर में (रोमहर्षः) रोमांच (जायते) खड़े होते हैं ॥

गाण्डीवंस्रंसतेहस्तात् त्वक्चैवपरिदह्यते ।
नचशक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीवचमेमनः ॥ ३० ॥

अर्थ–मेरा (गाण्डीवम्) गाण्डीव धनुष मेरे (हस्तात) हाथ से (स्रंसते) खसकता है (चैव) और (त्वक्) मेरे शरीर का चमड़ा (परिदह्यते) जला जाता है इस रण भूमि में (अवस्थातुम्) खड़े रहने की अब (नच शक्नोमि) मुझे सामर्थ्य नहीं है (च) और (मे) मेरा (मनः) मन (भ्रमति, इव) घूमता सा है अर्थात् मेरे मन में नाना प्रकार के संकल्प विकल्प उत्पन्न होते हैं व घबड़ाता है ॥

निमित्तानिचपश्यामि विपरीतानिकेशव !
नचश्रेयोऽनुपश्यामि हत्वास्वजनमाहवे ॥३१॥

अर्थ–हे केशव ! (निमित्तानि) शकुन व चिन्ह (च)भी (विपरीतानि) अनिष्ट सूचक व अशुभ (पश्यामि) देखता हूं (च) और (आहवे) युद्ध में (स्वजनम्) संबन्धियों को (हत्वा) मार कर मैं अपना (श्रेयः) कल्याण (च) भी (न अनुपश्यामि) पीछे से नहीं देखता अर्थात् अपने बंधु बांधवों को मारने से मेरा भला कभी न होगा ॥

नकाङ्क्षेविजयंकृष्ण नचराज्यंसुखानिच ।
किंनोराज्येनगोबिन्द किंभोगैर्जीवितेनवा ॥३२॥

अर्थ– हे कृष्ण ! मैं अपनी (विजयम्) जीतिभी (न कांक्षे) नहीं चाहता (च) और (न च राज्यम्) न राज्य (च) व (सु-

खानि) सुखों की मुझे इच्छा है। हे गोविन्द ! (नः) हमारा (राज्येन) राज्य से (किम्) क्या प्रयोजन है ? व (भोगैः) सुख भोगों से (किम्) क्या लाभ है ? (वा) अथवा (जीवितेन) हमारे जीने से भी क्या लाभ है ? क्योंकि—

येषामर्थेकाङ्क्षितंनो राज्यंभोगाःसुखानिच ।
तइमेऽवस्थितायुद्धेप्राणांस्त्यक्त्वाधनानिच ॥३३॥
आचार्याःपितरःपुत्रास्तथैवचपितामहाः ।
मातुलाःश्वशुराःपौत्राः श्यालाःसंबन्धिनस्तथा३४

अर्थः–(आचार्याः) हमारे आचार्य लोग व (पितरः) चचालोग (पुत्राः) लड़के भतीजे (तथैव) और (पितामहाः) आजे (मातुलाः) मामा (श्वशुराः) ससुर (पौत्राः) नाती (श्यालाः) सारे तथा (संबन्धिनः) अन्यान्य हमारे संबंधी लोग कि (येषाम्) जिनके (अर्थे) हित के वास्ते (नः) हमको (राज्यम्) राज्यपद व (भोगाः) सुख भोग के पदार्थ (च) और (सुखानि) सब संसारी सुख की (काङ्क्षितम्) इच्छा होती है (ते) वे (इमे) ये सबही लोग (प्राणान्) अपने प्राण (च) व (धनानि) धनकी आशा को (त्यक्त्वा) छोड़कर (युद्धे) युद्ध में (अवस्थिताः) आके खड़े हैं तो बताइये अपने अपने निजी लोगों को मार कर राज्य को क्या करूंगा ॥

एतान्नहन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपिमधुसूदन ! ।
अपित्रैलोक्यराज्यस्य हेतोःकिंनुमहीकृते ॥३५॥

अर्थ–हे मधुसूदन ! (घ्नतः अपि) यदि ये दुर्योधनादि मुझे मार भी डालें तौ भी (एतान्) इनको (हन्तुम्) मारने की (न, इच्छामि)मैं इच्छा नहीं करता। इतना ही नहीं बल्कि (त्रैलोक्यराज्यस्य) तीनों लोक के राज्य के (हेतोः) हेतु(अपि) भीमैंइन्हें नहीं मारना चाहता अर्थात् इनके मारने से यदि तीनों लोक

का राज्य भी मुझे मिले तो भी यह नहीं चाहता, तो फिर केवल (महीकृते) पृथिवी लाभके हेतु (किंनु) क्यों इन्हें मारूं ? ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः काप्रीतिःस्याज्जनार्दन !।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

अर्थ–हे (जनार्दन) श्रीकृष्ण ! (धार्तराष्ट्रान्) इन धृतराष्ट्र के वंश वालों को (निहत्य) मारडालने से (नः) हम को (का) कौनसी (प्रीतिः) प्रसन्नता (स्यात्) हो सकती है ? प्रत्युत (एतान्) इन (आततायिनः) आततायी लोगों को (हत्वा) मारके (अस्मान्) हम को (पापम् एव) पाप ही का (आश्रयेत्) आश्रय लेना पड़ेगा अर्थात् पाप ही लगेगा कोई सुख नहीं हो सकता ॥

टीका–जो अपने जन का दुःख नाश करै उस का नाम "जनार्दन" है नीचे लिखे लोगों को आततायी कहते हैं ॥

अग्निदोगरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहारीच षडेते आततायिनः ॥

१ अग्नि लगाने वाला २ विष देने वाला ३ हाथ में हथियार लेकर मारने को आने वाला ४ धन लूटने खसोटने वाला ५ खेत व खरियान इत्यादि का हरने वाला ६ स्त्री का हरने वाला ये छः मनुष्य आततायी कहाते हैं । नीतिशास्त्र का वाक्य भी है कि–

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।
नाततायिबधेदोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥

कौरवों में ये सब दोष थे अतएव नीति के अनुसार वे मारने योग्य ही थे। परन्तु अर्जुन ने विचारा कि धर्मशास्त्र के वाक्य के अनुसार दोषी आदमी को भी न मारना चाहिये यथा—

स्मृत्योर्विरोधेन्यायस्तु बलवान्व्यवहारतः।
अर्थशास्त्रात्तुबलवद्धर्मशास्त्रमितिस्थितिः॥

अर्थ-दो स्मृति वाक्यों में परस्पर विरोध हो तो न्याय का वाक्य व्यवहार साधक होने से बलवान् है। अर्थशास्त्र से धर्मशास्त्र बलवान् है। इसी कारण अर्जुन ने कहा है कि इन आततायी आचार्यादिक के वध करने से मुझे पाप ही लगेगा और अन्याय व अधर्म दोनों मेरे हाथ से होंगे॥

(नोट) और यह भी सम्भव है कि पाण्डवों में अर्जुन भगवान् का ही एक रूप होने से ऐसे अवसर में धर्मानुकूल कर्त्तव्य क्षत्रिय धर्म की व्यवस्था जानते हों तो इस लिये युद्ध से उदासीनता दिखायी हो कि आगे कोई यह न कहे कि पाण्डवों में दया न थी राज्य के लोभ से सब कुल का नाश किया। और भीतरी आशय यह भी हो सकता है कि संग्राम से उदासीनता दिखा कर इसी बहाने से भगवान् के मुख से गीता रूप तत्त्वज्ञान का उपदेश सुनलूं और वह श्रीकृष्णार्जुन संवादरूप से गीताज्ञान सब संसार का इष्टसाधक और मेरी कीर्त्ति का चिरस्थायी चिन्ह होगा (भो० शा०)॥

आगे के श्लोकों में यह भी दरशाया है कि यद्यपि ये लोग बंधु वध करने को उद्यत हुए हैं तथापि उनको देख कर मुझे वही दोष नहीं करना चाहिये॥

तस्मान्नार्हावयंहन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनंहिकथंहत्वा सुखिनःस्याममाधव!॥३७॥

अर्थ-हे (माधव) लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण जी! (तस्मात्) तिस कारण से (स्वबांधवान्) अपने सम्बन्धी (धार्तराष्ट्रान्) धृतराष्ट्र के पुत्रों के (हन्तुम्) मारने को (वयम्) हम (न, अर्हाः) योग्य नहीं हैं, भला (स्वजनम्) अपने बंधुओं को (हि) ही (हत्वा) मार कर हम (कथम्) किस प्रकार

(सुखिनः) सुखी (स्याम) होवेंगे ? अर्थात् कदापि सुखी नहीं हो सक्ते ॥

यद्यप्येतेनपश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतंदोषं मित्रद्रोहेचपातकम् ॥ ३८ ॥
कथंनज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतंदोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ! ॥ ३९ ॥

अर्थ-(यद्यपि) जो भी (एते) इन दुर्योधनादि ने (लोभोपहतचेतसः) लोभ के वश होकर अपने अन्तःकरण मलिन व विवेकहीन कर रक्खे हैं और इसी कारण वे लोग (कुलक्षयकृतं दोषम्) अपने कुल को नाश करने के पाप को व (मित्रद्रोहे च पातकम्) अपने हितकारियों के मारने के पाप को (न पश्यन्ति) नहीं देखते तथापि हे (जनार्दन) श्री कृष्ण जी ! (कुलक्षयकृतं दोषम्) कुल के क्षय करने के दोष को (प्रपश्यद्भिः) देखते जानते हुए (अस्माभिः) हम लोगोंको (अस्मात्, पापात्) इस पाप से (निवर्त्तितुम्) निवृत्त होने का मार्ग (कथम्) क्यों (न ज्ञेयम्) नहीं जानना चाहिये ? अर्थात् आप की कृपा से हमारे ज्ञान चक्षु हैं तो जान बूझ कर हम उन दोषों से क्यों न बचें ? ॥

कुलक्षयेप्रणश्यन्ति कुलधर्माःसनातनाः ।
धर्मेनष्टेकुलंकृत्स्न मधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

अर्थ-(कुलक्षये) कुल का नाश हो जाने पर (सनातनाः, कुलधर्माः) परंपरा से जो धर्म कुल में चल आये हैं वे सब (प्रणश्यन्ति) नाश हो जाते हैं (उत) प्रत्युत (धर्मे नष्टे) धर्म नष्ट होजाने पर वाकी (कृत्स्नम्) सब (कुलम्) कुल को (अधर्मः) अधर्म (अभिभवति) जीत लेता है अर्थात् अधर्म ही प्रधान होजाता है । और-

अधर्माभिभवात्कृष्ण ! प्रदुष्यन्तिकुलस्त्रियः ।

स्त्रीषुदुष्टासुवार्ष्णेय जायतेवर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

अर्थ-हे कृष्ण ! (अधर्माभिभवात्) अधर्म के बढ़ जाने से (कुलस्त्रियः) कुलवन्तिनी स्त्रियां (प्रदुष्यन्ति) दूषित व नष्ट हो जाती हैं और हे (वार्ष्णेय) वृष्णिवंशी भगवान् (दुष्टासु, स्त्रीषु) इन दूषित हुई स्त्रियों में अर्थात् उन से (वर्णसंकरः) वर्णाश्रम धर्महीन व कुमार्गी सन्तति (जायते) उत्पन्न होती है। पुनः—

संकरोनरकायैव कुलघ्नानांकुलस्यच ।
पतन्तिपितरोह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

अर्थ— (कुलघ्नानाम्) इन कुल के नाश करने वालों (च) और (कुलस्य) कुल को (संकरः)वंश में उत्पन्न हुआ वर्णसंकर (नरकाय एव) नरक ही में पहुंचाता है और (हि) निश्चय करके (एषाम्) इन कुलके नाश करनेवालों के (पितरः) पितर लोग भी (पतन्ति) पतित होजाते हैं अर्थात् स्वर्ग से नरक में गिरते हैं क्योंकि (लुप्तपिण्डो-दकक्रिया.) उनके हेतु पिण्डदान व जलदान इत्यादि की क्रिया लोप हो जाती है। अभिप्राय यह है कि जिस कुल में स्त्री के दूषित होने से वर्णसंकर उत्पन्न होजाते हैं और शुद्ध कुलीन पुरुष नहीं रहता उस कुल के शुद्ध पितरों को वर्णसंकर का दिया पिण्डदान जलदान नहीं पहुंचता इस कारण श्राद्धा-दि कर्म की परम्परा विगड़ने से पितर भी पतित होते और सब नरक में जाते हैं ॥

दोषैरेतैःकुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्तेजातिधर्माः कुलधर्माश्चशाश्वताः॥४३॥

अर्थ-(वर्णसंकरकारकैः) वर्णसंकर बनानेवाले (एतैर्दो-षैः) इन दोषों से अर्थात् कहे हुए जिनर दोषों से वर्णसंकर हो जाते हैं उनके आचरण करनेवाले (कुलघ्नानाम्) व अप-

ना वंश क्षय करनेवालों के (जातिधर्माः) सर्व वर्ण धर्म (च) व (शाश्वताः) सनातन (कुलधर्माः) कुलधर्म इत्यादि (उत्साद्यन्ते) लोप हो जाते हैं ॥ पुनः

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणांजनार्दन ! ।
नरकेनियतंवासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

अर्थ-हे जनार्दन (उत्सन्नकुलधर्माणाम्) जिनके कुलके धर्म नाश होगये हैं उन (मनुष्याणाम्) लोगों का (नियतम्) निश्चय करके सदा (नरके) नरक में (वासः) निवास (भवति) होता है (इति) ऐसा (अनुशुश्रुम) हमने सुना है जैसा कि निम्नलिखित वचन है ॥

प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः पापेष्वभिरतानराः ।
अपश्चात्तापिनःपापान्निरयान्यान्तिदारुणान्॥

इन सब बातों को विचार कर अर्जुन के मन में बन्धु वध का दोष महान् घोर रूप से घूमने लगा तब उस ने यह विचारा कि संताप करने से व फिर पाप से दूर रहने से सब पापों का नाश हो जाता है अतएव बड़ा संताप करके बोला कि—

अहोवतमहत्पापं कर्तुंव्यवसितावयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुंस्वजनमुद्यताः ॥४५॥

अर्थ-(अहो) हाय बड़े कष्ट की बात है कि (वयम) हम लोग (महत्पापम्) बड़ा भारी पाप (कर्त्तुम्) करने को (व्यवसिताः) निश्चय किये हुए हैं (यत्) जो कि (राज्यसुखलोभेन) राज्य सुख का लोभ करके (स्वजनम्) अपने बन्धुओं को (हन्तुम्) मारने को (उद्यताः) तैयार हुए हैं ॥

इस प्रकार संताप करके अर्जुन आगे कहता है कि मेरी खुद मृत्यु हो जावे तो ही ठीक है ॥

यदिमामप्रतीकारमशस्त्रंशस्त्रपाणयः ।

धार्त्तराष्ट्रारणेहन्युस्तन्मेक्षेमतरंभवेत् ॥४६॥

अर्थ-(यदि) जो (शस्त्रपाणयः) हाथों में हथियार लिये हुए (धार्त्तराष्ट्राः) धृतराष्ट्र के पक्षवाले (अप्रतीकारम्) चुपचाप बैठे हुए व (अशस्त्रम्) हथियार हीन खुद (माम्) मुझ को (रणे) युद्ध में (हन्युः) मार डालें तौ (तत्) वह उन का मारना (मे) मेरा (क्षेमतरम्) अत्यन्त हित (भवेत्) होवै अर्थात् वे मुझेही मारडालें तो मैं इस पातक से बचजाऊं॥

टीका-यह बात अर्जुन ने इस विचार से कही है कि प्राणधारीमात्रको अहिंसा परमधर्म है। जो बुराई करने वाले के साथ बुराई न करे उसे " अप्रतीकार " कहते हैं ॥

संजयउवाच ॥

एवमुक्त्वार्जुनःसंख्ये रथोपस्थउपाविशत् ।
विसृज्यसशरंचापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

अर्थ-(संख्ये) संग्राम में (एवम्) इस प्रकार (उक्त्वा) कहिकर अर्जुन (सशरं चापम्) बाण के सहित धनुष को (विसृज्य) त्याग के (शोकसंविग्नमानसः) शोक में व्याकुल चित्त हो गया व (रथोपस्थे) रथ के पिछले भाग में (उपाविशत्) बैठ गया ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे - श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ ओंनमोभगवते वासुदेवाय ॥

द्वितीयेशोकसंतप्त-मर्जुनंब्रह्मविद्यया ।
प्रतिबोध्यहरिश्चक्रे स्थितप्रज्ञस्यलक्षणम् ॥

अर्जुन के शोक मोह में निमग्न होने के व शस्त्र डाल कर चुप बैठ जाने के पश्चात् जो संवाद श्रीकृष्ण व अर्जुन के बीच में हुआ वह संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं ॥

॥ संजयउवाच ॥

तंतथाकृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ॥
विषीदन्तमिदंवाक्यमुवाचमधुसूदनः ॥ १ ॥

अर्थ-जैसा कि पूर्व अध्याय में कहा है (तथा) तैसा (कृपयाविष्टम्) करुणा से पूर्ण (अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्) अश्रु-पात युक्त और व्याकुलनेत्र वाले व (विषीदन्तम्) विषाद करते हुए (तम्) तिस अर्जुन को (मधुसूदनः) श्रीकृष्ण जी (इदम्) यह (वाक्यम्) वचन (उवाच) बोले जो आगे कहते हैं॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

कुतस्त्वाकश्मलमिदं विषमेसमुपस्थितम् ॥
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन ! ॥ २॥

अर्थ-हे अर्जुन ! (त्वा) तुझको (विषमे) संग्राम की पूर्ण तयारी के समय (इदम्) यह (कश्मलम्) अनुचित कायरपना अथवा मोह (कुतः) कहां से (समुपस्थितम्) आ कर प्राप्त हुआ अर्थात् यह तेरे योग्य नहीं है क्योंकि यह (अनार्यजुष्टम्) श्रेष्ठ लोगों के सेवन करने योग्य नहीं है व (अस्वर्ग्यम्) स्वर्ग अथवा धर्म

की प्राप्ति कराने वाला भी नहीं और उलटा (अकीर्त्तिकरम्) अपयश का फैलाने वाला है ॥

तात्पर्य-श्रेष्ठ लोगों को ऐसा मोह नहीं होता व उस से धर्म की व कीर्त्ति की हानि होती है। तुझे उस मोह में न फंसना चाहिये ॥

क्लैव्यंमास्मगमःपार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते ॥
क्षुद्रंहृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठपरंतप ॥ ३ ॥

अर्थ-हे (पार्थ) अर्जुन तू ऐसे (क्लैव्यम्) नपुंसकपन वा कातरपन को (मास्मगमः) मत प्राप्त हो क्योंकि (एतत्) यह (त्वयि) तुझ में (न उपपद्यते) शोभा नहीं देता अर्थात् तेरे योग्य नहीं है। अतएव हे (परंतप) शत्रुतापन अर्जुन इस (क्षुद्रम्) तुच्छ वा नीच (हृदयदौर्बल्यम्) हृदय की दुर्बलता वा कातरता को (त्यक्त्वा) छोड़ कर युद्ध के वास्ते (उत्तिष्ठ) उठ खड़ा हो ॥

श्रीकृष्णजी के ऐसे वचन सुन कर अर्जुन आगे इस आशय से बोलता है कि कुछ कायरपन के कारण मैं युद्ध से जुदा नहीं होता किन्तु इस युद्ध करने में मुझे बड़ा अन्याय व अधर्म जान पड़ता है इस हेतु मैं युद्ध करना नहीं चाहता हूं ॥

(नोट) इस भगद्गीता के अनेक इंगित चेष्टितों (इसारों) से यह भी ध्वनित वा प्रतीत होता है कि जब ब्राह्मणादि सभी प्राणी मात्र जीव को अपने कर्त्तव्य में मोह वा संसार को अनित्य क्षणस्थायी समझते हुए अनेक शङ्का होतीं, अपने कर्त्तव्य से चित्त हटता, वा आलस्यादि से कर्त्तव्य कामों के त्याग में वा पुरुषार्थ से हटने में ही ज्ञान वैराग्य की सिद्धि मानने लगता है। तब अर्जुन स्थानी जीव मात्र की ओर से वे २ सब प्रश्न (जो २ अर्जुन ने किये हैं) मानने चाहिये। और साक्षात् भगवान् की ओर से समाधान जानो। इस पक्ष के अनुसार जीवेश्वर संवाद का नाम गीता होगा। सब प्राणी मात्र के कर्त्तव्य दो प्रकार के हैं। एक सामान्य द्वितीय

खास सो अपने काम के सिद्ध करने में अनेक बड़े २ कष्ट सहते हुए भी संसार के साथ कैसा ही कठोर युद्ध (झगड़ा झंटा) प्राणान्तका हेतु करने पड़े तो भी अपने निज परम्परागत जातीय कर्त्तव्य को (दोष युक्त दीखने पर भी) कदापि न त्यागे। जैसा कि धर्म व्याध के उपाख्यान से सिद्ध है। यही सनातनधर्म के वेदादि सब शास्त्रों का परमसिद्धान्त जानो। इसी मार्ग पर चलते हुए ज्ञान वैराग्यादि सब सिद्ध हो सकते हैं। केवल कपड़ा रंगकर शिर मुंडा के वा सब बाल रखाकर सब धर्म कर्मों को मिथ्या कहने मात्र से ज्ञान वैराग्यादि कदापि सिद्ध नहीं हो सकते॥ (भी० श०)

अर्जुनउवाच

कथंभीष्ममहंसंख्ये द्रोणंचमधुसूदन ! ॥
इषुभिःप्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ! ॥४॥

अर्थ—हे (मधुसूदन) श्रीकृष्ण जी (संख्ये) रण में (भीष्मम्) भीष्मपितामह जी (च) व (द्रोणम्) द्रोणाचार्य जी के साथ (अहम्) मैं (इषुभिः) बाणों से (कथम्) किस प्रकार (प्रतियोत्स्यामि) सन्मुख होकर युद्ध करूंगा? क्योंकि हे (अरिसूदन) शत्रुविमर्दन श्रीकृष्णचन्द्र जी। ये दोनों मेरे (पूजार्हौ) पूजने योग्य हैं॥

अर्थात् जब उन से मैं वाणी का युद्ध नहीं कर सक्ता याने उन के साथ बोल नहीं सक्ता तो फिर बाण लेकर उन से लड़ाई कैसे कर सक्ता हूं? ॥ यदि यह बात हो कि इन लोगों के न मारने से मेरी देह यात्रा में भी मेरा निर्वाह न होगा सो आगे अर्जुन कहता है कि वह बात भी नहीं तो फिर मैं क्यों इन को नाहक मारूं ॥

गुरूनहत्वाहिमहानुभावाञ्छ्रेयोभोक्तुं भैक्षमपीहलोके ॥ हत्वार्थकामांस्तुगुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

अर्थ—(इह लोके) इस संसार में (महानुभावान्) बड़े२

प्रताप वाले (गुरून्) गुरु लोगों को (अहत्वा) न मारकर (हि) ही (भैक्षम्, अपि) भिक्षा का अन्न भी (भोक्तुम्) खाना (श्रेयः) कल्याण करने वाला है अर्थात पर लोक विरुद्ध द्रोणाचार्यादि का बध करने की अपेक्षा इस लोक में भिक्षा मांगकर अन्न से पेट भर लेना उचित है। परंतु इस को न मा-न कर यदि कोई इन लोगों को मार भी डाले तो उत्तरार्ध में आगे कहता है कि ऐसे मनुष्य को केवल परलोक ही में दुःख नहीं प्रत्युत इस लोक में भी नरक दुःख भोगना पड़ता है (अर्थकामान्) अर्थ की कामना वाले (गुरून्) गुरु लोगों को (हत्वा) मार कर (तु) तो (इह) इस लोक में (एव) ही हम (रुधिरप्रदिग्धान्) रक्त में सने हुवे (भो-गान्) भोगों को (भुञ्जीय) भोग करेंगे अर्थात् वे भोग हम को नरक प्राप्त करावें ॥

टीका—" अर्थकामान् " यह भोगों का भी विशेषण हो सक्ता है तब यह अर्थ होगा कि हम लोग रक्त में खूब सने हुए अथ काम युक्त भोगों को यहीं भोगेंगे अर्थात् वे भोग करना मानो हमारा रक्त पीना है ॥ "अर्थकामान्" यदि गुरु का विशेषण दिया जावे तो यह अर्थ होगा कि अर्थ तृष्णा में लिप्त होकर यदि ये लोग युद्ध करने को उद्यत हैं तो भी इन का बध उचित नहीं जैसा कि भीष्म जी ने यु-धिष्ठर से कहा है ॥

अर्थस्यपुरुषोदासो दासस्त्वर्थोनकस्यचित् ।
इतिसत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेनकौरवैः ॥

(नोट) जैसे ब्राह्मण का जातीय निज (अन्तरङ्ग) कर्त्तव्य वेदोक्त ज्ञान प्राप्त करना है उसको सिद्ध करने में माता पिता गुरु आदि विरोधी हों तो उन सबको कष्ट देकर वा उनसे युद्ध करके भी ज्ञान प्राप्त करे ? यह भी प्रश्न हो सकता है। तब ज्ञान अवश्य प्राप्त करे यही उत्तर होगा। (भी० श्रा०)

अब अर्जुन आगे कहता है कि यदि हम अधर्म को भी

अंगीकार करें तो यह नहीं जाना जाता कि हमारा विजय श्रेष्ठ है अथवा पराजय श्रेष्ठ है ॥

नचैतद्विद्मःकतरन्नोगरीयो यद्वाजयेमयदि वानोजयेयुः ॥ यानेवहत्वानजिजीविषामस्तेऽव-स्थिताः प्रमुखेधार्त्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

अर्थ–हम को भिक्षा का अन्न श्रेष्ठ है या गुरु आदि को मार कर राज्य भोगना श्रेष्ठ है। अथवा हम उन से लड़ मरें तो (यद्वाजयेम) यदि हम उनको जीत लेंगे (यदिवा) या वे लोग (नः) हम को (जयेयुः) जीतेंगे इन दोनों बातों में से (कतरत्) कौनसी बात (नः) हमारे लिये (गरीयः) श्रेष्ठ वा अधिकतर अच्छी है (एतत्) यह (च) भी (न विद्मः) हम नहीं जानते और यदि हमने उन को जीत भी लिया तो वह जय हमारे कोई काम का न होगा क्योंकि (यान्, एव) जिनही को (हत्वा) मार कर (न जिजीविषामः) हम नहीं जीना चाहते हैं (ते) वे ही (धार्त्तराष्ट्राः) दुर्योधनादि हमारे (प्रमुखे) सामने मरने को (अवस्थिताः) खड़े हैं ॥

टीका—यह प्रतीत होता है कि पीछे बहुत जगह और इस अध्याय के श्लोक ५ में अर्जुन को "विपर्यय" होगया था व इस श्लोक ६ में उसे "संशय,, और इससे आगे श्लोक ८में अज्ञान होगया था ये तीनों ब्रह्मज्ञान से नष्ट होते हैं अर्थात् ब्रह्म विद्या श्रवण करने से "अज्ञान,, जाताहै "मनन,, करने से "संशय" और "निदिध्यासन,,करनेसे "विपर्यय,,का नाशहोताहै ॥

(नोट) द्वितीय सामान्य जीव पक्ष में स्त्री पुत्र इष्ट मित्रादि से विरुद्ध होकर उच्चकोटि के धर्म,ज्ञान, और वैराग्यादि को सिद्ध करलेना अपना विजय और उन को कष्ट पहुंचने के मोह में फंस जाना उन का विजय है। स्त्री आदि का मारा जाना यही है कि उन के भावी संसारी भोगों का नाश होना (भी० ग्र०)

**कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामित्वां ध-
र्मसंमूढचेताः॥ यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितंब्रूहितन्मे
शिष्यस्तेहंशाधिमांत्वांप्रपन्नम् ॥ ७ ॥**

अर्थ–इन सब को मार कर हम कैसे जीवेंगे यह कृपणता अर्जुन
के मन में समाई थी और जो आत्मा को नहीं जानता उसको
भी कृपण या दीन भी कहते हैं। "कुलक्षय" करनेका दोष भी उस
के मनमें समाया था इसलिये वह कहता है कि (कार्पण्यदोष)
कृपणता व दोष इन दोनों से (उपहतस्वभावः) मेरे स्वभाव
अथवा शूरता के लक्षणों को जीत रक्खा है अर्थात् मैं इन
दोनों के वशीभूत होरहाहूं और (धर्मसम्मूढचेताः) धर्म में मेरा
चित्त संमूढ हो रहा है अर्थात् मुझे यह संशय हो रहा है कि
युद्ध को त्याग कर भिक्षाटनादि क्षत्रियों का धर्म है या नहीं?
इस दशा में पड़ कर मैं (त्वाम्) तुम से (पृच्छामि) प्रश्न
करता हूं कि (यत्) कौनसी बात (निश्चितम्) निश्चय
करके (मे) मेरे कल्याणकारी (स्यात्) होवे (तत्) वह (मे)
मुझे (ब्रूहि) बताओ क्योंकि (अहम्) मैं (ते) तुम्हारा (शिष्यः)
शासन करने का पात्र हूं व (त्वाम्) तुम्हारी हो (प्रपन्नम्) श-
रण हूं अतएव(माम्) मुझ को (शाधि) उपदेश व शिक्षा करो॥

(नोट) मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत दुर्गासप्तशती में लिखा
है कि एक राजा और वैश्य को ऐसा ही मोह हुआ था और
उस समय उनने ऐसा ही प्रश्न करके ऋषि से संतोषजनक स-
माधान पाकर कृतार्थ हुए थे। (मो० ला०)

टीका–इस समय अर्जुन को अत्यन्त शोक व संताप हुआ
था व उस को स्मरण आया कि आत्मज्ञानी ही शोकसमुद्र
के पार होता है। और धन, संसारी धर्म, कर्म, पुत्रादि स
मोक्ष नहीं मिलता जैसा कि श्रुतिवाक्य है—

१ " **तरतिशोकमाऽऽत्मवित्** "

२ "नकर्मणा,नप्रजया, नधनेन, त्यागेनैकेअमृतत्वमानशुः"

अर्जुन ने यह भी विचारा कि धर्म कर्म मैं सब जानता व करता ही हूं और धर्म के अवतार साक्षात् मेरे भाई हैं। तथा वेदोक्त कर्मकाण्ड को भी जानता व अनुष्ठान करता हूं और भेद उपासना परमेश्वर की भक्ति का फल साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र स्वामी मेरे सखा भाई मेरे पास हैं। तो बहुत स्पष्ट जान पड़ता है कि यह शोक मुझ को केवल आत्मा के अज्ञान से हुआ है उस को ब्रह्मविद्या के सुनने से दूर करना चाहिये। प्रथम इस श्लोक में अपने को ब्रह्मविद्या का अधिकारी प्रगट करता है। "शिष्य" व पुत्र के सिवाय और किसी को ब्रह्मविद्या नहीं सुनावे अतएव अर्जुन ने अपने को "शिष्य" कहा है। अनन्य गुरुभक्त को ज्ञान सिखाया जाता है इस से अर्जुन ने "त्वां प्रपन्नम्" कहा है। अर्जुन ने "अनित्य" श्रेय नहीं मांगा किन्तु यह कहा है कि जो निश्चितं अर्थात् सदा निश्चय बना रहे वह बताओ अर्थात् उन का तात्पर्य मोक्ष से था॥

यह श्लोक कह कर अर्जुन को यह शंका हुई कि मेरी ऐसी बात सुन कर कहीं श्रीकृष्ण जी ऐसा न कह बैठें कि तुम्हीं विचार के जो युक्त हो सो करो अतएव आगे यह विचारकर कहता है कि नारद जी को भी सनकादिक से ब्रह्मविद्या सीखना पड़ी थी तब उन का शोक नाश हुआ था—

नहिप्रपश्यामिममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्॥ अवाप्यभूमावसपत्नमृद्धंराज्यं सुराणामपिचाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

अर्थ–(भूमौ) पृथ्वी पर (असपत्नम्) शत्रु रहित व निष्कण्टक (ऋद्धम्) पदार्थों से भरे हुए (राज्यम्) राज्याधिकार को (च) व (सुराणाम्) देवताओं के (आधिपत्यम्) राज्य को (अपि)भी (अवाप्य) प्राप्त करके अर्थात् जो अभीष्ट पदार्थ हैं वे

सब प्राप्त हो जाने पर भी संपूर्ण (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों का (उच्छोषणम्) सुखाने वाला व संताप करने वाला (यत्) जो (मम) मेरा (शोकम्) शोक है वह जिस उपाय से (अपनुद्यात्) दूर हो जावे वह उपाय मैं (नहिप्रपश्यामि) नहीं देखता अर्थात् इन बातों से वह शोक नाश नहीं होसकता क्योंकि उस के दूर करने की युक्ति और ही है और वह युक्ति ब्रह्मज्ञान है जो प्रथम कर्मानुष्ठान से चित्त शुद्ध हो कर प्राप्त होता है और उपाय से नहीं। यह कह कर अर्जुन ने जो कुछ किया सो संजय धृतराष्ट्र से आगे दो श्लोकों में कहते हैं॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वाहृषीकेशं गुडाकेशःपरंतप॥
नयोत्स्यइतिगोविन्दमुक्त्वातूष्णींबभूवह ९॥

अर्थ-हे (परंतप) धृतराष्ट्र (गुडाकेशः) निद्रा को वश में रखने वाला अर्जुन (हृषीकेशम्) इन्द्रियों के स्वामी [इन्द्रियों को वश में रखनेवाले] श्रीकृष्ण जी से (एवम्) इस प्रकार जो ऊपर कहि आये हैं (उक्त्वा) कहि कर फिर दुबारा (गोविन्दम्) श्रीकृष्ण जी से (न योत्स्ये) मैं युद्ध नहीं करूंगा (इति) ऐसा (उक्त्वा) कहिकर (तूष्णीम्) चुप (बभूवह) हो रहा॥

तमुवाचहृषीकेशः प्रहसन्निवभारत॥
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदंवचः ॥१०॥

अर्थ-संजय कहता है कि हे (भारत) धृतराष्ट्र (उभयोः) दोनों (सेनयोः) सेनाओं के (मध्ये) बीच में (विषीदन्तम्) विषाद दुःख मानते हुए (तम्) उस अर्जुन से (हृषीकेशः) श्रीकृष्णजी (प्रहसन् इव) प्रसन्न मुख हो कर (इदम्) यह (वचः) वचन (उवाच) बोले-इस अभिप्राय से कि अर्जुन को जो देह व आत्मा के अविवेक से यह मोह उत्पन्न हुआ है उसे वह विवेक हो कर यह मोह दूर हो जावे॥

(नोट) द्वितीय पक्ष में दोनों सेना दैवी और आसुरी संपत्ति वाले मनुष्यों की दो कोटि हैं। उन के मध्य में आये जीव को मोह हुआ है। संसारी भोगोत्कण्ठा को सम्यक् जीतनेवाला एक जीव संजय है। वह इस जीवेश्वर संवाद का आसुरी दल के राजा (असुरों का विजय चाहने वाले) को सुनाता है कि ईश्वर ने मोहग्रस्त जीव को अपना निज धर्म सेवन के साथ ही मोक्ष मार्ग ज्ञान का उपदेश इस २ प्रकार किया था (भी० शा०)

इतिहास ॥

एक समय बड़े२ ब्रह्मज्ञानी और भेदवादी भक्त भी श्रीराम चन्द्र जी महाराज के पास बैठे थे। हनूमान जी सेवा में थे श्रीमहाराज ने अपने सेवा भक्ति का माहात्म्य प्रकट करने के लिये हनूमान जी से यह बूझा कि तुम कौन हो। हनूमान जी ने सोचा कि जो यह कहता हूं कि आप का सेवक दास हूं तो ये सब ब्रह्मज्ञानी लोग मुझ को अज्ञानी समझ कर मेरा उपहास करेंगे और यह समझेंगे कि इन की सेवाभक्ति कैसी है जो अब तक आत्मज्ञान न हुआ। और जो मैं ब्रह्म हूं यह कहता हूं तो ये सब भक्त यह समझेंगे कि इन की यह भक्ति कैसी है और श्रीमहाराज में कैसा यह भाव है कि जो अपने ही को ब्रह्म कहते हैं। फिर हनूमान जी श्रीमहाराज का तात्पर्य समझ कर यह बोले कि देह दृष्टी करके तो आप का दास हूं, और जीव बुद्धि करके आप का अंश हूं और वास्तव में जो आप हैं शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप सोई मैं हूं ॥

देहदृष्ट्यातुदासोहं जीवबुद्ध्यात्वदंशकः ।
वस्तुतस्तुतदेवाहमिति मेनिश्चितामतिः ॥

यह सुन कर सब प्रसन्न हुये समस्त श्रीभगवद्गीता का सारार्थ यही है समस्तगीता शास्त्र में इसी के विस्तारार्थ उपाय और उपेय अङ्गाङ्गिवत् कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा का निरूपण है ॥

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्चभाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्तिपण्डिताः ॥११॥

"दृष्ट्वेमान् स्वजनान् कृष्ण" अध्याय १ श्लोक २८ इत्यादि वचन कहिके तुझे (अशोच्यान्) जिन बन्धुओं का शोच न करना योग्य है तिनका (त्वम्) तू (अन्वशोचः) शोच करताहै और यद्यपि मैंने (कुतस्त्वा कश्मलमिदम्) श्लोक २ इत्यादि वचनों से तेरा प्रबोध कर दिया है तथापि फिर तू (प्रज्ञावादान्) पण्डितों के से वाक्य (कथंभीष्ममहं संख्ये) (४) इत्यादि केवल मुख से (च) ही (भाषसे) बोलता है । परन्तु तू पण्डित नहीं है क्योंकि (पण्डिताः) बिवेकी लोग (गतासून्) मरे हुए (च) व (अगतासून्) जीवतों का (नानुशोचन्ति) शोच नहीं करतेहैं अर्थात् मरे हुए का शोच तो उन्हें होता ही नहीं और जीवतों के विषय में वे इस बात का शोच नहीं करते कि ये लोग बंधु हीन होकर जीवते हैं ॥

(नोट) यहां (पण्डिताः समदर्शिनः) के अनुसार एक ही ब्रह्म को सब में परिपूर्ण समदेखने वाले तत्वज्ञानी वा आत्मज्ञानी लोग पण्डित समझने चाहिये । उन को (तत्रकोमोहःकःशोकएकत्वमनुपश्यतः) इस वेद प्रमाण के अनुसार शोक मोह नहीं व्यापता । और जिन को वेदशास्त्र पढ़जाने पर भी शोक मोह दबा लेता है वे महामूर्खों की अपेक्षा लोक में पण्डित कहे जाने पर भी आत्मज्ञानी पण्डितों की अपेक्षा वेदप्रमाणानुसार वास्तव में मूर्ख ही हैं । अर्जुन को शोक मोह होने पर भी उसे ज्ञात हो गया था कि मुझे शोक मोह ने दबाया है । इस से वह मध्यकोटि में ठहरा । (भी० श०)

टीका–भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि तेरी बातें सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य होताहै । यहां तो शास्त्रों की बातें करता है

और वहां भीष्मादिक पर बाण भी नहीं चलाना चाहता क्या तेरे कुल में अकेला तू ही बुद्धिमान् पैदा हुवा है?॥ सुन मैं तेरे आजा भीष्म जी का उदाहरण देता हूं—काशीराज की कन्या अंबासती उससे विवाह करना चाहती थी परन्तु वह नहीं चाहता था तब वह भीष्म के गुरू परशुराम जी के शरण गई उनका कहना भी जब भीष्मने नहीं माना तब गुरू शिष्यका बड़ा युद्ध हुआ उस युद्धमें भीष्म ने परशुराम को बाण से घायल किया ऐसे भीष्म के ऊपर बाण चलाने का शोक वृथा करता है। देख लो यही भीष्म तेरे कुलका नाश करने के लिये दुर्योधनादि को सजाकर लाया है फिर उन्हें मारने को क्यों डरता है ?॥ धर्म की प्रथा के अनुसार युद्ध करने में अपने बिराने का बिचार न करना चाहिये। ज्ञानी लोग मरने का व मरे हुवों का शोक नहीं करते देख तो भला स्वप्न में भी कोई अपना प्यारा मरा दीखने से कोई शोक करता है ?॥ ज्ञानी लोग अपने को अतीन्द्रिय आत्मा समझते हैं व ज्ञान दृष्टि से मरना मारना वगैरह सृष्टि सब खेल स्वप्न के समान देखते हैं॥

इतिहास

एक पुरुषके दो जवान लड़के बहुत गुणवान् व्याहे हुवे दैवयोगसे एकही दिन एकही कालमें मरगये—नगरके लोग उसको समझाने, लगे पण्डितों ने उस को अनेक श्लोक ज्ञान वैराग्य के सुनाये और इस श्लोक (अशोच्या०) का उत्तरार्द्ध भी सुनाया वह पुरुष इस आधे श्लोक के सुनते ही प्रसन्न मुख होकर उत्तर दिशा को चल दिया पण्डितों ने बूझा कि कहां जातेहो उसने उत्तर दिया कि मैंने दुःख रूप गृहस्थाश्रम का संन्यास किया, अब विद्वत्संन्यासी होकर बिचरूंगा। पण्डितों ने कहा कि अभी तुम्हारी तरुण अवस्था है और तुम्हारे घर में तीन तरुण स्त्रियां हैं एक तुम्हारी दो तुम्हारे लड़कों की और वृद्ध मा बाप तुम्हारे विद्यमान हैं दोनों लड़के तुम्हारे घर में मरे पड़े

हैं क्या यहाँ समय संन्यास का है? किंचित् तुमको मरे जीवतों का शोच नहीं ?। उसने उत्तर दिया कि जो श्लोक तुमने पढ़ा उसका अर्थ विचार कर तुमको भी तो अनुष्ठान करना योग्य है। नहीं तो–पर उपदेश कुशल बहुतेरे॥ जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥ विना अनुष्ठान के पंडिताई किसकाम की है! मरे जीवतों का शोच उसी को है जिसने यह श्लोक कहा है मेरा शोच करना निष्फल है। और यह वेद की आज्ञा है कि जिस समय वैराग्य हो उसी समय संन्यास करे "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्" यह कहकर उसी समय विरक्त होगया। विचारना चाहिये कि गीता का सुनना इसको कहते हैं। जिस श्लोक का उत्तरार्द्ध सुनकर यह पुरुष कृतार्थ हुवा इसका अर्थ सबही जानते हैं, कहते हैं, सुनते हैं, परन्तु उनका कहना, जानना, और सुनना सब निष्फल है। क्योंकि रोटी के जानने कहने सुनने से पेट किसी का नहीं भरता है, खाने से ही पेट भरता है। यही आशय गीता के अर्थ का है। ऐसा पुरुष कदाचित् कोई होगा कि जो सत्य संतोष त्याग वैराग्य भक्ति शम दमादिक का अर्थ और फल न जानता होगा, परन्तु सुन समझ कर अनुष्ठान नहीं करते हैं इसी हेतु से भटकते रहते हैं। भगवद्वाक्य में विश्वास करके अनुष्ठान करने के लिये कमर बांधना चाहिये। यह सोचना योग्य हैं। देखो तो सही श्री महाराज तो अपने मुखारविन्द से यह कहते हैं कि मरे जीवतों का शोच नहीं करना–यह बात भले की है वा नहीं, शोच करने में क्या बुराई है, न शोच करने में क्या भलाई है, और शोच वास्तविक है या भ्रान्ति है, यह मुझमें कब से है इसका क्या स्वरूप है, क्या अधिष्ठान है; जीवगत है, वा अंतःकरण गत है, एक रस रहता है, वा घटता बढ़ता रहता है, किस बात से बढ़ता है, किस साधन से घटता है, क्या इसकी समूल निवृत्ति का उपाय है, ऐसा २ विचार करके समस्त गीता के अर्थ का

अनुष्ठान करना योग्य है। तब गीता का अर्थ जानना सुनना कहना सफल है। इस श्लोक के उपदेश से भगवान् ने यह सिद्ध कर दिया है कि अर्जुन का शोक धर्म व नीति के विरुद्ध है और ज्ञान दृष्टि से मरना व मारना स्वप्नवत् हैं इससे अर्जुन के शोक का निषेध किया और वही ज्ञान आगे के श्लोक से कहना प्रारंभ करते हैं व शोच न करने का हेतु जनाते हैं ॥

नत्वेवाहंजातुनासं नत्वंनेमेजनाधिपाः ॥
नचैवनभविष्यामः सर्वेवयमतःपरम् ॥ १२ ॥

अर्थ–जैसे (अहम्)मैं परमेश्वर लीला रूप धारण करके दृश्य वा अदृश्य हो जाता हूं सो (जातु) कभी पहिले क्या (न, आसम्) मैं नहीं था ?(नत्वेव)यह बात नहीं है अर्थात् मैं था, तैसे जीव के अनादि होने के कारण क्या (त्वम्)तू भी(न)न था सो नहीं अर्थात् तू भी था,वा (इमे) ये (जनाधिपाः, न) राजा लोग नहीं थे सो भी नहीं अर्थात् मेरे ही अंश होने के कारण ये सब राजा भी पहिले थे। तात्पर्य मेरे समान पहिले सब थे वा अब भी हैं और (अतःपरम्) इस के पीछे(वयं सर्वे) हम सब लोग (न भविष्यामः) न होंगे (नचैव) यह नहीं है अर्थात् भविष्य में फिर भी हम सब होंगे क्योंकि आत्मा अमर वा जन्म मरण रहित हैं और नाशवान् देह को धारणकरते आये हैं अभी करे हैं वा आगे को भी करेंगे, आत्मा वही है केवल शरीर बदल जाताहै अतएव कोई सोचने योग्य बात नहीं ॥ आगे के श्लोक में कहते हैं कि जैसे ईश्वर जन्म मरण से शून्य है तैसे जीवात्मा भी है क्योंकि ईश्वर का अंश है यद्यपि यह प्रत्यक्ष में जनमता मरता है।

देहिनोऽस्मिन्यथादेहे कौमारंयौवनंजरा ॥
तथादेहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्रनमुह्यति ॥१३॥

अर्थ–(यथा) जैसे (अस्मिन्देहे) इस स्थूल देह में (देहिनः) देहधारी आत्मा को (कौमारम्) बालकपन (यौवनम्) जवानी व (जरा) वृद्धापन तीनों अवस्था प्राप्त होतीहैं (तथा) तैसे मरने उपरान्त भी उस को (देहांतर) दूसरी देह अर्थात् चौथी

अवस्था (प्राप्तिः) मिलती है । यह अवस्था केवल देहान्तर के संबंध से होती है जीवात्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। यद्यपि अवस्था का बदलना प्रत्यक्ष नहीं दीखता तथापि देहाभि-मानी होने से ही जीव को कालमान से अपनी अवस्था बदली दीखतीहै । एक अवस्था का रूप दूसरी अवस्था में नहीं दीख पड़ता और आत्मा एक रस रहकर पिछली अवस्था के लिये नहीं रोता अतएव (तत्र) देह के उत्पत्ति नाश होने में (धीरः) धीरज वाला बुद्धिमान् पुरुष (न मुह्यति) मोह को प्राप्त नहीं होता व आत्मा को जीता मरा नहीं समझता अलबत्ता आत्मा को इस देह के इन्द्रियजन्य सुखों के वियोग होने का दुःख हो सक्ता है । उसी प्रकार अर्जुन समझा कि मुझे भी इन लोगों के वियोग का दुःख होगा इस शंका का परिहार आगे के श्लोक से होता है ॥

मात्रास्पर्शास्तुकौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः॥
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्वभारत!॥१४॥

अर्थ-हे (कौन्तेय) अर्जुन (मात्रास्पर्शास्तु) (मीयन्ते ज्ञायन्ते विषया आभिः इति मात्राः) जिन के द्वारा विषय जाने जावें वे मात्रा कहाती हैं अर्थात् (इन्द्रियवृत्तयः) इन्द्रि-यों की वृत्तियां (तासां स्पर्शा विषयेषु संबन्धाः) तिन का विषयों से जो संबंध अर्थात् देखना सुनना इत्यादि है यही (शीतोष्णसुखदुःखदाः) शीत गरमी इत्यादि रूप से सुख दुःख के देने वाले हैं । कभी गरमी कभी सर्दी कभी अनुकूल कभी प्रतिकूल इसी हेतु कभी सुख कभी दुःख हुवा ही करता है ये सब (आगमापायिनः) दिन रात्रि के समान आने जाने वाले हैं अतएव (अनित्याः) अस्थिर हैं सदा नहीं रह-ते इसी कारण हे (भारत) अर्जुन (तान्) इन जाग्रत् अ-वस्था के भोगों को स्वप्न पदार्थवत् समझकर (तितिक्षस्व) सहन कर अर्थात् उनके विषय में हर्ष विषाद मतमान ॥

टीका-जैसे जल वा तपन आदि के संसर्ग से उसी समय उन के स्वभावानुसार सरदी गरमी होती है उसी प्रकार अपने इष्ट अर्थात् अपनी प्यारी वस्तुओं के संयोग वियोग से भी सुख दुःख होता है परन्तु ये सदा स्थिर नहीं रहते अतएव धीरज धार के उन को सहन करना चाहिये ॥ इष्ट पदार्थों का संयोग वियोगादि झूठी भ्रांति है, वास्तव में आत्मा का न किसी के साथ संयोग है न वियोग है ॥

(नोट) पृथिव्यादि पांच सूक्ष्म भूतों का नाम तन्मात्र कहा गया है। ये ही पांच ज्ञानेन्द्रियों के विषय इन्द्रियों से परे सूक्ष्म हैं। इन तन्मात्रों की उत्पत्ति अहंकार से मानी है। घ्राण आदि इन्द्रियों का अपने २ तन्मात्र के साथ संयोग स्पर्श होने से जो २ सुख दुःखका अनुभव होता है वही शीतो ष्णादि जन्य सुख दुःख है। इन के मूल कारण अहंकार के शिथिल होते ही दीपक में तेल न रहने से दीपक बुझने के समान सुख दुःख भोग की सब वासना मुरझाने लगती हैं। अर्थात् काम सुखकी वासनाभी स्पर्शतन्मात्र के साथ उपस्थेन्द्रिय संयोग से प्रकट होतीहै किन्तु आत्मवस्तु इन अहंकारादि से पृथक् इन सब का साक्षी मात्र है इसी कारण इन मात्रा स्पर्शों का सहनाही वास्तविक आत्म सुख का हेतु है। (भी०श०)

विषय पांच हैं। १ कर्णेन्द्रिय का विषय शब्द, २ त्वचा का स्पर्श, ३ जीभ का रस, ४ नेत्र का रूप, ५ नाक का गंध। इनमें से जो इन्द्रिय बेकाम हो जाती है उसका विषय कायम रहने पर भी उसका उपयोग नहीं होता इसी प्रकार इन्द्रिय के रहते भी उस का विषय नहीं रहा तो वह इन्द्रिय भी बेकाम होजाती। है इन का संयोग सर्वदा रह नहीं सक्ता इस लिये विषय व इन्द्रियों के संयोग में जो थोड़ा सा आत्मसुख मिलता है उसके पश्चात् उस सुख से दुःख अधिक होता है। अतएव ज्ञानी लोग इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले

अनित्य सुखों की इच्छा नहीं करते व सदा समाधान वृत्ति रखते हैं। सुख देन हारे विषय तुर्त ही दुःख देने लगते हैं जैसे ठंढकाल में प्रातःकाल गर्मी प्यारी लगती है परन्तु थोड़ी देर में वही गर्मी दुःख देने लगती है फिर शील की इच्छा होती है फिर शीत सताने लगे तो गर्मी की इच्छा होती है। इस प्रकार प्रत्येक विषय सुख के रूप से दुःख देजाता है। जो मनुष्य ऐसे सुखका अहंकार करके अपने को सुखी मानता है उसे दुःख भोगते समय बड़ा ही कष्ट होता है और घबराने से वह कष्ट दूर नहीं होता उसे भोगना ही पड़ता है। इस लिये हे भारत! तेरे प्यारे लोगों के वियोग से जो विषयेन्द्रिय द्वारा दुःख होगा उसे सहन कर॥ क्योंकि उनसे मिलनेवाला सुख सदा न रहेगा, कभी न कभी तो उनके मरने का दुःख होवे होगा। इन्द्रियों को विषयों के भोगों का संयोग वियोग एक सरीखा जानना यह सुन अर्जुन ने समझा कि सुखमें सुखी न मानना और दुःखमें दुःखी होना ही पड़ता है तो सुख कहां मिलेगा। इस शंका का परिहार भगवान् आगे के श्लोक में कहेंगे। ऐसे अनित्य सुख दुःखों के दूर करने का उपाय करने की अपेक्षा उनको सहना ही योग्य है। उनके निमित्त हर्ष विषाद के वश नहीं होना चाहिये उनके सहन का ही बड़ा फल है। इनके वश नहीं होना यही उन का सहना है इष्ट पदार्थों के लिये तृष्णा नहीं करना व उनके वियोग में दुःख नहीं मानना और अनिष्ट पदार्थों से उद्वेग नहीं करना ठीक है वर्तमान में जैसा हो वही हर्ष शोक रहित होकर उदासीन भाव से भोगना यही एक बड़ा अनुष्ठान है॥

यँहिनव्यथयन्त्येते पुरुषंपुरुषर्षभ !।
समदुःखसुखंधीरं सोऽमृतत्वायकल्पते ॥ १५ ॥

अर्थ—हे (पुरुषर्षभ) अर्जुन! (एते) ये [मात्रास्पर्शाः] इन्द्रिय व विषयों से प्राप्त हुए अस्थिर सुख दुःख(हि) जिस कारण

(यम्) जिस (पुरुषम्) पुरुष को (न व्यथयन्ति) पीड़ा नहीं कर सकते न जीत सकते हैं। व जो इन को उपभोग करता हुआ भी (समदुःखसुखम्) सुख दुःख में (धीरम्) सम बुद्धि रखता है इस से (सः) वह (अमृतत्वाय) धर्म ज्ञान द्वारा अमृत रूपी मोक्ष के (कल्पते) योग्य होता है किन्तु विक्षेप को प्राप्त नहीं होता ॥

टीका–प्रत्येक इन्द्रिय को उसके विषय प्राप्त होने की पहिले इच्छा होती है यह सबको एक सी नहीं होती–किसी को तमाखू की व किसी को पान की व किसी को और२ विषयों की इच्छा होती है। और उसी विषय को वह अधिक चाहने लगता है, इन्द्रियों को अपने२ विषयों के निमित्त एक प्रकार की कंडू अर्थात् खुजली वार २ उत्पन्न होतीहै और वह२ विषय उस २ इन्द्रिय को जैसा २ मिलता जाता है तैसी२ उस की इच्छा बढ़ती ही जाती है। वह न मिटने से दुःख होताहै परन्तु ज्ञानी लोग इस क्षणस्थायी दुःख को सहन कर लेतेहैं। क्योंकि इस समय थोड़ासा दुःख सहन कर लेने से हमेशा का दुःख दूर होता है। एकबार उस विषय को त्यागा कि फिर उस की इन्द्रिय को खुजली होनेकी ही नहीं–यह सर्वोत्तम लाभ विषयों की इच्छा ही को त्यागने से हो सकता है और उसी को वैराग्य अर्थात् "इच्छाराहित्य" कहते हैं इस वैराग्यको धारण किया कि प्रारब्ध से प्राप्त हुए सुख दुःखों का समबुद्धि से उपभोग होता है व व्यथा नहीं होती। जैसे खुजली को खुजियाने से उस समय थोड़ा सुख होता पर अन्त में महान् दुःख होता है परन्तु उस समय धीरज धर न खुजियाय तो जल्दी आराम होता है और पीछे होने वाला बड़ा दुःख बचजाता है। इसलिये इन्द्रिय जनित सुख दुःख धीरज से सहना चाहिये। परमार्थदृष्टि व तत्वविचार से शीतोष्णादि पदार्थ अनित्य हैं। व नित्य अखण्ड पूर्ण आत्मा का अभाव नहीं होता इस विचार से विद्वानों को शीतोष्णादि व मानापमानादि बाधा नहीं करते॥

नासतोविद्यतेभावो नाभावोविद्यतेसतः ॥
उभयोरपिदृष्टोऽन्त-स्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः १६

यदि कोई यह कहे कि एक तो शीतोष्णादिक अतिदुःसह हैं कैसे छूट सकते ? व उन को अत्यन्त सहन करने से कदाचित् अपना ही नाश हो जावे—इस शंका का समाधान व सुख दुःख में समता राखने से जिस ज्ञानद्वारा मोक्ष का पात्र कहा है सो ज्ञान अब कहते हैं ॥

अर्थ—जो शीतोष्णादि पदार्थ अनात्म धर्म के कारण (असतः) अविद्यमान व मिथ्या हैं तिन की आत्मा में कोई (भावः) सत्ता (न विद्यते) नहीं होती है। इसी प्रकार (सतः) सत्स्वभाव वाले आत्मा का (अभावो न विद्यते) नाश नहीं हो सकता। (अनयोः उभयोः अपि) इन दोनों बातों अर्थात् सत् वा असत् का ही (अन्तः) निर्णय (तत्त्वदर्शिभिः) तत्त्व दर्शी यानी जो यथार्थ वस्तु को जानते हैं उन लोगों ने (दृष्टः) देखा है व अनुभव किया है। ऐसे ही विवेक से तू भी सत् स्वरूप आत्मा को निर्लेप व अस्पर्श पदार्थ जान और असत् शीतोष्णादि की आत्मा में गन्धमात्र भी नहीं यही बात वेद में भी कही है—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं,
तथाऽरसंनित्यमगन्धवच्चयत् ॥
अनाद्यनन्तंमहतःपरंध्रुवं,
निचाय्यतंमृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

टीका—जिस प्रकार सुवर्ण सत् पदार्थ व उस के बने हुए अलंकार असत् पदार्थ हैं व जैसे माटी नित्य सत् व उस का बना घट अनित्य है क्योंकि अलंकार व घट बिना सुवर्ण व माटी के नहीं रह सकते। इसीप्रकार सर्व जड़ जगत् अनित्य व असत् है व उस को केवल एक ब्रह्म ही से सत्ता व स्वरूप स्थिति

मिलती है । अलंकार से सुवर्ण, व घट से मिट्टी निकाललें तो कुछ नहीं रहता केवल असल सुवर्ण व मिट्टी है । तैसे ही ब्रह्म बिना जड़ जगत् नहीं ठहर सकता । जगत् उत्पन्न होने के पूर्व यह ब्रह्म अपनी मूल स्थिति में था ॥ जब उस में माया (स्फूर्ति) उत्पन्न भई तब उसी ब्रह्म को ईश्वरपन हुआ इसी माया से सत्व, रज, व तम, हुए सत्वगुण में जो ईश्वर का प्रति बिंब पड़ा वही जीव है अर्थात् ईश्वरबिंब व जीव प्रतिबिंब दोनों ही नाशवान् नहीं हैं किन्तु यह स्थूल देह पतन होने पर जीव प्रतिबिंब अपने मूल बिंब में मिल जाता है व उसी से फिर उत्पन्न होजाता है। जो सतोगुण है वही बुद्धि है व उसमें अहंपन उत्पन्न हुआ कि वही अहंकार है उसी से यह जीव असत् देह को अपन कहने लगता है । वास्तविक अपन तो सत्स्वरूप हैं।१३वें अध्याय में इसी असत् अनित्य देह को क्षेत्र कहा है व ईश्वर के प्रतिबिंब नित्य देहधारी को क्षेत्रज्ञ माना है इसी सत् तत्व को जगत्प्रपंच में देखना व उसे अलहदा भी समझना इन दोनों बातों का निर्णय तत्वदर्शी ही जानते हैं ॥

(नोट) सुवर्ण में आभूषण की कल्पना मात्र है सुवर्ण से भिन्न आभूषण कुछ नहीं, वा स्वरूप से असत् तथा सुवर्ण रूप से सत् है । जल का बलबूला जल से भिन्न असत् है अर्थात् कुछ भी नहीं हैं । इस कारण जब भीष्म द्रोण दुर्योधनादि जल बुद्बुदवत् कुछ वस्तु ही नहीं हैं तब उन के मारे जाने (अभाव होने) का शोक कैसा ? आत्मरूप से सत् भीष्मादि जो कुछ हैं उन का नाश (अभाव) कोई भी करही नहीं सकता । इस से इन के विषय में शोक मोह अज्ञान मात्र की कल्पना से है । (भी० प्र०)

यहां पर श्री महाराज ने यह सिद्ध किया है कि देह अनित्य है व उस में आत्मा नित्य है । परन्तु अर्जुन को शंका

हुई कि जब असत् (अनित्य) व सत् (नित्य) इन दोनों का तत्त्व एक ही है तो असत् देह के समान सत् आत्मा को भी नाशवान् क्यों न होना चाहिये इस पर श्री भगवान् आगे के श्लोक में विशेष रूप से बताते हैं कि सत् पदार्थ स्वभाव से ही अविनाशी है–

अविनाशितुतद्विद्धि येनसर्वमिदंततम् ॥
विनाशमव्ययस्यास्य नकश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

अर्थ– (इदं सर्वम्) उत्पन्न व नाश होने वाले इस शरीरादि रूपी जगत में (येन) जो तत्त्व साक्षि रूप होकर (ततम्) व्याप रहा है (तत तु) वह आत्म स्वरूप तत्त्व ही (अविनाशि) नाशवान् नहीं है ऐसा तू निश्चय करके (विद्धि) जान । (अस्य अव्ययस्य) इस निर्विकार अविनाशी का (विनाशम्) नाश (कश्चित्) कोई भी (कर्तुम्) करने को (न अर्हति) समर्थ नहीं है अर्थात् कोई भी ऐसा समर्थ नहीं जो आत्मा का नाश कर सके । यह आत्मा सच्चिदानंद स्वरूप है और सर्व जगत् में व्याप रहा है ॥

टीका–असत् देह व सत् जीव इन दोनों का तत्त्व ब्रह्म ही है परंतु जीव नाशवान् इस कारण नहीं है कि वह चिदंश व सत् का प्रतिबिंब है । बिंब और प्रतिबिंब जुदे नहीं हैं इसी से यह जीव अपने बिंब आत्मा ब्रह्म के सदृश अविनाशी है । देह ऐसी नहीं है । चित्त स्वरूप बिंब कारण है व उसका कार्य देह जड़ है, इस से नाशवंत है जैसे सुवर्ण कारण हो कर स्वतः नाशवान् नहीं परन्तु जिस आभूषण में वह व्याप रहा है वह उस का कार्य है और नाशवंत है ॥
अब देह का धर्म उत्पत्ति व नाश है सो आगे बताते हैं ॥

अन्तवन्तइमेदेहा नित्यस्योक्ताःशरीरिणः ॥
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्वभारत ॥१८॥

अर्थ–(नित्यस्य) सर्वदा एकरूप अतएव (अनाशिनः) अविनाशी व (अप्रमेयस्य) प्रमाण रहित (शरीरिणः) दे-

इधारी का जो आत्मा है उस के (इमे देहाः) ये सुख दुःख धर्मवाले देह (अन्तवन्तः) नाशवन्त हैं इन को ऐसा तत्त्व दर्शियों ने (उक्ताः) कहा है (तस्मात्) तिस कारण से हे (भारत) अर्जुन ! आत्मा का अविनाशी व सुख दुःख से संबन्ध हीन जान कर व मोहरूपी शोक को त्याग करके (युध्यस्व) अपने स्वधर्म युद्ध को कर ॥

टीका—अप्रमेय व अविनाशी जो आत्मा है तिस काय ह जीव प्रतिबिंब है इस से वह भी अविनाशी है अतएव देह के साथ यह जीव भी मरेगा ऐसा मोह व्यर्थ है ॥

(नोट) श्रुति प्रतिपादित धर्म के अधिकारी भरत खण्डवाली सभी ब्राह्मणादि भारत कहे जासकते हैं तब द्वितीय पक्षानुसार उन सभो से कहा गया है कि अपने वा अपने सम्बन्धियों के शरीरों को अन्त वाले नाशवान् असत् जल बुद्बुदवत्कल्पना मात्र समझते हुए शरीरों का नाश होते हुए भी अपने २ निज (खास) धर्म से मत हटो। अपने २ धर्म की रक्षा करते हुए संसार के साथ युद्ध करो अर्थात् स्वधर्म की रक्षा में जो २ युद्ध करने पड़े उस से अपने कुटुम्बी सम्बन्धी वा अपना मरण तक भी होता हो तो भी कुछ चिन्ता नहीं, कोई पाप दोष नहीं लगेगा, बेधड़क स्वधर्म की रक्षा करो इसी से परम कल्याण होगा। (भी० श०)

कर्म मीमांसा व तर्कशास्त्र का कहना है कि आत्मा कर्त्ता है, तो वह भी मरता है ऐसा दीखता है—आचार्य बृहस्पति ने देह ही को आत्मा मान के यह निश्चय किया है कि वह मरता है। अर्जुन को शंका हुई कि शास्त्रों का मत तो ऐसा है न जाने श्रीकृष्ण जी क्यों दूसरा मत कहते हैं। इस का निवारण आगे के श्लोक से होता है—युद्ध करने को इस वास्ते कहते हैं कि स्वधर्म का अनुष्ठान करने से चित्त शुद्ध हो कर आत्मा का स्वरूप समझ में आ जाता है। यहां तएक भीष्मादि की मृत्यु के निमित्त जो शोक अर्जुन को हुआ था उसका निवारण हुआ परंतु अर्जुन को उन सब के घातक बन जाने

का शोक बना रहा क्योंकि उस ने कहा था कि" एतान्न हंतु मिच्छामि,, श्लोक ३५ अध्याय १ सो अब उसे दूर करते हैं॥

यएनंवेत्तिहन्तारं यश्चैनंमन्यतेहतम् ॥
उभौतौनविजानीतो नायंहन्तिनहन्यते ॥ १९ ॥

अर्थ–(यः) जो कोई (एनम्) इस आत्मा को (हन्तारम्) मारनेवाला (वेत्ति) समझता है (च) अथवा (यः) जो (एनम्) इसे (हतम्) मरने वाला (मन्यते) समझता है (तौ, उभौ) सो दोनो (न, विजानीतः) अज्ञानी हैं क्योंकि (अयम्) यह आत्मा (न हन्ति) न मरता है और (न हन्यते) न मारा जाता है उसको न मारने का न मरने का निमित्त कह सकते हैं क्योंकि वह किसी क्रिया का न तो कर्ता है और न कर्म है ॥

(नोट) नैयायिकों के मत से भी जीवात्मा विभु नाम व्यापक पदार्थ है इस कारण उस का हनन होना वा करना बन नहीं सकता। वेदान्त मत से भूतात्मा अथवा सूक्ष्म शरीर को जीव कह सकते हैं वही एक शरीर छोड़के स्वर्ग नरकादि के शरीरान्तरों में आता जाता है उस का भी हनन नहीं हो सकता सर्व सम्मत केवल स्थूल शरीर का ही हनन होता है। हन धातु का अर्थ पीड़ित होना वा पीड़ा देना है सो यह स्थूल में ही घटता है। (भी० श०)

टीका–यहां मीमांसक व देहात्मवादी लोगों के मत को खंडन किया है, वेदज्ञ भेदवादी भी जीव को कर्ता मानते हैं ये सब लोग ईश्वरबिम्ब को व उसके प्रतिबिम्ब शुद्ध जीव को भी आत्मा शब्द लगाते हैं। अर्थात् ईश्वर को शिवात्मा व जीव को जीवात्मा कहते हैं। कर्म मीमांसा शास्त्र व्यास शिष्य जैमिनि ने बनाया व तर्कशास्त्र गौतम मुनि ने बनाया ये दोनों ब्रह्मवेत्ता व अद्भुत मत के थे। व्यास जी भी पूर्ण अद्वैती थे और इन्हों ने वेदान्त शास्त्र बनाया परन्तु जब देखा कि अद्वैत मत दृढ़ होने को प्रथम चित्त शुद्धि चाहिये

और यह निष्काम कर्म किये बिना नहीं होती तब अपने शिष्य जैमिनि से मीमांसा शास्त्र बन वाया, व उस में काम्य कर्म का मंडन व वेदान्त पक्ष का खंडन करवाया ॥ कारण काम्य कर्म करने वाले बहुत थे और वे उसे छोड़ते नहीं ॥ निष्काम कर्म उन से होता नहीं। ऐसों को केवल अद्वैत उपदेश करने से दोनों ओर से उन की हानि कारक था। जैमिनि ने काम्य कर्म को ही अहंकार व मान दिया व उसी अहं पद को आत्मा निश्चय किया। गौतम ने भी वैसा किया उनका कहना है कि यदि अहं या हम कहने से आत्मा का बोध होता है तो " तुम " कहने से क्यों न होगा ॥ " अहंपन " आत्मा का " स्फुरण " वा खुरहरी है तो " तुमपन " भी होना चाहिये। परन्तु आत्मा अद्वैत अर्थात् एक है और स्फुरण अनेक हैं अतएव अहंकार आत्मा नहीं हो सकता, आत्मा एक व अहंकार तीन प्रकार के हैं १ सात्विक २ राजस व ३ तामस। देहाभिमान तामस अहंकार है, इन्द्रियों को हम मानना राजस अहंकार है। देह व इन्द्रिय दोनों हम नहीं, यह सात्विक अहंकार है। आत्मा इन तीनों अहंकारों से परे है व अकर्त्ता है। चार्वाक व वृहस्पति का भी कहना है कि देह ही आत्मा है व वही मरता है व जितना देख पड़ताहै सो सही बाकी सब झूंठ है। पंच भूतों का मेल आत्मा व देह है व जैसे कथा, चूना, पान, सुपारी एकत्र चाबने से लाल रंग हो जाता है वैसे अस्थि रक्त इत्यादि से देह बन जातीहै॥ इस देह में अहं ज्ञान विशेष है जब वह नहीं रहता इसी का नाम मरना है इसी से वे कहते हैं कि—

यावज्जीवं सुखंजीवेदृणंकृत्वा घृतंपिबेत् ॥
भस्मीभूतस्यदेहस्य पुनरागमनंकुतः ॥

इन का मत है कि पंच भूत केवल जड़स्वरूप हैं, व यह जड़ सृष्टि अनादि है, जड़ से जड़ उत्पन्न होते हैं, व उसी से चैतन्य उत्पन्न होता है अर्थात् जड़ कारण व चैतन्य उस का कार्य

हुवा और जड़ ही चैतन्य का चालक हुआ, यानी जड़ के स्वाधीन चैतन्य हुआ जो प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध है कारण से ही कार्य दीखता है व उसी के आधीन होता है जैसे सोना के स्वाधीन अलंकार है तैसे चैतन्य के आधीन जड़ है इन मतों का खंडन करके अपना सच्चा मत अब आगे श्री भगवान कहते हैं व दिखाते हैं कि आत्मा षट् भाव विकार रहित है इसीसे न मरता न मारता है। देह के छः भाव यो धर्म ये हैं–१ उत्पन्न होना २ व्यावहारिक सत्ता को प्राप्त होना ३ बढ़ना ४ और का और रूप हो जाना ५ घटना ६ नाश होना–

न जायतेम्रियतेवाकदाचिन्नायंभूत्वाभविता वानभूयः॥ अजोनित्यःशाश्वतोयंपुराणो नहन्यतेहन्यमानेशरीरे ॥ २० ॥

अर्थ–(अयम्) यह आत्मा जीव (कदाचित्) कभी (न जायते) न जन्म लेता (वा) और (न म्रियते) न मरता है (वा) अथवा (भूत्वा) उत्पन्न होकर (भूयः) फिरसे (न भविता) न रहेगा ऐसा भी नहीं क्योंकि पहिले ही स्वतः सद्रूप (अयम्) यह (अजः) जन्म रहित है। अर्थात् जो जन्मता है वही जन्मांतर में भी होता है परन्तु जो स्वयं है वह अन्य प्रकार नहीं जन्म सक्ता। यह (नित्यः) सर्वदा एक रूप है सो वृद्धि नहीं पाता (शाश्वतः) क्षय शून्य है व (पुराणः) प्रथम ही नया है व रूपांतर पाके नया नहीं होता अर्थात् यह आत्मा ये उपरोक्त षट् भाव विकार रहित है–अत एव यह (हन्यमाने) मरने वाले (शरीरे) शरीर में रह कर (न हन्यते) मारा नहीं जा सक्ता अर्थात् शरीर के मरने पर यह नहीं मरता॥

(नोट) हनन वा हत्यासे मरण शब्द का अर्थ पृथक् है। कोई हनन नाम ताड़ना विशेष से मरजाता कोई नहीं भी मरता है स्थूल शरीर इन्द्रियां और अन्तः करण समुदाय के साथ चेतन शक्ति का प्रादुर्भाव होना जन्म और उसी समु-

दाय के साथ वियोग होना मृत्यु है सो यह संयोग वियोग भी सूक्ष्म शरीरों का होता है। और क्षेत्रज्ञ नामक आत्मा का संयोग वास्तव में किसी के साथ नहीं है। और अहंपद का मुख्य लक्ष्यार्थ क्षेत्रज्ञ आत्मा है। जैसे घटस्थ आकाश का घट के साथ कल्पना मात्र संयोग है वास्तव में नहीं वैसे ही आत्मा के साथ स्थूल सूक्ष्म शरीरों का संयोग जानो (भी० श०)

टीका–देह जैसा उत्पन्न वा नाश होता है तैसा आत्मा नहीं होता। उदाहरण–राजा पालकी में बैठ देव दर्शन को जाता है तो कहते हैं कि राजा जाता है वास्तविक में राजा तो आराम से बैठा है पालकी ढोने वाले चल रहे हैं तो न चलता राजा जैसे चलता हुआ कहा जाता है इसी प्रकार आत्मा यद्यपि स्थिर व एक भाव है तथापि देह संबंधसे जन्मता मरता दीखता है। एक देह छोड़ दूसरा धारण कर लेता है व आप वही बना रहता है इस की न वृद्धि है न क्षय है। छोटा बड़ा जैसा देह हो उसी प्रकार वह भी छोटा बड़ा कहा जाता है, व देह के सब भागों का सुख दुःख भोगता है। अब अर्जुन को यह शंका हुई कि आत्मा के देह व इन्द्रिय नहीं परंतु वह संकल्प विकल्प तो करता है देहेंद्रिय का प्रेरक है तो जो कुछ देहेन्द्रियों के द्वारा कार्य होते हैं। वह सब आत्मा ही के कृत्य होते हैं। इस का समाधान आगे के श्लोक में दिखाते हैं–

वेदाविनाशिनंनित्यं यएनमजमव्ययम् ॥
कथंसपुरुषःपार्थ कंघातयतिहन्तिकम् ? ॥ २१ ॥

अर्थ–हे (पार्थ) अर्जुन (यः) जो मनुष्य (एनम्) इस आत्मा को (अविनाशिनम्) अविनाशी होने पर (नित्यम्) वृद्धि शून्य व (अजम्) अजन्मा व अनादि (अव्ययम्) निर्विकार क्षय रहित (वेद) जानता है (स पुरुषः) वह पुरुष (कथम्) कैसे व (कम्) किसको (घातयति) घात करवाता

है वा (कम्) किस को (हंति) आप मारता है अर्थात् आप ही प्रयोजक होकर और से किस को कैसे घात करवाता है? या आप घात करता है अर्थात् नहीं करता । इस से भगवान् ने अर्जुन को यह सुझाया है कि प्रयोजक होने के कारण वह मुझ पै भी कोई दोष दृष्टि न करे । ज्ञानदृष्टि करके सब क्रिया में आत्मा प्रेरक भी है पर निर्विकार है अतएव मैं तेरा प्रेरक भी असंग हूं-

टीका-अभी तक केवल शब्दों से यह जाना गया कि आत्मा अविनाशी, नित्य, अव्यय व अनादि है परंतु यह सब बातें जोलों अनुभव से न जानी जावैं तौलों वह अकर्त्ता है ऐसा निश्चय नहीं हो सक्ता , जहां मारना व मरवाना नहीं तहां कौन मारता वा मरवाता है। मैं मारूंगा या मरवाऊंगा यह अहंपन मनका धर्म है । इस मनको ही शुद्ध आत्मा मानने से यह भ्रान्ति होती है। यह मनके धर्म (स्वभाव) जगते में व सोते में दीख पड़ते हैं परंतु गहरी सुषुप्ति अवस्था में यह मन कहां रहता है सो जानना अवश्य है। सुषुप्ति यानी गाढ़ निद्रा अवस्था में आत्मा मन से निराला ही रहता है और इसी से जागने पर अपन को यह अनुभव मालूम पड़ता है कि हमारी खूब नींद लगी थी । मन वहां नहीं रहता ऐसे सुषुप्ति में मग्न हुए आत्मा को यदि जाग्रत् अवस्था में भी जान लेवे तो उसके अकर्ता होने का संशय तुरंत दूर हो जावे यह अनुभव केवल सद्गुरू की कृपा से ही होता है । किसी भी क्रिया में आत्मा कर्ता का प्रेरक नहीं। जैसे भगवान् निर्विकार अकर्ता व असङ्ग है वैसे ही जीवात्मा है यानी जीव व ब्रह्म एक है । यदि यह कहा जावे कि अच्छा आत्मा अविनाशी हुवा तो ठीक है परंतु उसके शरीर का तो नाश होता है यह देख करके हमको शोक होता है । इसका समाधान आगे के श्लोक में किया है-

वासांसिजीर्णानियथाविहाय नवानिगृह्णातिनरोऽपराणि। तथाशरीराणिविहायजीर्णान्यन्यानिसंयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

अर्थ- (यथा) जैसे (नरः) कोई मनुष्य (जीर्णानि) पुराने (वासांसि) वस्त्रों को (विहाय) त्यागि के (अपराणि) और (नवानि) नये वस्त्र (गृह्णाति) धारण कर लेता है (तथा) उसी प्रकार (देही) देहधारी जीवात्मा (जीर्णानि) पुराने (शरीराणि) देहों को (विहाय) त्यागि के (अन्यानि) और (नवानि) भोगनेवाले नये देहों को (संयाति) धारण करता है। अर्थात् इस कर्म से बंधे हुए देह को अवश्य ही उत्पन्न होना पड़ता है अत एव पुराने जीर्ण देह के निमित्त शोक करना वृथा है क्यों कि उसके पश्चात् नया देह कर्म भोगने को अवश्य ही होगा-यानी धर्मात्मा मनुष्यों को उत्तम देह मिलता है व पापियों को निकृष्ट देह मिलते हैं ॥

टीका-आत्मा के लक्षण अज व अविनाशी हैं परंतु जड़ देह धारण करने से उसको भी देह के लक्षण भोगने पड़ते हैं। जैसे देह बाल्यावस्था में है तो आत्मा भी बाल्यावस्था में कहा जाता है। वैसे ही जवानी व बुढ़ापा में। देह केवल बुढ़ापा आने से ही मरती है यह नहीं है क्योंकि बाल्यावस्था व तरुणावस्था में भी मरता है अतएव जब काल आता है तभी शरीर जीर्ण समझना चाहिये विवेकी लोग इसका शोक नहीं करते ॥

वस्त्र की उपमा देने से अर्जुन को यह शंका हुई कि शरीर पर के वस्त्र पर घाव मारा या जलाया जाय तो शरीर भी घायल होगा या जलेगा इसी प्रकार शरीर के घायल होने या जलने से शरीर धारी आत्मा को भी दुःख होना चाहिये अतएव श्री भगवान् आगे कहते हैं कि यह नहीं होता क्यों कि आत्मा अविनाशी नित्य व अव्यय है ॥

नैनंछिन्दन्तिशस्त्राणि नैनंदहतिपावकः।
नचैनंक्लेदयन्त्यापो नशोषयतिमारुतः॥२३॥

अर्थ-(एनम्) इस आत्मा को (शस्त्राणि) शस्त्र (न छिन्दन्ति) नहीं छेद सके (न पावकः) न अग्नि (एनम्) इसे (दहति) जला सक्ता है (च) और (एनम्) इस को (आपः) पानी (न क्लेदयन्ति) गला नहीं सक्ता और (मारुतः) पवन (न शोषयति) सुखा नहीं सक्ता अर्थात् अन्य और भी किसी साधन करके साध्य नहीं यह आत्मा स्वयं सिद्ध निर्विकार है और इसको जाने-बिना मन का क्लेश नहीं मिटता ॥

अब आगे के दो श्लोकों में इस का कारण बताते हैं ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्यो शोष्यएवच ॥
नित्यःसर्वगतःस्थाणुरचलोऽयंसनातनः ॥२४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ॥
तस्मादेवंविदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

अर्थ-इस आत्मा के कोई अवयव नहीं इस वास्ते (अयम्) यह (अच्छेद्यः) छेदन करने योग्य नहीं है व (अक्लेद्यः) भिजा कर गलने योग्य नहीं उसकी कोई मूर्ति नहीं इस से (अयम्) यह (अदाह्यः) जलाने योग्य नहीं (च) और वह द्रव अर्थात् गीला पदार्थ नहीं इस से (अशोष्यः) सुखाने योग्य नहीं तात्पर्य आत्मा न छिदसक्ता न जल सक्ता न गल सकता और न सूख सकता है क्योंकि (अयम्) यह (नित्यः अविनाशी है (सर्वगतः) सर्व व्यापी है व रूपान्तर न होवे के कारण (स्थाणुः) स्थिर स्वभाव का है व (अचलः) पूर्व रूप को त्यागता नहीं और (सनातनः) अनादि है ॥ २४ (अयम्) यह (अव्यक्तः) मूर्त्ति हीन होने के कारण चक्षु आदि का विषय नहीं व (अयम्) यह (अचिन्त्यः) मन के

चिंतन करने का विषय नहीं व कर्मेन्द्रियों को गोचर नहीं इस से (अयम्) यह (अविकार्यः) विकार रहित (उच्यते) कहाजाता है (तस्मात्) तिस कारण से हे अर्जुन (एनम्) इस आत्मा को (एवम्) इस प्रकार के लक्षणों से संयुक्त (विदित्वा) जानकर तुझे उस के निमित्त (अनुशोचितुम्) शोक करना (न,अर्हसि) योग्य नहीं है ॥

(नोट) छेदनादि धर्म स्थूल वस्तु में घटते हैं । जैसे आकाश में छेद नहीं हो सकता वैसे ही आत्मा को जानो । जैसे जपापुष्प की परछांयीं मात्र से स्फटिक वा काच लाल जान पड़ता है पर वास्तव में वस्त्रादि के तुल्य उस पर रंग नहीं चढ़जाता, यदि रंग चढ़ जाय तो पुष्प के हटा लेने पर भी वह लाल दीख पड़े । वैसे ही प्रकृति रूप बुद्धि के शोक मोहात्मक होने से उस के संग से आत्मा शोक मोहात्मक दीखता है वास्तव में शोक मोहादि से रहित है (भी० श०)

टीका–हीरा, मोती, मानक ये सब रत्न हैं परन्तु हीरा टूट नहीं सकता यह गुण सब में नहीं, ऐसे ही आत्मा के समान देह को नित्य नहीं कह सकते । आत्मा आकाश के सदृश सर्वगत है जिस वस्तु की मूर्त्ति व वर्ण है–उसी का नाश है–परन्तु आत्मा की न मूर्त्ति है न वर्ण है । जब आत्मा की सत्ता से मन सचेत होता है तो यह मन आत्मा को कैसे चिंतन कर सकता है । भ्रम से रस्सी सर्पाकार दीखतीहै और भ्रम गया कि रस्सी दीखने लगती है । इसी प्रकार आत्माकी ज्ञानशक्ति भ्रम दूर होने तक उस का पूर्ण ज्ञान नहीं होता । आत्मा का चिंतन करते २ मन भी उसी का रूप हो जाता है । आत्मा अविनाशी है यह सिद्ध हुआ–तथापि अविद्या के कारण अर्जुन को शंका हुई कि देह उपजता है व मरता है तो उसी के साथ आत्मा का भी जन्म व मरण होना चाहिये । अतएव श्री महाराज आगे कहते हैं कि देह के साथ आत्मा जन्मता व मरता है यह अंगीकार करने पर भी शोक नहीं करना चाहिये ॥

अथचैनंनित्यजातं नित्यंवामन्यसेमृतम् ॥
तथापित्वंमहाबाहो नैवंशोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

अर्थ-(अथच) यद्यपि (एनम्) इस आत्मा को तू (नित्यजातम्) सर्वदा देह के साथ जन्मता हुआ वा (नित्यं, मृतम्) नित्य मरता हुवा भी (मन्यसे) मानता है क्योंकि तू समझता है कि पुण्य पाप के फल से जन्म मरण होता है व आत्मा भी उसका भागी होता है (तथापि) तो भी हे (महाबाहो) अर्जुन (त्वम्) तुझे (एनम्) इस आत्मा के निमित्त (शोचितुम्) शोक करना (न, अर्हसि) उचित नहीं है क्योंकि—

जातस्यहिध्रुवोमृत्यु-र्ध्रुवंजन्ममृतस्यच ॥
तस्मादपरिहार्येर्थे नत्वंशोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

अर्थ-(हि) जब कि जो अपने आरंभ किये हुये कर्मों के क्षय होने पीछे दूसरा जन्म लेता है उस (जातस्य) जन्म लेने वाले की (मृत्युः) मृत्यु अवश्य (ध्रुवः) निश्चय होती है (च) व जो जो (मृतस्य) मरता है उस २ को इस देह के द्वारा किये हुवे कर्मों का फल भोगने के निमित्त (ध्रुवम्) अवश्य (जन्म) जन्म लेना पड़ता है (तस्मात्) अतएव इस प्रकार (अपरिहार्येऽर्थे) अवश्य होने वाले जन्म व मरण के विषयों में (त्वम्) तुझे (शोचितुम्) शोच (न, अर्हसि) न करना चाहिये क्योंकि तू विद्वान् है और जानता है कि जो होनी होगी वह अवश्य होगी यदि भावि का प्रतीकार होता तो बलराम युधिष्ठिर क्यों दुःख सहते ॥

टीका—जन्मके पीछे मृत्यु व मृत्युके पीछे जन्म यह किसी प्रकार टल नहीं सक्ता। आत्मा को पहिचान ने के सिवाय दूसरा उपाय नहीं है आत्मा का तत्त्व जानने पर ही यह जन्म मरण केवल मिथ्या खेल जाना जाता है । आत्मा के जानने बिना मुक्ति नहीं और सदैव जन्म मरण के चक्र में भ्रमण करना पड़ता है ॥

(नोट) यदि चिदाभास रूप अन्तःकरण विशिष्ट सूक्ष्म शरीर का ही जन्म मरण होना मानलें और जन्म मरण का अर्थ स्थूल शरीर का संयोग वियोग करलें तब उसी का गर्भाशय में स्थूल देह के साथ संयोग—जन्म और स्थूल के साथ वियोग मरण माना जायगा। तो भी इस सूक्ष्म शरीर का नाश नहीं होता और न शस्त्रादि से यह कटता, न अग्नि आदि से जलता है। इसी को मैत्र्युपनिषद् में भूतात्मा कहा और इसी का स्वर्ग नरकादि वा शरीरान्तर योन्यन्तर में गमनागमन माना है। अर्थात् स्थूल शरीर का जन्म मरण मानें तो जन्म मरण का अर्थ उत्पत्ति विनाश है सो वैसा जन्म मरण इस सूक्ष्म का नहीं इसी से पहिले (न जायते०) इत्यादि निषेध किया और संयोग वियोगमात्र को जन्म मरण मानो तो सूक्ष्म का संयोग वियोग स्थूल के साथ होना अनिवार्य है। उस के लिये शोक करना व्यर्थ है। (भी० श०)

इस पर भी अर्जुन को शंका हुई कि जन्म मरण का परिहार नहीं हुवा तो भी तो बलवान् अपनी वस्तु ज़बरदस्ती से खींच सक्ता है व उसे रोक नहीं सक्ते इस पर से देह को त्रास तो होवे होगा इस लिये भगवान् कहते हैं कि देहादि का स्वभाव विचार कर उन की उपाधि रूप आत्मा के जन्म मरण का शोक न करना चाहिये ॥

अव्यक्तादीनिभूतानि व्यक्तमध्यानिभारत ॥
अव्यक्तनिधनान्येव तत्रकापरिदेवना ॥२८॥

अर्थ—हे (भारत) अर्जुन! पृथ्वी आदि अपने कार्य अन्तःकरणादि शरीर पुत्रादि के सहित ये सब पंच (भूतानि) भूत का (अव्यक्तादीनि) आदि अव्यक्त प्रधान तत्व या अर्थात् आदि में इन का दर्शन मात्र भी न था यानी सब शरीरों की उत्पत्ति के पहिले वही तत्व था वा उसी से सब उत्पन्न होते हैं व (व्यक्तमध्यानि) मध्य में आत्मा कार-

या रूप से मिलकर स्थित होते हैं अर्थात् मध्य काल में ये सब व्यक्त अर्थात् प्रगट दीखते हैं यानी उत्पत्ति के पीछे जन्म मरण के लक्षणों से ही इन की स्थिति जानी जाती है। फिर (अव्यक्तनिधनानि, एव) उसी प्रधान तत्त्व में लय होकर नाश हो जाती है अर्थात् इन का जो अदर्शन है वही इन का नाश है (तत्र) ऐसे पदार्थों के विषय में (का परिदेवना) क्या शोक निमित्त प्रलाप विलाप करना चाहिये ?। जैसे स्वप्न में देखी हुई वस्तु का शोच जागने पर नहीं होता व भ्रांति के सर्प का काटा हुवा कोई नहीं मारता ॥

(नोट) जो २ स्थूल शरीरादि वा वृक्षादि अपने जिस २ रूप सहित प्रकट होता है वह उसी रूप वाला पहिले सूक्ष्म था । यदि सूक्ष्म न होता तो स्थूल कहां से आता ? । क्योंकि अभाव से भाव नहीं हो सकता । और अन्त में फिर भी सूक्ष्म हो जाता है । अग्नि जला और बुत गया, दीपक जला और बुत गया । जलने से पहिले भी अग्नि दीपक सूक्ष्म दशा में थे और बुत जाने पर भी उसी दशा में हो गये यह उन का स्वाभाविक काम है । वैसे जीव का भी स्वभाव है । इस प्रकार जब अन्त में स्वभाव सिद्ध सूक्ष्माऽव्यक्त अवस्था अवश्यंभाविनी है तो संयोग वियोगरूप जन्म मरण का दुःख नहीं मानना चाहिये । (भी० श०)

टीका—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, इन पांचों तत्त्वों से सब भूत मात्र उत्पन्न होते हैं और ये पांचों तत्त्व अहंकार से उत्पन्न होते हैं अहंकार महत् तत्त्व से व महत् तत्त्व अव्यक्त तत्त्व (मूल प्रकृति) से उत्पन्न होते हैं तो मूल प्रकृति इन सब का अनादि कारण हुआ व ये सब उसी के कार्य हुये । प्रथम ये सब कार्य अपने अनादि कारण से उत्पन्न होते हैं । कुछ समय रहकर फिर उसी कारण में मिलजाते हैं इस मूल प्रकृति का स्पर्श काल रूपी वायु से होता है तब भूत (शरीर) रूपी तरंगें उठती हैं व उसी जल में

फिर समा जाती हैं। इसका शोक क्यों करना चाहिये ॥

देहों का मरण कैसे होता है सो सुनो मरण का पंचत्व प्राप्ति कहतेहैं अर्थात् जिन पंचतत्वों से यह जड़ देह बनता है वे देह नाश होने पर अपने २ तत्त्व समूहों में मिल जाते हैं परंतु देह के भीतर मन, बुद्धि, इन्द्रियां व इन्द्रियों के विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध,) हैं उनका नाश नहीं होता क्योंकि जीवात्मा अपने साथ इनको दूसरी देह में लेजाता है। तो जिसका धन है वह अपना लेगया अपन उसका शोक क्यों करें इसी प्रकार देह जो पंच तत्त्वों का है वे उसे लेजाते हैं पराये धन के वास्ते भला दूसरे लोग क्यों शोच करें अपना धन अपनी आत्मा है सो तो अपने पास ही है उसी को पहिचानो तो पराये धनका शोक क्यों होगा देखो यह अपना धन आत्मा कैसा अच्छा है कि तोड़ने से टूटता नहीं, दूसरे के लेने से जाता नहीं व बड़ा आश्चर्य का पदार्थ है कभी २ विद्वान् लोग भी शोच करते हैं परंतु वह आत्मा के अज्ञान से ही होता है क्योंकि आत्मा को जानना बड़ा कठिन है यह आगे कहते हैं–

आश्चर्यवत्पश्यतिकश्चिदेन–माश्चर्यवद्वदतितथैवचान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनंवेदनचैवकश्चित् ॥ २९ ॥

अर्थ–(एनम्) इस आत्मा को (कश्चित्) कोई २ (आश्चर्यवत्पश्यति) आश्चर्य से देखता है अर्थात् शास्त्राचार्यों के उपदेश से देखता हुआ भी आश्चर्य मानता है क्योंकि सर्वगत नित्य ज्ञानानंद स्वभाववाला आत्मा अलौकिक होने के कारण उसे इन्द्रजाल जैसा तमाशा विस्मय कारक होता है (तथैवच) उसी प्रकार (अन्यः) कोई दूसरा मनुष्य (आश्चर्यवत्) विस्मय से भरा हुवासा उसका (वदति) वर्णन करता है (च) व (अन्यः) और कोई २ (एनम्) इस आत्मा को (आश्चर्यवत्) विस्मित होकर (शृणोति) सुनता है (चैव)

और (कश्चित्) कोई २ विपरीत भावना युक्त होकर (श्रुत्वाऽपि) सुनकर भी (एनम्) इसको (न वेद) न हीं जानता है॥

(नोट) "आश्चर्यो वक्ता" इत्यादि कठश्रुति का अभिप्राय भगवान् ने इस श्लोक में कहा है। जो २ विचार आत्म स्वरूप को समझाने के लिये शास्त्रों में कहे गये हैं उन सब से विलक्षणता आत्मा में वार २ प्रतीत होती है यही आश्चर्य का मूल है। सो मन और वाणी की वास्तविक आत्म स्वरूप में पहुंच नहीं इस से आश्चर्य होता है। क्योंकि कहने समझने के साधन मन वाणी ही हैं। जब आत्म ज्ञान के साधन श्रवण मनन निदिध्यासन निरन्तर श्रद्धा के साथ बहुत काल तक किये जाते हैं तब उन की दृढ़ स्थिति होने पर आश्चर्य रूप संशय भी स्वयं ही शान्त हो जाता है (भी० श०)

टीका—यह सब अपने आत्मा को न जानने ही का कारण है जो उसे पूर्ण रूप से जान लेवे तो क्यों आश्चर्य होवे। जो आत्मा को देखता है व जो दिख लाता है इन दोनों का आश्चर्य प्रथम दो चरणों में बताया है। जैसे शास्त्र व गुरु के उपदेश से यह विदेही आत्मा सर्वगत, अनादि व नित्य ज्ञान का आनन्द देने वाला इन्द्रजाल के तुल्य अलौकिक जान पड़ता है यह देख शिष्य को विस्मय होने लगता है व उसी कारण उसे आत्मा की देखी हुई बातें असंभव दीखती हैं तब वह गुरु से पूछता है कि गुरु जी! मुझे आत्मा जान नहीं पड़ता, जब गुरु बताते हैं तब आश्चर्य का कारण न होने पर भी शिष्य को आश्चर्य होता है। तीसरे चरण में जिज्ञासु की स्थिति कही है। गुरुमुख से जैसे २ शिष्य आत्मा का वर्णन सुनता है तैसे २ उस को आश्चर्य ही होता जाता है। ऐसा करते २ उस को अनुभव हो कर आनन्द प्राप्त होता है तब फिर उसे आश्चर्य होता है। चौथे चरण में उस की स्थिति बताते हैं जिस को अनादि अविद्या के वशीभूत हो कर देखते व सुनते हुए भी फिर से विपरीत भावना हो जाती है। गुरु

के शरण होने से आत्मा के समझ जाने पर भी यह सर्व विषय आश्चर्यमय होने के कारण उस की श्रद्धा गुरु वचन में नहीं रहती बल्कि देहात्मभाव प्रबल होने से सुने हुए ज्ञान का कुछ उपयोग नहीं होता। यह दोष गुरु का नहीं बल्कि मूर्ख शिष्य का है। चन्द्रोदय होने से सब को आनन्द होता है परन्तु चोर को खेद होता है ऐसे ही आत्मज्ञान सुनने से सब को आराम नहीं होता। अपने धन आत्मा को यथार्थरूप से देख कर आनन्दित होने वाले ज्ञानी कभी भी शोक के वश नहीं होते अतएव श्रीकृष्ण जी कहते हैं कि हे अर्जुन! तूभी अपने आत्मा को पहिचान लेगा तो दूसरे का धन जो देह है उस के जाने का शोक तुझे न होगा। यह आत्मा बध करने के योग्य नहीं इसी कारण शोच करने योग्य नहीं यह आगे के श्लोक में कहते हैं-

देहीनित्यमवध्योऽयं देहेसर्वस्यभारत ॥
तस्मात्सर्वाणिभूतानि नत्वंशोचितुमर्हसि ॥३०॥

अर्थ- हे (भारत) अर्जुन (अयम्) यह (देही) देहधारी आत्मा (सर्वस्य) सब के (देहे) देह में रहनेवाला ब्रह्मा जी से चिंवटी पर्यंत (नित्यम्) सर्वदा (अवध्यः) बध करने योग्य नहीं यानी कोई भी उसका बध नहीं कर सक्ता न वह मरता है (तस्मात्) तिस कारण से (सर्वाणि भूतानि) किसी भी प्राणी के निमित्त (शोचितुम्) शोक करना (त्वम्) तुझे (न,अर्हसि) उचित नहीं यह अविकारी व अक्रिय है॥

(नोट) देह का स्वामी सूक्ष्म भूतात्मा ही हम, तुम, पाण्डव, कौरवादि पदवाच्य है सो वह किसी के काटने तोड़ने में नहीं आता तथा स्थूल शरीर का वध होता है वह हम तुम नहीं तब हम तुम वा ये दुर्योधनादि मारे जावेंगे कटजावेंगे ऐसा मान कर शोक करना भूल है (भी० श०)

अर्जुन ने जो कहा था कि "वेपथुश्च शरीरेमे इत्यादि" (श्लोक २९ अध्याय १) सो भी ठीक नहीं यह भगवान् आगे के श्लोक में कहते हैं। आत्मा अनात्मा का विवेक श्लोक ११ से श्लोक ३० तक हो चुका ॥–

स्वधर्ममपिचावेक्ष्य नविकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्यनविद्यते॥३१॥

अर्थ–(स्वधर्मम्) अपने जाति धर्मपर (अवेक्ष्य) लक्ष्य देने से (अपिच) भी तुझको डरपोंक होकर (विकम्पितुम्) कंपमान (न, अर्हसि) नहीं होना चाहिये क्योंकि आत्मा जब नाशवान् नहीं है तो इन लोगों के मारने में क्या डर है? जो तूने कहा है कि (न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे) (श्लोक ३१ अध्या १) तो उसका परिहार दूसरे प्रकार में यह है कि (हि) निश्चय करके (धर्म्यात् युद्धात्) अपने वर्ण धर्म के अनुसार युद्ध से (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय लोगों को (अन्यत्) और कोई कर्म (श्रेयः) श्रेयस्कर अर्थात् कल्याण दाता (न विद्यते) नहीं है-तू क्षत्री है तेरा धर्म युद्ध करने का ही है। देख इस समय तेरे बड़े कल्याण का औसर आप ही से आगया है इसे डर कर चूकना न चाहिये क्योंकि–

यदृच्छयाचोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनःक्षत्रियाःपार्थ लभन्तेयुद्धमीदृशम् ॥३२॥

अर्थ–(ईदृशम्) इस प्रकार का (युद्धम्) युद्ध जिससे (स्वर्गद्वारमपावृतम्) स्वर्गद्वार अवश्य खुल जाता है (यदृच्छयाचोपपन्नम्) तेरे सामने बिना मांगे आप से आप आपहुंचा है। हे (पार्थ) अर्जुन ! ऐसे युद्ध का अवसर केवल(सुखिनः) भाग्यवान (क्षत्रियाः) क्षत्रियों को (लभन्ते) मिलता है ॥

(नोट) किसी प्राणी को मार डालने में पाप दोष न लगे तो धर्म शास्त्रों में कहा हिंसा रूप बड़ा अधर्म न लगना चाहिये। धर्म शास्त्रों में हिंसा सब से बड़ा अधर्म तथा अहिंसा बड़ा धर्म है। इसी का समाधान इस श्लोक में किया है कि यद्यपि शास्त्राज्ञा विरुद्ध हिंसा करने में पाप लगता है तथापि छलादि रहित होकर धर्मानुकूल युद्ध करने में हिंसा कितनी ही हो वह सब क्षत्रिय का धर्म है उस में अधर्म कुछ नहीं लगता। क्योंकि वेदादि शास्त्र में जिस के लिये जिस प्रकार जो काम कर्त्तव्य कहा है वह वैसा ही किया जाय तो उस के लिये धर्म है। यही धर्म का लक्षण है। शास्त्र मर्यादा से विरुद्ध प्राणियों का मारना हिंसा रूप अधर्म माना जायगा (भी० श०)

टीका—इस श्लोक से अर्जुन की उस शंका का निवारण होता है जो उसे "अध्याय १ के ३७ वें श्लोक में (स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः०) हुई थी" और अपने २ धर्म की दृढ़ता भी पुष्ट होती है (श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः) श्लोक ४७ अध्याय १८ में भी यही बात कहेंगे। अब श्रीकृष्णजी अपने धर्म का आचरण न करने से जो दोष लगते हैं सो आगे कहते हैं।

अथचेत्त्वमिमंधर्म्यं संग्रामंनकरिष्यसि ॥
ततःस्वधर्मंकीर्त्तिंच हित्वापापमवाप्स्यसि॥३३॥

अर्थ—(अथ चेत्) और यदि (त्वम्) तू (इमम्) इस (धर्म्यं संग्रामम्) स्वधर्म के अनुकूल युद्ध को (न करिष्यसि) नहीं करेगा (ततः) तो (स्वधर्मं कीर्त्तिंच) अपने धर्म व कीर्त्ति को (हित्वा) त्याग करके उलटा (पापमवाप्स्यसि) पाप का भागी होगा ॥ फिर क्या होगा कि—

अकीर्त्तिंचापिभूतानि कथयिष्यन्तितेऽव्ययाम्॥
संभावितस्यचाकीर्त्ति-र्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

अर्थ—(भूतानि) सब लोग (ते) तेरी (अकीर्तिंचापि)

अकीर्ति को भी (अव्ययाम्) सर्वदा अर्थात् निरन्तर (कथयिष्यन्ति) वर्णन करेंगे अर्थात् तेरी अकीर्त्ति सदा बनी रहेगी (च) और (संभावितस्य) बहुतमान्य वाले प्रतिष्ठित पुरुष को (अकीर्त्तिः) अपकीर्त्ति होना (मरणात्) मरण कष्ट से भी (अतिरिच्यते) अधिक कष्ट देने वाली होती है। चौपाई–रामायण से–संभावित कहं अपयश लाहू। मरण कोटि सम दारुण दाहू॥ और भी क्या होगा कि–

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्तेत्वांमहारथाः॥
येषांचत्वंबहुमतो भूत्वायास्यसिलाघवम्॥३५॥

अर्थ–(च) और (येषां त्वं बहुमतः) जिन को तू अभी तक बहुत माननीय है अर्थात् जो (महारथाः) दुर्योधनादि महारथी योद्धा तुझ को अभीतक बड़ा शूरवीर व गुणवाला जान कर अभीतक बहुत मान देतेहैं वेही लोग यह (मंस्यन्ते) समझेंगे कि तू (भयात्) मरने के भय से (रणात्) युद्ध से (उपरतम्) हट गया और इसी कारण से अब तक (बहुमतो भूत्वा) बहुत मान वाला हो कर (लाघवं यास्यसि) अब तू लघुता व निन्दा को प्राप्त होगा और भी क्या होगा कि–

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्तितवाहिताः॥
निन्दन्तस्तवसामर्थ्यं ततोदुःखतरंनुकिम्?॥३६॥

अर्थ–(च) और (तव) तेरे (सामर्थ्यम्) पराक्रम की (निन्दन्तः) निन्दा करते हुए (तव) तेरे (अहिताः) अनहित अर्थात् शत्रु लोग (बहून्) बहुत सें (अवाच्यवादान्) जिन निन्दनीय वचनों के तू योग्य नहीं है वेही सब बातें (वदिष्यन्ति) बोलेंगे (ततो दुःखतरं नु किम्) भला इससे अधिक दुःख देने वाली और कौनसी बात होगी अर्थात् कोई न होगी। जो मनुष्य समर्थ है उस को दुर्वचन सुनने से महान् कष्ट होता है "नु" शब्द से ताना पाया जाता है। जो अर्जुन ने कहा था

कि (न चेतद्विद्मः) श्लोक ६ अध्याय २ उस के परिहार के वास्ते श्रीमहाराज आगे कहते हैं कि दोनों पक्षों में तेरा लाभहै॥

हतोवाप्राप्स्यसिस्वर्गं जित्वावाभोक्ष्यसेमहीम् ॥
तस्मादुत्तिष्ठकौन्तेय युद्धायकृतनिश्चयः ॥३७ ॥

अर्थ-(वा) जो तू युद्ध में (हतः) मारा गया तो (स्वर्गं प्राप्स्यसि) स्वर्गबास पावेगा और (वा) जो (जित्वा) युद्ध में जीत पावेगा तो (भोक्ष्यसे महीम्) पृथ्वी के भोगों को भोगेगा (तस्मात्) अतएव हे (कौन्तेय) कुंतीपुत्र अर्जुन ! (युद्धाय कृतनिश्चयः) युद्ध करने का निश्चय करके (उत्तिष्ठ) उठ अर्थात् युद्ध कर । युद्ध का निश्चय करके यहां तू आया ही है अब क्यों कायरपना करता है ॥

(नोट) द्वितीय पक्ष में कुन्ती नाम सामान्य माता का मानने से धर्म वती माता का पुत्र सामान्य जिज्ञासु पुरुष कौन्तेय हो सकता है तब आशय यह होगा कि जिज्ञासु जीव के प्रति ईश्वर का उपदेश है कि हे जीव ! अपने धर्म के काम क्रोधादि विरोधियों के साथ अपने धर्म की रक्षा के लिये युद्ध करते २ ही यदि मारा गया तो भी स्वर्ग नाम उत्तम गति को प्राप्त होगा । और यदि काम क्रोधादि शत्रुओं को तैने जीत लिया तो मही नाम महती इष्टसिद्धि का आनन्द भोगेगा । सारांश यह कि स्वधर्म को कदापि न त्यागने में ही मनुष्य का सब प्रकार से कल्याण हो सकता है अन्यथा नहीं (भी० श०)

टीका—अर्जुन को यहां कौन्तेय कहा उस का अभिप्राय यह है कि तू कुन्ती का पुत्र है इसी कारण स तुझ से युद्ध करने को कहाजाता है यदि तू कन्या होता तो न कहाजाता। चौपाई । नरतनु पाय विषय मन देहीं । पलटि सुधा ते शठ विष लेहीं॥यहां तक जो उपदेश हुआ उस से अर्जुन का भ्रम दूर हुआ व उसे निश्चय हुआ कि युद्ध करना मेरा स्वधर्म है ।

परन्तु उस को यह शंका हुई कि पृथ्वी का भोग किया तो भी पुनर्जन्म बना ही है और जो स्वर्ग को गया तो भी पुनर्जन्म है तो कर्म बन्धन बना ही रहा, इस कारण उस बंधन से छुड़ाने वाला ब्रह्मज्ञान सर्व साक्षी भगवान अब आगे के ३९ वें श्लोक से प्रारम्भ करते हैं। उस से पहिले श्लोक ३८ में श्रीमहाराज अर्जुन की उस शंका को दूर करते हैं जो उसे (पापमेवाश्रयेदस्मान्)अध्याय १ श्लोक ३६ में हुई थी-

सुखदुःखेसमेकृत्वा लाभालाभौजयाजयौ॥
ततोयुद्धाययुज्यस्व नैवंपापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

अर्थ-(सुखदुःखे) सुख और दुःख तथा उन के कारणभूत (लाभालाभौ) लाभ व हानि और लाभ हानि के कारण जो (जयाजयौ) जय व पराजय हैं इन को (समे) एकसमान (कृत्वा) जानके (ततः) उस के बाद (युद्धाय युज्यस्व) युद्ध करने में तत्पर होव तो (एवं पापं न अवाप्स्यसि) इस में तुझे कोई पाप न लगेगा अर्थात् इन सब में रागद्वेष रहित हो कर युद्ध कर तो तुझे कभी पाप न लगेगा ॥

(नोट)-अपना कल्याण चाहने वाले मनुष्य को संसार परमार्थ सम्बन्धी कोई भी काम करते हुए अपने खास धर्म की रक्षा को कदापि नहीं भलना चाहिये और उन सभी कामों के अनुकूल वा प्रतिकूल दोनों प्रकार के परिणाम में समबुद्धि रखने विशेष हर्ष शोक न मानने का दृढ़ निश्चय प्रथम से ही कर लेना चाहिये। ऐसे विचार वाला मनुष्य ऊंचे दर्जे का माना जाताहै और उस को संसार के बड़े२ दुःख पीड़ित नहीं कर पाते और वह बड़ा नामी होता है। (भी०शा०)

टीका-इन सब में चित्तवृत्ति एकसमान रखने से हर्ष विषाद नहीं होता। सुखदुःखादि की इच्छा त्याग करके अपने धर्म को पालन करने में अर्थात युद्ध करने में कोई पाप नहीं है। सर्व पाप का कारण कामना है और निज धर्म को

पालने में भी कोई कामना से जो कर्म किया जाय तो वह भी बंधक अर्थात् पाप का देने वाला होता है इसलिये निष्काम कर्म करना चाहिये। उस से बंध व पाप नहीं होता। हमें सदा सुख होवे व दुःख कभी न हो ऐसा विचारना ही कामना है अतएव सुख दुःख व लाभ हानि व हार जीत की इच्छा न करके निरहंकार बुद्धी से युद्ध कर ॥ अब तक जो ज्ञान योग श्री भगवान् ने उपदेश किया उसी ज्ञान निष्ठा को और भी पुष्ट करने को आगे उस के साधन भगवद्भक्ति आदि निष्काम कर्म योग उस के फल सहित निरूपण करते हैं ॥ श्लोक ॥११॥ से ३० तक ब्रह्मज्ञान के उपदेश से अर्जुन का शोक मोह दूर किया, व श्लोक ३१ से ३८ तक लौकिक न्याय समझाया ॥

एषातेभिहितासांख्ये बुद्धियोगेत्विमांशृणु ॥
बुद्ध्यायुक्तोययापार्थ कर्मबन्धंप्रहास्यसि ॥३९॥

अर्थ–जिस के द्वारा वस्तु का तत्व यथार्थ जाना जावे उस को संख्या किंवा पूरा ज्ञान कहते हैं और उस ज्ञान में आत्म तत्त्व का प्रकाश होता है इसी कारण उस ज्ञान को सांख्य ज्ञान कहते हैं। भगवान् कहते हैं कि हे (पार्थ) अर्जुन (ते) तुझ को यहां तक (सांख्ये) सांख्य योग में (एषा बुद्धिः) यह बुद्धि अर्थात् सांख्य योग के ज्ञान में बुद्धि व मन लगाने को (अभिहिता) मैंने उपदेश किया परन्तु यह अत्यंत सूक्ष्म व अलौकिक है और कदाचित् इस से तुझे आत्म तत्त्व का बोध न हुआ हो अतएव अंतःकरण शुद्धि द्वारा आत्म तत्त्व जानने के हेतु (योगे) निष्काम कर्म योग में प्रवृत्त होने की (इमां बुद्धिं शृणु) यह बुद्धि अर्थात् ज्ञान सुन (यया बुद्ध्या युक्तः) जिस बुद्धि वा ज्ञान में युक्त होने से (कर्मबंधम्) कर्म रूपी बंधन को (प्रहास्यसि) विशेष करके तू त्याग देगा अर्थात् जो कर्म तू इस कर्म योग में प्रवृत्त होने से करेगा सो सब ईश्वर को निष्काम बुद्धि से अ-

पंण कर उस से तेरी अंतःकरण की शुद्धि होगी और उस शुद्धि से भगवत् प्रसन्न होकर तुझे अपरोक्ष ज्ञान देवेंगे और उसी ज्ञान से कर्म रूपी बधन से तू मोक्ष हो जावेगा ॥

(नोट) हम काने, अन्धे, लूले, लंगड़े, सुरूपवान् वा कुरूप अथवा हृष्ट पुष्ट वा दुबले हैं इत्यादि विचार करता हुआ पुरुष शोक हर्ष मानता है पर ये सब हम से भिन्न देह के धर्म हैं। काना आदि शरीर होता है आत्मा नहीं। शरीर को ही हम नाम आत्मा समझने से वा अपने से भिन्न शरीर को नाशवान् तथा अपने को अविनाशी न समझ पाने से हर्ष शोक होते हैं। देह को हम जानना ही देहात्मवाद कहाता है। इस देह रूप प्रकृति के विकार की और अविकारी आत्मा की पृथक् २ संख्या कर देना अर्थात् यथार्थ भेद दिखा देना यही सांख्य ज्ञान कहाता है (भी० शा०)

टीका—यहां तक असत् क्षेत्र (देह) व सत् क्षेत्रज्ञ (साक्षी आत्मा) इन दोनों का विचार भगवान् ने कहा है और यह भी कहा है कि सत् क्षेत्रज्ञ आत्मा नित्य है व असत् देह नाशवंत है यही ज्ञान मोक्ष देने वाला है परंतु यह ज्ञान चित्त शुद्धि हुए बिना होता नहीं और चित्त शुद्धि वेद विहित कर्म निष्काम बुद्धि से करने से ही होती है अतएव श्री महाराज आगे कर्म योग का वर्णन करना आरंभ करते हैं ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायोनविद्यते ॥
स्वल्पमप्यस्यधर्मस्य त्रायतेमहतोभयात् ॥४०॥

अर्थ—जैसे खेती इत्यादि के फल आजाने पर यत्न में अनेक विघ्न आ जाते हैं तैसे इस भगवद्भक्ति आदि निष्काम कर्म योग में नहीं क्योंकि (इह) इस निष्काम कर्म योग में (अभिक्रमनाशः नास्ति) किसी प्रकार का विघ्न बीच में आजावे तो भी प्रारंभ कियेका नाश नहीं है अर्थात् जो निष्काम कर्म किया जाता है यह जितना हो जावे उतने ही का फल

देता है। बिलकुल निष्फल नहीं होता जैसे किसी ने माघ मास में प्रातःस्नान करने का प्रारम्भ किया और दो चार दिन के पीछे उस महीने के बीच में कुछ विघ्न हो गया कि जिस के सबब से वह निष्काम पुरुष पूरे महीना भर स्नान न कर सका तो उस थोड़े कालमें स्नान करने का अर्थात् प्रारम्भ मात्र का भी नाश नहीं होता अर्थात् वह सकाम कर्मवत् खेती आदि कर्मवत् निष्फल नहीं होता एक न एक दिन अवश्य ही वह उस निष्काम पुरुष को फिर निष्काम कर्मयोग के सन्मुख करके अन्तःकरण शुद्धिद्वारा ज्ञाननिष्ठा में प्रवृत्त करके उस का मोक्ष करेगा। दूसरी शङ्का यह है कि जैसे मन्त्र का जप व पाठ विधिवत् न हो सके तो उस में उलटा पाप होता है अथवा वैद्य को रोग की पूरी २ परीक्षा न होने के कारण उस की दवाई से रोगी मर जाता है तैसा ही यह निष्काम कर्म भी क्या उलटा फल देदेगा? परन्तु भगवान् कहतेहैं कि यह सकाम कर्म में होता है निष्काम में नहीं क्योंकि ईश्वर को अर्पण हो जाने के कारण इस में कोई (प्रत्यवायो न विद्यते) विघ्नादि होने का व उलटा पाप लगने का भी भय नहीं रहता कारण निष्काम बुद्धि से केवल ईश्वरकी आराधना के निमित्त जो यह काम किया जाता है। अतएव (अस्य धर्मस्य स्वल्पमपि) इस कर्मयोग का थोड़ा सा प्रारंभ ही हो जाने से (त्रायते महतो भयात्) संसार के बड़े २ भयों से रक्षा करता है ॥

(नोट) कर्म योग का संचित परिणाम ही धर्म कहाता है। सो यह शुद्ध सूक्ष्म सत्त्वात्मक धर्म दीप ज्योति के तुल्य होता है। जैसे छोटी सी दीप ज्योति बहुत दूर तक फैल बड़े अन्धकार रूप भय को नष्ट कर देती है वैसे यह थोड़ा सा कर्म योग भी चौरासी लाख योनियों में होने वाले असंख्य भयङ्कर दुःखों से प्राणी की रक्षा कर लेता है। (भी० शा०)

टीका—यह कर्मयोग का मार्ग बड़ा सुगम है। जैसा कि

सकाम कर्म करने में थोड़ी सी भी न्यूनता व विघ्न हो जाने से वह निष्फल हो सकता है वैसा इस में नहीं होता क्योंकि इस में ईश्वर संतुष्ट हो कर इच्छित फल देता है अर्थात् अपनी प्राप्ति कर देता है। वह आप जानता है कि यह कर्म करने वाला न इस लोक का न परलोक का कोई फल चाहता है। जो कोई कर्म किसी इच्छा से नहीं करता और वह कर्म यदि पूर्णता को न पहुंचा तो उसे दुःख ही क्यों होगा। जैसा कोई मनुष्य विना मज़दूरी लेने के किसी का काम करे और वह काम बिगड़ जावे तो उस पर उस का मालिक नाराज़ नहीं होता, तैसे ही निष्काम कर्म करने में कोई भूल हुई तो उस का दोष नहीं लग सकता अतएव यह निष्काम कर्म ही संसार भय से मुक्त करने वाला है। यह भगवत् आराधनादि निष्काम कर्मयोग थोड़ा भी अपनी शक्ति के अनुसार किया हुआ अन्तःकरण शुद्धि द्वारा ज्ञान निष्ठा की प्राप्ति कराके जन्म मरण दुःख रूपी संसार से मुक्त कर देता है। अब निष्काम व सकाम दोनों कर्मों की विषमता आगे कहते हैं॥

व्यवसायात्मिकाबुद्धि–रेकेहकुरुनन्दन ॥
बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥४१॥

अर्थ–यहां पर अर्जुन के मन में यह शंका हुई थी कि जब निष्काम कर्मयोग का ऐसा अद्भुत माहात्म्य है तो सब लोग इसी का अनुष्ठान क्यों नहीं करते व स्वर्गादि फल क्योंचाहते हैं? इसका समाधान इसश्लोक में है। हे (कुरुनन्दन)अर्जुन (इह) इस ईश्वराधन रूप कर्म योग में (व्यवसायात्मिका) परमेश्वर की भक्ति करने से अवश्य ही मेरा उद्धार होगा ऐसी (एका) एकही निश्चयात्मक (बुद्धिः) निष्ठा होती है और यही निश्चय निष्ठा कर्म योगियों को फलीभूत भी होती है। परंतु (अव्यवसायिनाम्) जिनको यह निश्चय नहीं व ईश्वर के आराधन से जो विमुख हैं और सकाम कर्म करते हैं उनकी अ-

नंत कामना कई प्रकार के कर्म फल व गुण फल होने के कारण उनकी (बुद्धयः) ज्ञान बुद्धि व निष्ठा (बहुशाखाः) बहुत सी शाखों व भेदवाली (च) और (हि) निश्चय करके (अनन्ताः) बिना अन्तवाली होती हैं क्योंकि उनको किसी एक बात में निश्चय नहीं होता अर्थात् वेद मार्ग तो सनातन से एक ही चला आता है परन्तु कल्पित मत अनंत वा नाना भेद वाले हैं ॥

(नोट) सकाम निष्काम सभी कामों में दृढ़ निश्चय वा दृढ़ विश्वास की आवश्यकता है। इसी कर्मयोग से मेरा अभीष्ट अवश्य सिद्ध होगा इस में लेशमात्र भी सन्देह नहीं, ऐसा विश्वास ही व्यवसायात्मिका एक बुद्धि है। संसार में भी निश्चयात्मक हुए बिना किसी काम की सिद्धि नहीं होती इसी कारण अत् नाम निरन्तर धारण-स्थितिरूप श्रद्धा को सब इष्ट साधनों का मूल शास्त्रकारों ने माना है (भी० श०)

टीका—नित्य नैमित्तिक कर्म केवल ईश्वर को समर्पण कर देने को और यही निश्चय रखने को कि एक सर्वेश्वर ही हमको तारेगा एक निश्चयात्मक बुद्धि कहते हैं। जितना कर्म ईश्वर निमित्त कर सके उतना बिना कामना करना जावे और ईश्वर ही के शरण रहे तो इसमें कुछ कमी वेशी या विषमता भी हो जाने से किसी प्रकार की हानि कदापि नहीं हो सकती किन्तु दुःख निवृत्ति की पूर्ण आशा रहती है। परन्तु काम्य कर्म में यह बात नहीं है, उस में अनंत आशय होते हैं। उन आशयों से काम रूपी अनेक शाखें फूटती हैं। एक २ मनोरथ के हेतु नाना यत्न करने पड़ते हैं व एक निश्चय नहीं रहता। अमुक यत्न करने से अमुक कार्य होगा या नहीं ? यही चिन्ता ऐसे मनुष्यों को सदा बनी रहती है। उन को सुख भला कहां से हो॥ इसी कारण सकाम व निष्काम कर्म योग इन दोनों में बड़ी विषमता पाई जाती है। यहां अर्जुन को यह शंका हुई कि वेद पारंगत वाले महज्जन जो मार्ग बताते हैं उस को भगवान्

दूषण देते हैं और काम्य कर्म करने वाले कष्ट साध्य कामों को त्याग के व्यवसायात्मिका बुद्धि होकर सर्वेश्वर की आराधनारूप कर्म योग में अपनी बुद्धि को क्यों निश्चय नहीं करते इस शंका को जान के भगवान् आगे कहते हैं कि—

यामिमांपुष्पितांवाचंप्रवदन्त्यविपश्चितः॥
वेदवादरताःपार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः॥४२॥
कामात्मानःस्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्॥
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥४३॥

अर्थ—हे (पार्थ) अर्जुन (अविपश्चितः) बहिर्मुख अज्ञानी मूढ़ लोग केवल (वेदवादरताः) वेद के अर्थवादों में प्रीति रखने वाले (पुष्पिताम्) विष लता के समान देखने सुनने में सुंदर रमणीय (याम्, इमां) जो यह (वाचम्) वाणी (प्रवदन्ति) कहते हैं कि इन्हीं वेद के रोचक अर्थवादों में परमार्थ फल प्राप्त होता है और स्वर्गादि फल इन्हीं से होता है व (नान्यदस्ति) इनके सिवाय कोई दूसरा ईश्वर तत्त्व प्राप्त करने योग्य नहीं है (इति वादिनः) वेही ऐसा भी कहनेवाले हैं। इसी कारण इन लोगों का (कामात्मानः) चित्त अपनी २ कामनाही में व्याकुल रहता है और (स्वर्गपराः) वे लोग केवल स्वर्ग ही को अपना बड़ा पुरुषार्थ समझते हैं और (जन्मकर्मफलप्रदाम्) जन्म लेना व कर्म करना व उनके फलीभूत (भोगैश्वर्यगतिं प्रति) नाना प्रकार के ऐश्वर्य भोगने के जो साधन हैं वे (क्रियाविशेषबहुलाम्) अनेक प्रकार के बहुत से काम्य कर्मों के करने की क्रिया सब लोगों को बताया करते हैं अर्थात् उनका ध्यान संसारी ऐश्वर्य भोगने की ओर ही रहता है और जिन कर्मों का फल पुनर्जन्म है वे ही औरों को बतलाते हैं क्योंकि बिना पुनर्जन्म के ऐश्वर्य भोग नहीं होसक्ता॥

(नोट) गीता में कर्मकाण्ड की निन्दा नहीं है किन्तु

संसारी अनित्य भोगों की अभिलाषा छोड़ कर ईश्वरार्पण अग्निहोत्रादि सब वेदोक्त कर्म करना सर्वोत्तम कक्षा है। इस का परिणाम परमगति मोक्ष है। और संसारी वा स्वर्ग फल भोग की अभिलाषा मात्र रख के वेदोक्त कर्म करना नीची कोटि का है। उत्तम कक्षा की अपेक्षा यह निन्दित है। परन्तु कुछ भी धर्म कर्म न करने वाले केवल भोजन वस्त्र काम भोगादि में लिप्त मनुष्यों की अपेक्षा सकाम वेदोक्त कर्म करने वाले भी बहुत अच्छे प्रशस्त कोटि में अवश्य माने जावेंगे। केवल ऐसे मनुष्य मोक्षके भागी अवश्य नहींहोंगे।(भी०श०)

टीका-वेदों में जो अर्थवाद हैं वे इस प्रकार के हैं कि (अक्षय्यं वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति) अर्थात् चातुर्मास्य नामक यज्ञ करने वालों को अक्षय सुकृत होता है-तथा (अपाम सोममसृता अभूम) अर्थात् सोमवल्ली का रस पीने वाले अमर होते हैं। ऐसे २ वाक्यों में उन की बड़ी प्रीति रहती है और इसी कारण वे कहते हैं कि इनके सिवाय और कोई ईश्वरतत्त्व नहीं है। इसी से उन को ऐसी २ कामना होती हैं कि इस लोक में मानवी स्त्रियां व परलोक में देवांगना भोगेंगे। ऐसी ही कामनाओं के समुद्र में उन के मन गोता खाया करते हैं। नाशवन्त जो स्वर्ग है उसी की प्राप्ति करना उन को बड़ा पुरुषार्थ दीखता है और उसी की प्राप्ति के हेतु वे लोग वेदोक्त काम्य कर्म करते हैं। अतएव अन्त में उन को दुःसह गर्भवास प्राप्त होता है। उन का यह गर्भवास अन्यान्य सामान्य मनुष्यों के गर्भवास से अधिक दुःखकारी होता है क्योंकि और लोगों की अपेक्षा इन की कामना बढ़ी हुई रहती हैं। और साधारण लोग केवल संसारी सुख भोगों की इच्छा करते हैं परन्तु इन की स्वर्गीय सुख भोग की कामना रहती है फिर यह सकाम कर्म करने में यत्न भी कितने करने पड़ते हैं। और कोई क्रिया चूकी कि सब निष्फल हो गया ऐसा निष्काम कर्म नहीं है। यहां अर्जुन के मन में यह शंका हुई थी कि भगवान् जिन लोगों को प्रमाण जनित वि-

वेक बुद्धि रहित व बहिर्मुख अव्यवसायी कहते हैं वे बिना ही प्रमाण के कर्म उपासना किया करते हैं। इस के समाधान में भगवान् ने कहा है कि उन के प्रमाण जिस प्रकार के हैं सो सुन—जैसे किसी वृक्ष में सुन्दर फूल दीखते हैं। परन्तु फलते नहीं और जो फल लगे भी तो कड़वे, वैसे ही वेदों में "रोचकवाक्य" अर्थात् "अर्थवाद" वाली श्रुति हैं, सुनने में तो वे बहुत प्रिय लगती हैं परन्तु फल उन का कम है अर्थात् वह फल नहीं जो अव्यवसायी लोग कहते हैं। वेदों का सिद्धान्त तात्पर्य जानने वाले महात्मा इन श्रुतियों को "पुष्पिता वाणी" कहते हैं। व जानते हैं कि इन का तात्पर्य केवल अन्तःकरण की शुद्धि व चित्त की एकाग्रता का है। व पुण्य स्वर्ग वैकुण्ठ नहीं है ऐसी २ वेदवाणी को अव्यवसायी बहिर्मुख मूढ़ लोग मोक्ष का साधन सिद्धान्त कह कर अपनी पण्डिताई बघारते हैं। व बुद्धिहीन लोगों को कुराह में लगा देते हैं वे अपने ही सिद्धान्त को मुख्य समझ कर और सब की निन्दा करते हैं। इन्हीं लोगों के व पुष्पिता वाणी के विशेषण श्लोक ४२ व ४३ में कहे हैं। इन्ही काम्य कर्म वालों की और जो दशा होती है सो आगे के श्लोक ४४ में कही है।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ॥
व्यवसायात्मिकाबुद्धिः समाधौनविधीयते ॥४४॥

अर्थ—(तयापहृतचेतसाम्) वेदों की उस पुष्पिता वाणी अर्थात् रोचक वाक्यों से इन लोगों के मन हरण हो जाते हैं और ये लोग (भोगैश्वर्य—प्रसक्तानाम्) सुखभोग व ऐश्वर्य ही में आसक्त हो जाते हैं इसी कारण (समाधौ) परमेश्वर के सन्मुख करने वाली एकाग्र चित्त निष्ठा में इन लोगों की (व्यवसायात्मिका बुद्धिः) एक निष्ठ निश्चयात्मक बुद्धि (न विधीयते) नहीं होती ॥

(नोट) देवता लोग अमर हैं यह सिद्धान्त सापेक्ष है। अर्थात् मनुष्यादि योनियों में करोड़ों वार जन्म मरण होते

तक एक दिव्य शरीर नष्ट नहीं होता और न जीर्ण नाम बुड्ढा होता है इसी से देवता अजर वा निर्जर कहाते हैं । परन्तु विदेह मुक्ति [जिस से फिर कभी पुनरावृत्ति नहीं होती] की अपेक्षा दिव्य शरीर भी अनित्य नाश वाले हैं । वेद में सोम पान से अमर होना, वा चातुर्मास्ययागादि का अक्षय पुण्य दिखाना मनुष्यादि के क्षणस्थायी भोगों की अपेक्षा से कहा गया है । दिव्य भोगैश्वर्यों में आसक्त होके सर्वोत्तम कोटिके नित्य मोक्ष को भूल जाने वालों की निन्दा यहां निरपेक्ष नित्य मोक्ष की अपेक्षा से की गयी है । माण्डलिक राजा द-रिद्रों से बहुत बड़ा होने पर भी चक्रवर्ती राजा की अपेक्षा तुच्छ ही कहाता है (भी० श०)

टीका—चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं और इसी एकाग्रता से चित्त समाधान होता है । परन्तु यह एका-ग्रता एकनिष्ठ बुद्धि से ही प्राप्त होती है अतएव इन लोगों को जिन के मन अनेक कामना में ग्रस्त रहते हैं । और वे का-मना अपनी २ ओर आप को खींचा करती हैं । वह सावधानी व सुख नहीं मिलता । यदि स्वर्गादिक से परम फल लाभ नहीं होता तो उस के प्राप्त करने के वास्ते वेदों में साधन कर्म क्यों बतलाये ?। इस शंका का निवारण आगे करके यह बताते हैं कि वेद में केवल रोचक वाक्य नहीं बल्के मोक्ष के साधनवाले मन्त्र भी हैं इन्हीं को ग्रहण करना चाहिये ॥

त्रैगुण्यविषयावेदा निस्त्रैगुण्योभवार्जुन ! ।
निर्द्वन्द्वोनित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेमआत्मवान् ॥४५

अर्थ—हे अर्जुन ! (त्रैगुण्यविषया वेदाः) ये वेद त्रिगुणा-त्मक हैं अर्थात् जो सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण सकाम कर्म के करने वाले हैं और इन तीनों गुणों से बंधे हुए हैं उन के विषय हैं अर्थात् वेदकर्मफल सम्बन्धी वार्ताओं का प्रतिपा-दन करते हैं और जैसे को तैसा फल देने वाले हैं और मोक्ष का साधन भी हैं (निस्त्रैगुण्यो भव) इसी कारण से तू इन

तीनों गुणों से प्रयोजन व कामना रहित होजा व रोचक वाक्यों पर दृष्टि मत कर और ऐसा होने का उपाय यह है कि तू (निर्द्वन्द्वः) इष्टानिष्ट सुख दुःख शीतोष्णादि जो जोड़ा हैं उन को सहन कर। उन के सहने का उपाय यह है कि (नित्यसत्त्वस्थः) नित्य जो सत्व है यानी आत्मा व सतोगुण उस में स्थिर हो कर धीरज को धार पुनः (निर्योगक्षेमः) जो लौकिक पदार्थ नहीं मिलता उस को प्राप्त करना (योग) और जो प्राप्त हुआ उस की रक्षा करना (क्षेम) इन दोनों बातों की चिन्ता मत कर। पुनः (आत्मवान्) अप्रमत्त व सावधान हो क्योंकि जो लोग द्वन्द्वो में व्याकुल होते हैं और योग व क्षेम की चिन्ता करते हैं व प्रमाद से उन्मत्त रहते हैं वे त्रिगुण को नहीं जीत सकते ॥

(नोट) सुख, दुख, मोह ये सत्वादि तीन गुणों की तीन वृत्ति नाम तरंगें हैं। मारण, मोहन, उच्चाटन, तथा रात्रि सूक्तादि के वेदोक्त काम तमोगुणी, विवाह सूक्तादि के रजोगुणी, और दर्श पौर्णमासादि सत्व गुणी कर्म हैं। तीनों गुण एक रस्सी की तीन लरें हैं। तीनों गुण बन्धन के हेतु हैं। तीनों गुणों के कामों में तत्पर रहने वाले का मोक्ष कदापि नहीं हो सकता। इस लिये मुमुक्षु पुरुष को त्रैगुण्य से पृथक् गुणातीत होने का उद्योग करना चाहिये। वह नित्य ही अध्यात्म विचार में मग्न विषय भोगों से बेखबर क्षुधा पिपासा हानि लाभादि द्वन्द्वों में सम बुद्धि और अर्जन रक्षण की तृष्णा का त्यागी रहे तो गुणातीत हो सकता है (भी० भा०)

टीका–शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये पांच विषय तमोगुण के हैं। इन्द्रियां रजोगुणात्मक हैं व मन सत्वगुणात्मक है। जब यह सत्वरूपी मन रज व तम मय हो जाता है तब विषय भोगों की वासना उत्पन्न होती है। इन तीनों के चक्र में जो फंस जाता है उसे " त्रैगुण्य " कहते हैं। वेद अद्वैत अर्थात् ब्रह्म प्रतिपादन करने वाले हैं परन्तु वे जिन त्रिगुणों

के विषयरूप हो रहे हैं उन के समान तू मत होवै । तू निस्त्रैगुण्य हो अर्थात् रज तम मिश्रित सत्व का अवलम्बन न कर । इन त्रिगुणों का मूल इन से अलग है व उसी का नाम "नित्य सत्व है" उसी में रह । बुद्धि सत्वरूप है परन्तु जब वह रज व तम में मिल कर इन्द्रिय व विषय को देखती है तब उस में भ्रामक विषय वासना उत्पन्न होती है और जब निर्विकार आत्मा में मिल कर इन्द्रियद्वारा विषयों को देखती है तब नित्य सत्वात्मक होजाती है । ज्ञानदशा में दृष्टि रस्सी को रस्सी ही कहेगी परन्तु अज्ञान दशा में वही रस्सी सर्परूपी दीखेगी अर्थात् ज्ञान से खरी वस्तु व अज्ञान से भ्रमजनित वस्तु दीखती है । इसी प्रकार ज्ञान होने से बुद्धि विषयों को आत्मस्वरूप देखती है । अतएव इन्द्रिय व मन का विकार उत्पन्न नहीं होता परन्तु अज्ञान दशा में विषय विषयरूप ही दीखते हैं और मनुष्य भ्रम में पड़ कर मोह को प्राप्त हो जाता है । इन दोनों स्थितिओं में बुद्धि एक ही है परन्तु आत्मा को देखती है तब शुद्ध सत्वरूपी होती है व केवल जड़ को देखती तब भ्रम हो जाता है । शुद्ध सत्वरूपी बुद्धि नित्य वस्तु को देखती है उसी स्थिति को "नित्य सत्व" कहा है । यहां यह शंका होती है कि दृष्टि तो वही है फिर इन्द्रिय द्वारा जो रूप उसे दिखाते उनको दूसरे प्रकार के कैसे देख सकती है ? । इसका कारण अज्ञान होता है जैसे दृष्टांत—अपनी माता बहिन लड़की को देखते अपनी काम वासना नहीं होती । परंतु उत्तम पुरुषों को निज स्त्री देखते से व अधर्मी को पर स्त्री देखने से काम वासना होती है । अब ऐसे अधम मनुष्य ने यदि अपनी बहिन व लड़की जन्म भर देखी न हो और वे कभी उसे प्रथम हो दीख पड़ें तो उन पर उसकी काम वासना अवश्य उत्पन्न होगी क्योंकि उस समय तक उसको उनका अपनी बहिन व लड़की होने का ज्ञान न था परंतु यदि उसी सम-

य से उसे खातरी हो जावे कि ये मेरी बहिन व लड़की हैं तः शीघ्र ही उसका मनो विकार दूर होकर शुद्ध प्रेम बुद्धि हो जावेगी। इसी प्रकार सर्व जगह ब्रह्म है यह सब जानते हैं परंतु खातरी नहीं होती तब तक भ्रम ही रहता है। जब निश्चयात्मक बुद्धि होजाती है तब आप ही से मनो विकार दूर होजाता है। रज व तम को छोड़ो तो सत्व रह जाता है फिर मनुष्य त्रिगुणातीत कैसे हो सकता है? क्योंकि उसने दो ही गुण त्याग इसका दृष्टांत खोटा सोना या सुवंज है। इसमें कुछ तांबा व कुछ चांदी मिली रहती है तपाने से तांवा चांदी जल जाते हैं तो बाकी शुद्ध सोना रहजाता है। इसी प्रकार ये तीनों गुण मिले रहते हैं और रज तम दूर होने पर केवल सत्व रह जाता है वही नित्य सत्व है। और उसमें बुद्धि आत्माकार रहती है। सत्व के सिवाय आत्मा का अनुभव नहीं होता है और इस अनुभव से कल्पना इत्यादि का नाश हो.जाता है और कल्पना ही में द्वैतभाव होता है ॥

शीतोष्ण मानापमान लाभ हानि जयपराजय ऐसे२ अनेक प्रकार के द्वंद्व देहाभिमान से होते हैं इनको त्यागे बिना नित्य सत्व दशा प्राप्त नहीं होती इसी कारण श्रीकृष्ण जी ने कहा है कि पहिले "निर्द्वंद्व हो,, फिर "नित्य सत्वस्थ,, हो अब "नित्य सत्व,, भाव तभी तक होता है जब तक देहात्मभाव उत्पन्न नहीं होता। यह प्रारब्ध रूपी देह जबलों है तभी तक भोग काल में मैं दुःखी व मैं सुखी ऐसी२ कल्पना होती हैं इन कल्पनाओं को छोड़ना चाहिये जैसे छोटे बालकों को भूख लगी तब रोते हैं दूध पिलाने से चुपाये जाते परन्तु मुझे ऐसा ही दूध फिर मिले ऐसी इच्छा उसे नहीं रहती। इसी प्रकार सुख भोगने उपरांत ऐसी इच्छा न करना चाहिये कि ऐसा सुख हमें फिर मिले अपनी देह व स्त्री पुत्रादि को निर्वाह की चिंता नहीं करना चाहिये क्योंकि जैसे बिना चिन्ता किये अ-

ज्ञान बालकों को दूध मिलता है, तैसे जगन्नियन्ता विश्वम्भर को सर्व प्राणियों की फिकर रहती है। अतएव देह निर्वाह के लिये समय २ पर लगने वाली वस्तु की व जो अपने पास है उसकी रक्षा करने की फिक्र नहीं करनी, इसी को "निर्योग क्षेम,, कहा है। जो होनहार है वह अवश्य होता है, देखो नारियल में छिद्र नहीं तो दूध कहां से भरता, अतएव अपने मन को खूब शुद्ध करके नित्यसत्व में रहना व आत्मचिंतन करना उसी को "आत्मावान्,, कहा है.वेदों की यह सामर्थ्य है कि वे त्रिगुण सहित अपना बोध कराके निर्गुण ब्रह्म बतला कर पीछे हट जाते हैं। जैसे माता अपनी लड़की को भोग काल में उसके पति की कोठरी में पहुंचा कर लौट आती है। इसी प्रकार यह वेद माता है। ब्रह्म क्या वस्तु है? अर्जुन को यह जान पड़ा परंतु यह खेद व शंका हुई कि वेदोक्त कर्मों को नाना प्रकार के सुंदर फल त्याग करके केवल निष्काम ईश्वर आराधना रूप व्यवसायात्मिका बुद्धि करना कुबुद्धि ही है। क्योंकि उसमें आनन्द व सुख नहीं जो कर्म उपासनाद से वैकुंठ आदि में सुख मिलते हैं इसका समाधान भगवान् आगे के श्लोक में कहते हैं ॥

यावानर्थउदपाने सर्वतःसंप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषुवेदेषु ब्राह्मणस्यविजानतः ॥४६॥

अर्थ—(उदपाने) बावली, कुआ, तालाब इत्यादि छोटे२ जलाशयों में अल्प जल होने के कारण कई जगह घूमने से (यावान्) जितने स्नान पानादि (अर्थः) प्रयोजन सिद्ध होते हैं वे सर्व प्रयोजन (सर्वतः संप्लुतोदके) संपूर्ण प्रकार से जल भरे हुये बड़े जलाशय में एकही जगह जाने से सिद्ध हो जाते हैं। उसी प्रकार (सर्वेषु वेदेषु) सब वेदों में (यावान् अर्थः) जो व्रत कर्म फल रूप अर्थात् वेदोक्त कर्म उपासनादि से स्वर्ग बैकुंठादि में कई जगह भ्रम से आनन्द रूपी प्रयोजन सिद्ध होते हैं (तावान्) वे सर्व फल व प्रयोजन (विजानतः)

व्यवसायात्मिका बुद्धि युक्त यानी एकनिष्ठ बुद्धि वाले (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मनिष्ठ को एक ही जगह उसी "व्यवसायात्मिका" बुद्धि में प्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि जो ब्रह्मानन्द उसे इस ब्रह्मनिष्ठा में मिलता है उसी में और सब शुद्ध आनन्द समा जाते हैं। इसी कारण यही बुद्धि सुबुद्धि है कुबुद्धि नहीं अर्थात् गुणातीत निष्काम ब्रह्मज्ञानी ही परमानन्द का स्वरूप है॥

(नोट) इस का सीधा २ अभिप्राय यह भी हो सकता है कि सब ओर से भरे हुए जलाशय में विचार शील का जितना प्रयोजन होता [अर्थात् १ । २ लोटा वा दो चार घड़ा] उतना ही वह जल भर लेता है किन्तु सब का छानबीन करना वा तर्कवितर्क उठाना मूर्खता है। अर्थात् सब बातों में हुज्जत करना अच्छा नहीं। वैसे ही अनन्त देश काल के असंख्य मनुष्यादि के यथाधिकार असंख्य प्रयोजन सिद्ध करने के लिये अगाध वेद हैं। उस वेद में से ज्ञानी को सब का सार शुद्ध ज्ञान का ग्रहण कर लेना चाहिये। किन्तु वेद के अन्य अंशों पर वाद विवाद [हुज्जत] नहीं करनी चाहिये। क्योंकि वाद विवाद करने वालों के हाथ कुछ नहीं लगता। उन का जन्म व्यर्थ ही जाता है। इस से अपना प्रयोजन मात्र वेद से लेना चाहिये॥ (भी० शा०)

टीका=जिस प्रकार छोटे २ कुंआ व तालावों में किसी बड़े जलाशय के आश्रय में रहने से उन सब में उसी का पानी झिर कर आता है। उसी प्रकार सब तरह के विषय सुख ब्रह्मसुख के आश्रय में रहते हैं। अनेक प्रकार की कामना सिद्ध होने से जो विषय सुख मिलते हैं वे सब एक आत्मा के अनुभव हो जाने से ब्रह्म निष्ठ को मिलते हैं। इतना ही नहीं बल्के ब्रह्मानन्द प्राप्त होने से विषय सुखों की कोई इच्छा ही नहीं रहती। परंतु विषय भोगों में यह बात नहीं, ज्यों २ उनका भोग करो त्यों२ उनकी इच्छा बढ़ती है। तृप्ति कभी भी होती नहीं, इस

लिये निस्त्रैगुण्य होकर ब्रह्मानन्द का सुख भोग। इस उपदेश से अर्जुन ने विचारा कि सर्व का फल जो ब्रह्म सुख है वह केवल एक परमेश्वर की आराधना वाले ब्रह्म ज्ञानी को मिल सकता है तो ब्रह्म ज्ञान का ही अनुष्ठान करके इस लोक परलोक के भोगों को भोगना योग्य है यह जान श्री भगवान् कहते हैं कि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते माफलेषुकदाचन।
माकर्मफलहेतुर्भूर्मातेसंगोस्त्वकर्मणि ॥४७॥

अर्थ—(कर्मणि एव) केवल कर्म करने ही में (ते) तेरे समान तत्वज्ञानार्थी का (अधिकारः) अधिकार है अर्थात् चित्त शुद्धि के हेतु कर्म करना ही चाहिये परंतु (फलेषु मा) उन कर्मों के बन्धन रूपी फलों में अर्थात् स्वर्ग वैकुंठादि के प्राप्त करने में (कदाचन) कभी भी आसक्त न होना चाहिये (माकर्मफलहेतुर्भूः) कर्मों के फल प्राप्त करने का हेतु न हो, अर्थात् फल की इच्छा न कर, यदि तू यह समझै कि कर्म करने से फल तो कुछ न कुछ होवेहीगा सो उसकी तृष्णा व इच्छा करने का हेतु तू मत हो तो दोष नहीं है। और कर्म का फल जो कुछ भी हो वह बंधक होगा इस भय से (माते संगः अकर्मणि) कर्म हो न करने में (ते) तेरी (संगः) प्रीति (मा) नहीं (अस्तु) होवे अर्थात जब तक अंतःकरण की शुद्धि न हो जावे तब तक कर्म करने में तेरी प्रीति बनी रहै। यह उपदेश भी है व आशीर्वाद भी है ॥

(नोट) [कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः] इस वेद मंत्र में भी यही विचार दिखाया है कि कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीवन की इच्छा करे किन्तु फल भोग तृष्णा को त्याग देवे। क्योंकि फल भोग में यह जीव स्वाधीन नहीं किन्तु दैवाधीन है। और कर्म करने में उस का अधिकार है। जब कि फल दैवाधीन है तब मैंने ऐसा करके यह फल प्राप्त कर लिया और ऐसा करूंगा। इत्यादि विचार

ही अज्ञान मूलक होने से बन्धन का हेतु है॥ (भी०शा०)

टीका—सर्व क्रिया जन्म कर्म फल देनेवाली हैं यह पहिले ही श्लोक ४३ (कामात्मनः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्) में कहि आये हैं। परंतु निराकार ब्रह्म पाने की जिसे इच्छा हो उसे कर्म करना ही चाहिये। कर्म करने का अधिकार न रहै तौ भी करे परंतु फल की इच्छा न रखे॥ दृष्टांत—राजसेवा किये बिना महत्व नहीं मिलता और उस सेवा में चोरी चवारी जो औगुण हैं वे नहीं करै तो उस सेवा से राजा प्रसन्न हो कृपा करता है। इसी प्रकार वेदोक्त कर्म किये बिना ईश्वर की कृपा नहीं होती क्योंकि वे कर्म ईश्वर ही की आज्ञा से हैं। और उनका करना ईश्वर ही की सेवा करना है। परंतु इतना ही है कि निष्काम बुद्धि से करे तो बंधक नहीं होते। दृष्टांत—समुद्र सब को डुबा लेता है परंतु नौका में चढ़ने वालों को नहीं डुबाता। इसी प्रकार यह भव सागर सब को डुबावेगा यह सही है, परन्तु जो निष्काम कर्म रूपी नौका में चढ़ेंगे उन को नहीं डुबा सक्ता, यहां अर्जुनको यह ज्ञान पड़ा कि जैसे विष को मरण हेतु अथवा जीवन हेतु भी खावे तो भी वह अपना धर्म न छोड़कर दोनों अवस्थाओं में खाने वाले को मारे हीगा, तैसे सकाम वैसे निष्काम दोनों कर्म जन्म मरण के हेतु व बंधक होने चाहिये। यह शंका बहुत ठीक है परन्तु अर्जुन को यह तत्त्व नहीं मालूम था कि निष्काम कर्म को भग दर्पण कर देने से वह बंधक नहीं रहता अतएव यह बात श्री महाराज आगे कहते हैं॥

योगस्थःकुरुकर्माणि संगंत्यक्त्वाधनंजय ॥
सिद्ध्यसिद्ध्योःसमोभूत्वा समत्वंयोगउच्यते॥४८॥

अर्थ—हे (धनंजय) अर्जुन (योगस्थः) एक परमेश्वर के परायण अर्थात् शरण होकर और (संगं त्यक्त्वा) कर्म करने का अभिमान व उस की फल की इच्छा त्याग करके (कर्माणि कुरु) कर्म कर। अर्थात् केवल ईश्वर के आश्रय होकर

कर्म कर (सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा) उस कर्म के फल का ज्ञान हो जाने पर भी उस की सिद्धि व असिद्धि इन दोनों में सम बुद्धि रखकर केवल ईश्वर को अर्पण करता जा, क्योंकि (समत्वं योग उच्यते) इस सम बुद्धि को ही योग कहते हैं इस में चित्त समाधान हो जाता है ॥

टीका–सर्व भाव से शरण होकर ईश्वर के चरण अपने अंतःकरण में रखकर जो कर्म करता है वही योगी है। व उस के कर्म बंधक नहीं होते। चित्त की सहायता बिना कोई कर्म नहीं होता और जब वही चित्त ईश्वर के चरणों में लगगया तो कर्म भी वहीं अर्पण हो चुके और बंधक न रहे ॥ दृष्टांत–बच्छनाग घातक विष है सही, परन्तु उत्तम वैद्य के हाथ पड़ने से वह उसी की रसराज मात्रा बना देता है, और वह मात्रा आरोग्य करती है। इसी प्रकार कोई भी बंधक कर्म ईश्वरार्पण हो गया तो घातक नहीं रहता ॥३॥ और ९वें अध्याय में भी यही बात कहेंगे कि निष्काम कर्म यदि कृष्णार्पण हो जावें तो वे बंधक नहीं होते ॥

यह सच है कि फलेच्छा रहित कर्म करने में चित्त नहीं लगता परन्तु सिद्धि असिद्धि में समान रह के वह कर्म ईश्वरार्पण किया जाय तो चित्त की शुद्धि होकर ब्रह्म की प्राप्ति होती है। चित्त शुद्धि से विवेक उत्पन्न होता है व निष्काम कर्म करने को चित्त चाहता है। कर्म सिद्धि की इच्छा करने से ईश्वर में बुद्धि स्थिर नहीं रहती क्योंकि निष्काम कर्म भी किया और वह सिद्धि को न पहुंचा तो काम्य करने में चित्त जाता है इसी कारण समता रखने को कहा है ॥

यहां तक कर्म की प्रशंसा बहुत हुई अब भगवान् ज्ञान का महत्व कहते हैं और यह भी दरसाते हैं कि काम्य कर्म अति निकृष्ट है ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय !॥

बुद्धौशरणमन्विच्छ कृपणाःफलहेतवः ॥ ४९ ॥

अर्थ–हे (धनंजय) अर्जुन ! (बुद्धियोगात्) व्यवसाया-त्मिका बुद्धि अर्थात् ईश्वर आराधन रूप बुद्धि से जो कर्म किया जावे उसे बुद्धियोग व ज्ञान कहते हैं, । इस बुद्धियोग से (कर्म) केवल काम्य कर्म (दूरेणाहि अवरम्) अत्यंत निकृष्ट है इस कारण (बुद्धौ) उपरोक्त ज्ञान रूपी बुद्धि योग का (शरणम्) आश्रय (अन्विच्छ) ले अर्थात् वैसा ही निष्काम व ईश्वरार्पित कर्म योग कर, क्योंकि (फलहेतवः) कर्म के फल चाहने वाले मनुष्य जो सकाम कर्म करते हैं वे (कृपणाः) अति दीन दुःखी हुआ करते हैं ॥

टीका–बुद्धि के चैतन्य योग को "बुद्धि योग" कहते हैं और जो कर्मयोग कहा गया है यह चैतन्य बुद्धि ही के द्वारा होता है। इस का शोधन सब लोग नहीं कर सक्ते, क्योंकि वे काम्य कर्मों के फल भोगों में आसक्त हैं व दीन रहते हैं। बुद्धि योग बहुत श्रेष्ठ है व कर्मयोग बहुत नीच है। पर काम्य कर्म उस से भी निकृष्ट है इसी कारण बुद्धियोग अर्थात् ज्ञान मार्ग का आश्रय लेना बहुत उत्तम है ॥

(नोट) इसी बुद्धि योग को अध्यात्मरति भी कह सकते हैं। अध्यात्म विचार में तत्पर रहनेवाला बाहरी हानि लाभादि में हर्ष शोकादि नहीं मानता। इसी से वह एक रस प्रसन्नात्मा रहता है। और कर्म फल भोग की तृष्णावाले डूबते उछलते हुए गोता खाया करते हैं इसी से व कृपण दीन दुःखी रहते है ॥ (भो० श०)

इस पर से अर्जुन को जान पड़ा कि निष्काम कर्म करके ईश्वर को अर्पण कर देवे तो वह बंधक नहीं होता और उसी से ब्रह्म प्राप्ति भी होती है। तब इस से उन्हीं थोड़े से कर्मों का नाश होगा जो इस अवस्था प्राप्त होने के पीछे किये जावेंगे। परन्तु जो इस के पहिले अनंत जन्मों के संचित कर्म उन का नाश कैसे होगा ? अतएव भगवान् आगे कहते हैं कि

इन का नाश ज्ञान प्राप्त हुए बिना नहीं होता और उन के नाश होने बिना ब्रह्म प्राप्ति नहीं होती ॥

बुद्धियुक्तोजहातीह उभेसुकृतदुष्कृते ॥
तस्माद्योगाययुज्यस्व योगःकर्मसुकौशलम् ॥५०॥

अर्थ-(बुद्धियुक्तः) उपरोक्त बुद्धि अर्थात् ज्ञान युक्त पुरुष (सुकृत) स्वर्गादि प्राप्त होने का पुण्य व (दुष्कृते) नरकादि का पाप (उभे) यह दोनों (इह) इसी लोक व इसी जन्म में परमेश्वर के प्रसाद से (जहाति) त्याग देता है (तस्मात्) इसी कारण उस ज्ञान प्राप्त करने के हेतु (कर्मयोगाय) कर्म योग में (युज्यस्व) प्रवृत्त हो अर्थात् कर्म योग कर । क्योंकि (कर्मसु यत कौशलम्) बंधक कर्मों से भी ईश्वराराधन द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेने की जो चतुराई है उसी का नाम (योगः) योग है अर्थात् कर्म योग करके उस के बंधन में न आना यही बड़ी कुशलता है ॥

(नोट) योग नाम ज्ञानेन्द्रियों की बहिर्मुख वा विषयोन्मुख प्रवृत्ति का शिथिल होना और प्रत्यगात्म प्रवृत्ति की उन्नति द्वारा अन्तःकरण के सावधान एकाग्र होने का है। ऐसा होने पर ही पूर्वोक्त बुद्धि योग बन सकता है । योगाभ्यास का ही अन्तिम परिणाम बुद्धि योग कहाता है । योग साधन संबंधी कर्म अन्यकर्मों को प्रथम निर्मूल नष्ट करके स्वयं भी प्रवृत्ति के विरोधी होने से अन्त में अपने कारण में लीन हो जाते हैं ॥ (भी० शा०)

टीका—चैतन्य ही से बुद्धि का प्रकाश होता है और उसी बुद्धि से अपन को उस चैतन्य का अनुभव होता है। ऐसी बुद्धि में युक्त रहने को ही बुद्धि वा चैतन्य का योग कहते हैं। तो बुद्धि व चैतन्य का संयोग जिसने संपादन कर लिया, वही पुरुष बुद्धियुक्त कहाता है, वह जीवित रहते ही पाप पुण्य से मुक्त अर्थात् जीवन्मुक्त कहलाता है । जैसे दही में मक्खन रहता है परंतु मथन किये बिना नहीं निकलता, इसी प्रकार

चैतन्य को विचार रूपी मथानी से मथन करने से बुद्धि को चैतन्य दीख पड़ता है ॥

पुनः काष्ठ में अग्नि रहता है परंतु काष्ठ से काष्ठ रगड़ने बिना नहीं दीखता और जब प्रगट होता है तो उसी काष्ठ के संग दीखता व उसे जलाने लगता है, इसी प्रकार जड़ में से चैतन्य को शोधने से आत्मा बुद्धि में दीखता है और बुद्धिमें जो पूर्व कर्म रहते हैं उन्हें जला देता है। अब इस को स्पष्ट करना चाहिये कि बुद्धि में पूर्व कर्म कैसे रहते हैं? । अपन अमुक वस्तु खाते पीते हैं, गालियां देते और अनेक कर्म करते हैं, परन्तु कुछ काल पीछे उन की बराबर याद नहीं आती, तब बारंबार बुद्धि को जागृत करना पड़ता है, तो याद आ जाती है। इस से सिद्ध हुआ कि अनेक जन्म के पूर्वकृत बुरे भले कर्म सब बुद्धि में संस्कार रूप से बने रहते हैं, आकार रूप से नहीं देख पड़ते। जैसे गाली देते २ गाली देने की आदत डाली तो वह पड़ ही जाती है, और इच्छा बिना भी बुद्धि उसी कर्म में प्रवृत्त हो जाती है। वही स्वभाव बन जाता है, पहिले वैसा नहीं रहता अपनी आदत डालने से बनता है। किसी २ में जन्म से ही कोई विशेष गुण रहते हैं। वे सब से पहिले जन्मों के संस्कार से ही हुआ करते हैं इस से पूर्व जन्म व उत्तर जन्म दोनों सिद्ध होते हैं। " बुद्धिःकर्मानुसारिणी " इस प्रचलित वाक्य का गूढ़ अर्थ यही है कि बार बार जो काम किये जाते हैं, वे संस्कार रूपी एकत्र होकर बलवान् हो जाते हैं, व-बुद्धि को उन ही के करने में लगा लेते हैं। परन्तु ये आदतें अपन ही डालते हैं, व बिचार से अपन तोड़ भी सक्ते हैं। इस संस्कार को तोड़ने के अनेक उपाय हैं वे ज्ञानी पुरुष कर सकते हैं व अनेक जन्म संचित पाप पुण्य जला सक्ते हैं। बुद्धि चित्त मन व अहंकार ये सब एक सत्य के ही प्रकार हैं। जाग्रत् अवस्था में जो २ अपन कहते हैं उस

के संस्कार बुद्धि में बने रहते व स्वप्न में दीखते हैं। यद्यपि अपने को भूल जाते हैं तो भी बुद्धि में रहते हैं। इस बुद्धि का साक्षी ईश्वर है वह ये सब कर्म जानता है, व उन के संस्कार अनुरूप से प्रेरणा करता है। अनेक जन्मों के जो पूर्व कर्म हैं उन्हें "संचित" कहते हैं, व इस देह में जो किये जाते वे क्रियमाण कहाते हैं। देह रहने तक ये दोनों कर्म इसी देह पर लदे रहते हैं, व देहांत पर सब एकत्र हो कर आगे के जन्म में भोग के वास्ते उन का फल ईश्वर प्रारब्ध रूप से अपने को देता है, यह ईश्वर की आज्ञा से होता है सो भोगना ही पड़ता है॥

केवल बुद्धि युक्त पुरुष उपरोक्त रीति से अपने ज्ञान के बल से इनका नाश कर सक्ता है। इसी कारण बुद्धियोग की इतनी प्रशंसा की, परन्तु कर्मयोग किये विना बुद्धि योग नहीं मिलता, व कर्म बंधक है तो निष्काम कर्म करके ईश्वरार्पण करना व बंध में न पड़ना, यही कर्मयोग में कुशलता है। यही उपदेश अध्याय ९ के श्लोक २६, २५, २८, में और भी विस्तार पूर्वक करेंगे॥

विहित कर्म के दो प्रकार हैं एक नित्य व दूसरा काम्य वर्णाश्रमोचित नित्य कर्म करना ही चाहिये क्योंकि ये ईश्वर की आज्ञा से हैं। उन से ईश्वर प्रसन्न होते हैं विशेष फल कोई नहीं मिलता। नित्य कर्म से पितृ लोक व काम्य से स्वर्ग लोक मिलता है। परन्तु दोनों में जन्म मरण नहीं छूटता। पितृ लोक व स्वर्ग लोक को कर्मानुसार भोग कर लेनेपर फिर जन्म लेना ही पड़ता है। केवल निष्काम कर्म ईश्वरार्पण करने से ही ईश्वर आप गुरुरूप से ज्ञान देकर मोक्ष करताहै॥

कर्म करने से मोक्ष का साधन जिस प्रकार बुद्धि युक्त लोग प्राप्त करते हैं सो आगे कहा है॥

कर्मजंबुद्धियुक्ताहि फलंत्यक्त्वामनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदंगच्छन्त्यनामयम्॥५१॥

अर्थ-(कर्मजं फलं त्यक्त्वा) कर्मों से मिलने वाले फलों को याने स्वर्गादि त्यागि के और केवल ईश्वराराधनार्थ कर्म करते हुए (मनीषिणः) निर्मल अन्तःकरण वाले बुद्धिमान् (बुद्धियुक्ताः) ज्ञानी हो जाते हैं व (जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः) जन्म रूपी बंधन से मुक्त हो कर (अनामयम्) सर्व उपद्रव से रहित जो (पदम्) मोक्ष रूपी विष्णुपद है उसको (गच्छन्ति) प्राप्त करते हैं ॥

(टीका) नित्य कर्म करने से जो फल होते हैं वह भी ईश्वरार्पण कर देने से ईश्वर का कृपा पात्र होकर वह कर्म करता हुआ पुरुष बुद्धि युक्त होता है। व परम पद को पावता है, इस पद में आवागमन रूपी रोग का नाम भी नहीं रहता इस से यह सिद्ध होता है कि निष्काम (नित्य) कर्म भी यदि ईश्वरार्पण न किया जावे तो वह भी काम्य कर्म के समान बंधक हो जाता है। काम्य कर्म न त्यागि के केवल उसका फल त्यागने से परम पद नहीं मिलता क्योंकि समूल काम्य कर्म त्यागने को ही संन्यास कहते हैं जैसा कि भगवान ने अध्याय १८ के श्लोक २ में कहा है कि-

काम्यानांकर्म्मणांन्यासं संन्यासंकवयोविदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागंविचक्षणाः ॥

उपरोक्त परम पद कब प्राप्त होगा सो आगे के दो श्लोकों में कहते हैं-

यदातेमोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदागन्तासिनिर्वेदं श्रोतव्यस्यश्रुतस्यच ॥ ५२ ॥

अर्थ-देहादि में जो आत्मबुद्धि रूपी मोह होता है उसे "कलिल,,कहा है व "कलिल,,और "गहन,,दुर्ग का भी नाम है। परमेश्वराराधन रूप कर्म करते २ (यदा) जब उनके प्रसाद से (ते बुद्धिः) तेरी बुद्धि देहाभिमान रूपी (मोहकलिलम्) मोहमय दुर्ग के (व्यतितरिष्यति) विशेष प्रकार से पार हो जावेगी अर्थात देहादि पदार्थों का अभिमान व ममता दूर

हो कर आत्मा का ज्ञान हो जावेगा (तदा) तब (श्रोतव्य-स्य श्रुतस्य च) तेरे जो सुनने योग्य व जो तूने सुना है इन दोनों सुखों में (निर्वेदम्) वैराग्य को (गन्तासि) प्राप्त होगा अर्थात् और कुछ सुनने की इच्छा न करेगा व जो कुछ सुन चुका है उस में कोई संशय नहीं रहेगा ॥

(नोट) जब तक प्राणी जिस २ विषय के साथ संग रखता है तब ही तक उस का विशेष मोह रहता और विचार पूर्वक संग छूटते ही उस २ विषय से उदासीन तथा विरक्त हो जाता है। जैसे बालक जब तक अज्ञान ग्रस्त रहता है तब तक सांप तथा अग्नि आदि को पकड़ने से नहीं डरता पर जब सांप के विष से मर जाना वा अग्नि से जल जाना जान लेता है तब विषादि से विरक्त हो जाता है ॥

टीका—अविवेक व अविचार को मोह कहा है। अविचार से ही देह को आत्मा समझते हैं, यह एक प्रकार का मोह है। जो व्यतिरेक ज्ञान से नाश होता है आकारवंत जग आत्मा नहीं है ऐसा विचार करना दूसरे प्रकार का मोह है। यह अन्वय ज्ञान से नाश होता है, यह प्रथम ही स्पष्ट हो चुका है कि जो अलंकार है सोई सोना है इसी प्रकार सर्व जड़ जग आत्मा ही है इसी विचार को अन्वय कहते हैं। इस दोनों प्रकार के मोह के पार होने से सच्चा ब्रह्म सुख प्राप्त होता है। श्रोतव्य व श्रुत में वैराग्य होना वैसा है जैसे गन्ना का रस ले लेना व छिलटा फेंक देना—पुनः

श्रुतिविप्रतिपन्नाते यदास्थास्यतिनिश्चला ।
समाधावचलाबुद्धिस्तदायोगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

अर्थ—इस के पहिले नानाप्रकार के (श्रुति) लौकिक व वैदिक वाक्यों को सुन २ के जो (ते बुद्धिः) तेरी बुद्धि (विप्रतिपन्ना) विक्षिप्त व चंचल हो रही है वह (यदा) जब (समाधौ) समाधान वृत्ति में " जिस में चित्त समाधान हो उसे समाधि कहते हैं „ अर्थात् केवल परमेश्वर ही में (नि-

श्चला) और सर्व विषयों से खिंच कर निश्चल (स्थास्यति) हो जावेगी और पूर्ण अभ्यास से अन्यत्र न जा कर रोचक वाक्यों में न अटकेगी (तदा योगमवाप्स्यसि) तब तुझे योग फल अर्थात् तत्त्वज्ञान प्राप्त होगा ॥

(नोट) संसारी मनुष्य ग्रन्थों द्वारा व अन्य मनुष्यों से जो २ कुछ हर्ष शोकादि जनक घटनायें सुनता है उन से हर्ष शोकादि के समुद्र में डूबता उछलता गोता खाया करता है। पर ज्ञानी योगी सम दशा में उदासीन रहता है। उस को हर्ष शोक नहीं दबाते हैं ॥

टीका—वेदों में कही हुई अनेक प्रकार के काम्य कर्म करने की फल श्रुति सुन कर तेरी बुद्धि जो व्याकुल हो गई है सो अभी तक किये हुये उपदेश से अवश्य शांत हुई होगी, परन्तु विचार पूर्वक ऐसी ही बुद्धि अभ्यास से कायम रक्खेगा तब तुझे वह योग प्राप्त होगा जिस से ५० वें श्लोक में कहे हुये सुकृत व दुष्कृत दोनों का नाश हो जाता है। प्रथम आत्मज्ञान होना चाहिये पीछे "निर्विकल्प व सविकल्प" इन दोनों प्रकार के अभ्यास से ज्ञान सिद्धि होती है। यह हो गया कि वह पुरुष नित्य समाधान रहता है। सर्व कर्म करके भी अकर्ता हो जाता है और पूर्व संचित को नाश करके जीवन रहने पर भी पुण्य पाप से मुक्त हो जाता है, उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं। और यही " स्थित प्रज्ञः „ भी है। उसी के ऐसे वर्ताव को योग कहते हैं। ऐसे ही आत्मतत्व जानने वाले स्थित प्रज्ञ पुरुष के लक्षण अर्जुन अब आगे पूछता है ॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्यकाभाषा समाधिस्थस्यकेशव ॥
स्थितधीःकिंप्रभाषेत किमासीतव्रजेतकिम् ॥५४॥

अर्थ—हे केशव ! अपने स्वभाव से ही (समाधिस्थस्य) निर्विकल्प समाधि में रहने वाले और इसी कारण (स्थित प्रज्ञस्य) " अहं ब्रह्मास्मि „ इस महावाक्य के अर्थ में दृढ़ हो

कर निश्चल बुद्धि वाले पुरुष की (का भाषा) क्या भाषा है अर्थात् क्या लक्षण है " जिस से कुछ बोला जावे उस का नाम भाषा अर्थात् लक्षण „ वह (स्थितधीः) आत्मस्वरूप में ही स्थिर बुद्धि वाला (किं प्रभाषेत) किस प्रकार बोलता है (किम् आसीत) किस प्रकार बैठता रहता है व (किम् व्रजेत) किस प्रकार चलता है यानी वर्ताव करता है । ये अंत के तीन प्रश्न उस ज्ञानी के निमित्त हैं जो सविकल्प समाधि में स्थित हैं व पहिला प्रश्न निर्विकल्प समाधि वाले ज्ञानी के बावत् है ॥

(नोट) स्थिर बुद्धि होना योगी का लक्षण है उस के विषय में अर्जुन का वा सामान्य जीव का प्रश्नाभिप्राय ऐसा माना जाय तो भी अनुचित नहीं कि–स्थित बुद्धि वाले की बोलचाल कैसी होती, क्या वह बोला ही करता है? वा क्या बैठा ही रहता है ? अथवा क्या चलता ही फिरता है ? ॥

यहां पर यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि "साधक„ के जो २ ज्ञान साधन प्रकार हैं वही " सिद्ध „ के स्वाभाविक लक्षण होते हैं अर्थात् साधक को (जो साधना सीखना है) जिन २ बातों को सीखना व साधना पड़ता है वे सब (सिद्ध) (जो सीख चुका है) पुरुष के सहज स्वभाव ही में दीख पड़ती हैं क्योंकि उस का साधन तो पूरा व सिद्ध हो ही गया है, अतएव अध्याय समाप्ति पर्यन्त श्रीमहाराज जो २ " सिद्ध„ के लक्षण बतावेंगे वे ही सब साधक अर्थात् सीखने वाले के लिये ज्ञान के साधन हैं ॥

अब अर्जुन के प्रथम प्रश्न का उत्तर २ श्लोकों से देते हैं ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान् ॥
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

अर्थ–हे (पार्थ) अर्जुन ! (मनोगतान्) मन में रहने

व आने वाले इस लोक परलोक की सूक्ष्म वासना अर्थात् (मनोगान् कामान्) सब कामनाओं को (यदा) जिस समय कोई मनुष्य (प्रजहाति) विशेष प्रकार से त्याग देता है और (आत्मनिएव) अपने ही आत्मा के बीच में (आत्मनातुष्टः) परमानंद रूप आत्मा को विचार करके आप ही आप में संतोष मान कर आत्माराम हो जाता है अर्थात क्षुद्र विषयों की अभिलाषा छोड़ देता है (तदा) तब उस लक्षण से (स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते) वह मुनि स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है। वही पूरा ब्रह्मज्ञानी है इस निर्विकल्प समाधि वाले ब्रह्म ज्ञानी का मुख्य साधन समस्त वासना का त्याग है। योगवासिष्ठ में भी कहा है कि "वासना सम्परित्यागः" ॥

टीका—मनुष्य को पहिले वैराग्य होना चाहिये उस पर ज्ञान प्राप्त होता है वही ज्ञान सदा स्थिर रहा कि वही मनुष्य "स्थितप्रज्ञ,, होता है। अपने स्वभाव से मन विषयों की ओर दौड़ता है और विचार बल से इसे जो रोकता है उसको " साधक ,, कहते हैं परन्तु जब अभ्यास करते २ विषयों की ओर मन जाता ही नहीं तब उसी स्थिति को "स्थितप्रज्ञ,, कहते हैं। अनादि वासना के कारण मन ने यही ठहराव किया है कि विषयों ही में सुख है परन्तु वह पहिले कहा गया है कि विषयों का सुख एक कण बरोबर है व अंत में दुख पहाड़ के बरोबर होता है। जो मन यह विचार नहीं करता वह चीखल में फसी हुई मछली के समान है। चीखल में थोड़ासा पानी रहता है उसी के आधार से उसे चीखल ही में सुख लगता है सूखी जगह नहीं जाना चाहती परन्तु उसी मछली को यदि नदी में डाल दो तो वह भूल कर फिर उस में नहीं जाना चाहती इसी प्रकार चीखल विषयों में फंसा हुवा मन यदि ज्ञान द्वारा ब्रह्मानन्द रूपी नदी में पड़ जावे तो उसे विषय भूल जाते व उनका स्मरण तक नहीं होता

अलबत्ता जैसे चीखल के छोड़ने पर मछली को नदी में पहुंचने तक कुछ दुख होता है तैसे विषय त्याग कर ब्रह्म प्राप्त हुए पर्यंत इस मनको भी थोड़ा कष्ट होता है क्योंकि इस स्थिति को पहुंचने तक उसको जो विषय सुख था वोही चला जाता है परंतु परिणाम में मिलने वाले सुख से यह बीच का थोड़ा सा दुख विचार से कुछ भी नहीं है। विषय त्यागने व ब्रह्म प्राप्ति के अभ्यास के थोड़े समय में थोड़ा सा ही कष्ट है परंतु आगे मिलने वाला सुख सदैव स्थिर रहनेवाला होगा॥

आगे "स्थितप्रज्ञ„ के और भी लक्षण कहते हैं॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषुविगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

अर्थ–(दुःखेषु) दुःख प्राप्त होने पर (अनुद्विग्नमनाः) उ के मनको कोई क्षोभ नहीं होता अर्थात् मन चंचल नहीं होता और (सुखेषु) सुख प्राप्त करने में (विगतस्पृहः) उस की इच्छा जाती रहती है अर्थात् सुख प्राप्त करने की उसे इच्छा ही नहीं रहती। इसका कारण यह है कि उसके मनमें (वीतरागभयक्रोधः) प्रीति, भय, और क्रोध नहीं रहते ऐसे (मुनिः) मुनि को (स्थितधीः उच्यते) "स्थितप्रज्ञ„ कहते हैं॥

टीका जब यह समझ लिया कि आत्मा सर्व व्यापक है तो उस मनुष्य को ईश्वररूप विंब और जीवरूप उस का प्रतिविंब यह दोनों एक ही रूप जान पड़ते हैं। प्रथम अज्ञान के कारण दुःख भोग कर ज्ञान पाने पर ज्ञानी को आत्मसुख मिलता है तब उसे यह सांचा तत्त्व समझ पड़ता है कि सगुण ब्रह्म ईश्वर (विंब) ही जीव (प्रतिविंब) रूप से दुःख भोगता है व फिर विंब प्रतिबिंब में मिल जानेसे सुख भोगता है॥

दृष्टान्त–जैसे राजा अपने महल में रहते २ उकता कर शिकार को जाता है वहां भूख प्यास व श्रम से दुःखी हो कर वापस आता और श्रम परिहारार्थ अनेक उपाय करता है

सी पहिले की अपेक्षा ये सब उपचार उसे आनन्द देते हैं॥ उसी प्रकार सदा छाया में रहने वाला कभी घाम में गया और फिर छाया में आता है तो उस समय उसे वही छाया अधिक सुख कर जान पड़ती है। इसीप्रकार बिम्ब प्रतिबिंब की एकता होने से जीवन्मुक्त हृदय में बिंबरूप ईश्वर अतिसुख भोगता है। ऐसी युक्ति जानने वाला मुनि दुःख में भला कैसे उद्विग्न होगा?। नाशवन्त दुःख भोगते हुए भी वह नित्य सुख का स्मरण करने से घबराता नहीं, इसीप्रकार सुख भोगते स-मय उस को यह भी इच्छा नहीं होती कि यही सुख फिर मिले क्योंकि वह खूब जानता है कि विषय सुख नाशवन्त है। ऐसे ज्ञानी पुरुष को उत्तम सुखदायक आत्मस्वरूप की प्राप्ति होने के कारण यदि कभी२ विषय सुख भोगने की पाली पड़ी भी तो वह फिर उस भोग की इच्छा नहीं रखता यहां तक कि उस को देह नाश होने का भी भय नहीं रहता, दुःख भो-गते समय या विषय सुख के बीच में कोई बाधा भी आवे तो उसे क्रोध नहीं आता॥

यहां तक इन दोनों श्लोकों में अर्जुन के प्रथम प्रश्न का उत्तर हुआ अब दूसरा प्रश्न जो था कि "किं प्रभाषेत„ "स्थि-तप्रज्ञः„ कैसेबोलता है उस का उत्तर भगवन्त आगे देते हैं॥

यःसर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्यशुभाशुभम्॥
नाभिनन्दतिनद्वेष्टि तस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता॥ ५७॥

अर्थ– (यः) जिस को (सर्वत्र) सब ठौर और पुत्र मि-त्रादि में भी (अनभिस्नेहः) स्नेह व प्रीति नहीं रहती और कोई पदार्थ उसे (तत्तत् शुभं) शुभ व अनुकूल प्राप्त होने से (न अभिनन्दति) उसे आनन्द नहीं होता व (अशुभं प्राप्य) अशुभ व प्रतिकूल प्राप्त होने से (न द्वेष्टि) वह उस की निन्दा नहीं करता यानी इष्ट अनुकूल में हर्ष नहीं व अ-निष्ट प्रतिकूल में विषाद नहीं किन्तु केवल उदासीन हो कर बोलता है अर्थात् न शुभ की प्रशंसा न अशुभ की निन्दा

करता (तस्य) उस की (प्रज्ञा) बुद्धि (प्रतिष्ठिता) स्थिर हुई ऐसा समझना चाहिये । यह उदासीनवत् बोलना ही ज्ञानी का लक्षण है ॥

(नोट)स्नेहेनतिलवत्सर्वं सर्गचक्रे निपीड्यते। तिलपीडैरिवाक्रम्य क्लेशैरज्ञानसंभवैः॥

जिसको अनुकूल धन पुत्रादि में प्रीति स्नेह है उस को प्रतिकूल से द्वेष अवश्य होगा । इसी स्नेह के कारण प्राणी संसार रूप कोल्हू में पड़ा रागद्वेषादि तेलियों से तिलों के समान पीडित किया जाता है । स्नेह [चिकनाई] के होने से ही तिल भी पेरे जाते हैं । वालू में स्नेह नहीं इसी से वालू नहीं पेरी जाती । जब तक संसारी अनित्य पदार्थों से प्रेम नहीं छटता तथा उदासीनता नहीं आती तब तक किसी की भी बुद्धि स्थित नहीं हो सकती इसी लिये भगवान् ने (यःसर्वत्रानभिस्नेहः) इत्यादि कहा है (भी० श०) .

टीका-" अहंपन " व " ममता " इन दो में से " मैं " व "मेरा,,यह दोनों भाव उत्पन्न होते हैं परन्तु ज्ञानी पुरुष को अपनी देह ही में ममता नहीं तो उसके संबन्ध की अन्य वस्तु में कहां से हो सक्ती है ? न ऐसा पुरुष भलती सलती बात बोले ही गा क्योंकि—उसे दुख व सुख शुभ व अशुभ बरोबर दीखते हैं । जो सुख चाहता है वा दुःख दूर करने की फिकर रखता है वही सुख दुख के प्रसंग में उसी अनुसार बोलेगा परन्तु ज्ञानी को कुछ बोलने की जरूरत नहीं क्योंकि दोनों प्रसंगों में उस की सम बुद्धि रहती है ॥

साधक को चाहये कि सिद्ध अवस्था की प्राप्ति होने तक स्त्री, पुत्र, घर द्वार बल्कि देह भी अपने न समझे—प्रारब्ध बशात् इनको न त्याग सके तो उनकी ममता मोह छोड़ देवे व आत्मस्वरूप में जागृत रहकर इन्हें स्वप्नवत् देखे व अपने विचार को सदैव काम में लावे ऐसा स्थितप्रज्ञ कुछ भी न बोलकर अपने ही आनंद में मग्न रहता है ॥

इस पर से कोई यह न समझे कि वह मूक ही रहता है उपदेश व हरि कथा कहने में अपनी वाणी का उपयोग करता ही रहे क्योंकि यह बोलना प्रपंच नहीं है देखो श्री शुकदेव तुलसीदास इत्यादि की कथा ॥

यदासंहरतेचायं कूर्मोऽङ्गानीवसर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता ॥५८॥

अर्थ-(कूर्मः) जिस प्रकार कछवा (अङ्गानि) अपने हाथ पांव इत्यादि सब अंगों को (सर्वशः) सब तर्फ से खींच कर अपने शरीर में मिला लेता है (इव) उसी प्रकार (यदा) जिस समय (च, अयम्) यह योगी भी (इन्द्रियार्थेभ्यः) इन्द्रियों के शब्दादि पांच विषयों से (इन्द्रियाणि) अपनी सर्व इन्द्रियों को (संहरते) अनायास से ही खींच लेता है (तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता) तब उस की बुद्धि स्थिर हुई समझी जाती है। अर्थात् कछवा जिस प्रकार अपने स्वभाव से ही अपने हाथ पांव सकोड़ लेता है उसीप्रकार "स्थितप्रज्ञ" अपनी इन्द्रियों को उन के विषयों से स्वाभाविक रूप बिना प्रयास से ही खींच लेता है ॥

(नोट) जब शास्त्राभ्यास और सत्सङ्गादि द्वारा यह दृढ़ विश्वास होजाता है कि पांचो ज्ञानेन्द्रियों का अपने २ विषयों से रुक कर शांन्ति दशा में स्थिर होना ही साक्षात् योग है। इसी योग द्वारा ईश्वर देवता के आराधनमें विषयों के भोग की अपेक्षा बहुत बड़ा आनन्द होता है। तभी वह इन्द्रियों को वश में करने को तत्पर होता है (भी०शा०)

टीका-यह पहिले कह चुके हैं कि प्रारब्ध कर्म का क्षय उन के भोगने बिना नहीं होता अतएव यह "स्थितप्रज्ञ" योगी बिना प्रयत्न किये जो विषयोपभोग प्राप्त होते हैं उन्हें अपनी इन्द्रियों के द्वारा भोग कर फिर से उन इन्द्रियों को उन के भोगों से उसी तरह खींच रखता है जिस तरह कछवा अपने हाथ पांव बिना श्रम अपने स्वभाव से ही बाहिर का-

ढ़ता है व फिर खींच लेता है। जैसे गेंद को भूमि पर मारा तो यह उचट कर ऊपर उठती है उसी तरह इस योगी का मन विषयोपभोगकाल पर्यंत ही विषयभूमि को स्पर्श करके उन से उचट जाता है। परन्तु ज्ञान हीन लोगों का मन विषयों में उसी प्रकार चिपट जाता है जिसप्रकार गीली मिट्टी का गोला जमीन पर चिपट जाता है। विषयवासना ही से इन्द्रियां अपने २ विषयों में प्रवृत्त होती हैं परन्तु भोग समाप्त होने पर जब यह वासना ही न रहे तो इन्द्रियां बिना प्रयास के ही स्थिर हो जाती हैं। यह सुख प्राप्त करने को काम्य कर्म करने वाले लोग भी अपनी इन्द्रियों को उन के विषय भोग कभी २ भोगने नहीं देते परन्तु इस में उन को भारी कष्ट होता है क्योंकि वे लोग "वासना" कायम रख के तपश्चर्या करते हैं। देखो विश्वामित्र सरीखे निश्चयी ऋषि की तपश्चर्या में मेनका ने उन का मन हर लिया था परंतु श्रीशुकदेव का मन रंभा न हर सकी, तब इससे यह सिद्ध हुआ कि वासना को कायम रखके ज़बरदस्ती इन्द्रियों को विषयों से रोकने में भोगकाल में श्वान मैथुन सरीखा होता है। सिद्ध पुरुष का यही वर्ताव सिद्ध हुआ कि अनायास जो विषय प्राप्त हो जावे उसे प्रारब्ध प्राप्त मान कर वह "स्थितप्रज्ञ" अपनी इन्द्रियों को काम में लाता है। जब अन्तःकरण में वासना ही न रहै तो विषय प्राप्त करने की इच्छा कौन करेगा। "साधक" को चाहिये कि अपनी इन्द्रियों की खुजलाहट सहकर आत्मस्वरूप में मन लगाने का अभ्यास करे तो उस को भी उपरोक्त स्थिति प्राप्त होगी। अब यहां यह शंका होती है कि जड़ों के, आतुरों के, रोगियों के व उपवास करने वालों के, जनमें भी विषय वासना नहीं रहती और अनायास विषयों की ओर उन की इन्द्रियां नहीं दौड़तीं तो क्या वे भी "स्थितप्रज्ञ" कहे जा सकते हैं या नहीं। इस का समाधान श्रीभगवान् आगे कहते हैं ॥

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्ज्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

अर्थ-(निराहारस्य देहिनः) जो मनुष्य कुछ खाता नहीं उस देहाभिमानी पुरुष के (विषयाः) शब्दादि विषय (विनिवर्त्तन्ते) नाश हो जाते हैं परन्तु (रसवर्जम्) अभिलाषाओं का वर्जना यानी नाश नहीं होता अर्थात् अभिलाषा व वासना बनी ही रहती है। एवं (अस्य) इस "स्थितप्रज्ञ„ की (रसोऽपि) वासना भी (परं दृष्ट्वा) परमेश्वर स्वरूप पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्द आत्मा को देख कर (निवर्तते) नाश हो जाती है ॥

टीका-जौनसी इन्द्रिय का जो विषय होता है वह उस का आहार ही समझा जाता है इसी से लंघनी, व ज्वर पीड़ित लोगों को भी " निराहारी „ कह सकते हैं। इस प्रकार के देहाभिमानी अज्ञ निराहारी पुरुषों की इन्द्रियां उन के विषयों से दूर रहती हैं परन्तु इस का कारण उस समय केवल उन की अशक्तता है। कहा भी है कि " अशक्तः भवेत् साधुः „। परन्तु उन की " वासना „ कायम रहती है व शरीर में शक्ति आ जाने पर वे विषय उपभोग करने का यत्न करते हैं परन्तु स्थितप्रज्ञ की यह बात नहीं। वह आत्मस्वरूप देख कर उस को वासना ही नहीं रहती क्योंकि स्वरूपामृत पान करने लगने पर उस को विषय सुखरूप महीपीने की इच्छा भला क्यों होगी और इसी कारण कछवे के समान वह अपनी इन्द्रियां अनायास खींच लेता है ॥

(नोट) व्रतादि के समय शुद्ध भूमि में उत्पन्न हुए सत्वगुणी फलादि वा जो गौ और बछड़े को प्रसन्न रख के निकाला हो ऐसा गोदुग्ध इत्यादि सात्त्विक अल्प आहार करना भी जोतने बोने से पैदा हुए अन्न की लवण मिर्चादि सहित रजोगुणी रोटी आदि भोजन की अपेक्षा निराहार कहना है। इसीकारण चान्द्रायणादि व्रतों में वैसे सत्वगु

आहार से भी विषयवासना ढीली तथा निर्बल होती जाती है। और विषयवासना निर्बल होना ही विषयों की निवृत्ति का कारण है। सो वार २ क्रमशः अनेक व्रतादि करते २ विषय वासना क्रम २ से घटती जाती है (भी० गा०)

अब अर्जुन को यह शंका हुई कि "स्थितप्रज्ञ,, को सर्व जगत् जब ब्रह्मरूप दीखने लगा तो उसे इन्द्रियां खींच कर रखने की जरूरत ही क्या रही अतएव आगे के दो श्लोकों में भगवान् कहते हैं कि इन्द्रियों के संयम अर्थात् विरोध विना स्थिर बुद्धि (स्थितप्रज्ञता) चिरस्थायिनी नहीं रहती अतएव तेरे समान " साधक " अवस्था वालों को इन्द्रिय दमन में वड़ा प्रयत्न करना चाहिये ॥

यततोह्यपिकौन्तेय पुरुषस्यविपश्चितः ॥
इन्द्रियाणिप्रमाथीनि हरन्तिप्रसभंमनः ॥ ६० ॥

अर्थ–हे(कौन्तेय) अर्जुन (यततोहि) मोक्षमार्ग में प्रयत्न करने वाले (विपश्चितः पुरुषस्य अपि) विद्वान् विवेकी पुरुष के भी (मनः) मन को उस की (इन्द्रियाणि) ये सब इन्द्रियां (प्रसभं) जबरदस्ती से (हरन्ति) हरण कर लेती हैं क्योंकि ये (प्रमाथीनि) मन में क्षोभ उत्पन्न करने वाली होने से जबरदस्ती मन को विषयों में विक्षिप्त कर देती हैं तो फिर मुमुक्षु साधक को साधन अवस्था में खूब चैतन्य रह कर यत्न करना चाहिये ॥

टीका–इन्द्रियों में जो शक्ति है वह अनादि माया ही की है इसी शक्ति से वे ज्ञानी पुरुष के मनको भी जो विवेक रूपी दुर्ग में छुपा रहता है वहां से वलात्कार उसीप्रकार भी निकाल लेती हैं जैसे मट्ठा को मंथन करके जबरदस्ती से नैनू निकालते हैं इसी से इन्द्रियों को प्रमाथी अर्थात् विशेष मथन करने वाली कहा है मनुष्य "स्थितप्रज्ञ,, भी हुआ और सर्व ब्रह्म ही है यह समझ भी लिया परन्तु यदि वह अपनी इन्द्रियों को वश में न रखकर खुली छोड़ देगा तो वह ब्रह्म

को भूल कर भ्रम में पड़ जावेगा अतएव उसे इन्द्रिय जय करने का यत्न करते ही रहना चाहिये ॥

(नोट) नारद जी ने महर्षि सनत्कुमार जी से सारांश पूछा तब सनत्कुमार जी ने यही कहा था कि–काम और क्रोध ये दोनों प्राणी के कल्याण में विघ्न करने के लिये स्वभाव से ही तत्पर रहते हैं। इसलिये साधारण उपाय से इन को कोई कदापि नहीं जीत सकता किन्तु इन के वेग को थांभने के लिये प्रबल उद्योग की आवश्यकता है। दिन रात घड़ी २ क्षण २ में प्रत्येक समय इन्द्रियों के विचलने द्वारा मोहाज्ञान रूप अन्धकूप में गिरने से बचने का उपाय करता रहे। मतवाले खूनी हाथी को सांकलों से बाध देने पर भी विशेष निगरानी रखना आवश्यक है ॥

॥ इतिहास ॥

एक समय व्यास जी अपने शिष्य जैमिनि को यही श्लोक सुना रहे थे–जैमिनि जी ने कहा कि आप का कहना तो सब सत्य है परन्तु यह नहीं हो सकता कि जो इन्द्रियां विद्वान् के मन को भी विषयों में विक्षिप्त कर देवें अविद्वान् के मन को विक्षिप्त कर सकतीं हैं–व्यास जी ने बहुत उन को समझाया, परन्तु व्यास जी के इस वाक्य में उन को विश्वास न आया तब व्यास जी ने कहा कि इस श्लोक का अर्थ फिर किसी काल में तुमको समझावेंगे, यह कह कर चल दिये उसी दिन दोघड़ी दिन रहे ऐसी माया रची कि दस ग्यारह स्त्री तरुण माया की रच कर और आप भी एक सुन्दर स्वरूप स्त्री बन कर, जैमिनी की कुटी के सामने जाकर हंसी, चुहल खेल बिहार का प्रारम्भ कर दिया जिस काल में बारीक वस्त्र उन स्त्रियों का पवन से जो उड़ा और गेंद उछालते हुवे जो हाथ उन स्त्रियों ने ऊपर को किये उसीकाल में उदर जंघा स्तन इत्यादि सब

अंग उन स्त्रियों के जैमिनी जी को दीख गये--फिर उसी काल में बादल होगया जैसा भादों में होता है--अंधेरा होगया, मन्द २ बरसने लगा, पवन चलने लगा, वे सब माया की स्त्री तो लोप हो गईं, व्यास जी का जो स्वरूप स्त्री का बना हुआ था सोही एक रह गया स वह स्त्री जैमिनी जी के पास गई और कहा कि महाराज ! मेरे संग की सहेली न जानिये कहां गईं, मैं अकेली रह गई हूं अब रात को कहां जाऊं, आप आज्ञा करो तो रात भर एक मकान में मैं भी पड़ी रहूंगी प्रथम तो जैमिनी जी ने उसको रात्रि के समय अपने पास रखने को बहुत मना किया, फिर उसकी दीन बोली सुन कर कुछ दया आयी उस स्त्री से यह कहा कि दूसरे मकान में जाकर भीतर से सांकल लगादो यहां एक भूत रात्री के समय आया करता है वह मेरे सरीखी बोली बोलेगा, उसके कहने से किवाड़ मत खोलियो, नहीं तो वह भूत तुझको खा जायगा--व्यास जी ने मन में कहा कि विद्वान् होने में तो इन के सन्देह नहीं, यत्न तो बड़ा किया है--जैमिनी जी का वह वाक्य सुन कर मकान के भीतर जा कर भीतर से उस स्त्रीने--सांकल लगायली वह स्त्रीरूपी व्यास फिर निज स्वरूप (व्यास) हो कर ध्यान में बैठ गये जैमिनी जी जब ध्यान करने बैठे, तब उस स्त्री की याद हो गई बारम्बार मन को निरोध करें, परन्तु मन शान्त हो न हो--जैमिनी जी ध्यान जप छोड़ कर उठे, और उस मन्दिर के द्वार पर जाकर कहा, कि हे प्रिये मैं जैमिनी हूं तुझ से बचने के लिये भूत की झूंठी कथा तुम को सुनादी थी--अब तू निःसन्देह कपाट खोलदे, तेरे बिना मुझ को निद्रा नहीं आती है, इसीप्रकार प्रार्थना करते २ हार गये--मारे काम और विरह के फिर कोठे पर जा कर छत उखाड़ कर भीतर कूद पड़े व्यास जी ने एक थप्पड़ जैमिनि जी के मुख पर मारकर कहा कि तूं विद्वान् है वा अविद्वान्--जैमिनी जी लज्जा को प्राप्त हुवे

व्यास जी ने कहा कि तुम्हारी विद्वत्ता में और साधुता में सन्देह नहीं जो चाहिये था वो हो तुम ने किया—कदाचित् इसप्रकार विद्वान् धोखा खा कर अनर्थ कर बैठे उस को कभी प्रत्यवाय याने लतक नहीं ॥

थोड़े दिन हुवे ऐसी ही एक व्यवस्था दक्षिण देश में हुई उस को सुनो—दैवयोग से एक स्त्री भूली हुई रात्रि के समय किसी महात्मा की कुटी पर चलीआई, महात्मा ने इसी प्रकार भूत की कथा सुना कर दूसरे मकान में सुलादी—रात्रि के समय थोड़ी रात रहे वे महात्मा भी छत उखाड़ कर कूदे सो उन के शरीर में एक लकड़ी घुस गई, उस से बड़ा भारी घाव हो गया—वह स्त्री इनको पहिचान कर घबराई पछताती हुई कहने लगी कि मुझ से बड़ा अपराध हुवा जो किंवाड़ न खोले—महात्मा ने उसको समझा दिया, और यह कहा कि तू शोच मत कर और जो मैं मरजाऊं तो यह लिखा हुवा मेरा लोगों को दिखा देना यह कह उसीसमय महात्मा ने अपने रक्त से वह सब व्यवस्था संस्कृत श्लोकों में लिखदी नाम उस व्यवस्था का रक्त गीता लिख कर परम धाम को प्राप्त हुवे। सो वह रक्त गीता प्रसिद्ध है-और वह संसार से उपराम करानेवाली है। तात्पर्य सारार्थ उसका यही है कि जो इस श्लोक का अर्थ है॥

इन्द्रियों के सपाटे में न आने के दो उपाय हैं अर्थात् "अभ्यास,, व ,,विरक्ति,, इन दोनों मार्गों से "स्थितप्रज्ञ,, कछवे के अंगों के समान अपनी इन्द्रियों को रोकता है और आत्मज्ञान द्वारा उनको वश में रखता है तो भी वे मन हरण करती हैं अतएव भगवान् तीसरा उपाय आगे बताते हैं जिस से ,,स्थितप्रज्ञ ,, इन्द्रियों को रोक सक्ता है ॥

तानिसर्वाणिसंयम्य युक्तआसीतमत्परः।
वशेहियस्येन्द्रियाणि तस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता ॥६१॥

अर्थ—(युक्तः) सावधान "स्थित प्रज्ञ,, योगी (तानि सर्वाणि)

तिन सब इन्द्रियों को (संयम्य) अपने वश रखके (मत्परः, आसीत) मुझ सगुण ईश्वर के भजन में तत्पर होता है (यस्य वशे हि इन्द्रियाणि) इन्द्रियां जिसके वश में रहती हैं (तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता) उसकी बुद्धि स्थिर कही जाती है। अर्जुन का तीसरा प्रश्न यह था कि "किम् आसीत,, उसका उत्तर यह हुआ कि ज्ञानी अपनी इन्द्रियों को वश में करके "मत्परआसीत,, अर्थात् मुझ पूरण ब्रह्म आत्मा में मग्न होकर बैठता है ॥

टीका–ऐसा योगी इन्द्रियों को वश में रख के आत्मस्वरूप में मन लगाता है तो भी उसका मन हरण होता है। अतएव वह सगुण भजन में तत्पर रहता है क्योंकि इस भजन के बल के सामने इन्द्रियों का कुछ नहीं चलता मनही की शक्ति से विषयों की कल्पना होती है तब इन्द्रियों की वृत्ति उठती है तो जब यही मन भजन में लीन रहेगा तब कोई कल्पना नहीं कर सकता और जब कल्पना न उठी तब इन्द्रियां आप ही सोती रहेंगीं अर्थात् भजन में लगे रहना ही इन्द्रिय दमन का बड़ा सुलभ मार्ग है इसी कारण नवधा भक्ति में से कीर्तन भक्ति श्रेष्ठ कही जाती है। श्रीशुकदेव जी का भी वाक्य है ॥

"तस्मात्सर्वात्मनाराजन् भगवान्हरिरीश्वरः ।
श्रोतव्यःकीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम्,,॥

॥ अथ निर्गुण व सगुण एकता ॥

कितना भी विचार करो परन्तु निर्विकल्प निर्गुण की ओर मन नहीं लगता बल्के बारंबार विषयों की ओर दौड़ता है। सगुण ईश्वर जो है वही निर्गुण है व सब जड़ जगत् उसी की कल्पना से उत्पन्न हुआ है—ऐसा विचार करो और जुदे २ विषयों का भजन भगवद्भाव से करो तो निर्गुण स्वरूप की प्रतीति होती है ज्ञान प्राप्त होने पर यह साफ समझ पड़ता है कि सगुण साकार विंव निर्गुण ही का रूप है व यही

विचार तदनन्तर अपने लक्ष में जो रक्खे रहे तो उसे " निर्गुण स्फूर्ति " कहते हैं यही निर्गुणी स्फूर्ति यदि सगुण साकार विग्रह में कायम रक्खी तो उसी से इन्द्रियों का जय होता है " मत्पर " इस शब्द का यही भावार्थ है—इसीप्रकार सगुण में अपने मन को तत्पर न रक्खे तो वह निर्गुण में स्थिर नहीं रहता और वह स्थिरता न रही तो भ्रम उत्पन्न हो कर प्रत्यक्ष विषय विषयों के ही रूप से दीखने लगते हैं व बड़ा अनर्थ होता है जिस क्रम से यह अनर्थ होता है वह आगे के दो श्लोकों में बताते हैं और यह भी समझाते हैं कि बाहरी इन्द्रियों के संयम न करने से जो दोष होते हैं वे अभी बतलाये, अब मन के संयम न करने से जो दोष होते हैं वे ये हैं ॥

ध्यायतोविषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायतेकामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवतिसंमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

अर्थ—गुण बुद्धि से (विषयान् ध्यायतः पुंसः) जो पुरुष विषयोंका ध्यान व चिन्तवन किया करता है उस की (तेषु) उन विषयों में अर्थात स्त्री शब्दादि में (संगः) आसक्ति व प्रीति (उपजायते) उत्पन्न होती है व (संगात) आसक्ति से (कामः) उन विषयों में अधिक काम अर्थात् इच्छा (संजायते) उत्पन्न होती है व (कामात्) इस काम यानी इच्छा के पूर्ण होने में कोई बाधा हुई कि उस से (क्रोधः, अभिजायते) क्रोध उपन्न होता है ॥ ६२ ॥

(क्रोधात) क्रोध से (संमोहात) (भवति) कार्याकार्य का विवेक नहीं रहता (संमोहात) ऐसे अविवेक से (स्मृति) शास्त्र व आचार्य के उपदेश से जो अर्थ मिले हों उन का (विभ्रमः) नाश होता है—अर्थात् उसविषय केसिवाय कुछ भी स्मरण नहीं आता व (स्मृतिभ्रंशात) इस उपदेशार्थ

का स्मरणभ्रंश होने से अर्थात् भूल जाने से (बुद्धि नाशः) बुद्धि अर्थात् चेतन शक्ति का नाश होना है यानी बुद्धि नष्ट होती है अर्थात् यह बुद्धि नहीं रहती कि समझ कर फिर चैतन्य हो जाय और (बुद्धिनाशात् प्रणश्यति) बुद्धि का नाश होने से सर्वस्व का नाश होता है अर्थात् वह मनुष्य जीता हुआ भी मृतक के तुल्य हो जाता है ॥

(नोट) विषयों को सुख का हेतु मान कर ध्यान करने से उनके भोग की कामना उत्पन्न होती और उससे क्रोधादि नाश पर्यन्त होते हैं। परन्तु जो पुरुष शास्त्र वा गुरूपदेश से जाने हुए विषयों के दोषों का यथाऽवसर बार२ ध्यायन करता अर्थात संसार की सब विपत्ति और दुःखों का हेतु विषयों को ही विचारा करता है उनको क्रम २ से विषय भोगने से वैराग्य होता जाता है। इस कारण विषय रूप विष से बचना चाहता हुआ पुरुष विषय जन्य दुःखों का सदा ही ध्यान किया करे। (भी० ज०)

टीका—गुरुशास्त्र के बोध से भी जो मन को नहीं रोकता तो वह भी अज्ञानी मनुष्य के माफिक वर्ताव करता है इसी कारण भगवान् ने कहा है कि "मत्पर ,, रहो अर्थात् निर्गुण व सगुण को एकला मान सगुण का भजन करो। यहां आशय भगवान् के कहने का सरल दीखता है परन्तु कोई २ निर्गुणाभिमानी "मत्पर,, इस शब्द का अर्थ "निर्गुणपर,, लगाते हैं। यदि यही अर्थ सही समझाजावे तो पहिले ६० वें श्लोक में भगवान् ने जो यह कहा है कि " विपश्चित् ,, (विवेकी) सर्वज्ञ पुरुष के मन को भी इन्द्रियां बलात्कार से हर लेती हैं तो ऐसा पुरुष क्या निर्गुण पर नहीं है? ऐसी शंका उत्पन्न होती है क्रम ऐसा है कि प्रथम " निर्गुण ज्ञान ,, फिर " निर्गुण चिन्तवन ,, व इस के वास्ते इन्द्रिय दमन करना चाहिये. यह हुआ कि मनुष्य " स्थितप्रज्ञ ,, हो जाता है परन्तु ६० वें श्लोक में जो " विपश्चितः,, कहा है उस की स्थिति इस अर्थ के अनुसार

साधक की होती है फिर ६१ वें श्लोक में एक विशेष साधन यह बताया है कि "मत्पर,, होने से इन्द्रियां वश में हो जाती हैं तो यह विशेष साधन "निर्गुणपर,, विपश्चित्,, के लिये नहीं है ऐसा दीख पड़ता है और इन से वह भी साधक हो जाता है परन्तु यह निश्चय है कि यह वर्णन केवल "स्थित-प्रज्ञ,, का है तो यह सिद्ध हुआ कि "मत्पर,, का अर्थ "निर्गुण,, पर नहीं है। भला यह मान भी लिया जावे कि वह "विपश्चित्,, निर्गुण है तो जो पहिले ही निर्गुण पर है उन को इन्द्रिय दमन के हेतु "मत्पर,, होना यह विशेष साधन बताने की क्या जरूरत थी। इन से यही सिद्ध हुआ कि "मत्पर,, शब्द का अर्थ सगुण पर है। एक बात यह भी है कि "मत्पर,, (मेरा परायण) हो यह वाक्य साक्षात् सगुण ई-श्वर श्री श्रीकृष्ण महाराज का है तो "निर्गुण,, की वहां कौन संभावना हो सकती है। सगुण सर्वेश्वर का भजन करने से वह प्रसन्न हो कर भक्तों के मन प्रसन्न करता है। अब यह शंका हुई कि विषय परायण इन्द्रियों का रोकना अशक्य होने के कारण ऊपर के दो श्लोकों में कहे हुए दोष कैसे दूर हो स-कते हैं? व ज्ञानी पुरुष की देह भी प्रारब्ध की है सो उसे विषय भोगना ही पड़ते हैं। उन विषयों को भोगते समय उसको भला बुरा लगे ही गा उस से अहंकार होवे ही गा व अहंकार उ-ठने से सगुण ध्यानहीन हो सकेगा जिस से मन की प्रसन्नता होती है इस का परिहार आगे के २ दो श्लोकों में कहते हैं॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ॥
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

अर्थ-(आत्मवश्यैरिन्द्रियैः) जिस मनुष्य ने अपनी इ-न्द्रियां अपने वश में कर ली हैं (विधेयात्मा) और उन्हीं वशवर्ती इन्द्रियों के द्वारा अपने मन को भी वश में करलिया है वह मनो जयी पुरुष (रागद्वेषवियुक्तैः) प्रीति व द्वेष इन

दोनों के अहंकार से रहित ऐसी अपनी (इन्द्रियैः) इन्द्रियों के द्वारा (विषयान् चरन्) विषयों का सेवन करता हुआ भी (प्रसादम्, अधिगच्छति) निजानन्द को प्राप्त होता है—ऐसा मनुष्य अपने मनको स्वाधीन होकर इन्द्रियों के द्वारा विषयों को भोगता है व इन विषयों में रागद्वेष नहीं रखता इस से उस के चित्त को कोई क्षोभ नहीं होता। ज्ञानी व अज्ञानी पुरुष के विषय भोग में यही अन्तर है। यह अर्जुन के चौथे प्रश्न (व्रजेत किम्) का उत्तर हुआ ॥

(नोट) जब मनुष्य के हृदय में पूर्व से विद्यमान ज्ञान का बीज-वेदान्त के श्रवण मननादि से, गुरु के उपदेश से वा महात्माओं के सत्संगादि से अङ्कुरित होता है तब विषय दोषदर्शी होने से विषय भोग से वैराग्य की वासना ज्यों २ प्रबल पड़ती है त्यों २ इन्द्रियों से देखने सुनने आदि विषयों में उदासीनता बढ़ती जाती है। हर्ष शोक नहीं होता यदि होता भी है तो बहुत कम न होने के तुल्य हर्ष शोक होता है (भी० प्र०)

टीका—जिस को विषयों में प्रीति व आसक्ति रहती है उसी को श्लोक ६२ व ६३ में कहे हुए अनर्थ होते हैं परन्तु इस श्लोक में कहे ज्ञानी पुरुष को यह बाधा नहीं होती क्योंकि वह जानता है कि विषय सुख व दुःख ये दोनों प्रारब्धरूपी ऋण हैं इन के भोगने से ही उन ऋणों से मनुष्य उऋण होता है इसी कारण उसे सुख भोगने में प्रीति नहीं और दुःख में द्वेष नहीं होते दोनों को समबुद्धि से अपनी इच्छा के विरुद्ध भी भोगता है व निर्गुण में सगुण भजन करके परमेश्वर का प्रसाद प्राप्त करता है। इस प्रसाद से क्या होता है सो आगे कहते हैं ॥

प्रसादेसर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ॥
प्रसन्नचेतसोह्याशु बुद्धिःपर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

अर्थ--(प्रसादे) नित्यानन्द व ईश्वर प्रसाद से (अस्य) ऐसे पुरुष के (सर्वदुःखानाम्) सब दुःखों का (हानिः, उपजायते) नाश हो जाता है और जब दुःख दूर होने से मन प्रसन्न हो गया तब (प्रसन्नचेतसः) ऐसे प्रसन्न चित्त वाले पुरुष की (बुद्धिः) बुद्धि भी (आशु) शीघ्र ही (पर्यवतिष्ठते) प्रतिष्ठित हो कर स्थिर हो जाती है ॥

टीका–सब दुःखों का बीज जो वासना है जब यही नष्ट हो गई तब आत्मस्वरूप में चित्त आप ही स्थिर हो जाता है और बुद्धि से यह भी निश्चय हो जाता है कि यह स्वरूप सर्वव्यापक है। यह निश्चय हुआ, कि सर्वत्र केवल ईश्वर रूपी बिंब ही दीख पड़ता है। बुद्धि व विषय के संयोग से " प्रतिबिंब उत्पन्न होता है तो जब बुद्धि बिंब ही में लीन होगई और विषय वासना भी गई तो प्रतिबिंब कहां से आ सकता है। ये सब फल सगुण ईश्वर के प्रसाद से होते हैं। श्रुति का वाक्य है

"यस्यदेवेपराभक्तिर्यथादेवेतथागुरौ ।
तस्यैतेकथिताह्यर्थाः प्रकाशन्तेमहात्मनः" ॥

(नोट) अन्तःकरण का अपने स्वरूप में स्थित होने का नाम प्रसाद वा चित्त की प्रसन्नता अर्थात् शान्ति है राग द्वेष रहने समय तक अन्तःकरण सुख दुःख की तरङ्गों में उछलता डूबता रहता है। चाहें यों कहा कि शोक मोह रूप मलिनतायें घेरे रहती हैं। और जब चित्त में शान्ति ठसाठस भर जाती है तब वहां अवकाश न रहने से शोक मोहादि प्रवेश नहीं कर पाते इसी से उस को दुःख नहीं व्यापते जैसे कमल का पत्ता वा पत्थर जल के भीतर रहने पर भी उस में जल नहीं व्यापता वही दशा ज्ञानी के चित्त की हो जाती है ॥ (भी० भा०)

यहां तक यह उपदेश हुआ कि आत्मज्ञान होने से निर्गुण में सगुण ध्यान करने से चित्त प्रसन्न व बुद्धि स्थिर होती है परन्तु इस के वास्ते रागद्वेष रहित इन्द्रियां की भी

होयता चाहिये परन्तु अर्जुन को जान पड़ा कि केवल सगुण ध्यान ही के प्रताप से इन्द्रिय दमन हो सकता है तो ऐसी इन्द्रियों की सहायता क्यों चाहिये इस का उत्तर आगे देते हैं॥

नास्तिबुद्धिरयुक्तस्य नचायुक्तस्यभावना ॥
नचाभावयतःशान्तिरशान्तस्यकुतःसुखम् ॥६६॥

अर्थ–(अयुक्तस्य) जिस की इन्द्रियां वश में नहीं हैं उस वहिर्मुख अज्ञानी की (नास्ति बुद्धिः) बुद्धि भी नास्तिक होती है अर्थात् शास्त्र व आचार्यों के उपदेश से व आत्मा के भी निश्चय करने के विषय में उस की व्यवसायात्मिका बुद्धि यानी प्रज्ञा भी उत्पन्न नहीं होती तो प्रतिष्ठित बुद्धि का ठिकाना कहां ? (अयुक्तस्य) व ऐसे अवश मनुष्य की (भावना च न) भावना अर्थात् आत्मा का ध्यान भी नहीं । कहा है कि भावना मात्र से ही बुद्धि आत्मा में स्थिर हो जाती है परन्तु उसे यह भावना तक नहीं होती । (अभावयतः) जो आत्मा का ध्यान नहीं कर सकता उस को (शान्तिः च न) आत्मा में उपराम रूपी शान्ति अर्थात " स्वरूपनिष्ठता „ नहीं होती व (अशान्तस्य) ऐसे शान्तिहीन मनुष्य का (कुतःसुखम्) मोक्षानन्द रूपी सुख कहा से मिल सकता है ? अर्थात् नहीं मिल सकता ॥

टीका–जिस ने रागद्वेष रहित हो कर इन्द्रियां न जीतीं हों उसे " अयुक्त „ कहते हैं । वह अपनी विषयासक्त इन्द्रियों को स्वतन्त्र छोड़ देता है इसी से उस की बुद्धि नष्ट हो जाती है फिर वह सगुण का ध्यान नहीं कर सकता। जैसे काष्ठ का अग्नि मंथन किये बिना बाहिर नहीं निकलता तैसे ही बुद्धि में ज्ञान वर्तमान होने पर भी बिना विचार के नहीं मिलता । पुनः काष्ठाग्नि दीख पड़ा परन्तु उस पर यदि हवा न डुलाई जावे तो बुझ जाता है। इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर भी

उस को इन्द्रिय संयमरूपी हवा न हो तो वह ज्ञान भी नष्ट हो जावेगा। इस से सिद्ध है कि बुद्धि व ज्ञान के वास्ते इन्द्रिय संयम अत्यावश्यक है। " अयुक्त,, में वह नहीं होता इसी से उस का मन विषयों को दौड़ता व ध्यान नहीं कर सकता। ध्यान बिना मन की शान्ति नहीं होती व शान्ति बिना सुख नहीं। " भावना ,, शब्द का अर्थ ध्यान किया है जो सगुण का ध्यान है। क्योंकि " भावना ,, का अर्थ " कल्पना ,, है। निर्गुण में कोई कल्पना हो नहीं इस से भावना का अर्थ निर्गुण का ध्यान नहीं हो सकता।- यह भी सिद्ध हो गया है कि यत्न से इन्द्रियां वश में करो तो सगुण ध्यान बनता है व ध्यान बन गया तो फिर अनायास इन्द्रियां वश में हो जाती हैं॥

विषय भोगने के समय मन सावधान न रक्खा तो अनर्थ होता है और " अयुक्त ,, मनुष्य की बुद्धि आत्मा में निश्चल क्यों नहीं होती उस का कारण भी श्रीमहाराज आगे कहते हैं।

इन्द्रियाणांहिचरतां यन्मनोनुविधीयते ॥
तदस्यहरतिप्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७॥

अर्थ (चरताम्) स्वच्छन्द रूप से विषयों को सेवन करती हुई वेवश (इन्द्रियाणाम् हि) इन्द्रियों में से (यत् मनः) जो मन कोई एक भी इन्द्रिय के (अनुविधीयते) विना रुका हुआ पीछे चलाया जावे तो (तत् अस्य) वह एक ही इन्द्रिय इस मन को अथवा इस पुरुष की (प्रज्ञाम्, हरति) बुद्धि को हरलेता है अर्थात् विषयों में विक्षिप्त कर देता है तो जो मनुष्य बहुत इन्द्रियों को नहीं रोकता व मन को उन के साथ छोड़ देता है तो उस की क्या दशा कही जावे ॥ (वायुः) पवन जैसे (अम्भसि) पानी में (नावम्, इव) नाव को अर्थात् उन्मत्त कर्णधार की नाव को जैसे समुद्र में पवन इधर उधर घुमाती है उसी तरह वह इन्द्रियां इस विषयोन्मत्त पुरुष के मन को भी घुमाती हैं ॥

(नोट) स्वभाव से ही अपने २ रूपादि विषयों में विचरते हुए इन्द्रियों से मन को पृथक् रखने की रीति यह है कि काम वा लोभ एक विषय के दोषों को सदा ही मन से चिन्तन किया करे । तथा पूर्व ब्रह्मचारी ऊर्ध्वरेता तपस्वी विरक्त महर्षि सनत्कुमारादि का इतिहासादि में लिखे अनुसार ध्यान वा स्मरण बार २ किया करे । ऐसे विचारों में मन के लगे रहने से उस को विषय लम्पट इन्द्रियों के साथ लगने का अवकाश ही नहीं मिलेगा (भी० श०)

टीका—रागद्वेष रहित भी इन्द्रियां जब विषय सेवन करती हों तब अपने मन को उन के सपाटे में नहीं पड़ने देना चाहिये। क्योंकि एक भी इन्द्रियसे यदि मन लग गया तो वह आत्मस्वरूप से विलग होकर विषयासक्त हो जाता है। क्योंकि इस संसार रूपी समुद्र में बुद्धि ही नाव है व विषय वासना ही पवन है । मन है सोई कर्णधार है इस को सावधान होना चाहिये नहीं तो वासना रूप पवन बुद्धि रूपी नाव को डुबाही देती है ॥

"स्थितप्रज्ञता" का साधन व लक्षण इन्द्रियों का संयम ही है यह आगे बताते हैं ॥

तस्माद्यस्यमहाबाहो निगृहीतानिसर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता॥६८॥

अर्थ—(तस्मात्)तिस कारण से हे (महाबाहो) अर्जुन ! (यस्य) जिसकी (इन्द्रियाणि) सब इन्द्रियां (इन्द्रियार्थेभ्यः) अपने २ विषयों से (सर्वशः) सब प्रकार (निगृहीतानि) खींच ली जाती हैं अर्थात् जो पुरुष प्रत्येक इन्द्रिय को उस के विषय से अलग कर अपने वश में कर लेता है (तस्य प्रज्ञा) उस की बुद्धि (प्रतिष्ठिता) स्थिर कही जाती है ॥

टीका—अर्जुन को यहां "महाबाहो" इस से कहा है कि तू शत्रुओं के मारने को समर्थ है तो इन्द्रिय दमन में भी समर्थ होना चाहिये ॥ ५४ वें श्लोक में अर्जुन के चौथे प्रश्न का उत्तर कहा है उसी के समान आगे के ६९ वें श्लोक को भी कोई कहते हैं वा ६८ वें श्लोक तक तीसरे ही प्रश्न का उत्तर है॥

जिस किसी ने सब ओर से अपनी इन्द्रियों को उन के व्यापारों से खींच लिया तो वह संसार में ऐसा दीखेगा कि मानो सोता हुआ है और दर्शन श्रवण इत्यादि से शून्य है परन्तु ऐसा कोई दीखता नहीं इसी से यह लक्षण एक असंभावित अर्थात् नीची श्रेणी के मनुष्यों को आश्चर्य सा जान पड़ेगा इस शंका का निवारण भी आगे के श्लोक में करते हैं ॥

यानिशासर्वभूतानां तस्यांजागर्त्तिसंयमी ॥
यस्यांजाग्रतिभूतानि सानिशापश्यतोमुनेः॥ ६९॥

अर्थ-(सर्वभूतानाम्) जिनकीबुद्धि व आत्म निष्ठा अज्ञान रूपी अंधकार से ढंकी हुई है ऐसे सर्व लोगों की (या निशा) जो रात्रि है अर्थात् ज्ञान हीन पुरुष जिस आत्मनिष्ठा शून्य अंधकार में पड़े हुए हैं, (संयमी) दर्शनादि व्यापार रहित इन्द्रियोंवाला जो मनुष्य (तस्याम्) उस आत्मनिष्ठा में (जागर्त्ति) जागता हुआ है अर्थात् वह अवस्था उसे दिन के समान है वह उसमें सचेत हुआ विचरता है । और (भूतानि) अज्ञानी कर्म निष्ठ लोग (यस्याम्) जिस की विषय निष्ठा में (जाग्रति) सचेत हो कर निमग्न रहते हैं अर्थात् अपना २ व्यापार करते हैं (पश्यतो मुनेः) आत्मतत्व देखने वालेज्ञान निष्ठ मुनि की (सा निशा) वह रात्रि है अर्थात् इन्द्रियजित होने के कारणउस विषय निष्ठा रूपी रात्रि में [जो औरों को दिन के समान है] ऐसे ज्ञान निष्ठ मुनि को दर्शनादि व्यापार नहीं होते व इसी इन्द्रिय व्यापार शून्य । अर्थात् कर्म निष्ठा को रात्रि कहा है ॥

(नोट) इस श्लोक का स्पष्ट संक्षेप आशय यह है कि लौकिक तथा परीक्षक दोप्रकार के मनुष्य होते हैं । जो उत्तम उत्तम स्त्री, पुत्र, भोजन वस्त्र, महल-हवेली, सवारी तथा धनादि की प्राप्ति में ही जागते हैं इसी में अपने सब कर्त्तव्य की सफलता मानते हैं वे लौकिक मनुष्य-जीव-ईश्वर, बंध मोक्ष, धर्म-ज्ञान-वैराग्य, भक्ति, आत्मज्ञानादि परमार्थ विषयों में सोते नाम बेखबर हैं । और परीक्षक लोग इन्हीं परमार्थ के विचारों में जागते हैं तथा स्त्री आदि संसारी विषयों में

सोते नाम बेखबर रहते हैं। और इस का द्वितीय अभिप्राय यह भी घट सकता है कि रात्रि के चौथे प्रहर में प्रायः सभी प्राणी विशेष कर सो जाते हैं इस से रात का अन्तिमभाग उन सब की रात्रि है। परन्तु संयमी लोग उस को निर्विघ्न समय देख के उसी समय जागते तथा ईश्वर देवता की भक्ति ध्यान पूजनादि करते हैं। और रात्रि के जिस भाग में विषय लम्पट लोग जागते तथा हल्ला गुल्ला करते हैं उस समय संयमी लोग सो लेते हैं॥ (श्री० अ०)

टीका–जैसे दिन में अंधे व उलूकादि को केवल रात्रि ही में दीखता है दिन में नहीं तैसे ही ब्रह्मनिष्ठ को ब्रह्म ही दीखता है विषय नहीं दीखते अर्थात सर्व सामान्य प्राणी विषयों में जागृत रहते हैं व ब्रह्मनिष्ठा में सोये हुवे हैं। परन्तु " स्थितप्रज्ञ ,, का वर्ताव इस से उलटा है। ऐसी बात नहीं कि यह " स्थितप्रज्ञ ,, व " ब्रह्मनिष्ठ ,, विषयों को जानता ही नहीं, उसकी इन्द्रियां विषयों को देखती हैं नहीं, परन्तु ब्रह्म रूप में, इसी से वे विषय उस को कोई बाधा नहीं कर सकते। जिसप्रकार नेत्रों को अंधकार दीखता है परन्तु उस में छुपे हुए पदार्थ नहीं दीखते इसीप्रकार अंधकार रूपी विषय उसे दीख पड़ते हैं उन विषयों में गुप्त जो काम लोभादि पदार्थ हैं वे उसे नहीं दीख पड़ते और वह उन को देखने का यत्न भी नहीं करता क्योंकि उस को उन की वासना व इच्छा ही नहीं रहती॥

अब यह शंका हुई कि " संयमी ,, विषयों को देखता ही नहीं तो उन का भोग कैसे करता है? और यदि यह भी मान लिया जावे कि वह इन्द्रियों को अपने वश में रख कर केवल विषय भोगते समय उन को काम में लाता है तो फिर वह " संयमी " कैसा हुआ? इस का परिहार आगे करते हैं॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापःप्रविशन्तियद्वत्॥ तद्वत्कामायंप्रविशन्तिसर्वे सशान्तिमाप्नोतिनकामकामी॥ ७० ॥

अर्थ–(आपूर्यमाणम्) नाना नद नदी के जलों से भराहुआ समुद्र (अचलप्रतिष्ठम्) अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता और ऐसे (समुद्रम्) समुद्र में (यद्वत्) जिस प्रकार बिना बुलाये (आपः प्रविशन्ति) और २ जलाशयों का जल भी भरता जाता है (तद्वत्) उसी प्रकार (सर्वे कामाः) सर्व विषयभोग (यम्) जिस मुनि के मन में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं परन्तु (सः) वह मुनि (शान्तिमाप्नोति) शान्ति रूप मोक्ष को ही प्राप्त होता है क्योंकि वह समझता है कि प्रारब्ध कर्मों की प्रेरणा से ये मन में आते हैं इस से भोगने ही पड़ेंगे सो भोग कर उन में लिप्त नहीं होता परन्तु (न कामकामी) जो लोग भोगों की कामना रखते हैं उन की यह दशा नहीं होती वे उन भोगों में लिप्त हो कर ब्रह्मानन्द रूपी शान्ति नहीं पाते ॥

(नोट) सारांश यह है कि आंख का देखना कान का सुनना इत्यादि प्रत्येक इन्द्रिय का स्वाभाविक धर्म है कि जो जो रूप वा शब्दादि विषय इन्द्रिय के समीप आवेगा उसको देखे सुने विना ज्ञानी भी नहीं बच सकता। परन्तु विषय प्राप्ति की उत्कट इच्छा–ज्ञान वैराग्य की प्रबलता होने से ज्ञानी को नहीं रहती इसी कारण देख सुन कर भी उस के मन में हर्ष शोकादि विकार नहीं उठते हैं। जैसे समुद्र स्वयं जल से भरा है इसी से उसे जल की अपेक्षा नहीं होती वैसे ज्ञानी का हृदय भी ज्ञान वैराग्यादि की वासनाओं से पूर्ण है इस से उसे विषय वासना की अपेक्षा नहीं होती ॥ (भी०श०)

टीका–हजारों नदियों का जल समुद्र में जाता रहता है परन्तु वह अपनी मर्याद नहीं छोड़ता। उसी प्रकार जो मनुष्य अपनी इन्द्रियां वश में रखता है वह इच्छा रहित होने के कारण विषय भोगते समय चंचल नहीं होता, उसे सदैव शांति ही रहती है। परन्तु विषय सुखों की इच्छा रखने वाले पुरुष क्षुद्र नदियों के समान उफनाने लगते हैं। इस से अर्जुन समझ गया कि विषय भोग करके भी "संयमी" पुरुष को शांति बनी रहती है परन्तु यह स्थिति कौन से उपाय से सहज में मिल सकती है वह जानना अवश्य है– अर्जुन की यह इच्छा

जान कर अन्तर्यामी श्रीकृष्ण आगे यह साधन कहते हैं ॥

विहायकामान्यःसर्वान् पुमांश्चरतिनिस्पृहः ॥
निर्ममोनिरहंकारः सशान्तिमधिगच्छति ॥७१ ॥

अर्थ—(सर्वान् कामान् , अनायास प्राप्त हुए सर्व कामों को (विहाय) त्याग के और जो प्राप्त नहीं हैं उनकी (निस्पृहः) इच्छा नहीं करते व (निरहंकारः) अहंकार को छोड़के और कामनाओं के भोग में (निर्ममः) ममता व प्रीति न रख कर (यः पुमान्) जो पुरुष (चरति) प्रारब्ध वश भोगों को भोगता है या जहां तहां फिरता है (सः) उसी (शान्तिम्) पुरुष को शांति (अधिगच्छति) प्राप्त होती है ॥

कोई २ ज्ञान रहित ऐसे त्यागी होते हैं कि त्यागने पीछे उनको फिर उसी त्यागे हुवे पदार्थ की इच्छा हो आती है, परन्तु ज्ञानी लोग देहादिक पदार्थों के रहने की भी इच्छा नहीं करते तो त्यागे हुवे पदार्थों की क्यों इच्छा करेंगे ? अतएव उनको "निस्पृह,, कहा है ॥

कोई २ ऐसे होते हैं कि त्यागे हुवे पदार्थ उनके पास पीछे आप से आप आजाते हैं और उनकी ममता भी उन पदार्थों में हो आती है परन्तु बिना इच्छा आये हुए पदार्थों में ज्ञानी की ममता नहीं होती अतएव उस को " निर्ममः ,, कहा है ॥

कोई २ ऐसे त्यागी होते हैं कि न तो उनको किसी पदार्थ की इच्छा होती है और न उस पदार्थ में ममता होती है। जो दूसरे की इच्छा से उन के पास आजावे परन्तु इन तीनों बातों का अहंकार बना रहता है। ज्ञानी को यह अहंकार भी नहीं रहता, इसी वास्ते उनको "निरहंकार,, विशेषण दिया है॥

यहां तक जो ज्ञान निष्ठा बताई है उसकी महिमा श्री महाराज आगे के श्लोक में वर्णन करते हुवे अब इस "स्थितप्रज्ञ,, के प्रकरण को समाप्त करते हैं ॥

एषाब्राह्मीस्थितिःपार्थ नैनांप्राप्यविमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति७२

अर्थ–(पार्थ) हे अर्जुन! (ब्राह्मीस्थितिः) ब्रह्मज्ञान में निष्ठा (एषा) यही है जो मैंने तुझ से कही (एनाम्) परमेश्वर की आराधना की अवस्था अन्तःकरण वाले पुरुष इसको (प्राप्य) प्राप्त करके (न विमुह्यति) फिर संसार के मोह में नहीं पड़ते और (अन्तकालेऽपि) मृत्यु समय में भी (अस्याम्) इस ब्रह्मनिष्ठा में बयानाद भी (स्थित्वा) स्थिर होने से (ब्रह्मनिर्वाणम्) ब्रह्म में लीनता (ऋच्छति) को प्राप्त होता है। तब उस का क्या कहना है–जो ब्रह्मचर्य के पीछे ही बाल्यावस्था से इस स्थिति में प्राप्त हो जावे॥

टीका–"स्थितप्रज्ञ,, की जो "स्थिति" कही है उसी का नाम "ब्राह्मीस्थिति,, समझना चाहिये। यह स्थिति मनुष्य प्राणियों में पूर्वजन्म से ही रहती है और कभी २ वह सब मनुष्यों के अनुभव में आजाती है। परन्तु उसका ज्ञान सर्वसाधारण को हरेक समय नहीं रहता और वह सदा ठहर नहीं सकती वह वैराग्य व अभ्यास ही से कायम रहती है व उसी से मनुष्य मुक्ति पाता है॥

(नोट) गीता अ० ६ में "निर्दोषं हि समं ब्रह्म" ब्रह्म का लक्षण लिखा है। राग, द्वेष, मोह [अविद्या–अज्ञान] ये मुख्य दोष कहाते हैं, ब्रह्म इन दोषों से रहित समदर्शी है। राजा रंक ईश्वर के लिये बराबर हैं। राग, द्वेष, मोह के छूटने पर वा शिथिल होने पर ही मनुष्य " स्थितप्रज्ञ " हो सकता है। इस कारण ब्रह्म परमात्मा की निर्दोष समदर्शी रूप स्थिति में होने से स्थिर मति ज्ञानी पुरुष की ब्राह्मीस्थिति कही है। यही उत्तम कक्षा की स्थिति जीवन्मुक्त पुरुष की होती है॥ (भी० श०)

इस दूसरे अध्याय में श्रीभगवान् गोपालकृष्ण ने सब गीता का सारांश कह दिया है और यह टीका उन्हीं श्रीकृष्ण के पादारविन्दों में अर्पण करता हूं॥

शोकपंकनिमग्नंयः सांख्ययोगोपदेशतः।
उज्जहारार्जुनंभक्तं सकृष्णःशरणंमम॥

इति श्री भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ ओं नमोभगवतेवासुदेवाय ॥

" अशोच्यानन्वशोचस्त्वं श्लोक ११ अध्याय २ " इत्यादि वाक्यों से श्रीमहाराज ने प्रथम मोक्ष साधन के हेतु देहात्म-विवेक बुद्धिरूपी सांख्ययोग बतलाया व उस के पीछे " एषा-तेऽभिहितासांख्ये " श्लोक ३९ इत्यादि वाक्यों से कर्मयोग की प्रशंसा की परन्तु दोनों मार्गों के गुण प्रधान भाव स्पष्ट नहीं बतलाये और आगे उसी अध्याय के अन्त तक यह उपदेश किया है कि " बुद्धियुक्त स्थिरप्रज्ञ " के कर्म छूट जाते हैं वह जितेन्द्रिय हो जाता है व अहंकार शून्य भी होता है इसी अवस्था को ७२ वें श्लोक में " ब्राह्मीस्थिति " कहा है। इस से अर्जुन ने समझा कि ज्ञान व कर्म इन दोनों से श्री भगवान् ने ज्ञान ही को श्रेष्ठर कहा है। यह बात वह चाहता भी था क्योंकि अपने सम्बन्धियों से युद्ध करने में उस का मन न था इसी से उस ने कर्म से ज्ञान को ही श्रेष्ठ माना और पूर्व के इस उपदेश को भूल सा गया कि प्रथम कर्म है कर्म से चित्त की शुद्धि होने पर ज्ञान सिद्धि होती है। अपने मन में ज्ञान ही को श्रेष्ठ व कर्म को हीन मान कर इस अध्याय के प्रारम्भ में संशय युक्त प्रश्न करने लगा ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

ज्यायसीचेत्कर्मणस्ते मताबुद्धिर्जनार्दन ! ।
तत्किंकर्मणिघोरेमां नियोजयसिकेशव ! ॥१॥

अर्थ—हे जनार्दन ! हे केशव ! (चेत्) यदि (तेमता) तुम्हारे मत से या तुम्हारी राय में (कर्मणः) कर्म से (बुद्धि) बुद्धि व ज्ञाननिष्ठा (ज्यायसी) मोक्ष का साधन होने के कारण अतिश्रेष्ठ हैं (तत्) तो भला (घोरे कर्मणि) इस हिंसात्मक कर्म में (माम्) मुझे बारंबार " उत्तिष्ठ " (अध्याय २ श्लो० ३) " युध्यस्व " श्लोक १८) उठ व लड़ाई कर—ऐसा कह कर

(किंनियोजयसि) क्यों प्रवृत्त करते हो ? ॥

टीका—दूसरे अध्याय के श्लोक ३ व १८ के सिवाय श्लोक (दूरेण ह्यवरं कर्म) में भी कर्म को नीच कहा है इस को स्मरण कराके अर्जुन बोलता है कि हे देव ! दूसरों के प्राणघात करना अतिनीच कर्म है उस में तुम मुझ को क्यों लगाते हो; जो ये लोग अन्यायी हैं तो तुम ही उन को मारोगे मुझ से क्यों घात करवाते हो ? ॥

यह सुन भगवान् मंद हास्य करने लगे—वह देख के अर्जुन समझा कि मेरे बोलने को अयोग्य जान कर भगवान् हंसते हैं। तब उसे ध्यान आया कि " धर्म्याद्धि युद्धात् " अ० २ श्लोक ३१ इत्यादि में भगवान् कह चुके हैं कि क्षत्री को युद्ध में ही कल्याण है और कर्म ही श्रेष्ठ है इस से उसे कुछ लज्जा हुई—तब बोला ॥

व्यामिश्रेणेववाक्येन, बुद्धिंमोहयसीवमे ।
तदेकंवदनिश्चित्य, येनश्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

अर्थ—कहीं कर्म प्रशंसा कहीं ज्ञान प्रशंसा भरे हुए (व्यामिश्रेण) मिले हुए व संदेह उत्पन्न कराने वाले (वाक्येन) वाक्यों के द्वारा (मे बुद्धिम्) मेरी बुद्धि व मति को दोनों ओर डुला कर (मोहयसि, इव) मोह व भ्रम में डालते से हो—हे कृष्ण ! तुम परम करुणा से भरे हुए हो, तुम्हारे वाक्यों से मोह तो नहीं हो सकता, परन्तु मुझे हो भ्रान्ति होने के कारण कदाचित् मुझे हो ऐसा जान पड़ता हो—इस कारण दोनों में से (येन) जिस किसी में (अहं श्रेयः, आप्नुयाम्) मेरा कल्याण हो—अर्थात् जिस मार्ग के आचरण करने से मेरी भलाई हो व मोक्ष मिले (तत्, एकम्) वही एक मार्ग (निश्चित्य) निश्चय करके (वद) मुझ से कहो अर्थात् बता देव । यह सुन कर भगवान् बोले—

लोकेऽस्मिन्द्विविधानिष्ठा, पुराप्रोक्तामयाऽनघ !
ज्ञानयोगेनसांख्यानां, कर्मयोगेनयोगिनाम् ॥३॥

अर्थ-(अनघ) हे पाप रहित अर्जुन ! (अस्मिन् लोके) शुद्ध व अशुद्ध अन्तःकरण वाले ऐसे दो प्रकार के इस लोक में जिसे जैसा अधिकार हो वैसे वैसे अधिकारी पुरुष के लिये (द्विविधा) दो प्रकार के (निष्ठा) मोक्ष देने वाले साधन (पुरा) पिछले अध्याय में (मया प्रोक्ता) मैं ने अपनी सर्वज्ञता द्वारा स्पष्ट रूप से कहे हैं उन में से (सांख्यानाम्) शुद्ध अन्तःकरणवाले जो ज्ञान भूमिका में प्रवेश हो गये हैं उनके ज्ञान परिपाक होने के निमित्त (ज्ञानयोगेन) ज्ञान योग निष्ठा है अर्थात ईश्वर ध्यानादि की निष्ठा करके वे ब्रह्मपरायण हो जाते हैं जैसा कि श्लोक ६१ अ० २ (तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीतमत्परः) इत्यादि में कहा है और जो पुरुष सांख्य भूमिका में आरूढ़ नहीं हुए व जिनके अन्तःकरण शुद्ध नहीं हुए (योगिनाम्) उन कर्म योगियों के अन्तःकरण शुद्धि के हेतु (कर्म योगेन) कर्म ही करके अर्थात् कर्म निष्ठा ही उनको कल्याणदायक है और उसी को धारण करके वे सांख्य भूमिका को चढ़ सकते हैं जैसा कि श्लोक० ३१ अ०२ (धर्म्याद्धि युद्धात्०) इत्यादि में कहा है इसी कारण चित्त की शुद्धि व अशुद्धि इसी अवस्था के भेद के अनुसार निष्ठा के दो भेद बतलाये हैं जैसा श्लोक ३९ में कहा है (एषातेऽभिहिता सांख्ये)

(नोट) योग शब्द का मुख्यार्थ सावधान एकाग्र चित्त होना अर्थात् अपने आप में आ जाना है। क्योंकि योग नाम समाधि समाधान का है। सो जब एकाग्र चित्त से ईश्वर देवतादि के आराधन द्वारा परमार्थ की ओर झुकता है तब वह कर्म योग निष्ठ कहाजाता है। योग शास्त्र में प्रथम कोटि यम नियमादि का अभ्यास कर्म योग ही प्रधान है। और अन्तःकरण चतुष्टयादि की संख्या आत्मा से भिन्न करना और आत्मा को देह- इन्द्रिय, मन-बुद्धि से पृथक् संख्या करके जानने की रीति (कि जिस से देहादि के अनित्यत्वादि धर्म आत्मा में न मान ले) पर आरूढ़ होना यही ज्ञान योग

निष्ठा नाम सांख्य दर्शन का अभिप्राय जानो ॥ (गी० भ०)

टीका—श्री महाराज कहते हैं कि हे अर्जुन? मैंने मोक्ष साधन के हेतु कर्मयोग निष्ठा व ज्ञानयोग निष्ठा अलग अलग नहीं बताई हैं। कि दोनों में कौन श्रेष्ठ है किन्तु दोनों में एक ही ब्रह्म निष्ठा कही है। उसके साधन मात्र दो प्रकार के हैं। अर्थात् उनके गुण प्रधान अलग २ हैं व उन्हीं क्रमसे उनके अधिकारी भी अलग २ हैं। जिनकी चित्त शुद्धि नहीं हुई उनको निष्काम कर्म करके ईश्वरार्पण करना चाहिये और इस साधन करके जिनकी चित्त शुद्धि होगई हो उन को आत्मा का ज्ञान होने लगता है सो उन्हें ज्ञानयोग निष्ठा करना चाहिये, क्योंकि उनको आत्मा व अनात्मा का विचार जिसे सांख्ययोग कहते हैं—भली भांति हो सक्ता है, इनको ज्ञानयोग चाहिये अर्थात इन्द्रिय दमन करके आत्मस्वरूप में मन देकर सगुण ईश्वर का ध्यान करना चाहिये ॥

अब चित्त शुद्धि का मर्म क्या है सो कहते हैं—मूल में सबके चित्त शुद्ध ही होते हैं—परन्तु विषयों के सम्पर्क से उन में आसक्ति उत्पन्न हो जाती है—वही मल इस चित्तपर चढ़ता जाता है, इस मल को निकाल डालना ही चित्त शुद्धि करना है, यह पहिले कह चुके हैं, कि रज (इन्द्रियां) व तम (विषयाः) इनके पार सत्वरूपी मन है, तौ जौलों इन्द्रियों व विषयों के संयोग से जो सुख होता है उस सुख की आसक्ति रूप मल मन से नहीं जाता तब तक वह चित्त अशुद्ध कहलाता है। यह मल दूर हुआ कि चित्त शुद्ध हुआ तब उसे आत्म स्वरूप का अनुभव होने लगता है। इससे सिद्ध हुआ कि चित्त शुद्धि का तात्पर्य वैराग्य प्राप्ति है। मूल का शुद्ध चित्त कुछ एक दम अशुद्ध नहीं हो जाता किंतु बहुत काल विषय सुख का संयोग होने से उस पर आसक्ति रूप मल ऐसे दृढ़ रूप से छा जाता है कि वह प्रयत्न करके बहुत समय में दूर होता है और इस का उपाय निष्काम कर्म ही है। कोई भी कर्म किसी कामना

से किया और वह सिद्ध हुआ तो वह मनुष्य उसका उपभोग करता है व उस विषय में उसकी आसक्ति बढ़ जाती है। उसकी जड़ फल की आशा है वह निष्काम कर्म से नाश हुई कि आसक्तिरूप मल भी चित्त पर नहीं चढ़ता, बल्कि कालान्तर में पूर्व का चढ़ा हुआ मल भी छूट जाता है, अर्थात् विषयों में वैराग्य हो जाता है। यह वैराग्य दृढ़ हो जाने पर सत्वरूपी चित्त में रज तम नहीं रहने पाते वह शुद्ध चित्त हो जाता है, व ज्ञानयोग का पात्र होता है, बिना चित्तशुद्धि एकदम ज्ञानमार्ग को पकड़ना ठीक नहीं है, चित्तशुद्धि निष्काम कर्म से करो फिर देहात्मा का विचार, फिर ज्ञानयोग का अभ्यास यही क्रम है॥

इसी कारण अब आगे भगवान् कहते हैं कि ज्ञान की उत्पत्ति होने तक चित्त शुद्धि के लिये अपने २ वर्णाश्रम के उचित कर्म करो नहीं तो ज्ञान की प्राप्ति न होगी—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ॥
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

अर्थ-(कर्मणाम्) कर्मों के (अनारम्भात्) आरम्भ वा आचरण न करने से (पुरुषः) कोई भी मनुष्य (नैष्कर्म्यम्) ज्ञाननिष्ठा को (न अश्नुते) प्राप्त नहीं होता। श्रुति का वाक्य है कि संन्यास से मोक्ष होता है तो फिर कर्म करने की क्या आवश्यकता है संन्यास लेना ही ठीक है इस शंका का समाधान भगवान् यों करते हैं कि (संन्यसनात् एव) प्रथम कर्म द्वारा चित्तशुद्धि किये बिना केवल संन्यास से ज्ञान शून्य होने के कारण (सिद्धिम्) ज्ञानसिद्धि अर्थात् मोक्ष को (न समधिगच्छति) प्राप्त नहीं होता ॥

(नोट) कर्मों का परिणाम ही वा सारांश ही ज्ञान है, जैसे दूध का सारांश मक्खन वा घी, बिना दूध के प्राप्त नहीं होता। संन्यास नाम त्याग का है, प्राप्त किये वस्तु का त्याग

बन सकता है। सो कर्मों का त्याग ही मुख्य है। जब कर्मों का ग्रहण ही न किया तो त्याग कैसा ?। यदि अप्राप्ति में त्याग होता तो सभी दीन दुःखी दरिद्री मनुष्य विरक्त संन्यासी हो सकते सो ऐसा इष्ट नहीं है। किन्तु प्राप्त होतेहुए संसारी विषयों से चित्त को रोक मन को मार के जो त्यागे वही त्याग वा संन्यास है॥ (भी० शा०)

टीका–कर्म ही ज्ञान नहीं है–कर्म करके चित्तशुद्धि होती है व तदनन्तर ज्ञान प्राप्ति है–इसी कारण ज्ञान का नाम "नैष्कर्म्य" कहा है–कर्म तो ज्ञान का साधन है तब उस का आरम्भ न करो तो ज्ञान कहां मिल सकता है?। केवल कर्म संन्यास ही से जिस को ज्ञान प्राप्त हुआ हो तो यही समझना चाहिये कि पूर्वाश्रम में किंवा पूर्वजन्म अथवा इसी जन्म में कर्म करने से उस का चित्त शुद्ध हो गया होगा क्योंकि बिना चित्त शुद्धि के ज्ञान प्राप्त होता ही नहीं, यह नियम अपवाद रहित है॥ इसी कारण मनुष्य को चाहिये कि काम्यकर्म को छोड़ निष्काम नित्य कर्म करे व उसे ईश्वरार्पण कर देवे–

अब कहते हैं कि अन्तरङ्ग कर्मों को अज्ञानी नहीं त्याग सकता, क्योंकि उन का त्याग स्वरूप से नहीं हो सकता। विचार से कर्मों में आसक्त न होना यही कर्मों का संन्यास है। सो केवल ज्ञानी हो वह कर सकता है क्योंकि स्वरूप से कोई कर्म करना नहीं त्याग सकता॥

नहिकश्चित्क्षणमपि जातुतिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यतेह्यवशःकर्म सर्वःप्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

अर्थ–(जातु) किसी भी अवस्था में (क्षणमपि) क्षण मात्र भी (कश्चित) ज्ञानी हो व अज्ञानी हो कोई भी (अकर्मकृत्) कर्म किये बिना (नहि तिष्ठति) नहीं रह सकता क्योंकि (प्रकृतिजैर्गुणैः) स्वाभाविक रागद्वेषादि गुणों के वश

हो कर (सर्वः) सब प्राणियों से लोग (कर्म कार्यते) कर्म क-
राया जाता है व (अवशः हि) उन का कुछ वश नहीं चलता
अर्थात् उन को परतन्त्र हो जाना पड़ता है ॥

टीका—यह देह कर्म ही से बना है—तो खाली मूंड़ मुड़ा
के संन्यासी हो जाने से कर्म नहीं छूटते—लंगोटी त्याग के
नग्न होना हाथ पांव दबा के स्वस्थ बैठना, मौन साधना,
नहीं खाना, इत्यादि सब कर्म ही तो हैं, भला, इन सब को
छोड़ के वह संन्यासी कैसे रह सकता है—जब उसी के पीछे
इतने कर्म लगे हैं तो और आश्रम वालों को कर्मों की क्या
गिनती है, माटी का वर्तन कहीं भी कैसा भी रक्खो पर वह
माटी नहीं छोड़ सकता है, तैसे ही भूचर प्राणी भूमि को छोड़
जलचर जल को छोड़-और गगनचर आकाश को छोड़के नहीं रह
सके—एक जगह छोड़ें तो दूसरी जगह उन को जाना ही होता
है , उसी प्रकार इस कर्म रूपी देह को एक कर्म छोड़े तो दू-
सरा करना ही पड़ता है। इतना ही नहीं—वल्कि कर्म को छो-
ड़ना यह भी एक प्रकार का कर्म ही है, इस से स्पष्ट है कि
कोई कहीं भी व कभी भी विना कर्म किये नहीं रह सकता।
मनुष्यमात्र की प्रकृति व स्वभाव में ही सत्व (मन) रज,
(इन्द्रिय) व तम (विषय) ये तीनों गुण भरे हैं, उन से कोई
भी नहीं बच सकता, और वे ही अपने वश में करके मनुष्य
से कर्म करवाते हैं ॥

इसी कारण आगे अज्ञानी त्यागी की निन्दा करते हैं ॥
कि जिन का त्याग नाम मात्र का ही होता है ॥

कर्म्मेन्द्रियाणिसंयम्य यआस्तेमनसास्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारःसउच्यते ॥६॥

अर्थ—(यः) जो मूर्ख अज्ञानी मनुष्य वाणी व हाथ पांव
इत्यादि की (कर्मेन्द्रियाणि) कर्मेन्द्रियों को (संयम्य) रोक
कर (मनसा, इन्द्रियार्थान्, स्मरन्) मन में भगवान् का ध्यान

करता हुं इस ढंग से उन २ इन्द्रियों के विषयों यानी शब्द स्पर्श इत्यादि का अपने मन में स्मरण करता हुआ (आस्ते) बैठता है (सः) वह (विमूढात्मा) मूर्ख व (मिथ्याचारः) कपटी दांभिक (उच्यते) कहलाता है ॥

(नोट) कोई २ धूर्त मनुष्य भोलेभाले लोगों को ठगने के लिये-कानों में डाटें लगाके, आंखें बन्द करके ध्यान वा योगाभ्यास करना दिखाने को आसन लगा कर बैठते हैं। परन्तु मन में स्त्रीप्रसंग तथा धनादि की प्राप्ति को सोचते विचारते हैं वे मिथ्याचारी हैं। और कुछ ऐसे भी होते हैं जो सहज होने से हाथ पांव आदि इन्द्रियों को रोक कर लंगोट लगाके बैठते आसन जमाते हैं पर मन का रोकना कठिन होने से उसे नहीं रोक पाते, मन इधर उधर विषयों में भागता है तो भी अपने को ज्ञानी ध्यानी कहते मानते हैं इस से वे भी मिथ्याचारी ही हैं ॥ (भी० प्र०)

टीका—ऐसे ऐसे मनुष्य की चित्तशुद्धि न होने के कारण उस का चित्त आत्मा में स्थिर नहीं होता। प्रगट में वह अपनी इन्द्रियों को उन के विषयों से रोकता है परन्तु ध्यान उसका बकध्यान सरीखा रहता है अर्थात विषयों के चिन्तवन में रहता है और इसी कारण उन के चित्त पर अधिक मल चढ़ता जाता है। यह मल प्रथम चित्त शुद्धि किये बिना नहीं हटता अतएव कर्माचरण द्वारा चित्त शुद्धि करके ज्ञान प्राप्त करलेना चाहिये—ऐसे दांभिक मनुष्य से अज्ञानी कर्म कर्त्ता ही श्रेष्ठ है व कर्माचरण कैसे करना पड़ता है यह आगे कहते हैं।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

अर्थ–(यस्तु) परन्तु जो मनुष्य (मनसा) अपने मन की सहायता से (इन्द्रियाणि) अपनी ज्ञानेन्द्रियों को जिन से शब्दादि पांच विषय जाने जाते हैं (नियम्य) वश में करके

अर्थात् ईश्वर की ओर झुकाके (कर्मेन्द्रियैः) कर्मेन्द्रियद्वारा (कर्मयोगम्) कर्मयोग का (आरभते) आचरण करने का प्रारम्भ करता है, और (असक्तः) उस कर्म के फल की इच्छा नहीं रखता, (सः विशिष्यते) वह विशेष प्रशंसा योग्य अर्थात् श्रेष्ठ माना जाता है ॥

टीका—छठवें श्लोक में जो दांभिक कहा है वह पुरुष केवल बाहर से कर्मेन्द्रियों को तो रोक लेता है किन्तु अन्तःकरण में ज्ञानेन्द्रियों को खुलो छोड़ देता है, परन्तु कर्मयोगी की स्थिति उस के विपरीत होती है, जो इस सातवें श्लोक में कही है। वह मन ही से ईश्वर की आराधना में तत्पर हो कर कर्म करता है। अतएव सर्व कर्मों का त्याग करके निष्काम कर्म करना चाहिये—वह निष्काम कर्म कौनसे हैं सो आगे कहेंगे॥

नियतंकुरुकर्मत्वं कर्मज्यायोह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापिचते नप्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥

अर्थ—हे अर्जुन! (त्वम्) तू (नियतम्, वेदोक्त संध्योपासनादि नित्य कर्म कर (हि) क्योंकि (अकर्मणः) कुछ कर्म न करने की अपेक्षा (कर्म) कर्म करना ही (ज्यायः) अधिकतर श्रेष्ठ है (अकर्मणः ते) नहीं तो कर्म किये विना तेरे (शरीरयात्रापि च) शरीर का निर्वाह भी (न प्रसिध्येत्) नहीं हो सकेगा॥

टीका—श्रुति की आज्ञानुसार जो वर्णाश्रम के उचित कर्म हैं, उन का नाम " नियत " कर्म है। जैसे ब्राह्मण को स्नान सन्ध्यादि षट्कर्म कहे हैं, क्षत्रिय को गो ब्राह्मण व पृथ्वी की रक्षा करना, वैश्य को व्यापार व शूद्र को सेवा, ये सब १८ वें अध्याय में सविस्तर वर्णित हैं। इनही नियत कर्मों को स्वधर्म कहते हैं। इनके आचरण से जो चित्त शुद्ध होता है उसी को "संन्यास" कहना चाहिये। केवल काम्य कर्म को त्यागना ही

बहुत है। यह नियत कर्म न करो तो ईश्वर दण्ड देता है। विना कर्मकिये तो शरीर भी नहीं ठहर सक्ता और चित्त शुद्धि भी कालांतर में होती है, अतएव काम्य कर्मको त्याग के नित्य कर्म करते रहना चाहिये। प्रत्येक वस्तु अपना २ गुण बताती ही है, जैसे वत्सनाग विष मारक है, परन्तु उत्तम वैद्य के हाथ से वही पालक हो जाता है। तैसे ही श्रुति के वाक्य के अनुसार नित्य कर्म का फल "पितृ लोक है" परन्तु उसी कर्म को ईश्वरार्पण कर देवे तो वह भव रोग वैद्य (ईश्वर) उसी कर्म के द्वारा मोक्ष करा देता है॥

श्रुति का वाक्य है कि "त्याग" बिना मोक्ष नहीं, तो यह "त्याग" यही है कि कर्म ईश्वरार्पण कर देना। इस त्याग से ईश्वर ज्ञान देता है व उसी ज्ञान से मोक्ष होता है॥

(नोट)—यहां संन्यास नामक चौथे आश्रम की निन्दा नहीं है। क्योंकि चौथे आश्रम में अन्य आश्रमों के विशेष चिन्हों तथा गृहस्थादि के खास २ कर्मों का त्याग श्रुति स्मृति प्रतिपादित है उसकी निन्दा हो तो भगवान्के मुख से श्रुति स्मृति का खण्डन हो जाय। तब आशय यह है कि जो वेद शास्त्रका मर्म न जानने वाले ज्ञानलवदुर्विदग्ध अल्प ज्ञानी मनुष्य कर्मकाण्ड की निन्दा करते हैं उनकी निन्दा जानो॥ (भी०प्र०)

सांख्य वालों का भी मत है, कि कर्म से बंधन होता है, इस लिये करना ही न चाहिये, इस का परिहार आगे कहते हैं, क्योंकि बिना कर्म किये तो शरीर ही का निर्वाह नहीं॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयंकर्मबन्धनः।
तदर्थंकर्मकौन्तेय मुक्तसंगःसमाचर ॥९॥

अर्थ—"यज्ञोवैविष्णुः" इति श्रुतेः। (यज्ञार्थात्) यज्ञ अर्थात् विष्णु भगवान् के आराधन निमित्त के सिवाय (कर्मणः, अन्यत्र) और किसी निमित्त से कर्म करने वाले (अयंलोकः) ये सब लोग

(कर्मबन्धनः) उन कर्मों को बंधक कर लेते हैं अर्थात् ईश्वराराधन के हेतु जो कर्म किये जावें वे बंधक नहीं होते । अतएव हे ! (कौन्तेय) अर्जुन (मुक्तसंगः) कामना रहित होकर (तदर्थम्) केवल ईश्वर प्रीत्यर्थ (कर्म समाचर) सम्पूर्ण रूप से कर्म कर ॥

(नोट)—कर्म काण्ड के तत्वांश का बोधक पूर्व मीमांसा शास्त्र है। (कर्मेति मीमांसकाः) प्रमाण के अनुसार [ओ३श्रावय, अस्तु श्रौ३षट्, यज, ये३यजामहे, वौ३षट्] यज्ञ के सर्व स्थान इन सत्रह अक्षरों से प्रतिपादित सप्तदशात्मक प्रजापति विष्णु भगवान् ही यज्ञ स्वरूप वा कर्म स्वरूप हैं । इन्हीं यज्ञ स्वरूप भगवान् को प्रति क्षण लक्ष्य में रखता हुआ जो विद्वान् यज्ञादि वेदोक्त कर्म करता है, वही यज्ञार्थ कर्म है। उस ऐसे यज्ञ से मनुष्य का बन्धन नहीं होता ॥

चतुर्भिश्चचतुर्भिश्च द्वाभ्यांपञ्चभिरेवच ।
हूयतेचपुनर्द्वाभ्यां तस्मैयज्ञात्मनेनमः ॥

(ओ३श्रावय इत्यादि ४ । ४ । २ । ५ । २ अक्षरों से पुकारा जाता है वही यज्ञ स्वरूप १७ अक्षर रूप है ॥ (भी० शा०)

टीका—सगुण ईश्वर ही को कर्म समर्पण करना चाहिये, निर्गुण को समर्पण करने से कोई लाभ नहीं । निर्गुण सगुण का मूल रूप है, अतएव सगुण से श्रेष्ठ सही है, परन्तु उस में कोई धर्म नहीं, अतएव वह कर्म के फल का नाश नहीं कर सक्ता, रस्सी में भ्रांति वश झूठा सर्प दीखता है तो इस झूठे सर्पका अधिष्ठान रस्सी हुई परन्तु ज्ञान होने बिना केवल रस्सी उस झूठे सर्पका नाश नहीं कर सक्ती, तैसे ही निर्गुण सब का अधिष्ठान है परन्तु वह कर्म का नाश नहीं कर सक्ता। रस्सी में का झूठा सर्प उस रस्सी का ही ज्ञान नहीं होने देता, इसी प्रकार सगुण ज्ञान भी निर्गुण को ढांके रहता है। ज्ञानका अर्थ विद्या और कर्म का नाम अविद्या । अविद्या का नाश विद्या ही से होता है। सगुण ब्रह्म जो आद्यविद्या है वह श्री विष्णुजी

ही की शक्ति है, तौ श्री विष्णुजी ही अपनी विद्या शक्ति से अ-विद्यारूप कलंका नाश कर सक्ते हैं, दूसरे को क्या सामर्थ्य है?॥

ईश्वरोपाधि (मूलमाया) व निर्गुण मिलके सगुण होताहै, इसमें जो निर्गुणपन है, सोई फल समझो व ईश्वर को मोक्ष फल दाता समझो. जैसे धनवान् के पास जो धन है वही फल है। और जो उस धनवान् को राजी करेगा उसी को वह धन रूप फल वही धनवान् देगा। धनवान् को राजी न करके केवल धन मांगोगे तो कैसे मिल सक्ता है ? इसी प्रकार सगुण ईश्वर ही को कर्म समर्पण करके प्रसन्न करोंगे तब मोक्ष रूपी फल मि-लेगा, निर्गुण को कर्म समर्पण करने से वह कर्म बंधक ही रहेगा, इसी कारण नित्य कर्म करके ईश्वरार्पण करने से कर्म का बंध नाश होकर मोक्ष प्राप्त होता है॥

यहां तक निष्काम कर्माचरण उसके वास्ते बताया है जो मोक्ष की इच्छा रखता है। परन्तु जिनके चित्त अतिशय अशुद्ध हैं उन से निष्काम कर्म तो हो ही नहीं सक्ता, परन्तु यदि स-काम कर्म को भी उनसे त्याग करा दिया जावेगा तो उन का सर्वस्व ही नुकसान होगा, यह सोचकर श्री भगवान आगेके चार श्लोकों में यह बतलाते हैं कि "प्रजापति" अर्थात् ब्रह्मदेव की भी आज्ञा है कि वे कर्म करैं, और यदि निष्काम कर्म उन से नहीं सधसके तो सकाम ही किया करैं॥

सहयज्ञाःप्रजाःसृष्ट्वा पुरोवाचप्रजापतिः।
अनेनप्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

अर्थ—जिस समय (पुरा) पहिले सर्ग के आदि में (सह-यज्ञाः) यज्ञ के अधिकारी ब्राह्मणादि के सहित (प्रजाः सृष्ट्वा) प्रजा को उत्पन्न किया अर्थात् जब ब्रह्मा जी ने प्रथम प्रजा उ-त्पन्न करी तब उसी के साथ ही यज्ञ को भी उत्पन्न किया उस समय (प्रजापतिः, उवाच) ब्रह्मा जी उस प्रजा से बोले कि

(अनेन) इसी यज्ञ करने के द्वारा ही (प्रसविष्यध्वम्) तुम्हारी उत्तरोत्तर वृद्धि होगी व कुशलता रहेगी। क्योंकि (एषः) यही यज्ञ (वः) तुम्हारे (इष्टकामधुक्) इच्छित कामनाओं को पूर्ण करने वाला (अस्तु) हो। अर्थात् जो कामना करोगे सो यज्ञ ही से मिलेगी यह ब्रह्मा जी का आशीर्वाद है ॥

टीका—यहां यज्ञ करना भी आवश्यक कर्म कहा गया है यद्यपि ऐसे सकाम कर्म की प्रशंसा इस प्रसंग में उचित नहीं थी तथापि श्री महाराज ने उसको किया क्योंकि जो लोग कुछ भी कर्म नहीं करते उन को काम्य कर्म करना ही श्रेष्ठ व कल्याणप्रद है ॥ अपने लिये इष्ट कामनाओं को यज्ञ किस प्रकार से देते हैं सो अब आगे कहते हैं ॥

देवान्भावयतानेन तेदेवाभावयन्तुवः।
परस्परंभावयन्तः श्रेयःपरमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

अर्थ—(अनेन यज्ञेन) इस यज्ञ के द्वारा तुम लोग (देवान्) देवतों को हविर्भाग देकर (भावयत) संतुष्ट करो व उनकी वृद्धि करो उसके पलटे में (ते देवाः) वे देवता लोग (वः) तुम को (भावयन्तु) संतुष्ट करके तुम्हारी भी वृद्धि करेंगे। अर्थात् जल वरसा के अन्न उपजावेंगे व (परस्परं भावयन्तः) इस प्रकार एक दूसरे को परस्पर संतुष्ट करके (परम्, श्रेयः) परम कल्याण व अभीष्ट फल (अवाप्स्यथ) तुम सब प्राप्त करोगे। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए अब कर्म न करने से जो दोष होते हैं वे आगे कहते हैं ॥

इष्टान्भोगान्हिवोदेवा दास्यन्तेयज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो योभुङ्क्तेस्तेनएवसः ॥ १२ ॥

अर्थ—(यज्ञभाविताः) यज्ञ करने से प्रसन्न व तृप्त होकर वे (देवाः) देवता लोग (वः) तुम को वृष्टि आदि द्वारा (हि) निश्चय करके (इष्टान् भोगान्) जो भोग सुख तुम चाहो गे सो सब (दास्यंते) तुम को देवेंगे अतएव (तैर्दत्तान्)

उन्हीं देवतों के दिये हुए अन्नादिक भोगों को (एभ्यः) उन्हीं देवतों को (अप्रदाय) पंचयज्ञादि द्वारा न देकर जो मनुष्य आप ही उन भोगों को (भुङ्क्ते) भोग लेता है (सः) वह (स्तेन एव) चोर ही कहलाता है। इसी कारण श्री महाराज कहते हैं कि यज्ञादिक कर्म करके जो फल तुम्हें मिले वह देवतों ही को अर्पण करके उन का भोग करोगे तो कल्याण होगा नहीं तो बड़े बंधन में पड़ जाओगे ॥——गृहस्थों को जो पंच यज्ञ नित्य करना चाहिये वे ये हैं ॥

अध्यापनंब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तुतर्पणम् ।
होमोदैवोबलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥

अर्थ—१ वेद वेदाङ्गादि का गृह्यसूत्रोक्त विधि से नित्य (स्वाध्यायः) ब्रह्म पढ़ना व पढ़ाना यज्ञ है—

२ (तर्पणम्) तर्पण करना पितृयज्ञ है।

३ (होमः) हविष्य भोजनांश का होम करना देवयज्ञ है।

४-(बलिः) बलिकर्म करना भूतयज्ञ कहाता है।

५ (अतिथिपूजनम्) अतिथि अभ्यागतों का भोजनादि से आदर सत्कार करना वस्त्रादि देना यह नृयज्ञ है।

(नोट) निष्काम कर्म करना सब से उत्तम है। यदि निष्काम न हो सके तो न करने से सकाम करना भी उत्तम है। कर्म शब्द यहां पारिभाषिक लेना है। अर्थात् वेदप्रतिपादित यज्ञादि नित्य नैमित्तिक कर्त्तव्य ही कर्म का अर्थ है, चलना फिरनादि कर्म यहां नहीं लेने हैं। पञ्चमहायज्ञादि नित्य कर्म पाप निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्तरूप हैं। यद्यपि किसी विशेष कामना के उद्देश से नित्य कर्मों का विधान नहीं किया है। तथापि मन की अपवित्रता रूप पाप ही संसार परमार्थ की सुख कामनाओं के बाधक हैं। सो सब पञ्चमहायज्ञादि नित्य नैमित्तिक कर्मों के बहुत काल तक निरन्तर करने से अन्तःकरण की मलिनतारूप पाप छूटते हैं तभी वह ज्ञान का भी अधिकारी बन सकता है। मलिन वस्त्र पर कोई

भी रंग नहीं चढ़ता इस लिये सब दशा में कर्म अवश्य करने चाहिये ॥ (भी० शा०)

अब आगे कहते हैं कि यज्ञ करनेवाले ही श्रेष्ठ हैं ।

यज्ञशिष्टाशिनःसन्तो मुच्यन्तेसर्वकिल्विषैः ।
भुञ्जतेतेत्वघंपापा येपचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

अर्थ–(यज्ञशिष्टं) यज्ञ करने उपरांत जो अन्नादिक बाकी रह जाय उस को (अशिनः सन्तः) भोजन करनेवाले पंच हत्यादिक से जो पाप होते हैं (सर्वकिल्विषैः) उन सब पापों से (मुच्यन्ते) मुक्त हो जाते हैं। परंतु (ये) जो लोग (आत्मकारणात्) केवल अपने ही भोजनों के निमित्त (पचन्ति) पाक सिद्ध करते हैं वा कोई देवता निमित्त नहीं करते (ते पापाः) वे पापी लोग (अघंभुञ्जते , मानो स्वयं पाप ही को खाते हैं उन का किसी भी प्रकार कल्याण नहीं होता। पंच सूना अर्थात् पंच हत्या जो गृहस्थ को नित्य२ लगती हैं वे ये हैं और इन्हीं से बचने के हेतु १२ वें श्लोक के टीका में बताया हुआ पंचयज्ञ नित्य करना चाहिये।

कण्डनीपेषणीचुल्ली उदकुम्भीचमार्जनी ।
पञ्चसूनागृहस्थस्य ताभिःस्वर्गंनविन्दति ॥

अर्थ–(१) ओखली मूसल (२) चक्की (३) चूल्हा (४) घिनौची अर्थात् जल रखने की जगह (५) झाडू या बुहारी इन पांचों जगह गृहस्थ के यहां नित्य २ अनेक हत्या होती हैं याने अनेक जीव मरते हैं इसी कारण उसे स्वर्ग नहीं मिलता ॥

अब आगे तीन श्लोकों में यह कहते हैं कि इस जगत् की रचना क्रम का जो चक्र है उसकी प्रवृत्ति के हेतु भी तो कर्म करना अवश्य है क्योंकि वृष्टि आदि यज्ञ ही से होकर जगत का पालन होता है ॥

अन्नाद्भवन्तिभूतानि-पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवतिपर्जन्यो यज्ञःकर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

अर्थ-(अन्नात्) अन्न से रस रस से रक्त अस्थि] इत्यादि बन कर (भूतानि भवन्ति) सर्व भूत यानी प्राणी उत्पन्न होते हैं व (पर्ज्जन्यात्) जल की वृष्टि से (अन्नसंभवः) अन्न उत्पन्न होता है और यह (पर्जन्य) वृष्टि (यज्ञाद्भवति) यज्ञ से होती है और इस (यज्ञः) यज्ञ को (कर्मसमुद्भवः) यजमानादि अपने कर्म द्वारा भली भांति करते हैं। स्मृति भी यही कहती है कि-

अग्नौप्रास्ताहुतिःसम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायतेवृष्टिर्वृष्टेरन्नंततःप्रजाः ॥
कर्मब्रह्मोद्भवंविद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतंब्रह्म नित्यंयज्ञेप्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

अर्थ-(कर्म) ऋत्विक् व यजमानादि द्वारा किया हुआ यह कर्म अर्थात् यज्ञ (ब्रह्मोद्भवम्) ब्रह्म अर्थात् वेद से प्रवृत्त हुआ (विद्धि) जानो। और वह (ब्रह्म) वेद (अक्षर यानी जिस का नाश नहीं उस पर ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है (तस्मात्) तिस कारण से अर्थात् यज्ञ मे (सर्वगतं ब्रह्म) सर्व व्यापक अक्षर ब्रह्म (नित्यम्) सर्वदा (यज्ञे प्रतिष्ठतम्) यज्ञ के द्वारा प्राप्त होता है अर्थात् यज्ञ ही में वर्तमान रहता है॥

(नोट)-एक श्रुति में लिखा है कि सब अक्षर २ वेद एक ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं तो वेद के एक २ अक्षर में ब्रह्म ज्ञान का तत्व ऐसे ही विद्यमान है कि जैसे दूध के सब अंशों में घी वा तिलों के सर्वांश में तैल है। इसी कारण वेद का नाम शब्द ब्रह्म वा वेद भगवान् है। अन्य विभूति वा अवतारों के तुल्य भगवान् का ही एक रूपान्तर वेद भी है। इसी से कहा है कि (वेदानां सामवेदोऽस्मि। गी० अ० १०। तस्मै यज्ञात्मनेनमः। भीष्मस्तवरा०) वेद के विना कोई यज्ञ होता नहीं तो वेद के नाम रूप से और ४।४।२।५।२ इन सत्रह अक्षर रूप से भगवान् नित्य ही यज्ञ में प्रतिष्ठित हैं (भी०श०)

टीका-जैसे कहा है कि "उद्यमस्था सदा लक्ष्मीः" उसी प्रकार सर्वगत अक्षर ब्रह्म यज्ञ में वर्तमान है। वेद नामक

ब्रह्म अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है इस की यह श्रुति है "यस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः" अर्थात् तीनों वेद उस परब्रह्म की स्वास से उत्पन्न हुए हैं इस से यह सिद्ध हुआ कि उसी अक्षर ब्रह्म ही से यज्ञ की प्रवृत्ति हुई है व इसी कारण उसे यज्ञ प्रिय है व वह यज्ञ में वर्तमान रहता है ॥

अतएव यज्ञादि कर्म करना ही चाहिये क्योंकि जहां यज्ञ है तहां ब्रह्म मौजूद रहता है ॥ यहां यह शंका होती है कि जब ब्रह्म सर्वगत है तो जैसा अन्यान्य साधारण वस्तुओं में है वैसा यज्ञ में भी होगा इस का निवारण (यज्ञे प्रतिष्ठितम्) इस शब्द से होता है अर्थात् और सब जगह तो है ही परन्तु यज्ञ में विशेष प्रकार से है "दृष्टांत" जैसे गाय के सब शरीर में दूध तो है ही परंतु विशेष थनों में रहता है। इसी प्रकार ब्रह्म सर्वगत है परंतु यज्ञ में विशेष है। यद्यपि ब्रह्म पूर्ण है परंतु उस की प्राप्ति ब्रह्मज्ञान से होती है। और यह ब्रह्मज्ञान निष्काम कर्म से चित्त शुद्धि द्वारा मिलता है इसी से ब्रह्म को यज्ञ में स्थित कहा है ॥

एवंप्रवर्तितंचक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघंपार्थसजीवति ॥१६॥

अर्थ-(एवं प्रवर्तितं चक्रम्) परमेश्वर के प्रवृत्त कियेहुए अर्थात् चलाये हुए इस प्रकार के चक्र को (यानी ईश्वर से वेद-वेद से कर्म-कर्म से मेघ-मेघ से अन्न व अन्न से प्राणी) (यः) जो मनुष्य (इह) इस संसार में (न अनुवर्तयति) अनुष्ठान नहीं करता है अर्थात् कर्म नहीं करता इस से वह पुरुष (अघायुः) केवल शास्त्रविरुद्ध पाप का चाहने और करने वाला है क्योंकि वह (इन्द्रियारामः) केवल इन्द्रियों के द्वारा बिषयों में रमता है। ईश्वराराधन के हेतु किसी कर्म में प्रीति

नहीं करता। इसी कारण हे (पार्थ) अर्जुन! (सः) वह मनुष्य (मोघम्) वृथा इस संसार में (जीवति) जीवन धारण करता है॥

टीका–सब भूतों के पुरुषार्थ सिद्ध करने को परमेश्वर ही ने कर्म आदि चक्र को प्रचलित किया है। परमेश्वर की वाणी ही वेद है उन्हीं का नाम ब्रह्म है उसी से मनुष्यों की कर्म में प्रवृत्ति होती है उस से कर्म निष्पत्ति, उस से वृष्टि, वृष्टि से अन्न, अन्न से भूत, और भूतों की फिर उसी कर्म में प्रवृत्ति, इस चक्र में जो प्रवृत्त न होवे सो मृतक के तुल्य है। यहां तक "न कर्मणामनारंभात्" श्लोक २ इत्यादि वाक्यों से अज्ञ पुरुषों को अन्तःकरण शुद्ध करने के निमित्त कर्म योग की प्रशंसा हुई। अब आगे २ श्लोकों में यह कहते हैं कि कर्म कब तक करना चाहिये व पूर्णज्ञानी को कर्म का कोई उपयोग नहीं॥

यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्चमानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्यकार्यंनविद्यते॥१७॥

अर्थ–(यस्तु) परन्तु जो (मानवः) मनुष्य (आत्मरतिः) अपने आत्मा (एव) ही में प्रीति रखने वाला (स्यात्) होवे (च) और (आत्मतृप्तः) आत्मा ही के स्वानंद में तृप्त है (च) और (आत्मनि एव) अपने आत्मा ही में (संतुष्टः) संतोष मान के इस लोक परलोक के कोई भोगों की अपेक्षा नहीं रखता (तस्य) उस को (कार्यम्) कोई कर्त्तव्य कर्म (न विद्यते) नहीं रहता अर्थात् उसे कोई कर्म करने की ज़रूरत ही नहीं रहती इस का कारण आगे के श्लोक में, कहेंगे॥

टीका–जब मनुष्य को परम पावन आत्मज्ञान हो जाता है तब उसे आत्मा प्यारा लगता है व विषयों में विराग हो जाता है। इसी को अव्यभिचारिणी "आत्मरति" कहते हैं॥ जिस स्त्री को अपने पति से प्रीति होकर अन्य पुरुष में भी प्रीति हो उसे व्यभिचारिणी कहते हैं, परन्तु जिस को केवल अपने पति ही में प्रीति हो उसे पति-

व्रता कहते हैं—ऐसी पतिव्रता की सृष्टि में सब पुरुष दीखते सही हैं—परन्तु उनपर उस की दृष्टि विषयबुद्धि से नहीं होती, उसी का नाम अव्यभिचारिणी है। इसी प्रकार आत्मज्ञानी की जब आत्मप्रीति अव्यभिचारिणी हो जाती है तब उसे सर्व जड़ प्रपंच आत्मारूपी दीखता है, परन्तु वह अपने ही आत्मा में रमा रहता है—और जब वह आत्मरति पुरुष आत्मसुख ही में मग्न रहने लगे तो उसे नियत कर्म भी करने की जरूरत नहीं है, न उस को उन कर्मों के करने का अवकाश मिलता है, आत्मा की प्रीति रह कर भी यदि किसी को विषय सुख की इच्छा वा तृप्ति जान पड़े तो वह "साधक" अवस्था में गिना जावेगा, और उसे कर्म करना अवश्य है, जबतक कि विषयभोग से सर्वथा हट कर मन आत्मसुख में तृप्ति न माने। ऐसे आत्मरत व आत्मतृप्त मनुष्य को कर्म करना समाप्त हुआ, अब "आत्मन्येवचसंतुष्टः" इस को समझाते हैं, किसी भूखे ब्राह्मण को भोजन देने से उसे तृप्ति तो हो जाती है परन्तु—दक्षिणा विना संतुष्ट नहीं होता, अर्थात् तृप्ति के बाद संतुष्ट होने को दक्षिणा चाहिये—परन्तु " आत्मतृप्त " मनुष्य को संतुष्ट रहने को कुछ नहीं चाहना पड़ता क्योंकि वह "आत्मतृप्ति " ही में संतुष्ट रहता है ॥

नैवतस्यकृतेनार्थो नाकृतेनेहकश्चन।
नचास्यसर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

अर्थ—(तस्य कृतेन) उस मनुष्य को कर्म करके (अर्थोनैव) कोई सा भी अर्थ प्राप्त करने की इच्छा नहीं रहती अर्थात् कर्म करके कोई पुण्य मिलेगा, ऐसा उसे नहीं दीखता। (नाकृते नेह) पुनः संसार के तथा स्वर्गादि सुख भोगार्थ कर्म न करने से (कश्चन) कोई प्रत्यवाय दोष भी उसे नहीं जान पड़ता, क्योंकि अहंकार रहित होने के कारण वह सर्व प्रकार के विधि निषेध से परे हो जाता है

तथापि " तस्यैषां न प्रियं-तदेतन्मनुष्या विदुः " इस श्रुति से यह शंका होती है कि मोक्षमार्ग में देवता लोग विघ्न डालते हैं, अतएव कर्मद्वारा उन की सेवा करके उन को प्रसन्न रखना चाहिये। इस शंका के निवारण करने को भगवान् कहते हैं कि (सर्वभूतेषु) ब्रह्मादि स्थावर पर्यन्त सर्व भूतों में से (अस्य) इस ज्ञानी आत्मनिष्ठ पुरुष को (अर्थ) अपने मोक्ष साधन में (कश्चित्) किसी का भी (व्यपाश्रयः न) आश्रय लेना नहीं पड़ता क्योंकि उन के मार्ग में ब्रह्मा को आदि लेके कोई भूत विघ्न नहीं डाल सकता, अतएव उसे किसी का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं ॥ श्रुति भी यही कहती है।

"तस्य ह न देवाश्च नाभूत्याईशते–
आत्मा ह्येषां संभवति"

अर्थात् आत्म तत्व जानने वाले के ब्रह्म भाव को हानि करने में देवतों का भी सामर्थ्य नहीं ॥

केवल इस प्रकार के ज्ञानी मनुष्य को जिस का वर्णन ऊपर के दो श्लोकों में हुआ, कर्म करने का उपयोग नहीं परंतु औरों के वास्ते कर्म आवश्यक है अतएव श्री महाराज अर्जुन से आगे कहते हैं कि तू कर्म कर ॥

तस्मादसक्तःसततं कार्यंकर्मसमाचर।
असक्तोह्याचरन्कर्म परमाप्नोतिपूरुषः ॥१९॥

अर्थ–(तस्मात्) तिस कारण से तू (असक्तः) कर्म फलाशा रहित होके (सततम्) सदैव (कार्यं कर्म) नित्य नैमित्तिक विहित कर्म जो तुझे अवश्य करना चाहिये सो (समाचर) उत्तम प्रकार से कर (हि) क्योंकि (असक्तः) फल की आशा न करके जो (पुरुषः) पुरुष (कर्म आचरन्) कर्म करता है वह (परम्) परमपद अर्थात् मोक्ष को (आप्नोति) प्राप्त होता है। क्योंकि कर्म करने से उस को चित्त शुद्धि हो ही जाती है ॥

टीका–यह पहिले कह आये हैं कि केवल कर्म में आसक्त न होने से कर्मबंध नहीं छूटता। अतएव आसक्ति रहित कर्म करके उसको कृष्णार्पण कर देने से मोक्ष मिलता है॥

आगे सदाचारों का प्रमाण बताते हैं।

कर्मणैवहिसंसिद्धि–मास्थिताजनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

अर्थ–(जनकादयः) राजा जनकादि (कर्मणा एव) कर्म करने से ही (संसिद्धिम्) सम्पूर्णरूप ज्ञान सिद्धि को (आस्थिताः) प्राप्त हुए हैं अर्थात् अन्तःकरण शुद्धि द्वारा शुद्ध सत्व होकर ज्ञान प्राप्त किया। यद्यपि तू अपने को सम्यक् ज्ञानी मानता है तथापि (लोकसंग्रहम् एव) लोगों को अपने २ धर्म में प्रवृत्त करके उन की रक्षा का प्रयोजन (संपश्यन्) देख वा विचार के (कर्तुम् अर्हसि) तुझे कर्म करना योग्यहै॥

टीका–तुझे यह विचारना चाहिये कि जो मैं कर्म करूंगा तो मुझे देख सब लोग करने लगेंगे। नहीं तो ज्ञानी का दृष्टांत देख के अज्ञानी लोग अपने २ नित्य धर्म कर्म को त्याग के पतित हो जावेंगे देखो जनकादिक भक्तों ने किस प्रकार काम्य कर्मों के त्याग में वैराग्य रक्खा और नित्य कर्म हरि को समर्पण किये तब ज्ञान सिद्धि पाई॥

इस श्लोक का पूर्वार्द्ध सुन के अर्जुन को यह शंका हुई थी कि मैं आत्मज्ञानी नहीं हूं, इस लिये भगवान् मुझे कर्म में प्रवृत्त करते हैं मुझे राज्य वा जीवन की इच्छा नहीं इस लिये मेरे लिये केवल "ब्रह्मोपदेश" उचित था। अर्जुन के मन का यह भाव भगवान् अंतर्यामी जान गये थे,परंतु उन्हें यह भी विदित था कि भीष्मादि का वध इसी के हाथ से होना इस के प्रारब्ध में लिखा है सो इस से करवाना ही चाहिये। इसी कारण इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में कहा है कि कर्म न करने की योग्यता प्राप्त होने पर भी तुझे अन्य लोगों के कल्याण वा रक्षा के हेतु कर्म करना ही चाहिये क्योंकि—

यद्यदाचरतिश्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः ।
सयत्प्रमाणंकुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

अर्थ वा टीका:-(श्रेष्ठः) प्रतिष्ठित मनुष्य (यत् यत् आचरति) जैसा २ आचरण करता है (इतरः जनः) अन्यान्य प्राकृत लोग भी (तत् तत् एव आचरति) वैसा २ ही करने लगते हैं और (सः) वह श्रेष्ठ मनुष्य (यत् प्रमाणं कुरुते) जिस बात को प्रमाण भूत समझता है (तत्) उस को प्रमाण वा उचित समझ कर (लोकः) सब लोग (अनुवर्तते) उसी के अनुसार आचरण करने लगते हैं। यदि वह श्रेष्ठ मनुष्य कर्म शास्त्र को प्रधान कहे, तो वे भी प्रधान मानते हैं वा कर्मनिवृत्ति शास्त्र को प्रमाण कहे तो वही सब मानेंगे ॥

अब आगे के ३ श्लोकों में परम कारुणिक श्रीकृष्णमहाराज यह बताते हैं कि लोकसंग्रह के वास्ते सब ने कर्म किये हैं और स्वयं अपना ही दृष्टान्त देते हैं कि देख मुझ को किसी का खटका वा आशा न होने पर भी मैं खुद कर्म करता हूं।

नमेपार्थास्तिकर्त्तव्यं, त्रिषुलोकेषुकिंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्तएवचकर्मणि ॥ २२ ॥

अर्थ वा टीका-(पार्थ) हे अर्जुन ! (त्रिषुलोकेषु) इन तीनों लोकों में (मे) मुझे (अनवाप्तम्) नहीं प्राप्त किया (अवाप्तव्यम्) प्राप्त करने के योग्य (किंचन) कोई वस्तु (न अस्ति) नहीं है अर्थात् मुझे सब कुछ प्राप्त है और कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो मुझे प्राप्त करने की आवश्यकता हो। अतएव मुझे (किंचन) कोई कर्म (मे न कर्त्तव्यम्) मेरे करने योग्य नहीं है तथापि (कर्मणि) कर्म करने में (वर्ते एव च) प्रवृत्त होता ही हूं । मुझे सब कुछ प्राप्त है और कुछ नहीं चाहता हूं तो कर्म क्यों करूं? परन्तु सब लोगों को कर्म मार्ग में प्रवृत्त करने के हेतु मुझे भी कर्म करना पड़ता है। यदि मैं ही कर्म त्याग दूं तो लोगों का नाश हो जावेगा यह बात आगे दर्शाते हैं ॥

यदिह्यहंनवर्तेयं जातुकर्मण्यतन्द्रितः ।
ममवर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याःपार्थसर्वशः ॥२३॥

अर्थ-हे (पार्थ) अर्जुन (जातु) कदाचित् (अतंद्रितः) आलस्य को त्याग के (यदि) जो कभी (अहं हि) मैं आपही (कर्मणि) कर्माचरण करने में (न वर्तेयम्) प्रवृत्त न होऊं अर्थात् यदि सुस्तैद होकर मैं खुद कर्मों को न करूं तो (सर्वशः) सब प्रकार से (मनुष्याः) सब मनुष्य (मम वर्त्म) मेरे मार्ग को (अनुवर्तन्ते) पकड़ लेवेंगे अर्थात मेरे ही आचरण के अनुसार वर्ताव करेंगे वा मुझे कर्म न करते देख कोई भी न करेंगे। इस का परिणाम जो होगा सो आगे कहते हैं ॥

उत्सीदेयुरिमेलोका-नकुर्यांकर्मचेदहम् ।
संकरस्यचकर्तास्यामु-पहन्यामिमाःप्रजाः ॥२४॥

अर्थ-(चेत्) यदि (अहम्) मैं (कर्म न कुर्याम्) कोई कर्माचरण न करूं तो (इमे लोकाः) ये सब लोग (उत्सीदेयुः) धर्म लोप होने के कारण नाश हो जावेंगे। (संकरस्य च) और कर्म न करणे से जो वर्णसंकर होंगे उन सब को वर्ण संकर करने का (कर्ता स्याम्) कर्ता अर्थात् बनाने वाला मैं ही होऊंगा। एवं (इमाः प्रजाः) इन सब प्रजा को (उपहन्याम्) मैं ही मलिन करूंगा। अर्थात् उन के मलिन होने का कारण मैं ही होऊंगा ॥

(नोट) मनु० अ०११ में लिखा है कि एक अन्य २ वर्णों के परस्पर व्यभिचार से द्वितीय निन्दित नीच कन्या के साथ विवाह करने से और तृतीय (स्वकर्मणाञ्च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः) अपने कर्मों का त्याग करने से भी मनुष्य वर्णसंकर होजाते हैं। सो अपने २ कर्म त्याग से होने वाली वर्णसंकरता यहां लेनी है। (भी० श०)

टीका-मैं स्वतः देवाधि देव हूं और जो कर्म न करूं,तो लोग भी यही समझेंगे कि कर्म करने की कोई जरूरत नहीं और इसी से भ्रष्ट हो जावेंगे पर पुरुष से जो संतान हो

उसे संकर कहते हैं इसी प्रकार एक वर्ण का मनुष्य यदि दूसरे वर्ण का धर्म आचरण करे तो वह वर्णसंकर कहाता है॥ मैं अपना क्षत्रिय धर्म छोड़ ब्राह्मण सरीखा भीख मांगने लगूं तो मैं भी वर्ण संकर होजाऊं, जो लोग ऐसे संकर बन जावें तो उनका घात होगा। अतएव जैसा लोकसंग्रह के हेतु मैं कर्म करता हूं तैसा तू भी कर॥

इसी कारण "लोकसंग्रहार्थम्" अर्थात् लोगों पर कृपा करके आत्मवेत्ता को भी कर्म करना चाहिये॥

सक्ताःकर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत॥
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥२५॥

अर्थ-(भारत) हे अर्जुन! (यथा)जिस प्रकार (अविद्वांसः) मूर्ख अज्ञ लोग (कर्मणि सक्ताः) कर्मों में आसक्त होकर (कुर्वन्ति) कर्म करते हैं (तथा) उसी प्रकार (लोकसंग्रहम्) लोगों को उत्तम मार्ग दिखलाने की (चिकीर्षुः) इच्छा करके (विद्वान्) विद्वान् को भी अर्थात् ज्ञानी गृहस्थों को भी (असक्तः) अज्ञ लोगों के माफिक कर्मों में आसक्त न होकर (कुर्यात्) कर्माचरण करना चाहिये॥

टीका-इस श्लोक का यह भाव है कि ज्ञानी लोग सब ठौर ब्रह्म ही को देखते हैं और कर्म को भी ब्रह्म रूप समझ केते उसे करते हैं, परन्तु अज्ञानी पुरुषों के समान वे ऐसा नहीं मान लेते कि कर्म ही हमें तारने वाला है और इसी से उन के समान कर्मों में आसक्त नहीं हो जाते। भगवान् कहते हैं कि अज्ञानी के समान ज्ञानी ऐसी आसक्ति वा श्रद्धा न रक्खे-परन्तु लोक संग्रह के हेतु कर्मकरे॥

अब आगे कहते हैं कि अज्ञ लोगों को केवल तत्वज्ञान हीका उपदेश करना योग्य नहीं है, क्योंकि उन के अन्तः करण अशुद्ध होने के कारण उनको ज्ञान तो होने का नहीं बल्कि वे कर्म से भी जावेंगे॥

नबुद्धिभेदंजनये-दज्ञानांकर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तःसमाचरन् ॥२६॥

अर्थ वा टीका-(कर्मसंगिनाम्) कर्मों में आसक्त वा कर्म ही को आदर देने वाले (अज्ञानाम्) अज्ञ मनुष्यों की (बुद्धि भेदम्) बुद्धि में कोई भेद (न जनयेत्) नहीं करना चाहिये अर्थात् उनकी बुद्धि कर्मों से नहीं फेरना चाहिये, क्योंकि कर्म से उनकी बुद्धि हटा देने से उनकी श्रद्धा न तो कर्म में रहेगी और न ज्ञान प्राप्त होगा, अर्थात् दोनों ओर से उन कीहानि होगी अतएव (विद्वान्) विद्वान् ज्ञानी को चाहिये कि(युक्तःसमाचरन्) आप खुद उत्तम प्रकार से कर्म करके उन अज्ञ लोगों को (सर्व कर्माणि) सब कर्म (जोषयेत्) सेवन करावे वा ऐसा उपदेश दे जिस से उन की कर्म में प्रीति बढ़े ॥

उपरोक्त उपदेश से ज्ञानी वा अज्ञानी दोनों को कर्म करना आवश्यक बतलाया तो उन में भेद ही क्या रहा? इस शंका का समाधान आगे के २ श्लोकों में करते हैं ॥

प्रकृतेःक्रियमाणानि, गुणैःकर्माणिसर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा, कर्ताहमितिमन्यते॥२७॥

अर्थ वा टीका-(प्रकृतेर्गुणैः) प्रकृति के जो तीन गुण सत्व (मन) रजस् (इन्द्रियां) वा तमस् अर्थात् पंच भूतात्मकदेह है इन तीनों गुणों के द्वारा (सर्वशः) सर्व प्रकार के (क्रियमाणानि कर्माणि) जो कर्म किये जाते हैं अज्ञानी पुरुष (इति मन्यते) ऐसा जानता है कि (अहं कर्ता) कर्ता मैं ही हूं कारण (अहंकारविमूढात्मा) उस की आत्मा अर्थात् मन अहंकार से भ्रांति में पड़ा रहता है और वह इन्द्रियादि के व्यापारों को अपने आत्मा ही का व्यापार समझता है। विद्वान् ज्ञानी ऐसा नहीं मानता क्योंकि वह आत्मा को कर्ता नहीं समझता ॥

तत्त्ववित्तुमहाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणागुणेषुवर्त्तन्त इतिमत्वानसज्जते ॥ २८ ॥

अर्थ–मैं "गुणात्मक" नहीं हूं यह गुणों से आत्मा का विभाग हुआ अर्थात् कर्म मेरे नहीं ऐसा मान लेना यही कर्म से आत्मा का विभाग करना है। इन दोनों गुण वा कर्म के विभाग के तत्त्व को जाने वही तत्त्ववेत्ता है। हे (महाबाहो) अर्जुन! (तु) किन्तु (गुणकर्मविभागयोः) उपरोक्त गुण कर्म के विभाग का (तत्त्ववित्) तत्व जानने वाला मनुष्य (इति मत्वा) यह मानता है कि (गुणेषु) विषयों में (गुणाः) इन्द्रियां (वर्तन्ते) अपना २ बर्ताव करती हैं वा मुझ शुद्ध सत्यात्मक से कोई प्रयोजन नहीं। इसी कारण वह मनुष्य (न सज्जते) कर्म में आसक्त नहीं होता और न यह मानता है कि मैं कर्ता हूं॥

टीका–इन्द्रियों का नाम गुण है विषय भोगना इन्द्रियों का धर्म है उन्हों ने विषय ग्रहण किये कि वही उन का कर्म हुआ-तो जब यह मान लिया कि इन्द्रियां ही अपने २ विषयों को ग्रहण करती हैं तो यह मनुष्य अपने ऊपर इन कर्मों के करने का अहंकार काहे को लेगा और विषय ग्रहण में आसक्त क्यों कहा जावेगा अर्थात् नहीं। वह खूब जानता है कि अहंकार के परे जो शुद्ध आत्मतत्त्व है वही मैं हूं इसी कारण वह "अहंपन" त्याग देता है और अपने को कर्ता कभी नहीं मानता अर्थात् वह यही मानता रहता है कि मैं इन्द्रियां वा उन के कर्म का केवल देखने वाला हूं विषय भोग करने वाला नहीं॥

अब यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानी वा अज्ञानी इन दोनों के कर्म करने में बड़ा ही अंतर है। आगे भगवान् कहते हैं कि काम्य कर्म करने वाले अज्ञानी मनुष्यों की भी बुद्धि ब्रह्मज्ञान की ओर फिराने का यत्न ज्ञानी को नहीं करना चाहिये॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्तेगुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदोमंदान्-कृत्स्नविन्नविचालयेत्॥२९॥

अर्थ—जो लोग (प्रकृतेर्गुणसंमूढाः) प्रकृति के तीनों गुणों (सत्वरजसतमस) के कार्यों में मूढ़ अर्थात इन गुणों के वशीभूत वा उसी कारण बुद्धि हीन होकर (गुणकर्मसु) इन्द्रियों में वा उन के व्यापार रूपी कर्मों में (सज्जन्ते) आसक्त हो जाते हैं (तान्) उन (अकृत्स्नविदः) अज्ञानी वा (मदान्) मंदमतियों की बुद्धि को (कृत्स्नवित) सर्वज्ञ ज्ञानी पुरुष (न विचालयेत्) नहीं चलावै अर्थात् उन के मन को इन्द्रियों के विषयों से न हटाना चाहिये। क्योंकि वे अभी ब्रह्मज्ञान के अधिकारी नहीं हैं ॥

टीका-सत्व रजस्तमस् ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं वा इन्हीं गुणों से "अहंपन„ उत्पन्न होता है प्रत्येक गुण का जुदा २ अहंकार है जैसे सत्व का मानसिक अहंकार रजस् का इन्द्रिय गण संबंधी अहंकार वा तमस् का देहाहंकार जिस मनुष्य में ये तीनों अहंकार व्याप्त हैं वही मूढ़ अर्थात् मूर्ख है। इन्द्रियां वा उन के विषयों में ऐसे मनुष्य की दृढ़ आसक्ति होती है। अतएव शास्त्र जानने पर भी वह मंद बुद्धि होकर कर्म विषयों को ही श्रेष्ठ कहता है ऐसा पुरुष सर्वज्ञ नहीं कहाता, क्योंकि उस का वर्ताव साधारण अज्ञानी मनुष्य कैसा रहता है। अतएव तत्वज्ञ को चाहिये कि ऐसे पुरुष का मन उधर से फेरने का यत्न कभी न करे क्योंकि दृढ़ विषयासक्त होने के कारण उस से निष्काम कर्म कभी होने का नहीं। और उस ओर से मन खींचने पर वह उधर से भी जावेगा और इधर भी कुछ हाथ न लगेगा ॥

यहां तक यह उपदेश हुआ कि दृढ़ ज्ञानी लोकसंग्रह के निमित्त कर्म करते हैं और वे लोग कैसा वर्ताव करते हैं सो भी कहा गया। अब आगे यह कहते हैं कि जब तत्ववेत्ता

ज्ञानी को भी कर्म करना पड़ता है तो तू अभीतक तत्ववेत्ता ही नहीं है तुझे अवश्य ही करना चाहिये-

मयिसर्वाणिकर्माणि-संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममोभूत्वा-युद्धयस्वविगतज्वरः॥३०॥

अर्थ-(सर्वाणि कर्माणि) सब कर्मों को (मयि संन्यस्य) मुझ में समर्पण करके (अध्यात्मचेतसा) मन में यही समझ कि मैं सर्वान्तर्यामी ईश्वर के अधीन होकर कर्म करता हूं वा सब जो दीखता है सो आत्मा ही है। ऐसा जान के एकाग्र चित्त करके एवं (निराशीः) निष्काम होकर वा (निर्ममः) यह कर्म मेरे अर्थ वा मेरे फल साधन के अर्थ है ऐसी ममता त्याग के वा (विगतज्वरः) शोक रहित होकर (युध्यस्व) युद्ध कर ॥

(नोट) अर्जुन स्थानी जीवमात्र के लिये यह कथन भी ईश्वर की ओर से ठीक घट जाता है। युद्ध का अभिप्राय साधारण कोटि में यही होगा कि सब ब्राह्मणादि अपने २ वेद शास्त्रोक्त कर्मों को सिद्ध करते हुए अपने कर्म धर्म के विरोधी काम क्रोधादि वा मनुष्यादि के साथ निर्भय हो, मरण का भी भय छोड़ के प्रबलता से युद्ध करें॥ (भी० श०)

टीका-भगवान् का कहना है कि यज्ञ जो विष्णु रूप है सो वह मैं ही हूं, अतएव सर्व कर्म मुझको समर्पण कर केवल मुंह से कृष्णार्पण कह देना ठीक नहीं। अपने पैसा से घर बनाओ तो वह अपना घर कहाता है, परन्तु उसी घर को किसी ब्राह्मण इत्यादि को अर्पण कर डालो तो फिर उसे अपना घर नहीं कह सकते, अर्थात् इस पिछले कृत्य से "हमारे पन" का त्याग हो जाता है। मैं वा मेरा इसी को अहंकार वा ममता कहते हैं तो अर्पण कर देने का भाव भी "अहंकार त्याग" हुआ-अर्थात् अहंकार रहित कर्म करने को "कृष्णार्पण" कहते हैं। इस पर से कोई यह कहेंगे कि तो हम "अहंकार रहित" ही कर्म करेंगे फिर "कृष्णार्पण" करने की क्या जरूरत॥

यह समझ ठीक नहीं, तत्त्वदृष्टि से दोनों मार्ग ठीक वा एक हैं परन्तु अहंकार रहित कर्म करना अपनी ही ज़िम्मेदारी पर होता है वा उस का कर्म बंध अपने ही बल से टालना होता है किंतु वही कर्म "कृष्णार्पण" कर देवें तो भगवत्कृपा से वह कर्म बंध सहज में टल जाता है। यह बात भगवान् १२ वें अध्याय में स्पष्ट कहेंगे॥

अतएव भगवान् का दास बनकर सर्वस्व उसी को अर्पण करके उसी पर अवलम्बन करना ठीक है। क्योंकि वह बड़ा दयालु है सब का भार अपने ऊपर ले लेता है। यह ९ वें अध्याय में कहा भी है (अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्) श्लोक २२॥ हाथी होकर लक्कड़ खाने की अपेक्षा चींटी हो कर शक्कर खाना ठीक है अपनी हिम्मत वा जवाबदेही पर काम करना भी तो एक प्रकार का सूक्ष्म अहंकार होता है। वा उस में भगवान् सहायता नहीं देते—

इस प्रकार कर्म करने में जो गुण हैं सो आगे कहते हैं वा यह भी दरशाते हैं कि ज्ञान हीन भी जो अपने कर्म कृष्णार्पण करते हैं वे भी कृतार्थ होते हैं॥

येमेमतमिदंनित्य-मनुतिष्ठन्तिमानवाः।
श्रद्धावन्तोनसूयन्तो-मुच्यन्तेतेऽपिकर्मभिः॥३१॥

अर्थ-(ये मानवाः) जो लोग (श्रद्धावन्तः) श्रद्धा रखकर (अनसूयन्तः) मुझ को इस बात का दोष न देकर कि भगवान् ही हम को दुःख रूपी कर्मों में प्रवृत्त करते हैं (इदं मे मतम्) ऊपर कहे हुए मेरे इस मत को (नित्यम्) सदैव (अनुतिष्ठन्ति) मानेंगे वा उसके अनुसार आचरण करेंगे (तेऽपि) वे भी धीरे धीरे कर्म करते हुए सम्यक् ज्ञानी के समान (कर्मभिः) कृत कर्मों के बंध से (मुच्यंते) मोक्ष हो जावेंगे॥

टीका—इस का भाव यह है कि जिन लोगों को ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है वे भी अपने कृत कर्मों को "कृष्णार्पण" क-

रने के कारण ज्ञान प्राप्त करके मुक्त होंगे, परन्तु कई लोग अपने अज्ञान वा निर्दयपन से यह कहते हैं कि भले बुरे सब काम ईश्वर ही कराता है सो उन कर्मों का फल भी उसी पर है यह इन का मूर्खपन है । यदि वे ऐसा न कहें और सब कर्म अपने पूर्व संचित प्रारब्ध वश मानकर श्रवण कीर्तनादि भगवद्भजन श्रद्धा पूर्वक करें वा उसी को कर्म अर्पण करते जावें तो वे भी ज्ञान प्राप्ति के योग्य हो जावेंगे ॥

इस के विपरीत चलने में जो दोष होते हैं सो आगे कहते हैं ॥

येत्वेतदभ्यसूयन्तो–नानुतिष्ठन्तिमेमतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्–विद्धिनष्टानचेतसः ॥३२॥

अर्थ–(येतु) परन्तु जो लोग (एतत् मतम्) इस मेरे मत को (अभ्यसूयन्तः) दोष दे कर वा निन्दा करके (न अनुतिष्ठन्ति)–उस के अनुसार आचरण नहीं करते (तान् अचेतसः) उन अचेत विवेक शून्य पुरुषों को (सर्वज्ञानविमूढान्) सर्वकर्मों में वा ब्रह्मविषय में भी ज्ञान हीन वा (नष्टान्) उसी कारण नष्ट बुद्धि हुए (विद्धि) समझो ॥

टीका–ऐसे लोग " काम्यतत्पर " कहाते हैं अर्थात् अपनी कामनाओं के सिद्ध करने में उद्यत रहते हैं, उन के विषय में दूसरे अध्याय के १९ वें श्लोक की टीका में बहुत कुछ लिखा गया है । इन को अब ऐसी निन्दा सुन के अर्जुन ने समझा कि यह लोग विषयासक्त होते हैं इसी से भगवत्प्रिय नहीं, तो फिर ज्ञानियों के समान ये लोग भी इन्द्रियों को वश में करके वा निष्काम हो कर अपने २ धर्म का आचरण क्यों नहीं करते ? । और कभी २ ज्ञानवान् भी तो अज्ञानी लोगों के समान वर्ताव करने लगते हैं, तथापि वे भगवत् को प्रिय बने रहते हैं । भला यह क्यों ? । इस का समाधान आगे के श्लोक में करते हैं ॥

सदृशंचेष्टतेस्वस्याः–प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिंयान्तिभूतानि–निग्रहःकिंकरिष्यति॥३३॥

अर्थ–प्राचीन कर्मों के संस्कार के अनुसार जो मनुष्यों का स्वभाव बनता है, उसी का नाम "प्रकृति" है-(ज्ञानवान् अपि) सर्वगुण दोष जानने वाला ज्ञानी भी (स्वस्याः) अपनी (प्रकृतेः) प्रकृति अर्थात् स्वभाव के (सदृशम्) अनुसार ही (चेष्टते) वर्ताव करता है, क्योंकि वह भी तो पूर्व संस्कार ही के अधीन है तो फिर अज्ञानियों की क्या वार्ता है ?। वा अन्य (भूतानि) सम्पूर्ण प्राणीमात्र (प्रकृतिं यान्ति) अपनी २ प्रकृति ही पर जाते हैं, अर्थात् उसी के अनुसार वर्ताव करते हैं, तो फिर (निग्रहः) इन्द्रियों का दमन (किङ्करिष्यति) किस प्रकार हो सकता है, अर्थात् नहीं। क्योंकि प्रकृति ही बलवान् है ॥

टीका–काम्य तत्पर लोग वा निष्काम ज्ञानी ये दोनों प्रारब्धवश विषयोपभोग करते हैं, परन्तु भेद इतना ही है कि ज्ञानी की प्रकृति में मूल अविद्या का नाश हो जाता है अतएव संचित कर्मों का बल उस की बुद्धि पर नहीं चलता. तो भी वह प्रारब्ध को नहीं टाल सकता। उस का नाश भोगने से ही होता है। और भोगते समय भर ही ज्ञानी को विषयस्नेह रहता है पीछे नहीं। ये प्रारब्ध जनित विषय भोग बिना भोगे जब टल ही नहीं सकते, तो उस के भुगाते समय "मनोनिग्रह" करने से कब हो सकता है। बल्कि "मनोनिग्रह" होना ही असंभव है। उस समय ज्ञानी को तो इतना तक विचार नहीं रह सकता कि सर्व जड़ विषय आत्मस्वरूप हैं। अलबत्ता इतना है कि वह भोगकाल पूरा होने पर अपनी पूर्वस्थिति पर फिर आ जाता है, इस से यह सिद्ध हुआ कि प्रारब्धभोग टालना ज्ञानी के हाथ में नहीं, इसी से वह भगवत् का आश्रय लेता है वह उसे प्रिय बना रहता है ॥

जब इसी प्रकार प्रकृति के अधीन होने की सब मनुष्यों की प्रवृत्ति है तो फिर शास्त्रों ने जो विधिनिषेध के नियम बनाये हैं, वे सब व्यर्थ समझे जावेंगे । इस शंका का समाधान आगे करते हैं ॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौव्यवस्थितौ ।
तयोर्नवशमागच्छेत्तौह्यस्यपरिपन्थिनौ ॥३४॥

अर्थ-(इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य) सर्व इन्द्रियों में से प्रत्येक इन्द्रिय के जो जुदे २ विषय हैं, उन में से (अर्थे) अपने २ विषय में प्रत्येक इन्द्रिय को (रागद्वेषौ) अनुकूल विषय में राग वा प्रतिकूल विषय में द्वेष (व्यवस्थितौ) अवश्य ही वर्तमान है, अर्थात् यह निश्चय है कि अमुक इन्द्रिय की अमुक विषय में (राग) प्रीति वा अमुक विषय में द्वेष है। उसी के अनुसार भूतों की प्रवृत्ति अर्थात् प्रकृति भी होती है तथापि-शास्त्र का नियम है कि (तयोर्वशम्) उन रागद्वेष के वश में-(न आगच्छेत्) न आना चाहिये (हि) क्योंकि (तौ) वेही प्रीति वा द्वेष (अस्य) मोक्ष को चाहने वाले मनुष्य के (परिपन्थिनौ) शत्रु हैं अर्थात् मोक्ष मार्ग में लूटने वाले हैं ॥

टीका—विषयों के स्मरण वा सेवन आदि से उन में प्रीति वा द्वेष उत्पन्न होते हैं, और यही दोनों नानाप्रकार के उपद्रव उठाते हैं, तब प्रकृति जबरदस्ती से अज्ञ मनुष्यों को अतिगम्भीर अनर्थ के प्रवाह में डाल देती है, परन्तु शास्त्र ने पहिले से ही यह नियम बना दिया है कि परमेश्वर के भजन में प्रवृत्त होने से विषयों में प्रीति वा द्वेष उत्पन्न ही न होने पावेंगे, अतएव जो लोग शास्त्र के नियमों का अवलंबन करके पहिले ही ईश्वर भजन रूपी नाव का आश्रय ले लेते हैं वे उस गंभीर प्रवाह में नहीं पड़ सकते वा सब अनर्थों से बचजाते हैं तो मनुष्य को चाहिये कि पशुओं के समान अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति को त्याग के धर्म में प्रवृत्ति करें ॥ कहा भी है कि-

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्। धर्मोहितेषामधिकोविशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

प्रारब्ध के बल से इन्द्रियों का वा विषयों का संयोग होता ही है-परन्तु जब राग द्वेष मनुष्य की बुद्धि में प्रवेश नहीं करेंगे तब तक विषयेन्द्रिय संयोग से कोई बुरा परिणाम होने का नहीं। प्रारब्ध तो टल ही नहीं सकता परन्तु अनादि वासना के कारण जो राग द्वेष होते हैं उन का नाश कर देना मनुष्य के स्वाधीन है, सो उसे करना चाहिये। वासना का बीज "संचित कर्म" है वह ज्ञान से नाश हो जाता है यह भगवान् ने "बुद्धियुक्तो जहातीह, उभे सुकृतदुष्कृते," अध्याय २ के ५० वें श्लोक में स्पष्ट कह दिया है कि रागद्वेष के वश हो जाने से ही मनुष्य की बुद्धि नष्ट होती है और यह न होने देना विचारवान् का काम है वा ज्ञानी ही इस को साध सकता है, अतएव वही भगवान् को प्रिय होता है। "मयि सर्वाणि कर्माणि" श्लोक ३० में यह कह चुके हैं कि सब कर्म मेरे चरणों में अर्पण करके युद्ध कर। इस पर जो शंकायें उठती गई हैं उन का परिहार यहां तक हुआ, परन्तु अर्जुन को यह शंका बनी रही कि युद्ध में हिंसादि दोष होंगे, वे कैसे मिटेंगे? स्वधर्म मेरा युद्ध करना सही है। परन्तु वह दुःखरूप ही है, इस से यही उचित है कि मैं उस धर्म को आचरण करूं जिस में हिंसादि न हों, वा जिस के करने में कोई कठिनाई न पड़े। अर्जुन की यह मनसा जान कर श्रीभगवान् जी आगे कहते हैं कि वेदोक्त कर्म करके स्वभाव को जीतना चाहिये तो अनर्थ न होगा ॥

श्रेयान्स्वधर्मोविगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मेनिधनंश्रेयः परधर्मोभयावहः ॥ ३५ ॥

अर्थ-(विगुणः) किंचित् अङ्गहीन वा गुणहीन होने पर भी (स्वधर्मः) अपना वर्णाश्रम धर्म (स्वनुष्ठितात्) सकल अंग पूर्ण वा गुणपूरित उत्तम आचरण किये हुए (परधर्मात्) पराये धर्म से (श्रेयान्) श्रेष्ठ वा कल्याणकारी होता है। क्योंकि (स्वधर्मे) अपने युद्धादि धर्म में प्रवृत्त होने वाले को उस में (निधनं श्रेयः) मरण हो जाना भी श्रेष्ठ है, क्योंकि उससे स्वर्ग प्राप्ति है। और (परधर्मः) पराये का धर्म (भयावहः) भय-कारक है। क्योंकि उस के आचरण से नरक की प्राप्ति है।

(नोट) अपने वर्ण वा कुल में परम्परा से चला आया छोटा वा दोष युक्त धर्म भी उस के लिये अच्छा हितकारी सुखदायी है तथा अन्य वर्ण वा कुल का बड़ा वा सर्वथा नि-र्दोष धर्म भी हानि कारक दुःखदायी है। यह बात साइंस फिलासफीसे भी ठीक सिद्ध हो जाता है क्योंकि जो कुल परम्परा से चला आता है उसी आचार विचार के अनुसार उस की प्रकृति बनती है। तब जैसे विष में पैदा हुए कीड़े को विष ही अमृत और अमृत भी विष हैं। विष्ठा के कीड़े को वह दुर्गन्ध ही अमृतवत् और सुगन्ध उस के लिये विष है। वैसे ही वेदाध्ययन वा वेदोक्त कर्मानुष्ठान भी शूद्र वा अन्तरालों के लिये विष है और प्रकृति के अनुसार सेवादि अमृत है। इस का विशेष विचार अन्यत्र कहीं होगा। इस से सब को अधिकार की हुज्जत करने वालों की भूल है ॥ (भी० प्र०)

टीका-इस तत्त्व को वर्त्तमान समय के लोग भलीभांति नहीं समझ सकते। न उस के अनुसार चल सकते हैं। इसका पूरा वर्णन तब किया जावेगा जब आगेके अध्याय के कुछ श्लोकों का भाव समझ लिया जावे। अपना निवृत्ति धर्म हो वा प्रवृत्ति धर्म हो उसीका अनुष्ठान करना चाहिये, अर्थात् जो अपना व-र्णाश्रम धर्म है उसीका आचरण करना चाहिये, क्योंकि उसी से स्वभाव जीता जाता है। अथवा अपना धर्म जो सच्चिदानन्दरूप

निर्विकार विगुण भी अर्थात् उस में सत्व, रजस्, तमस् ये गुण नहीं हैं तो भी गुण संयुक्त परधर्म से अर्थात् सत्वादि गुणों के धर्म इन्द्रिय शब्दादि विषयों से श्रेष्ठ हैं। इन्द्रियादि का जो धर्म है वह आत्मा का धर्म नहीं। यानी परधर्म है, उस पर धर्म का कर्त्ता होना अर्थात् इन्द्रियादिकों के साथ मिल कर जो देह का त्यागना है वह संसार को प्राप्त करने वाला है। संसार ही का नाम भय है, और अपने धर्म में मरना अर्थात् ज्ञाननिष्ठा ब्रह्माकार वृत्ति स्वरूप में देह त्याग करना श्रेष्ठ है। क्योंकि वह मुक्ति का हेतु है, इस का प्रमाण इस श्रुति में कहा है। "काश्यामरणान्मुक्तिः" अर्थात् जिस अवस्था में "काशः" ब्रह्मतत्त्व का प्रकाश हो उस का नाम "काशी" है इसी काशी में मरने से मुक्ति होती है॥

अब ३४ वें श्लोक में जो कहा है कि (तयोर्नवशमागच्छेत्) उसे अर्जुन असंभव वा अशक्य समझा और उस ने यह भी जानना चाहा कि प्रारब्ध भोग समय में जितेन्द्रिय ज्ञानी को भी तो भोग की इच्छा होती होगी, सो काहे से होती है। जीव परतन्त्र है तो कौनसा प्रवल प्रेरक है ? जो उस से ये सब उपरोक्त विपरीत कर्म कराता है, यही प्रश्न करता है॥

अर्जुन उवाच ॥

अथकेनप्रयुक्तोऽयं पापंचरतिपूरुषः।
अनिच्छन्नपिवार्ष्णेय बलादिवनियोजितः॥३६॥

अर्थ—वृष्णि वंश में जिसका अवतार हो सो "वार्ष्णेय" है (अथ) भला हे कृष्ण ! (अनिच्छन्नपि) अनर्थ रूप पाप करने की इच्छा न करते हुए भी (वलात् इव) मानों जवरदस्ती से (नियोजितः) लगाया हुआ अर्थात् प्रेरणा कियाहुआ (केन प्रयुक्तः) किस की प्रेरणा से (अयं पुरुषः) यह ज्ञानी पुरुष (पापं चरति) विषय सेवन रूप पाप करता है ?॥

टीका—काम क्रोध को अपने विवेक बल से दमन करने पर भी जब इस पुरुष की फिर भी पाप करने को प्रवृत्ति होती है तो यही विचार आता है कि इन काम वा क्रोध का कोई तीसरा ही मूल कारण होगा जो इस पुरुष को पाप में प्रवृत्त कर देता है। यह एक संभावना का प्रश्न है? उस का उत्तर श्री कृष्णजी आगे देते हैं। इस को पूर्ण लक्ष्य से देखना योग्य है। क्यों कि यह बड़े महत्त्व का विषय है॥

श्रीभगवानुवाच ॥

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

अर्थ—हे अर्जुन! जो तूने कारण पूछा है वह (काम एष क्रोध एषः) यह काम ही क्रोध रूप भी है। ३४ वें श्लोक में "इन्द्रियस्येंद्रियस्यार्थे इत्यादि,, में पहिले द्वेष शब्द से क्रोध को कहा है सो सत्य है वह भी एक कारण है: वह काम से पृथक् नहीं है किन्तु जो क्रोध है वह काम ही से उत्पन्न है इसी अभिप्राय से अब दोनों को एकत्र करके कहते हैं। (रजोगुणसमुद्भवः) इस काम की उत्पत्ति रजोगुण से है। परन्तु जब सत्त्व गुण की वृद्धि हो जाती है तो रजोगुण का क्षय हो जाने के कारण काम उत्पन्न नहीं होता (एनम्) इस काम को (इह) इस मोक्ष मार्ग में (वैरिणम्) बैरी (विद्धि) जान इस को उसी क्रम से नाश करना चाहिये, जो कहा जाता है॥ (क्योंकि यह (महाशनः) बड़ा खाने वाला है, वा किसी दानादि से संतुष्ट नहीं होता, और यह (महापाप्मा) है अर्थात् अति उग्र पाप रूपी है "साम" के द्वारा शान्त नहीं हो सकता॥

(नोट) कामना तृष्णा का पेट इतना बड़ा है कि संसार का सब अन्न धन और स्त्री आदि विषय भोग के साधन एक मनुष्य की तृष्णा का पेट नहीं भर सकते इसी लिये इस को महाशन कहा है॥ महाभारत—अनुशासन—पर्व में लिखा है कि—

"नतल्लोकेद्रव्यमस्ति यल्लोकंप्रतिपूरयेत् ।
समुद्रकल्पःपुरुषो नकदाचनपूर्यते ॥"

संसार में वह धनादि है ही नहीं जो मनुष्य की तृष्णा का पेट भर सके क्योंकि तृष्णा समुद्र के तुल्य है कभी पूरी नहीं हो सकती ॥ (भी० श०)

टीका—काम सब अनर्थों का मूल है। यही जीव से कर्म करवाता है वा वे कर्म ऋण रूप होकर जीव के माथे पर सवार होते हैं तब उसे प्रारब्ध रूपी देह धर के भोग रूप से वह ऋण चुकाना पड़ता है। अज्ञानी मनुष्य अहंकार वा भोग इच्छा के कारण इस ऋण को और बढ़ाता है। परन्तु ज्ञानी नया ऋण नहीं बढ़ाता। क्योंकि वह यह नहीं मानता कि" मैं कर्ता हूं,, और अमुक प्रिय और अमुक अप्रिय ऐसा रागद्वेष भी उसमें नहीं रहता केवल प्रारब्ध भोग समय पर ही उसे" अहंपन " आता है क्योंकि उस के बिना भोग ही नहीं होसकता यह भोग जीव को होता है। आत्मा को नहीं, तो जीव ही अहंभाव हुआ। यह अध्याय २ के श्लोक १६ "नाभतो विद्यते भावो०" की टीका में स्पष्ट हो चुका है। परंतु इस नियम का भी " अपवाद है" पूर्व काल में निष्काम कर्म किया और उसे ईश्वरार्पण नहीं किया तो वह बंधक रहा। और ऐसे ज्ञानी को भोग काल में भी "अहंभाव" नहीं रहता राजा जनक की ऐसी स्थिति थी इसी कारण उन को "विदेह" कहा है यह सब ज्ञानी के लिये नहीं है भोग काल में उसे अज्ञानी के समान घड़ी भर नाचना ही पड़ता है। रजोगुणसे काम वा काम से क्रोध होता है। क्रोध से सैकड़ों हिंसात्मक कर्म होते हैं जैसे अग्नि में घी डालो तो वह और अधिक ही प्रचंड होता है तैसे ही काम के लिये विषय भोग देने से वह और भी बढ़ता है। शान्त नहीं होता। उस के इच्छित पदार्थ मिलने

में जरा अंतर पड़ा कि उसने क्रोध का रूप धारण किया। वा जिसे तिसे मारने को उद्यत हुआ। किसी को पीड़ा करने का मौका नहीं मिला तो अपने शरीर ही को जलाता है॥

रजोगुण से काम वा तमोगुण से क्रोध उत्पन्न हो ऐसा नियम है तब दोनों को एक कहने में विरुद्धता होती है इस का समाधान ऐसा है-कि रजोगुण का आधार तमोगुण है जैसे तालाब का पानी ऊपर स्वच्छ दीखता है परंतु उसके नीचे कीचड़ रहती है जब तक पानी हिलता डुलता नहीं तब तक ही वह स्वच्छ है। परंतु उस को हिला दो तो नीचे की कीचड़ के मिल जाने से वही पानी मैला गदला हो जाता है। इसी प्रकार काम जब चंचल होता है तो उस के आधार क्रोध में मिल कर अनर्थ करता है पुनः कीचड़ में पानी न रहा तो वह सूख कर मट्टी हो जाती है तैसे ही काम गया कि क्रोध की मट्टी है इस से सिद्ध हुआ कि स्वच्छ पानी रजोगुण वा मैला पानी तमोगुण अर्थात् क्रोध है दोनों एक ही पानी के भेद हैं इसी से काम वा क्रोध की ऐक्यता बतलाई है॥ पुनः

"तमस्" कहें विषय "रजस्" कहें इन्द्रियां, काम कहें विषय का आधार अर्थात् बासना सहित इन्द्रियां। पानी जमीन पर डालो तो कीचड़ होता है परन्तु वही पानी जमीन का आधार छुड़ाकर किसी बरतन में रख दो तो उस में मैलापन नहीं रहता वा फिर मैला होता भी नहीं। इसी प्रकार काम को उस के विषयाधार से हटाकर भगवद्भक्ति में लगा दो तो वह स्वच्छ रहता वा उसे क्रोध रूपी कीचड़ नहीं मिल सकी जैसे दोनों पानी एक हैं तैसे भक्ति में का काम वा विषय में का काम ये दोनों एक ही हैं, परन्तु भक्ति के आधार वाला काम संसार से मुक्त करता है। वा विषय के आधार का काम संसार सागर में डुबाता है। इस से सिद्ध हुआ कि रजो गुण सब प्रसंग में बुरा नहीं है उसे जैसा आधार मिले, वैसा भला बुरा हो जाता है॥

यह भी तो है कि विना "काम" के परमार्थ साधन नहीं होता, अतएव इस काम को भगवद्भक्ति का आश्रय देना चाहिये, भक्ति रूप कुल्हाड़ी में काम रूप बेंट डालो कि उस कुल्हाड़ी से काम रूप बेंट के सब कुल का नाश हो जाता है क्योंकि वह बेंट काम की ही जाति का है सो सब भेद उसे मालूम रहता है। यही काम ज्ञानी को प्रारब्ध भोग के समय पर्यंत ही विषयासक्त करता है और जिज्ञासु वा साधक मनुष्य पर यह काम जोर करता है। परंतु यह कैसा कि वह विरक्त ज्ञानी जो कुछ इच्छा ही नहीं रखता उस को भी त्रास देता है इस शंका का समाधान वा काम का वैरीपन भगवान् आगे के श्लोक में दृष्टांत द्वारा बताते हैं॥

धूमेनाव्रियतेवन्हिर्यथादर्शोमलेनच ।
यथोल्बेनावृतोगर्भस्तथातेनेदमावृतम् ॥३८॥

अर्थ–(यथा) जिस प्रकार अपने साथ ही उत्पन्न होने वाले (धूमेन) धुआंके द्वारा (वह्निः) अग्नि (आव्रियते) घिरा रहता है, अर्थात धुआं अग्नि को ढांक देता है, (च) वा बाहिर से आये हुए (मलेन) मल से (आदर्शः) कांच ढंप जाता है। वा (यथा) जिस प्रकार (उल्वेन) चर्मद्वारा चारोंओर से (गर्भः) स्त्री के पेट में गर्भ (आवृतः) घिरा रहता है, (तथा) उसी तीनप्रकार से (तेन) उस "काम" के द्वारा (इदमावृतम्) यह ज्ञान ढंपा रहता है अर्थात् वह बलवान् काम ज्ञान को सब ओर से मानो बंधन में डाल रहता है यानी इस लोक परलोक की कामना ज्ञान को नहीं होने देती॥

टीका–काष्ठ में अग्नि लगाने से धुआं उठता है और जब तक वह काष्ठ जल न जावे तबतक वह धुआं उस अग्नि को घेरे रहता है। काष्ठ जलगया वा अग्नि बुझ गया कि धुआं का नाश हुआ, इसीप्रकार प्रारब्ध कर्म का बना हुआ यह देह जब तक वह कर्म न भोग लेवे–तबतक बना रहता है यह प्रारब्ध

सञ्चित कर्मों के कुछ अंश से बनता है, उतना अंश भोग लिया कि बाकी संचित कर्म को (जिस का फल भोगने के समय नहीं आया) ज्ञान नाश कर देता है, परन्तु जितने का फल भोगना बाकी रहता है वह अंशरूपी प्रारब्ध देह के साथ ही रहता है, उस को भोगते समय कामरूप धुआं ज्ञान को ढांप देता है परन्तु जब वह भोग आपोआप पूरा हो जाता है। तब मानो प्रारब्धरूप काष्ठ शेष भी जल गया, तो कामरूप धुआं आप ही नाश हो जाता है । ज्ञानी के देह का " देहपन " प्रारब्ध भोग समय पर्यन्त ही है और उसी समय तक काम उस के ज्ञान को ढांप सकता है, वह भोग पूर्ण हुआ कि " काम „ जी की भी विदा भई ॥

अब आरसी के दृष्टान्त का उपयोग देखो । ज्ञानी पुरुष की आरसी " सत्व " है, उसी के द्वारा वह अपने को देखता है, प्रारब्ध भोग के समय इस तत्वरूपी आरसी पर कुछ मैल चढ़ जाता है इस मैल को ज्ञानी अपने सिद्ध किये हुये अभ्यास रूपी जल से वा वैराग्य रूपी चूना से क्षणभर में धो डालता है । वा भोग की समाप्ति पर फिर से सत्वरूप शुद्ध आरसी में अपने को देखने लगता है ॥

अब गर्भ के दृष्टान्त देने का प्रयोजन सुनो–जैसे गर्भ को चर्म की थैली लपेटे रहती है उसीप्रकार ज्ञानी को काम घेरे रहता है। अतएव विवेक वा विचार अन्दर नहीं जा सकते ॥

सारांश–प्रारब्ध भोग के समय ज्ञान छिपा रहता है वा बेकाम ही दीखता है–यह पहिले दृष्टान्त में दिखाया है, भोग पूर्ण हो जाने पर वह काम नाश पाता है यह दूसरे दृष्टान्त से, वा भोगकाल में ज्ञानी को कोई भी सहायता नहीं मिल सकती, यह तीसरे दृष्टान्त से सिद्ध किया है ॥

अब काम का वैरभाव स्पष्ट करके कहते हैं वा उस के रहने की जगह भी बताते हैं जिस में कि वह जीतलिया जावे क्योंकि शत्रु का घर जान लेने से उसे जल्दी जीत सकते हैं॥

आवृतंज्ञानमेतेन ज्ञानिनोनित्यवैरिणा ।
कामरूपेणकौन्तेय दुष्पूरेणानलेनच ॥ ३९ ॥

अर्थ-(कौन्तेय) हे अर्जुन ! विषयों से परिपूर्ण होने पर भी (दुष्पूरेण) कभी तृप्त न होने वाले (च) और शोक संताप देने वाले अतएव (अनलेन) अग्नि के समान गरम वा (ज्ञानिनः) ज्ञानी के (नित्यवैरिणा) सदैव शत्रु (एतेन कामरूपेण) ऐसे इस कामरूपी वैरी के द्वारा (ज्ञानम् आवृतम्) ज्ञानी का ज्ञान ढंपा रहता है अर्थात् विवेक ज्ञान को यह काम प्रकाश नहीं होने देता ॥

टीका-यह काम अज्ञानी लोगों को केवल भोगसमय में सुखदाता है परन्तु परिणाम में वैरी है, परन्तु ज्ञानी को भोग समय ही में अनर्थ कारक हो कर सदैव दुःखदाता है, इसी कारण उस का नित्य वैरी कहा गया है, क्योंकि उस समय वह ज्ञानी को परमानन्द परमात्मा से विमुख रखता है, इस मायावी काम के अनेक रूप हैं, और वह ज्ञानी के ताक ही में रहकर जब मौका पाता है तब अलहदा २ विषयों के रूप धरके उसके ज्ञानरूपी धनको चुराले कर भागने को आया करता है । यह अज्ञ लोगोंका भी वैरी है, परन्तु वे लोग अज्ञान के कारण उस को अपना मित्र जानकर उसे तृप्त करने की खटपट किया करते हैं । परिणाम यह होता है कि वह इन विषय देने वालों को भी क्लेश दे कर उन का नाश करता है, जैसे सर्प को दूध पिलाने से वह विष ही उगलता है इसी कारण ज्ञानी उस से दूर रहता है, तथापि ऊपर कहे हुए के अनुसार वह भोगकाल में आकर उसे गांठ ही लेता है ॥

अब आगे के २ श्लोकों में इस काम का अधिष्ठान अर्थात् रहने की जगह बता कर उस के जीतने का उपाय बताते हैं ॥

इन्द्रियाणिमनोबुद्धि रस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्यदेहिनम् ॥ ४० ॥

अर्थ- विषयों के देखने सुनने वाली इत्यादि इन्द्रियों के व्यापारों से ही काम उत्पन्न होता है, अतएव (अस्य) इस के (अधिष्ठानम्) निवासस्थान (इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः) इन्द्रियां मन वा बुद्धि में (उच्यते) कहे जाते हैं। (एतैः) इन इन्द्रियों को वा उन के व्यापारों की वा मन की वा बुद्धि की सहायता से (एषः) यह काम (ज्ञानम्) मनुष्यों के ज्ञान को (आवृत्य) ढांप करके (देहिनम्) देहधारी जीवों को (विमोहयति) मोह में ला कर नाश कर देता है॥

(नोट)–जब इन्द्रियां मन और बुद्धि में काम हर एक समय बसता ही है और प्रत्येक प्राणी इन्द्रिय मन तथा बुद्धि द्वारा ही सब कुछ व्यवहार करता है तब काम की झपट से बचना असम्भव सा है। परन्तु आगे कहे अनुसार मन बुद्धि और इन्द्रियों की बहिर्मुख प्रवृत्ति को शिथिल कर भीतरी विचार में लगाने से काम की तरङ्गें भी शिथिल हो जातीं हैं। काम शब्द से यहां अनेक प्रकार की मानुष वा स्वर्गीय बड़े २ विषय भोगों की अभिलाषारूप वासना समझनी चाहिये॥ (भी० श०)

टीका–'आत्मा"विंब वा "जीव"उस का प्रतिबिंब है, यह अध्याय २ में स्पष्ट कर चुके हैं। यही जीव देहधारी हो कर सुख दुःख भोगता है, वह अपने को जिस काम का कर्ता मानता है उस के फल का भोक्ता भी वही कहाता है। ज्ञानी को भी भोगकाल में देहभाव उत्पन्न होता है। जिस प्रकार धार्मिक राजा का पुत्र प्रजा को त्रास दे कर अपने पिता की गोद में जा छुपता है–वा प्रजा के फर्याद करने पर राजा उसे उस समय गोद से उतार कर उस को अपराध के बदले शिक्षा करता है वा फिर गोद में बिठा लेता है। उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य भी भगवान् का प्रिय पुत्र है, पूर्वकाल में किये कर्मों का प्रारब्धरूप फल उसे भोग करा के फिर अपनी ओर खींच लेता है।

वा उस पर प्रीति करता है। ज्ञानी भक्त को श्रीभगवान् जी के सिवाय और कोई प्रिय नहीं रहता, और सर्व जगत् को वह भगवत्स्वरूप ही देखता है परन्तु प्रारब्ध भोग समय ईश्वर अपनी प्रीति उस में से हटा लेता है तब वह जीव केवल " प्रतिबिंब " रूप रह कर देहभाव में मग्न हो जाता है—उस समय इस देहधारी जीव की इन्द्रियां मन वा बुद्धि को यह मायावी " काम " अपने वश में करके उन की सहायता से उस जीव को मोह लेता है—वा उस के ज्ञान को ढांप देता है इस जीव का स्वरूप वा उस का भोक्तापन ये दोनों बातें पन्द्रहवें अध्याय में स्पष्ट की जावेंगीं ॥

अब आगे के श्लोक में इस " काम " के पराजय करने का उपाय कहते हैं ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्यभरतर्षभ ! ।
पाप्मानंप्रजह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

अर्थ-(भरतर्षभ !) हे अर्जुन ! (तस्मात्) तिस कारण से (त्वम्) तू उस काम के मोह में फंसने से (आदौ) पहिले ही (इन्द्रियाणि) अपनी इन्द्रियों को वा मन को वा बुद्धि को (नियम्य) अपने वश में करके (एनम्) इस (पाप्मानम्) पापरूपी काम को जो (ज्ञानविज्ञाननाशनम्) आत्मविषय रूपी ज्ञान को तथा विषयरूपी विज्ञान को नाश करता है (हि) स्पष्ट रूप से अवश्य (प्रजहि) पराजय कर डाल वा मारडाल ॥

(नोट) —इन्द्रियों की प्रवृत्ति मन से होती है। इन्द्रियां बाह्य विषयों के रसों को ला २ कर मन को भोजन कराती हैं उसी से शरीर वृद्ध होने पर भी मन वृद्ध नहीं होता। पर ज्ञानेन्द्रियों को जब विषय रस लाने से रोका जाता है, अर्थात् देखना सुननादि घटा दिया जाता है तब मन को भोजन न मिलने से उस की सूक्ष्म वासना भी शिथिल होती

जाती हैं। इसी विचार से [कि इन्द्रियों को विषय ही न मिलें तो उन का रोकना सहज है] संयमी लोग वनों जङ्गलों में रहा करते हैं॥ (भी० श०)

टीका—शास्त्राचार्य के उपदेश को वा शुद्धात्मा के ज्ञान को ज्ञान कहते हैं वा सर्व आत्मा ही है ऐसे विशिष्ट (सर्वोत्तम) ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" इति श्रुतिः। पूर्व श्लोक में कह आये हैं कि इन्द्रिय,मन, वा बुद्धि, काम के सहायक शस्त्र हैं, तो पहिले इन्हीं को अपने वश में कर लेने से काम का कोई वश नहीं चल सकता। तदनन्तर आत्मज्ञान मानो हाथ ही में रक्खा है यह हो गया तो "काम जी" फिर वे काम ही हो जावेंगे। जैसे राजसिंहासन पर बैठने के पहिले राजा राजनीति सीखे, तब राज्य ठीक कर सकता है, इसी प्रकार आत्मज्ञान के सिंहासन पर बैठने के पहिले इन्द्रिय जय करना अत्यावश्यक है, नहीं तो यह काम पदच्युत किये बिना न छोड़ेगा॥

मनुष्य का मन स्थिर होकर कभी नहीं बैठता वा जड़ विषयों पर दौड़ने से जैसा अनर्थ होता है सो "ध्यायतो विषयान् पुंसः) इत्यादि अध्याय २ के ६२ वा ६३ श्लोकों में कहा है अतएव इस मन को विषयों पर न दौड़ने देना ही बुद्धि का नाश बचाना है। इन्द्रियों वा विषयों का संयोग होने के पहिले ही इन्द्रियों का निरोध कर लेना चाहिये, यह हुआ कि मन से भी काम भागा॥

अब आगे बताते हैं कि देहादि से आत्मस्वरूप अलहदा है और वह मन के द्वारा इन्द्रियों को वश में करके प्राप्त हो सकता है उस की सहायता से मायावी काम का भी नाश हो जावेगा॥

इन्द्रियाणिपराण्याहु रिन्द्रियेभ्यःपरंमनः।
मनसस्तुपराबुद्धिर्यो बुद्धेःपरतस्तुसः॥ ४२॥

अर्थ-देहादि से (इन्द्रियाणि) ज्ञानेन्द्रियां (पराणि) श्रेष्ठ वा सूक्ष्म कारण (आहुः) कहीं जाती हैं क्योंकि वे सूक्ष्म वा प्रकाशवान् होने के कारण अलहदा रह सकतीं हैं (इन्द्रियेभ्यः परं मनः) इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ वा सूक्ष्म है क्योंकि वह उन को अपने संकल्पों के अनुसार प्रवृत्त करता है (बुद्धिः तु मनसः परा) इन संकल्पों को पूर्व ही निश्चय कर लेने वाली निश्चयात्मिका बुद्धि मन से भी श्रेष्ठ है और (यः) जो (बुद्धेः-परतः) सर्वान्तर्यामी साक्षी रूप होकर बुद्धि को भी प्रेरणा करता है सो बुद्धि से श्रेष्ठ है (सः तु) वही आत्मा है। इसी को ४० वें श्लोक में "देहिनम्" शब्द के द्वारा कहा है उसी को यह काम मोह लेता है यह भी कहा है ॥

टीका-इस से यह सिद्ध हुआ कि कर्मेन्द्रियों की प्रेरक ज्ञानेन्द्रियां वा ज्ञानेन्द्रियों का प्रेरक मन वा मन की प्रेरक बुद्धि है। इस बुद्धि का भी जो चालक है वही आत्मा है इसी को परमपुरुष, पूर्णब्रह्म, परमगति, परमधाम, और राम, भी कहते हैं ॥

विना आत्मा के कोई जड़ पदार्थ भी नहीं रहसकता, अतएव इन्द्रिय मन वा बुद्धि इन में आत्मा वर्तमान ही है परन्तु मिला हुआ है। इस मिलावट को दूर करो कि शुद्ध आत्मा दीख पड़ेगा ॥

अपन समझते हैं कि अपना देह है वह ही अपन हैं, तो जब अपन देह को जान सकते हैं, तो मानो देह भी देह को जान सकता है, यह सिद्ध हुआ परन्तु मुरदा अपनी देह को नहीं जान सकता, तो इस से यही जाना गया कि देह आत्मा नहीं है ॥

इस शरीर में आंख, कान, नाक इत्यादि का नाम कर्मेन्द्रिय है। उनको ज्ञानेन्द्रिय नहीं कह सकते क्योंकि बाहर केवल

मनुष्य के कान रहे और सुन न पड़ा तो वह कान किस काम के केवल उन का आकार है परन्तु जो सुनने की शक्ति थी वही ज्ञानेन्द्रिय थी। यह ज्ञानेन्द्रियां लिंग वा सूक्ष्म दोनों देह में रहतीं हैं परन्तु बिना मन के वे कुछ नहीं कर सकतीं। इस से सिद्ध हुआ कि इन्द्रियां भी आत्मा नहीं हैं इन्द्रियों के विना विषय ग्रहण नहीं होते तो विषय भी आत्मा नहीं हो सकते॥

अब यदि यह कहा जावे कि "मन ही" आत्मा है सो भी नहीं क्योंकि स्वप्नावस्था में स्थूल देह मृतप्राय रहता है वा मनोमय स्वप्नदेह को ही "अपन" समझते हैं इस अवस्था में "मन" कायम रहता है परन्तु गाढ़ निद्रा में वह भी निश्चल होकर बुद्धि को भी ज्ञान नहीं रहता परन्तु जागने पर बुद्धि ही स्मरण कराती है कि "मैं" सुख से सोया था वा उस समय मुझे कुछ नहीं जान पड़ता था तो सुषुप्ति काल में जो "सुख" अपन को होता है वही "आत्मा है" इस "सुख" को वा "उस अज्ञान को" जागने पर बुद्धि ही बताने लगती है तो "बुद्धि" मन के परलीओर हुई वा "मन" 'आत्मा" नहीं यह सिद्ध हुआ॥

अब यह समझाते हैं कि "बुद्धि" भी "आत्मा" नहीं है वह भी सुषुप्ति अवस्था में निश्चल रहती है वा सुख स्वरूप केवल आत्मा ही रहता है। यदि यह कहा जावे कि सुषुप्ति में कुछ भी नहीं रहता तो भी नहीं बनता क्योंकि सुख तो था तथा जागने पर उसी सुख का स्मरण बुद्धि कराती है और यह स्मरण" आत्मा ही" के योग से होता है (बुद्धि तो जड़ पदार्थ है) अर्थात् आत्मा ही के योग से बुद्धि सचेतन रहती है वा उसी बुद्धि के द्वारा यह जाना जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि" आत्मा" बुद्धि के भी परलेपार है उस से परे कुछ भी नहीं। जैसा श्रुति का वाक्य है "पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः"

इस रीति से शुद्ध आत्मा के जानने को"व्यतिरेक" ज्ञान कहते हैं इस पर से यह भी बोध होता है कि सर्व जड़ जगत् भी आत्मा है। (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) उसीका नाम" अन्वय " ज्ञान है , वह आगे समझाते हैं ॥

आत्मा स्वतः सिद्ध है वा उसी की सत्ता से सब जगत् प्रपंच स्थिर है देखो सुषुप्ति काल में इन्द्रिय मन बुद्धि इत्यादि रहने परभी आनन्द स्वरूप आत्मा ही रहता है। उसी की सत्ता से जागने पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्रगट हो जाते हैं इनका अधिष्ठान आत्मा ही है। जैसे तरंग का जल अलंकार का सोना इत्यादि, अर्थात् सर्व की सत्ता आत्मा ही है विना उस के मन इत्यादि नहीं रहते वा उसी की सत्ता से यह जगत् प्रपंच भासता है ॥

आत्म दृष्टि से जगत् को देखना इसी को "अन्वय योग" अथवा विज्ञान कहते हैं ॥

इस श्लोक में २४ तत्वों की संख्या भी दिखलाई है ॥

१ स्थूल देह कहा सो पञ्चतत्व का बना है,अर्थात् १पृथ्वी २ जल ३ तेज ४ वायु ५ आकाश। इन पांच तत्वों के पांच गुण यानी १ गंध २ रस ३ रूप ४ स्पर्श ५ शब्द । ये १० तत्व हुए इस स्थूल के अनन्तर १० इन्द्रियां यानी ५ कर्मेन्द्रियां वा ५ज्ञानेन्द्रियां ये २० तत्व हुए २१ वां मन २२ वीं बुद्धि २३ वां चित्त २४ वां अहंकार ॥

बुद्धि का नाम महत्तत्वहै वा चित्त का नाम अव्यक्ततत्त्व है, इन का स्पष्ट बर्णन १३ वें अध्याय में होगा , इन २४तत्वों के परले पार जो तत्त्व है वही "आत्म" तत्त्व है ॥

एवंबुद्धेःपरंबुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३ ॥

अर्थ–हे (महाबाहो) अर्जुन ? (एवम्) इस प्रकार विषयेन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले कामादि दोष से रहित वा नि-

विकार अतएव साक्षी (बुद्धेः परम्) बुद्धि से परे आत्माको (बुद्ध्वा) जान कर (आत्मना) इस प्रकार निश्चयात्मक बुद्धि के द्वारा (आत्मानम्) अपने मनको (संस्तभ्य) स्थिर कर के (दुरासदम्) कठिनाई से पराजित होने वाले (कामरूपं शत्रुम्) इस काम रूपी शत्रु को (जहि) मार डाल ॥

टीका—आत्मा को जान लेने पर चुप चाप बैठने से हानि होती है। जिस प्रकार पहिले राजनीति सीखने से राज्य मिलता है और राज्य प्राप्त होनेके उपरांत उसका अभ्यास न करने से वह भूल जाती है, कालांतर में राज्य भ्रष्ट हो जाता है। इसी प्रकार आत्मज्ञान होनेके उपरांत अपने विवेक बल से बुद्धि को शुद्ध कर के उस की सहायतासे मन को आत्म स्वरूप में लगाये रहे। वा काम रूप शत्रु को मार डाले ॥

यह तीसरे अध्याय की टीका सर्वात्मा श्रीकृष्णपरमात्मा के चरणों में अर्पण करता हूं ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णाऽर्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

स्वधर्मेण यमाराध्य भक्त्याबुद्धिमिताबुधाः।
तंकृष्णंपरमानन्दं तोषयेत्सर्वकर्मभिः ॥ इति॥
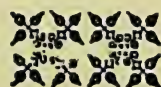
श्रीयुगलचरणकमलेभ्योनमः

चतुर्थाध्यायारम्भः ॥
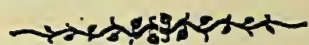
अध्याय ३ के ३५ वें श्लोक का तत्त्व इस अध्याय के बीच में स्पष्ट कहा जावेगा ॥

आविर्भावतिरोभावा-वाविष्कर्तुंस्वयंहरिः ।
तत्त्वंपादविवेकार्थं–कर्मयोगंप्रशंसति ॥

इस प्रकार दोनों अध्यायों में भगवान् श्रीकृष्णचंद्र ने कर्म योग का उपदेश करके यह सिद्ध किया है कि इसी उपाय से ज्ञान योग वा उस से मोक्ष साधन होता है । वेदों में भी येही प्रवृत्ति वा निवृत्ति के दोनों मार्ग मुख्य हैं । अब इस अध्याय में ब्रह्मार्पण आदि गुण विधान (श्लोक २४) इत्यादिद्वारा उसी का तत्त्व पदार्थ विवेकादि से स्पष्ट करते हैं । पहिले ३ श्लोकों में यह बताते हैं कि यही उपदेश परम्परासे चलाआता है अतएव अतिप्रशंसनीय है । इस परंपरा के बतलाने का यह हेतु है कि अर्जुन अपने क्षत्रिय धर्म से मुख मोड़ कर युद्धकरना चाहता हो न था, अतएव इस उपदेश से उसे यह सुझाते हैं कि पूर्व काल में अनेक क्षत्रिय राजाओं ने अपने धर्म की रक्षा करते हुए इस योगका अभ्यास किया और मुक्त होगये ॥

श्री भगवानुवाच ॥

इमंविवस्वतेयोगं–प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवेप्राह–मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

अर्थ–हे अर्जुन! (अव्ययम्) अनादि काल से चले आये (इमं योगम्) इस योग वा ज्ञान योग वा उस के साधन कर्म योग को प्रथम (अहम्) मैंने (विवस्वते) आदित्य को (प्रोक्तवान्) उपदेश किया था फिर (विवस्वान्) आदित्य देव

ने अपने पुत्र (मनवे) श्राद्धदेव मनुको (प्राह) बताया फिर (मनुः) श्राद्ध देव मनुजी ने अपने पुत्र (इक्ष्वाकवे) इक्ष्वाकु राजा को (अब्रवीत्) कहा अर्थात् बताया देखो श्रीमद्भागवत स्कंध ८ अध्याय २४ मीनावतार ॥

एवम्परम्पराप्राप्त मिमंराजर्षयोविदुः ।
सकालेनेहमहता योगोनष्टःपरन्तप ! ॥२॥

अर्थ-हे (परन्तप!) शत्रु को ताप देनेवाले अर्जुन (एवम्) इस प्रकार (परम्परा प्राप्तम्) परम्परा से प्राप्त नामचले हुए (इमम्) इस योग को (राजर्षयः) राज ऋषि लोग (विदुः) जानते थे अर्थात् राजा निमि आदि जो राजा होकर भी ऋषि थे उन्हों ने इक्ष्वाकु आदि अपने पितरों से सुन कर इसयोग का अभ्यास किया था परन्तु (महताकालेन) बहुत सा समय व्यतीत हो जाने के कारण काल वशसे (स योगः)वह योग (इह) इस लोक में (नष्टः) नष्ट हो गया अर्थात् कोई उसका जानने वाला नहीं रहा॥

सएवायंमयातेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसिमे सखाचेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

अर्थ-(सएव पुरातनः अयं योगः ; वही पुराना यहयोग जो अज्ञात होगया था (अद्य) आज (मया) मेरे द्वारा (ते) तुझ को (प्रोक्तः) कहा गया है अर्थात् मैंने तुझ को बतलाया है कारण कि (मे भक्तोऽसि) तू मेरा भक्त है (सखा च) वा सखा भी है (इति) इससे मैंने और किसी को नहीं बताया (हि) क्योंकि (एतद्) यह (उत्तमं रहस्यम्) अति उत्तम रहस्य अर्थात् गूढ़ बात है तू ही इस के जानने का पात्र है॥

टीका-"पुरातन" शब्द से भगवान् ने यह सुझाया कि जब सृष्टि उत्पन्न करने के पूर्व भी भगवान् योग निद्रा से जागृत हुए तब ब्रह्म देव को यही योग उपदेश किया था वा

उसी से वेदों की उत्पत्ति हुई। देखो श्रीमद्भागवत स्कन्ध २ अध्याय ९ ॥ तीसरे अध्याय को सुनने से पहिले अर्जुन भी श्रीकृष्ण को परमेश्वर समझता था, अतएव उन को मधुसूदन, केशव, जनार्दन, इत्यादि नाम से बोलता था परंतु जब तीसरे अध्याय में उस ने सुन लिया कि आत्मा ही परमेश्वर है वा यह आत्मा बुद्धि से परे है तब उसे संशय हुआ कि श्रीकृष्ण जी परमेश्वर नहीं हैं। वा गुरू भी ईश्वर नहीं है। इस का मन में जान के अर्जुन ने यह विचार किया कि श्री कृष्ण जी का वा मेरा जन्म तो एक ही दिन हुआ है तो फिर ये श्रीकृष्ण जी सैकड़ों बर्ष पहिले की बात कैसे जान सकते हैं? । इन का आदित्यदेव को देश करना असम्भव दीखता है । ऐसे संशय युक्त हो कर अर्जुन प्रश्न करता है ॥

अर्जुनउवाच ॥

अपरंभवतोजन्म परंजन्मविवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौप्रोक्तवानिति ॥४॥

अर्थ—अहो कृष्ण ! (भवतः) आप का (जन्म) जन्म (अपरम्) इसी ओर का अर्थात द्वापर के अन्त का है वा (विवस्वतः) आदित्य का (जन्म) जन्म (परम्) उस से बहुत पहिले सतयुग का है तो फिर (एतत्) यह (कथम्) कैसे (विजानीयाम्) मैं जानूं। वा समझूं कि हाल के जन्म लेने वाले (त्वम्) तुम ने चिरकाल हुए जन्म लेने वाले आदित्य देव को (आदौ) प्रथम (प्रोक्तवान्) यह योग बतलाया था। (इति) यह जो तुमने कहा सो कैसे हो सकता है ? ॥

इस प्रश्न का उत्तर श्रीभगवान् जी आगे इस अभिप्राय से देते हैं कि मैंने जब वह उपदेश किया तब मेरा और ही रूप था ॥

श्रीभगवानुवाच ॥

बहूनिमेव्यतीतानि जन्मानितवचार्जुन ! ।

तान्यहंवेदसर्वाणि नत्वंवेत्थपरन्तप ! ॥५॥

अर्थ– हे अर्जुन ! (मे) मेरे वा (तव च) तेरे भी (बहूनि) बहुत से (जन्मानि) जन्म (व्यतीतानि) बीतचुके हैं। हे (परन्तप) अर्जुन ! (अहम्) मैं अपनी विद्याशक्ति से जो कभी लोप नहीं होती (तानि सर्वाणि) उन सब जन्मों को (वेद) जानता हूं। परन्तु अविद्या में पड़ा हुआ (त्वम्) तू उन को (न वेत्थ) नहीं जानता ॥

टीका–इस उपदेश से श्रीभगवान्‌जीने यह जताया है कि मैं ईश्वर हूं अतएव भूत भविष्यत् वर्तमान सबको अपनी अनादि विद्या के बल से जानता हूं। इससे अर्जुन को फिर खातिरी हो गई कि श्री कृष्ण जी साक्षात् ईश्वर ही हैं ॥

अब उसे यह शंका हुई कि भला अपने को कर्म वा अविद्या के कारण पुनर्जन्म होते रहते हैं परन्तु श्रीकृष्ण जी जो अनादि अविनाशी पुण्य पाप से रहित साक्षात् ईश्वर हैं वह जीवों के समान क्यों मरते वा पुनर्जन्म लेते रहते होंगे? इस का समाधान आगे के श्लोक में करते हैं ॥

अजोऽपिसन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपिसन्।
प्रकृतिंस्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

अर्थ-(अजः अपि सन्) मैं जन्म शून्य अर्थात् अजन्मा होने पर भी तथा (अव्ययात्मा) अविनाशी होने पर तथा (भूतानाम्) सर्व प्राणियों का (ईश्वरः अपि सन्) कर्मों के वश न होनेवाले ईश्वर होने पर भी (स्वाम्) अपनी शुद्ध सत्त्वात्मिक (प्रकृतिम्) प्रकृति को (अधिष्ठाय) धारण वा अवलंबन करके (आत्ममायया) त्रिगुणात्मक शुद्ध सत्त्व प्रधान माया को अपने अधीन करके अपने ज्ञान बल वीर्यादि शक्ति के द्वारा (संभवामि) अपनी इच्छा से विशुद्ध सत्त्व मूर्ति रूप से अवतार लेता हूं ॥

टीका—निर्गुण ब्रह्म में रहनेवाली शक्ति जगत के उत्पन्न होने से प्रथम प्रगट होती है उस को " आत्ममाया " कहते हैं। इसी के योग से आत्मा का अनुभव होता है, वा यही " अनादि विद्याशक्ति " कही जाती है, इसी माया के आश्रय से श्रीभगवान् जी के अवतार होते हैं, तभी वह सर्वज्ञ होता है पीछे इसी माया से त्रिगुण (सत्त्व, रजस, तमस्,) उत्पन्न होते हैं, सो इन तीनों गुणों से युक्त हो जाने पर वही माया " त्रिगुणात्मक " अविद्या कहाती है। इस अविद्या के प्रगट होने पर उसी से सर्व जीव कोटी उत्पन्न होती है। ये सब जीव अज्ञान से घिरे रहते हैं वा ईश्वर इन सब के परे रहता है वह जीव के समान देहधारी नहीं है, माया मात्र उस का जन्म है वास्तव में वह अज है अब अपने अवतार लेने का प्रयोजन बताते हैं ॥

यदायदाहिधर्मस्य ग्लानिर्भवतिभारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

अर्थ—हे (भारत) अर्जुन ! (यदा यदाहि) जब जब निश्चय प्रकार से (धर्मस्य) धर्म की (ग्लानिः) हानि अर्थात् क्षीणता (भवति) होती है वा (अधर्मस्य) अधर्म की (अभ्युत्थानम्) अधिकता अर्थात् वृद्धि होती है (तदा) तब तब (अहम्) मैं (आत्मानम्) अपने शरीर को (सृजामि) रचता हूं अर्थात् मूर्त्तिमान् अवतार लेता हूं ॥

येही मेरे अवतार के निमित्त हैं। जब मनुष्यों के कल्पित पाखंड मार्गों की वृद्धि होती है तभी मेरे नित्य वा नैमित्तिक अवतार होते हैं अवतार लेके जो काम करता हूं सो कहते हैं॥

(नोट) अनेक लोग कहते हैं कि अब भी धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि भी अधिक हो रही है तो अवतार क्यों नहीं होता? तब समाधान यह है कि इस से भी बहुत कुछ धर्म का नाश

तथा अधर्म का उफान उठेगा उस से अभी बहुत कम है। फिर भी अभी कुछ धर्म बना है अर्थात् धर्म की बहुत बड़ी हानि लेना अभीष्ट है कि जैसी अभी नहीं हुई है ॥ (भी० श०)

परित्राणायसाधूनां विनाशायचदुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युग युगे ॥ ८ ॥

अर्थ-(साधूनाम्) जो लोग स्वधर्म का आचरण करते हैं उन की (परित्राणाय) रक्षा के वास्ते (च) और (दुष्कृताम् दुष्ट कर्म करने वालों के (विनाशाय) नाश करने के वास्ते और इसी प्रकार साधुओं की रक्षा करके वा दुष्टों का बध करके (धर्मसंस्थापनार्थाय) धर्म की स्थापना वा स्थिरता करने के हेतु से (युगे युगे) प्रत्येक युग में जबर आवश्यकता आती है तब तब (संभवामि) मैं उत्पन्न होता हूं ॥

(नोट) युग २ में अपनी प्रकटता कहने से भगवान् का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि प्रत्येक त्रेता में रामावतार होता प्रत्येक द्वापरान्त में कृष्णावतार होता है। इस से जैसे गत द्वापर में कृष्णावतार हुआ वैसे अन्य युगों में भी उस २ नाम रूप के अवतार जानो। इस से इतिहासादि में जहां २ त्रेतादि के समय कृष्णावतार की बात हो वहां उस से पहिली चतुर्युगी के द्वापर में हुए कृष्णावतारका प्रसंग होगा॥ (भी० श०)

टीका इस प्रकार दुष्टों का वध करता हूं इस पर लोग मुझे कठोर कहेंगे ऐसी शंका न लाना चाहिये क्यों कि मैं सब के भले के वास्ते सब काम करता हूं। जैसा नीचे कहा है(लालने ताड़ने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके। तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः) ॥

यह सुन कर अर्जुन ने मन में बिचारा कि परमेश्वर सर्व शक्तिमान् है वा इस के संकल्प मात्र से जगत् उत्पन्न हो सक्ता वा नाश हो सक्ता है तो उसे ऊपर कहे हुए छोटे २ कर्मों के लिये हरदम जन्म लेने की क्या आवश्यकता

है ? यह जान कर भगवान् आगे बताते हैं कि जगत् के कृतार्थ करने को अर्थात् मोक्ष देने के लिये मैं जन्म लेता हूं वा कर्म करता हूं वास्तव में निर्विकार हूं ॥

जन्मकर्म्मचमेदिव्य-मेवंयोवेत्तितत्त्वतः ।
त्यक्त्वादेहंपुनर्जन्म नैतिमामेतिसोऽर्जुन ॥९॥

अर्थ-हे अर्जुन ! (मे जन्म) अपनी इच्छा से लिये हुए मेरे जन्म (च कर्म) और धर्म पालन रूपी कर्म ये दोनों (दिव्यम्) अलौकिक हैं और इन को (यः) जो कोई (एवं त त्त्वतः) इस तत्त्व दृष्टि से (वेत्ति) जानता है कि वे संसार के अनुग्रह के निमित्त ही हैं (सः) वह मनुष्य (देहं त्यक्त्वा) देहाभिमान त्याग के (पुनर्जन्म) इस संसार में फिर से जन्म (न एति) नहीं पाता वा लेता किन्तु (माम् एति) मुझको ही प्राप्त कर लेता है अर्थात् मुझ में मिलजाता है ॥

(नोट) वेद में ईश्वर को अकाय कहा है कि वह काया से रहित है। सो संचित प्रारब्ध कर्म फल भोग के लिये जन्म ने वाला मानुष देह ही वहां काय शब्द का अर्थ है। सो वैसा मानुष लौकिक काय वा देह ईश्वर का नहीं होता इसीं लिये यहां दिव्य नाम अलौकिक जन्म कहा है॥ (भी० श०)

टीका-इस का भाव यह है कि जीवों के उद्धार के लिये ईश्वर का अवतार और चरित्र कहने वा सुनने के समान दू-सरा उपाय नहीं। अतएव भगवान् को अवतार धारण करने पड़ते हैं। ये जन्म वा कर्म अलौकिक होने के कारण उनकी कथा मन को संतोष देती है। वा संसारी व्यथा को दूर करती है वा मुक्ति देती है इस के श्रवण से भगवान् के मूलस्वरूप का ज्ञान होता है। जिस से भगवत् प्राप्ति होती है वा उस ज्ञान से यह समझ पड़ता है कि सब सृष्टि का अ-धिष्ठान निर्गुण ब्रह्म हो कर वह माया के आश्रय से अवतार

मूर्ति का धारण करता है। इसी तत्त्वदृष्टि से अवतार, की कथा, श्रवण, कीर्तन, करने से उस पुरुष का ज्ञान दृढ़ हो कर वह सगुण मुक्ति पाता है, यही तात्पर्य वेदों का है। इस सगुण मुक्ति का विशेष वर्णन १४ वें अध्याय में होगा॥

अब जिस प्रकार भगवत्कर्म वा जन्म के ज्ञान से भगवत प्राप्ति होती है सो आगे कहते हैं॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मयामामुपाश्रिताः।
बहवोज्ञानतपसा पूतामद्भावमागताः॥ १०॥

अर्थ–मैं शुद्ध सत्त्व अवतार लेकर धर्म की पालना करता हूं इस मेरी परम कारुणिकता को जान कर जिन लोगों के (वीतरागभयक्रोधाः) आसक्ति यानी विषयासक्ति, भय वा क्रोध दूर हो गये हैं और इसी कारण जिन के चित्तों में विक्षेप नहीं रहे, उन लोगों को (मन्मयाः) अनन्यभाव से मुझ में चित्त लगाय कर वा (मामुपाश्रिताः) मेरा ही आश्रय लेकर मेरे प्रसाद से जो आत्मज्ञान वा तप प्राप्त हुआ है उन के परिपाक के लिये उन लोगों ने स्वधर्म का आचरण किया है। (ज्ञानतपसा) इस ज्ञान वा तप से वे (पूताः) पवित्र वा शुद्ध हो जाते हैं, वा उन का अज्ञानरूपी मल दूर होजाता है ऐसे (बहवः) बहुत से लोग (मद्भावम् आगताः) मेरे भाव अर्थात् "सायुज्यता" को प्राप्त हो गये हैं। श्रीभगवान् जी कहते हैं कि मैंने यह भक्तिमार्ग कुछ अभी नहीं चलाया है, बल्कि वह पहिले ही से चला आता है॥

टीका–श्रीभगवान् जी के जन्म और कर्म दिव्यरूप जान कर उन का श्रवण कीर्तन करना यही आत्मज्ञानी का तप है यानी विचारशक्ति है इस तप से सर्व पापों का मूल अनादि वासना का नाश होता वा भगवत्पद की प्राप्ति होती है, ज्ञान होने पर मुक्ति होना चाहिये, परन्तु काम क्रोध और भय ये तीनों नहीं होने देते सो ये भी श्रीभग-

वान् जी के जन्म तथा कर्म के भजन से नाश हो जाते हैं। सर्वत्र समदृष्टि अर्थात् सर्वत्र भगवत्स्वरूप देखना भी इसी भजन से होता है, और वही जीवन्मुक्तदशा कहाती है, इसी भजन से चित्त शुद्ध हो कर "आत्मप्रीति" उत्पन्न होती है। यह सब को मालूम है कि इस सृष्टि में जिस २ वस्तु पर अपनी प्रीति होती है वह उस वस्तु के लिये नहीं, बल्कि अपने लिये होती है देखो सब से अपना देह प्यारा है, परन्तु आत्मा उस से भी अधिक प्रिय है। संभावित मनुष्यों की आवरू में कोई धक्का पहुंचा कि वह देह त्याग देता है। अथवा पांव सड़-जाने से अपनी खुशी से उसे कटवा देता है। तो इस से यही सिद्ध हुआ कि अपने को अपने आत्मा से अधिक और कोई प्रिय पदार्थ नहीं। यह आत्मप्रीति भगवद्भजन से अव्यभि-चारिणी हो जाती है। और अनादि कर्म संस्कार से जो विषय वासना रहती है, सो भी इसी भजन से दूर हो जाती है। इस प्रकार जब शुद्ध आत्मा में ज्ञान हुआ तो बुद्धि से अज्ञान अलग हो जाता है॥ तुलसीकृतरामायण में -

दोहा ॥

वारू मथें वरु होय घृत, सिकता तें वरुतेल।
विनु हरिभजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल॥

श्लोक ५ में जो कहा है कि "तान्यहंवेदसर्वाणि" इत्यादि, उस से सिद्ध किया है कि ईश्वर तत्त्वज्ञान वा विद्या युक्त हैं और जीव पदार्थ अविद्यामय है। अब यहां तक यह और दरशा दिया है कि शुद्ध तत्त्व ईश्वर के प्रसाद से जीव का अज्ञान नाश होने पर वह भी शुद्ध सत्त्व का अंश होने के का-रण उसी में मिल जाता है॥

यह सुनकर अर्जुन को यह शंका हुई कि जब ईश्वर अपने शरणागतों को ही आत्मभाव देता है वा सकाम भक्तों को नहीं देता तो ईश्वर में भी विषमता हुई। वह निर्गुणोपासक

ज्ञानियों को उतनी मदद नहीं देता, जितनी सगुण भक्तों को देता है इसका समाधान आगे करते हैं ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

अर्थ—हे (पार्थ) अर्जुन ! (यथा) जिस प्रकार से अर्थात् सकाम किंवा निष्काम होकर (ये) जो लोग (मां प्रपद्यन्ते) मुझे भजते हैं (तान्) उनको (तथा एव) उसी प्रकार से (अहं भजामि) मैं अनुग्रह करता हूं अर्थात् जो फल वे चाहते हैं वही देता हूं । जो सकाम भाव से इन्द्रादिक देवतों को भजते हैं उनको अपेक्षित फलदाता भी मैं ही हूं क्योंकि इन्द्रादिक देवतों के सेवक (मनुष्याः) मनुष्य भी (सर्वशः) सब प्रकार से (मम वर्त्म) मेरे ही भजन मार्ग के (अनुवर्तन्ते) अनुगामी होते हैं अर्थात् इन्द्रादि रूप से मेरा ही भजन वा सेवन करते हैं ॥

टीका—जैसे सुवर्ण की मूर्ति बनाओ तो दोनों एकही रूप होते हैं तैसे ही निर्गुण वा सगुण एक ही रूप हैं अंतर इतना ही है कि निर्गुण सर्व धर्म रहित है वा सगुण भगवन्त का स्वभाव कल्पवृक्ष सरीखा है । वह अपने उपासकों को इच्छित फल दे सकता है, परंतु निर्गुण धर्म रहित होने के कारण जो लोग केवल उसी रूप से उसकी उपासना करते हैं उनको वह कुछ फल नहीं दे सकता, और ऐसे उपासकों की सहायता भला सगुण भगवान् क्यों करने चलें ? वे तो अपने उपासकों ही के विघ्ननाश करके उन्हें उत्तम बुद्धि देते हैं । उस बुद्धि द्वारा इन लोगों की अविद्या नाश होकर जड़ भ्रान्ति दूर होती है यह तत्त्व विस्तार पूर्वक १० वें अध्याय में कहेंगे ॥

योगाभ्यास के समय मनको जय वा विक्षेप होते हैं क्योंकि इन्द्रियों के देवता उस समय विषय भाव दिखाकर सदैव विघ्न

उठाते हैं। निर्गुणोपासक लोगों को अपने ही अभ्यास वा वैराग्य बल से दूर करने पड़ते हैं। परन्तु सगुण ब्रह्म अपनी कृपालुता से अपने भक्तों के इन सब विघ्नों को बिना प्रयास दूर कर देते हैं। वा प्रारब्ध भोग करा के उनकी इन्द्रियां उनके वश में कर देते हैं। निर्गुणोपासक सगुणोपासना का फल नहीं मांगते। इससे कल्पवृक्ष रूपी सगुण भगवन्त उनको वह फल नहीं दे सकते क्योंकि बिना मांगे कोई किसी को नहीं देता यहां तक कि माता बच्चे को भी दूध नहीं पिलाती, निर्गुणोपासना वा सगुणोपासना ये दोनों मार्ग भगवत्प्राप्ति के हैं। इनमें से किसी भी मार्ग से जो चले उसी को इस श्लोक में "मनुष्य,, कहा है दोनों मार्ग के गुण दोष भी ऊपर बतलाये हैं। अब जिसे जो प्रिय हो सो करे, भगवद्भजन ही सार है, उसी से श्रीचरणाम्बुजों में एकाग्र चित्त होकर मुक्ति मिलती है।

जब यही बात है तो सर्व लोग केवल मोक्ष प्राप्त करने ही को सगुण का भजन क्यों नहीं करते? इस का कारण आगे कहते हैं॥

काङ्क्षन्तःकर्म्मणांसिद्धिं यजन्तइहदेवताः।
क्षिप्रंहिमानुषेलोके सिद्धिर्भवतिकर्मजा ॥ १२ ॥

अर्थ-(इह) इस मृत्यु लोक में (कर्म्मणां सिद्धिम्) कर्मों की सिद्धि वा फलको (काङ्क्षन्तः) इच्छा करनेवाले मनुष्य साक्षात् मुझ ईश्वर को छोड़ कर (देवताः) इंद्रादिक देवतों की (यजन्ते) सेवा पूजा करते हैं (हि) क्योंकि (मानुषे लोके) इस मनुष्य लोक में (कर्मजा सिद्धिः) कर्मों की सिद्धि वा फल (क्षिप्रं भवति) शीघ्र ही हो जाता है। पर ज्ञान प्राप्त होना कठिन होने के कारण उस ज्ञान का फल जो मोक्ष है सो जल्दी नहीं मिल सकता, अतएव उसमें सबकी निष्ठा नहीं होती॥

टीका-श्लोक ११ में यह कह चुके हैं कि सगुण भजने वालों को सगुण मोक्ष या निर्गुण वालों को निर्गुण मोक्ष भजन के अनुसार ईश्वर देता है, परन्तु कर्म सिद्धि की लालसा से

जो इतर देवतों का भजन करते हैं उन का कर्मानुसार सिद्धि भी वही देता है। परन्तु यह सब अनित्य हैं इन को त्यागने से परमपद की प्राप्ति होती है॥

अब आगे भगवान् यह बतलाते हैं कि यद्यपि मैं सकाम वा निष्काम कर्म के भेदानुसार ब्राह्मणादि उत्तम मध्यमादि उन कर्मों के कर्ता इस सृष्टि में रचता हूं। तो भी मुझ में कोई प्रकार की विषमता नहीं आती॥

चातुर्वर्ण्यंमयासृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्यकर्तारमपिमां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्॥१३॥

अर्थ—ब्राह्मण सत्त्व प्रधान हैं, उन के कर्म शमदमादि हैं सत्त्व वा रजस् प्रधान क्षत्रिय हैं उन के कर्म शूरत्वयुद्धादि हैं, वैश्य रजस् वा तमस् प्रधान हैं उन के कर्म कृषि वाणिज्यादि हैं। शूद्र तमस् प्रधान हैं उन के कर्म तीनों वर्णों की सेवादि हैं। इस प्रकार (गुणकर्मविभागशः) गुण वा कर्मों के विभाग के अनुसार (चातुर्वर्ण्यम्) ये चारों वर्ण (मया सृष्टम्) मैं ने ही बनाये हैं यह सत्य है तथापि (तस्य कर्तारम् अपि) उनका कर्ता वा बनाने वाला भी होने पर (माम्) मुझको (अकर्तारम्, विद्धि) वास्तव में अकर्ता ही जान क्योंकि (अव्ययम्) मेरी उन में आसक्ति नहीं। अतएव मैं श्रम रहित हूं वा निर्विकार भी हूं केवल माया ही उनका कर्ता समझना चाहिये॥

टीका—भगवान् ने अपने को अकर्ता कहा सो उसका भाव यह है कि सब "कर्तापन" "माया" का है। सर्व जड़ जगत् माया मय है और भगवन्त स्वतः अकर्ता वा अव्यय हैं केवल उनकी सत्ता सर्व जगह व्याप रही है जैसे जीभ अपने (आत्मा) के बिना नहीं बोल सकती परन्तु अपने (आत्मा) की सत्ता से या हुक्म से वही जीभ शब्दों का उच्चारण करती है॥

"आत्मा" इन्द्रियों के बिना रह सकता है। परन्तु आत्मा की सत्ता बिना इन्द्रियां न तो रह सकतीं और न कार्य

कर सकतीं हैं इसी प्रमाण से ईश्वर कर्त्ता भी होकर अकर्त्ता है। उस की सत्ता है इस से उस को कर्त्ता कह सक्ते है परंतु प्रत्यक्ष कर्ता "माया" है जैसे राजा अपने मंदिर से हुकुम देता है वा सिपाही तामील करते हैं। तो राजा प्रत्यक्ष में कुछ नहीं करता परन्तु हुकुम वा सत्ता उसी की है, इसी प्रकार "सत्ता" ईश्वर की वा तामील माया की है॥ भगवान् की जो सृष्टि रचने की इच्छा वही त्रिगुण माया है इसी त्रिगुण माया को सृष्टि रचने का स्मरण भगवान् की सत्ता से होता है जैसे लोहा विना चुंबक के हल चल नहीं सकता यह सृष्टि की उत्पत्ति सदैव अनादि माया के प्रवाह से हुआ करता है। अतएव चारों वर्ण रचने पर भी ईश्वर अकर्ता है॥

यह माया भी सृष्टि के पहिले ब्रह्म से उत्पन्न होती उस की सत्ता से रहती वा प्रलय होने से उसी में लय हो जातीहै। इस से ईश्वर की न उत्पत्ति और न लय है इसी से वह अव्ययहै॥

इसी उपदेश को दृढ़ करने के लिये अन्य प्रकार से आगे कहते हैं॥

नमांकर्माणिलिम्पन्ति नमेकर्मफलेस्पृहा।
इतिमांयोभिजानाति कर्मभि र्नस बध्यते ॥१४॥

अर्थ—विश्व सृष्टि आदि (कर्माणि) सर्व कर्म (माम्) मुझे (न लिम्पन्ति) आसक्त नहीं करते क्योंकि मैं अहंकार रहित हूं अतएव उन में लिप्त नहीं होता पुनः मैं आप्त काम हूं अतएव (कर्मफले) कर्मों के फल में (मे) मेरी (स्पृहा) इच्छा (न)नहीं होती इसकारण मैं और भी कर्म में लिप्त नहीं होता (इति) इस प्रकार कर्म लेप रहित (यः) जो कोई (माम्) मुझे (अभिजानाति) जानता है, (सः) सो (कर्मभिः) कर्मों के द्वारा (न बध्यते) नहीं बांधा जाता अर्थात् उस

के कर्म बंधक नहीं होते क्योंकि वह मुझे निर्लेप निराकार वा निस्पृह देखता है, अतएव वह भी अहंकारादि रहित हो जाता है॥

टीका—१३ वें श्लोक में श्रीभगवान् जी ने यह बताया है कि चारो वर्णों की विषम सृष्टि उत्पन्न करने पर भी मुझ में कोई विषमता नहीं आती, अतएव मैं अकर्ता हूं यह शक्ति सर्व जीव कोटी में भी है, परन्तु अहंकार (मैं कर्ता हूं) के कारण जीवों को कर्म के फल भोगना पड़ते हैं। यह अहंकाररूपी उपाधि दूर कर देने से फल की इच्छा जाती रहती है। परन्तु यह अहंकार त्याग भी दिया तो भी अनादि अविद्या के कारण वासना बनी रहती है। उस से फल की इच्छा उत्पन्न होती है, इसी से गया हुआ अहंकार फिर आ जाता है इसलिये उस अविद्या को श्रीभगवान् जी के दिव्य जन्म कर्म जान कर, उन का भजन करके दूर करना चाहिये। विद्या ईश्वर की उपाधि है, अतएव उसे अहंकार वा कर्म फलेच्छा नहीं, इसी से कर्म बंध भी नहीं, सो उसी के भजन से उस में जीव होवे तब अविद्या जीव वा ईश्वर के गुण प्राप्त होवें॥

"ये यथामां प्रपद्यन्ते" इत्यादि ११ वें श्लोक से ले कर १४ वें श्लोक तक श्रीभगवान् जी ने यह सिद्ध किया है कि ईश्वर में कोई विषमता नहीं है। अब आगे फिर से उसी पूर्व के कर्म योग का स्मरण कराते हैं॥

एवंज्ञात्वाकृतंकर्म पूर्वैरपिमुमुक्षुभिः।
कुरुकर्मैवतस्मात्त्वं पूर्वैःपूर्वतरंकृतम् ॥ १५ ॥

अर्थ—इस प्रकार अहंकारादि रहित कृत कर्म बंधक नहीं होते (एवम्) ऐसा (ज्ञात्वा) जान कर (पूर्वैः) पहिले के जनकादि (मुमुक्षुभिः) मोक्ष चाहने वालों ने (अपि) भी (कर्म कृतम्) कर्म किये हैं, इन (पूर्वैः) प्राचीन लोगों ने (पूर्वतरम्) युगान्तर में भी ऐसा ही कर्म (कृतम्) किया है

(तस्मात्) तिस कारण से (त्वम्) तू भी (कर्मैव कुरु) वैसा ही कर्म अवश्य कर ॥

(टीका)-ऐसा अहंकार रहित कर्म करके ईश्वर को समर्पण करना यही प्रथम भागवतधर्म है। इस से मुमुक्षु के चित्त की शुद्धि हो कर वह ब्रह्मप्राप्ति के योग्य होता है। ऊपर कहे अनुसार ईश्वर को सम (विषमता रहित) अथवा निर्दोष जान कर उसे कर्म समर्पण करना इसी को "भक्तियोग" कहते हैं। यह ज्ञान प्राप्ति के पहिले होना चाहिये। वा जब ज्ञान प्राप्त हो गया तब ऐसा भक्तियोग का अभ्यास चाहिये कि सर्व विश्व सगुण ब्रह्म है। पहिले के सैकड़ों लोगों ने ऐसा ही भक्तियोग करके ज्ञान और तदनन्तर मोक्ष पाया है॥

अब आगे यह कहते हैं कि तत्ववेत्ताओं को ऐसा कर्म बड़े बिचार से करना चाहिये। केवल लौकिक परम्परा को ही देख कर न चलना चाहिये। क्योंकि कर्म क्या है? तथा अकर्म क्या है? यह समझना बड़ा कठिन है॥

किंकर्म्मकिमकर्मेति कवयोऽप्यत्रमोहिताः।
तत्तेकर्मप्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामोक्ष्यसेऽशुभात्॥१६॥

अर्थ-(किं कर्म) किस प्रकार कौन कर्म करना चाहिये (किम् अकर्म) किस प्रकार का कर्म न करना चाहिये। (इति) यह ऐसा विषय है कि (अत्र) इस में संसार के (कवयः अपि) बड़े २ विवेकी लोगों को भी (मोहिताः) भ्रम हो चुका है तिस कारण से (ते) तुझ को (तत् कर्म) वह २ कर्म वा अकर्म भी (प्रवक्ष्यामि) बताता हूं (यत्) जिस को (ज्ञात्वा) जानने वा अनुष्ठान करने से (अशुभात्) संसार के अशुभ बन्धों से (मोक्ष्यसे) तू मुक्त हो जावेगा॥

(टीका)-तब अर्जुन के मन में यह शंका हुई कि पूर्वमीमांसावालों के नियमानुसार मैं भी तो स्नान, संध्या, जाप,

पूजा, साधुसेवादि कर्म करता हूं तो फिर कर्म करने में और क्या विचित्रता वा विशेषता होगी जो भगवान् मुझे वारम्वार कर्म करने को कहते हैं। इसी शंका के समाधान में श्रीकृष्ण जी ने यह श्लोक कहा है कि कर्म का स्वरूप जानना बड़ा कठिन है। केवल प्रसिद्ध परम्परा के अनुसार कर्म करना मुक्ति का हेतु नहीं, किन्तु विद्वान् ज्ञानी जैसा उपदेश करें वैसा करना चाहिये, परंतु इस विषय में उन को भी भ्रम हो जाता है॥

दृष्टान्त-जैसे कोई दवाई गरमी को दूर करती है, इतना जान लेने पर भी उस के खाने की रीति तौल समय इत्यादि किसी बुद्धिमान् वैद्य से पूछ लेना अवश्य है सब लोग जानते हैं कि कोई दवाई किसी देश में गुण वा किसी में औगुण करती है अतएव उस का काल वस्तु फल अनुपानादि जान लेना अवश्य है। इसीप्रकार कर्मों की भी व्यवस्था है। केवल शास्त्र के पढ़ने वा सुनने से यथार्थ ज्ञान नहीं होता। देश, काल, वस्तु, विचार इत्यादि बताना गुरू का काम है। इसीलिये कहा है कि बिना गुरु के सर्व धर्म कर्म निष्फल हैं। परंतु गुरू भी सत्पुरुष होना चाहिये। जैसा कहा है कि "गुरू कीजे जान, पानी पीजै छान,, नहीं तो फिर वही बात होती है कि "जैसे गुरु वैसे चेला, दोनों नर्क में ठेलम ठेला" लोकाचार के अनुसार देहादि व्यापार सम्बन्धी जो कार्य हैं। उन्हीं को कर्म कहते हैं, वा जो इन व्यापारों से शून्य हैं उन को अकर्म कहते हैं। परन्तु वास्तविक में क्या है इस के विचार करने में विवेकी लोगों को भी मोह प्राप्त हो गया है सो इस को श्रीभगवान् जी आगे स्पष्ट कहते हैं॥

कर्मणोह्यपिबोद्धव्यं बोद्धव्यंचविकर्मण:।
अकर्मणश्चबोद्धव्यं गहनाकर्मणोगति: ॥ १७ ॥

अर्थ-(कर्मणः हि अपि) विहित व्यापार का भी तत्व

(बोद्धव्यम्) जान लेना योग्य है, केवल लोक प्रसिद्धिमात्र पर भेड़ की जैसी चाल न चल देना चाहिये। (विकर्मणः) अविहित व्यापार का तत्त्व भी (बोद्धव्यम्) जान लेना चाहिये। और (अकर्मणः च) कुछ व्यापार न करने का भी तत्त्व (बोद्धव्यम्) जान लेना चाहिये क्योंकि इन तीनों (कर्मणः) कर्मों की (गतिः) तत्त्व (गहना) बड़ा कठिन है वह जल्दी समझ में नहीं आता ॥

टीका—वेद विहित कर्म करने को "कर्म" कहते हैं, जिन को वेद ने निषेध किया है उन का करना "विकर्म" है और वेद विहित कर्म न करने को "अकर्म" कहते हैं इन तीनों क्रियाओं में कर्म किया जाता है। परन्तु इन का असल तत्त्व जानना अवश्य है। विहित अर्थात् नित्य कर्म का कोई विशेष फल नहीं, तथापि इस का फल पितृलोक ही है। जो कर्म ईश्वर को अर्पण न किया जावे वह वा "विकर्म" वा "अकर्म" ये तीनों बंधक होते हैं। अतएव कर्म का तत्त्व गहन अर्थात् गंभीर कहा है ॥

इस कर्म रूपी गहिरे पानी में जो डूबा उस को वहांसे उछलना कठिन है। केवल फल भोग कर छूटने को असल छुटकारा नहीं कह सकते। जैसे किसी के हाथ पांव बांधे जावें और वह उन को तोड़ कर छूट जावे तो वह छूटना ठीक नहीं वल्कि जो अपने बंधन को तोड़ कर छूटे उस का सच्चा छूटना है। इसी प्रकार गहिरे पानी में डूब कर भी जो सजीव निकल आवे वह ठीक है, नहीं तो मुरदा होकर पानी पर तैरने ही लगता है तो यह निकलना किस काम का, अतएव सच्चा कर्म तत्त्व वही है जिस से बंधन से छूट जावे॥ इसको भगवान् आगे कहतेहैं ॥

कर्मण्यकर्मयःपश्येदकर्मणिचकर्मयः ।
सबुद्धिमान्मनुष्येषु संयुक्तःकृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

अर्थ-(यः) जो मनुष्य ज्ञान प्राप्त करके अपना बंध छुटा लेता है वा (कर्मणि) वेदोक्त विहित कर्म करते हुए भी उस का फल नहीं चाह कर (अकर्म) यह कर्म ही नहीं हुआ,या विना किये हुए के समान (पश्येत्) मानता है और (यः) जो (अकर्मणि च) वेद विहित कर्म के न करने को ही उस से प्रत्यवाय दोष उत्पन्न होकर बंधन हो जाने के कारण (कर्म) कर्म मान लेता है (सः) वह पुरुष (मनुष्येषु) कर्म करने वाले सब मनुष्यों में (बुद्धिमान्) बड़ा बुद्धिमान् कहा जाता है क्योंकि उस की बुद्धि "व्यवसायात्मिका,,(देखो श्लोक४१ अ० २) हो जाती है, अतएव वह सबसे श्रेष्ठ गिना जाता है पुनः(सः) वही मनुष्य उस कर्म से ज्ञान प्राप्त करने के हेतु (युक्तः) योगी कहा जाता है और वही (कृत्स्नकर्मकृत्) सर्व कर्मों का कर्ता भी कहा जाता है क्योंकि वह सर्व कर्मों का एक प्रकार से बड़ा जलाशय हो जाता है तथा सर्व कर्म फल भी उनके अंतर्गत रहते हैं ॥

नोट-इस का अर्थ यों भी लग सकता है कि तत्वज्ञान सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्त से वा पारमार्थिक विचार से (सर्वं सर्वात्मकम्) सभी सर्व रूप है। व्यवहार कोटि में लौकिक विचार से भोग्य भोक्ता, भिन्न २ हैं। परन्तु परमार्थ बुद्धि से भोग्य भोक्ता एक ही हैं। क्योंकि जो खाया जाय वह भाग्य अन्न है तो मनुष्यादि का शरीर जो खाने वाला है वह भी खाया ही जाता है। अन्त में पृथिव्यादि तत्व शरीरों को खालेते हैं। अग्नि जल भिन्न २ हैं पर जल में भी अग्नि तथा अग्नि में भी जल है। इसी से जल भी अग्नि और अग्नि भी जलहै। अर्थात् जो जिस का विरोधी है वह भी उसी के पेट में है जैसे सुख में दुःख और दुःख में भी सुख है। इसी कारण सुख साधन करते२ ही दुःखआ जाता है और दुःख से तो प्रत्यक्ष सुख दीखता ही है। जैसे अधिक क्षुधा लगने के दुःख को स-

हने वाला ही अन्न के स्वाद जन्यसुख का अनुभव कर पाता है। घाम से अलिप्त हुए को ही छाया का सुख मिलता है। इसी के अनुसार कर्म में भी अकर्म नाम कर्म के विरोधी अंश को ज्ञान दृष्टि से देखे और अकर्म में उसके विरोधी कर्म को देखे तो जैसे सुख में दुःख को देखने वाला हर्ष में व्याकुल नहीं होता और दुःख में सुख को देखने वाला भी शोक सागर में नहीं डूबता वैसे ही कर्म में अकर्म देखने वाला भी कर्माहंकार से लिप्त नहीं होता और अकर्म में कर्म देखने से कुछ न किये का शोक नहीं दबाता इसी से वह बुद्धिमान् नाम मनुष्यों में ज्ञानी है तथा कुछ न करे तो भी सब कुछ करने वाला है॥

अथवा यों समझो कि हम लोग संसार में जो कुछ करते हैं उस की निगरानी करें। जैसे किसी ने घर नाम बड़ा भारी महल बनवाया लाखों रुपया खर्च किया, हमारा महल ऐसा २ उत्तम है इत्यादि प्रकार का अहंकार हुआ। अब शोचो कि घर क्या है? ईंट, मट्टी, पत्थरादि नाम रूप पार्थिव विकार पृथिवी के पृथिवी में ही हैं, उन को इधर से उधर लौट पौट कर लिया, कमरों के भीतर कल्पनामात्र घेरे हुए मठाकाश का नाम घर मान लिया गया, आकाश विभु व्यापक अखंड है। उस के खण्ड हो नहीं सकते "व्योमहु घेर लियो घर नाम से, शोचो तो ताको न कोई घिरैय्या। खण्ड अखण्ड के होंहि न कैसेहुं, भीति न काट सकै अंगनैय्या। तबहूं अपने २ घर को, भिन्न मानत हैं सब लोग लुगय्या।„ सारांश यह कि घर बनाना रूप कर्म कुछ भी न ठहरने से कर्म में अकर्म देखना हुआ। और यदि किसी प्रकार कर्म कुछ ठहर सकता है तो जो लोग कहते मानते हैं कि हम ने सब काम छोड़ दिये हम तो कुछ भी नहीं करते वे भी कुछ अवश्य करते हैं स्वाभाविक स्थूल सूक्ष्म कर्म किये विना कोई बच ही नहीं सकता ऐसा विचार अकर्म में कर्म देखना कहा

जायगा। इस श्लोक से यह भी सूचित होता है कि परस्पर विरुद्ध दो वस्तुओं वा विषयों में से एक को दूसरे में सूक्ष्म दृष्टि से देखना बुद्धिमान् वा ज्ञानी पुरुष का एक चिन्ह वा लक्षण है॥ (भी० श०)

टीका–अध्याय ३ के ४ श्लोक में "नकर्मणामनारंभात्, इ-त्यादि उपदेश से कर्मयोग की अवस्था पर चढ़ने की इच्छा करने वालों को मार्ग बताया, और कर्मयोग को श्रेष्ठ कहा है उसी उपदेश को यहां फिर से दृढ़ किया है इस से यह पुन-रुक्ति दोष नहीं हुआ। पुनः अध्यायः ३ के श्लोक १७ में "य-स्त्वात्मरति०" इत्यादि वाक्यों से योगारूढ़ अवस्था में कर्म करने की आवश्यकता दिखाई सो भी इसी मार्ग को दृढ़ क-रने को थी, तो इस श्लोक से यही सिद्ध हुआ कि जब कर्म पर चढ़ने की इच्छा करने वालों को कर्म बंधक नहीं होता, तो फिर जो चढ़ चुके उनको कर्म बन्ध कहांसे हो सकता है?॥

इस श्लोक का अर्थ दूसरा यह भी हो सकता है कि (कर्मणि) देहेन्द्रियादि के व्यापारों में वर्तमान होने पर भी अपने आत्मा को देहादि से स्वाभाविक अलहदा (अकर्म) अर्थात् कुछ व्यापार (कर्म) न करते हुए को (यः पश्येत्) जो समझता है तथा (अकर्मणि च) ज्ञान रहित होने से दु-खी हो कर जो (कर्म) कर्मों के त्याग को ही कर्म समझ लेता है अर्थात् वह प्रयत्न करे तो उसे ज्ञान प्राप्त हो सकता है प-रन्तु विना प्रयत्न किये यही मान लेता है कि कर्म से भी तो ज्ञान नहीं मिलता और केवल दिखाने को इन्द्रियां रोकने पड़ती हैं। अतएव कर्म ही त्याग देना ठीक है जैसा कि अ०३ के श्लोक ६ में (कर्मेन्द्रियाणि संयम्य) कहा है, कि ऐसा मनुष्य सब में श्रेष्ठ वा बुद्धिमान् गिना जाता है,। क्योंकि आप ही आप प्राप्त हुए आहारादि सर्व कर्म करता हुआ भी वह मुक्त रहता है अर्थात् आत्मज्ञान से समाधिस्थ के

समान अपने को अकर्ता मानता रहता है। इसी से "विकर्म" का तत्त्व भी निरूपण हो गया अर्थात् आपही आप आये हुए विधि निषेध पदार्थ को ज्ञानी तो अकर्ता के भाव से उसमें आसक्त न होकर भोग लेता है। सो उसे दोष नहीं लगता परंतु अज्ञ मनुष्य उस में आसक्त हो जाता है इसी से उसे दोष लगते हैं॥

सारांश यह कि ज्ञान अवस्था में आत्मा को अकर्ता समझने में तो कोई संदेह ही नहीं परंतु अज्ञान अवस्था में भी आत्मा को अकर्ता जानना योग्य है। अर्थात् कर्म करते समय भी आत्मा को निर्विकार वा अकर्ता जानते रहें। और जब तक ज्ञान न हो तब तक निष्काम वा संग और आसक्ति रहित होकर कर्माचरण करता जावे। क्योंकि ज्ञान प्राप्त होजाने पर ज्ञानी की दृष्टि में कर्म विकर्म वा अकर्म सब एक समान हो जाते हैं॥

श्लोक १५ के टीका में कह आए हैं कि तीनों कर्म बंधक होते हैं। तो यह शंका होती है कि कर्म समर्पण से खाली अभी के कृत कर्मों का बंध छूटता है परंतु संचित कर्म कैसे छूटें? इसका समाधान यह है कि इस प्रकार भागवत धर्माचरण करने से सगुण ईश्वर प्रसन्न होकर गुरू रूप से ज्ञान देता है। उस ज्ञानाग्नि से संचित कर्म जल जाते हैं॥

निर्गुणोपासकों के संचित का नाश कैसे होता है? सो आगे कहते हैं और "कर्मण्यकर्म यःपश्येत्" इस से जो श्रुति के अर्थों में आपत्ति आती थी उसके दो प्रकार के अर्थ बताये उस को भी आगे के ५ श्लोकों में स्पष्ट करते हैं—

यस्यसर्वेसमारम्भाःकामसंकल्पवर्जिताः
ज्ञानाऽग्निदग्धकर्माणं तमाहुःपण्डितंबुधाः॥१९॥

अर्थ—(यस्य) जिस मनुष्य के (सर्वे समारम्भाः) सर्व

उद्योग वा कर्म (कामसंकल्पवर्जिताः) काम अर्थात् फल की इच्छा रहित होते हैं, वा संकल्प हीन भी होते हैं, वा ऐसे ही निष्काम कर्मों से जिसका चित्त शुद्ध होकर वा ज्ञान प्राप्त होकर (ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्) उस ज्ञानरूपी अग्नि से कर्म जल जाते हैं। अर्थात् कृत कर्म भी बिना किये के समान हो जाते हैं। (बुधाः) ज्ञाता लोग (तम्) उस मनुष्य को (पण्डितम्) पंडित (आहुः) कहते हैं ज्ञानारूढ़ अवस्था में भी काम अर्थात् फलेच्छा बनी रहती है वा उसी के निमित्त ऐसा करना चाहिये वैसा करना चाहिये, इस प्रकार के विचारोंको संकल्प कहते हैं। और उक्त ज्ञानी को ये संकल्प नहीं रहते॥

टीका-जिसने इस प्रकार अपने ज्ञान के तेज से संचित और क्रियमाण कर्म जला दिये उसको सर्व समारंभ अर्थात् देहादि निर्वाह संबंधी कर्म इत्यादिक में भी कामना वा संकल्प नहीं रहते। खाने को मिला तो खाया नहीं तो नहीं, खाते पीते बैठते सोते कोई भी काल में उसे संकल्प नहीं रहते। और जब कोई इच्छा ही नहीं रही तो संकल्प क्यों होंगे ?। ज्ञानी का भी प्रारब्ध बना ही रहता है। अतएव सब ज्ञानियों की स्थिति एकसी नहीं रह सकती। अब आगे अन्य प्रकार की स्थितिवाले ज्ञानी का वर्णन करते हैं—

त्यक्त्वाकर्मफलासंगं नित्यतृप्तोनिराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैवकिंचित्करोतिसः ॥२०॥

अर्थ-(कर्मफलासंगम्) कर्म में वा उस के फल में आसक्ति को (त्यक्त्वा) त्याग के यह ज्ञानी (नित्यतृप्तः) अपने आत्मा के आनंद में नित्य संतुष्ट रहता है। अतएव योग क्षेमादि अर्थों का (निराश्रयः) आश्रय नहीं लेता इस प्रकार की अवस्था में रह कर (सः) वह स्वाभाविक तथा विहित (कर्मणि) कर्मोंमें (अभिप्रवृत्तःअपि) प्रवृत्त होने पर भी (किंचित्)

कुछ भी कर्म (नैव करोति) नहीं करता अर्थात् उसके सर्व कर्म अकर्मता को प्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि वह समझता है कि इन कर्मों में आत्मा का लेशमात्र भी संबंध नहीं है ॥

टीका—ऐसा ज्ञानी विषय सुख की इच्छा वा अहंपन त्याग के सब कर्म करता है। अतएव वह सदैव आत्म सुख में तृप्त रह कर यही समझता है कि हम किसी के आश्रित न होकर सब जगत् हमारा आत्मा वा हमारा आश्रित है वह देह निर्वाह के हेतु मात्र कर्म करता हुआ भी ऐसा समझ जाता है, मानो कुछ नहीं करता ॥

श्लोक १९ में वह ज्ञानी कहा है। जो देह निर्वाह की भी चिंता नहीं करता, वह ज्ञानी आत्मसुख में मग्न रहता है। और उसे भूख में भोजन की इच्छा होती तो है। परन्तु वह उस इच्छा के बंधन में नहीं पड़ता, यह आगे कहते हैं—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरंकेवलंकर्म कुर्वन्नाप्नोतिकिल्विषम् ॥ २१॥

अर्थ-(निराशीः) जिस की सर्व कामनायें दूर हो गई हैं (यतचित्तात्मा) जिस के चित्त वा आत्मा अर्थात् शरीर स्वाधीन हो गये हैं, (त्यक्तसर्वपरिग्रहः) जिस ने स्त्री पुत्रादि कुटुम्ब को त्याग दिया है, वह मनुष्य (केवलं शारीरम्) केवल शरीर मात्र निर्वाह के हेतु (कर्म कुर्वन्) कर्म करते रहने से वा कर्त्ता का अहंकार न राखने से (किल्विषम्) कोई पाप वा वंधन को (न आप्नोति) प्राप्त नहीं होता क्योंकि वह योगारूढ़ अवस्था को प्राप्त हो गया है वा केवल शरीर रक्षा के हेतु स्वाभाविक भिक्षाटनादिक कर्म करता है उसे विहित कर्म न करने के निमित्त कोई दोष नहीं लगता ॥

(नोट)—अप्राप्त की प्राप्ति योग तथा प्राप्त की रक्षा क्षेम कहाती है। इसी योग क्षेम को योगशास्त्र में परिग्रह माना

है। यह योगक्षेम भोगोत्कण्ठा के विचार से होता है। इसीसे स्त्री पुत्रादि का त्याग कर शिर मुड़ा के और गेरूआ वस्त्र पहन के भी अनेक लोग योगक्षेम के लालच में फंसते हैं॥ (भी०ग्र०)

टीका–जैसे माटी की भीत्ति को माटी से लीपते हैं तैसे ही यह कर्म का देह कर्म ही से निर्वाह होता है। क्षुधा तृषा की शांति के निमित्त अन्न जल अवश्य चाहिये, क्योंकि क्षुधादि बाधाओं से विकल चित्त चंचल हो जाता है और आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं रहता, अतएव ज्ञानी पुरुष विषयवासना त्याग के केवल शरीर निर्वाह के हेतु कर्म करता है, वा उस से उस को बंधन नहीं होता। अब आगे कहते हैं कि कुटुम्ब वत्सल ज्ञानी पुरुष को भी कृत कर्म का बंध नहीं होता॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतोविमत्सरः।
समःसिद्धावसिद्धौच कृत्वापिननिबध्यते॥ २२॥

अर्थ–विना मांगे जो लाभ हो जाता है उस (यदृच्छालाभसंतुष्टः) विना यत्न किये हुए लाभ से जो संतुष्ट रहता है तथा जो (द्वन्द्वातीतः) शीतोष्ण आदि मानापमानादि को सहन कर लेता है। (अध्या० २ श्लोक १४। ३८) जो (विमत्सरः) वैरभाव रहित हो जाता है (च) और जो (सिद्धौ असिद्धौ समः) यदृच्छालाभ, कर्म की सिद्धि और असिद्धि को एक समान मान कर सिद्धि में हर्ष तथा असिद्धि में विषाद नहीं मानता है ऐसा ज्ञानी पुरुष (कृत्वा अपि) स्वाभाविक और विहित कर्म करके भी (न निबध्यते) बंधन को प्राप्त नहीं होता। जितना वस्तु कुटुम्ब पोषण के वास्ते अनायास मिल जावे परन्तु वह पूरा न हो तो उतने के लिये अन्य यत्न करने में कोई दोष नहीं है॥

टीका–इन चारों श्लोकों में यह सिद्ध किया गया कि इस प्रकार वर्तने से निर्गुणोपासक ज्ञानी भी अपने संचित

पापों का नाश कर देता है तथा क्रियमाण कर्मों में भी लिप्त नहीं होता ॥

अब आगे केवल सगुण उपासक ज्ञानी भक्त की स्थिति कहते हैं—

गतसंगस्यमुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतःकर्म समग्रंप्रविलीयते ॥ २३ ॥

र्थ–(गतसंगस्य) जिसकी सब" संग" अर्थात् कामनायें दूर हो गई हैं, (मुक्तस्य) जो रागादि से मुक्त हो गया है, (ज्ञानावस्थितचेतसः) जिसका ज्ञान में चित्त स्थिर हो गया है और जो (यज्ञाय) केवल परमेश्वराराधनार्थ (कर्म आचरतः) वेदोक्त यज्ञादि कर्म करता है उसके (समग्रम्) सर्व कर्म (प्रविलीयते) नाश हो जाते हैं अर्थात् अकर्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं ॥

टीका–श्रीविष्णु भगवान् के प्रीत्यर्थ जो सब कर्म करता है वहीवैष्णव धर्म है जिज्ञासु दशा में यही धर्म का आचरण करने से कर्म का अकर्म हो जाता है। तो ज्ञान प्राप्त हो जाने पर यह कर्म बंधक कैसे हो सक्ता है ?। इसी कारण निर्गुणोपासकों को सगुण भक्ति छोड़ देने से ज्ञान सिद्धि में बड़ा क्लेश भोगना पड़ता है। परंतु ज्ञानी भक्त सब कर्म विष्णु को समर्पण कर के उनमें लिप्त नहीं होता, अतएव अनायास ज्ञान की सिद्धिपाता है।।१२ वें अध्याय में भगवान् कहेंगे कि अव्यक्तोपासक (निर्गुणोपासक) (श्लोक ५ अ० १२) लोगों को कर्म नाश करने में बड़ा क्लेश होता है। क्योंकि उन्हें वह आप ही अपने भरोसे पर कर्म करने पड़ते हैं। परंतु सगुणोपासक ज्ञान होने पर भी सगुण भजन करते रहने से सगुण कृपा प्राप्त करता है॥

अ० १२ श्लोक ४ में कहा है कि (तेप्राप्नुवन्ति मामेव) बस निर्गुणोपासक को इतना ही है। परन्तु सगुणोपासक के लिये कहते हैं " (तेषामहंसमुद्धर्ता,,) अ० १२ के श्लोक १० में

इस सगुण भक्त को आत्माका अनुभव होता ही है सो वह सब साकार जगत् भगवान् ही के रूप से देखता वा श्रवण कीर्तनादि द्वारा औरों का भी उद्धार करता है जो भगवान् ने अ० ३ के श्लोक २० में (" लोकसंग्रहमेवापि,,) उपदेश किया है ॥ देखो श्री शुकदेव सरीखे योगी ने भी हरिभक्ति को श्रेष्ठ जान कर धारण की है उन्हीं का वाक्य भी श्रीमद्भागवत में है ॥

परिनिष्ठितोऽपिनैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया ।
गृहीतचेताराजर्षे आख्यानंयदधीतवान् ॥

श्लोक १८ में जो (कर्मण्यकर्म यः पश्येत्) यह कहा था उसको १९ से २३ श्लोकों में स्पष्ट करके यह दरशा दिया है कि परमेश्वराराधनार्थ जो कर्म किये जावें वे ज्ञान प्राप्त हो जाने के कारण बंधक नहीं होकर " अकर्म,, वत् हो जाते हैं। ज्ञानारूढ़ अवस्था में भी अकर्त्तभाव प्राप्त हो जाने के कारण स्वाभाविक कर्म भी अकर्मवत् हो जाते हैं। इससे कर्म का लय अर्थात् नाश सिद्ध हुआ ॥

अब आगे यह बताते हैं कि कर्म में वा उसके प्रत्येक अंग में ब्रह्म ही भरा हुआ है ऐसा मान लेने से भी कर्म " प्रविलीयते,, अर्थात् नाश हो जाता है ॥

ब्रह्मार्पणंब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौब्रह्मणाहुतम् ।
ब्रह्मैवतेनगंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य (अर्पणम्) जिसके द्वारा अर्पण किया जावे उस स्रुवादि पदार्थ को (ब्रह्म) ब्रह्म समझता है (हविः) घृतादि जो अर्पण किये जावें उनको भी (ब्रह्म) ब्रह्म समझता है वा (ब्रह्माग्नौ) जिस अग्नि में होम किया जावे उस को भी ब्रह्म (ब्रह्मणाहुतम्) जिसके द्वारा अर्पण किया जावे अर्थात् होम कर्ता सो भी ब्रह्म यानी कर्ता वा क्रिया कर्म, करण, तथा अधिकरण, इन सब को ब्रह्म मानता है और

इस प्रकार (ब्रह्मकर्म) ब्रह्म ही को कर्मात्मक मान कर उस-में (समाधिना) अपना चित्त एकाग्र कर लेता है (तेन) उसी मनुष्य के द्वारा (ब्रह्मएव) ही असल ब्रह्म (गन्तव्यम्) जाना जाता है अर्थात् वही मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होता है और दूसरे नरक स्वर्गादि कर्म, विकर्म, अकर्म आदि के कोई फल उसे नहीं मिलते ॥

टीका-सकल सृष्टि ब्रह्म ही का रूप है ऐसा जानने को "विज्ञान,, कहते हैं इसी विज्ञान द्वारा यज्ञ कर्म करो तो उसी कर्म में ब्रह्म समाधि अर्थात् ब्रह्म में एकाग्र चित्त हो जाता है। ऐसा समाधि निर्गुण ज्ञान विना नहीं होता तो उस समाधि के पीछे जो ब्रह्म प्राप्ति होती है वह सगुण ब्रह्म ही समझना चाहिये यही" ब्रह्मैवतेनगन्तव्यम् ,, इस वाक्यका अभिप्राय है। जब सर्व जगत् ब्रह्ममय दीखने लगता है तो वह जीवन्मुक्त हो गया फिर उसे और क्या प्राप्त करने को रहा? अर्थात् कुछ नहीं, निर्गुण ब्रह्म पहिले ही प्राप्त हो गया तो उस के पीछे सगुण की प्राप्ति ही रही थी सो इस प्रकार प्राप्त हो जाती है॥

यहां तक यह वतलाया कि यज्ञ कर्म के द्वारा जो सर्वत्र ब्रह्म दर्शनरूपी ज्ञान प्राप्त होता है वह सब से श्रेष्ठ है तो यज्ञ भी श्रेष्ठ हुआ अब उस की प्रशंसा करते हुए ज्ञान प्राप्त होने के उपाय और भी बहुत से यज्ञाधिकारियों के भेद के अनुसार आठ श्लोकों में कहते हैं। ये सब १२ यज्ञ कहेंगे और उन में से ज्ञान यज्ञ प्रथम कहते हैं उसी को प्राप्त करने के हेतु बाकी ११ यज्ञ हैं ॥

दैवमेवाऽपरेयज्ञं योगिनःपर्य्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरेयज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

अर्थ-(अपरे) कोई २ (योगिनः) कर्मयोगी लोग (दैवमेव यज्ञम्) साकार रामादि वा इन्द्रादि देवतों में ब्रह्मबुद्धि रहित होके उन्हीं के उपासना रूपी यज्ञों को ही (पर्य्यु-

पासते) श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करते हैं वा (अपरे) कोई २ ज्ञानयोगी (यज्ञेनैव) ब्रह्मार्पण इत्यादि उक्तप्रकार से ब्रह्मरूपी द्रव्यों द्वारा यज्ञ करके (ब्रह्माग्नौ) ब्रह्मरूपी अग्नि में (यज्ञम्—उपजुह्वति) यज्ञादि सर्व कर्मों का लय कर देते हैं । इसी का नाम ज्ञानयज्ञ है और वही सब से श्रेष्ठ है इस में आत्मा को सच्चिदानन्द पूर्ण निर्विकार मानते हैं ॥

(नोट) वेदोक्त देवताओं के नाम रूपों के पृथक् आवाहन विसर्जनरूप उद्देश को लेकर किये जाने वाले दर्शपौर्णमासादि यज्ञ देवयज्ञ कहाते हैं इन्हीं को विधि यज्ञ भी कहते हैं । और जप यज्ञ में ही सब यज्ञों की समाप्ति देखना यही द्वितीय ब्रह्मयज्ञ है (भी० शा०)

टीका—इसी ज्ञान यज्ञ के समान सगुण भक्त भी यज्ञ करता है वा साकार देवतों को निर्विकार नित्य निराकार समझता है और वह विष्णु प्रीत्यर्थ करता है—और ये कर्म मार्गी लोग अन्यान्य देवतों के निमित्त करते हैं । उत्तरार्द्ध श्लोक में निर्गुणोपासकों के यज्ञ कौतुक वर्णन किये हैं । वे लोग निर्गुण ब्रह्म ही को अग्नि मान कर उस में सकल मानसिक वृत्तियों का होम करते हैं परन्तु ऐसा यज्ञ वेही कर सकते हैं जो संयम नियम में परिपूर्ण होते हैं और कोई नहीं । उस का साधन श्रीभगवान् जी आगे कहते हैं । इस श्लोक में २ यज्ञ निरूपण हुए ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषुजुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषुजुह्वति ॥२६॥

अर्थ—(अन्ये) कोई २ निष्ठा वाले ब्रह्मचारी लोग अपनी इन्द्रियों के (संयमाग्निषु) संयम रूपी अग्नि में (श्रोत्रादीनि—इन्द्रियाणि) कर्णादिक इन्द्रियों का (जुह्वति) होम करते हैं अर्थात् इन्द्रियों को रोक कर संयम में तत्पर होकर बैठते हैं " यह तीसरा यज्ञ हुआ " (अन्ये) दूसरे कोई गृहस्थ लोग (शब्दादीन्विषयान्) शब्दादि विषयों को (इन्द्रिया-

ग्निषु) इन्द्रियरूपअग्नि में (जुह्वति) होम करते हैं अर्थात् विषयभोगकाल में भी आसक्त न हो कर जो इन्द्रिय जौन विषयभोग चाहती है उस इन्द्रियरूप अग्नि में वही विषय डाल देते हैं। " यह चौथा यज्ञ हुआ " ॥

(नोट) योगशास्त्र में धारणा, ध्यान और समाधि पारिभाषिक नाम संयम है इसी त्रिविधि संयमाग्नि में जब इन्द्रियों का होम किया जाता है तब देखना सुनना बोलना आदि इन्द्रियों का व्यवहार कम हो जाता है। वा शान्त हो जाते हैं। और जब योगी वा भक्त पुरुष शब्दादि विषयों को इन्द्रियाग्नि में लीन वा भस्म कर लेता है तब विषय वासना मन्द हो जाती है । और शब्द सुनने वा रूप देखने आदि के लिये नहीं भागता है ॥ (भी० श०)

टीका–श्रोत्रादि पांचो ज्ञानेन्द्रियां अपने २ विषय प्राप्त करने की इच्छा करतीं हैं और विषयासक्त बुद्धिका आश्रय लेतीं हैं तब मन भी इस बुद्धि का आश्रय लेकर नानाप्रकार के विषयों की कल्पना करता है। परन्तु जब यह बुद्धि बिवेक पर आरूढ़ हो जाती है तब वैराग्य धारण करके मन को रोक देती है, जब मन रुक गया तो विषयों की कल्पना वंद हो जाती है वा इन्द्रियों की वृत्तियां आपहीआप विषयों को नहीं दौड़तीं। बस जब इन्द्रियों को विषयों का स्मरण ही भूलगया तो वे आप ही संयम रूपाग्नि में जलगई समझो। इसी इन्द्रियों के संयम को " यम " कहते हैं वा इसी से नियम की भी सूचना होती है। सर्वथा विषयों का त्याग किये विना " नियम „ सिद्ध नहीं होता अतएव ऐसे योगी निर्जन बन में जा कर कंदमूल फल खाके रहते हैं क्योंकि ऐसा "नियम" किये विना इन्द्रियों का संयम नहीं होता । गृहस्थ कुटुम्बी लोगों से सर्व परित्याग करके ऐसा योग सधता नहीं, अतएव वे लोग जो होम वा यज्ञ करते हैं सो श्लोक के उत्तरार्द्ध में कहा है वह ऐसा है। इन्द्रिय वा विषय के संयोग में रागद्वेष उत्पन्न होते

हैं अर्थात् विषय अच्छा लगा तो उस में प्रीति होती है वा बुरा लगा तो द्वेष उत्पन्न होता है । गृहस्थ लोग इन दोनों दोषों को दूर करने का यत्न करते हैं अर्थात् अपनी इन्द्रियों में अग्नि की भावना करके विषयों को घृत मान कर उस अग्नि में होम देते हैं अतएव रागद्वेष से बचे रहते हैं ॥

इस श्लोक में यह सिद्ध हुआ कि एक तो विषयों का त्याग करके ब्रह्मसमाधि का साधन करता है और दूसरा भोगों को भोग के करता है। ये दोनों उपाय करके जो ब्रह्मसमाधि साधी जाती है; उस का प्रकार आगे बताते हैं ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणिचापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वतिज्ञानदीपिते॥ २७ ॥

अर्थ-(अपरे) और कोई (ज्ञानदीपिते) जो विषय ध्यान करने योग्य है अर्थात् शुद्ध सच्चिदानन्द आत्मा उसके ध्यान से प्रज्वलित हुआ अर्थात् ध्यान योग्य विषय को भलीभांति जानकर उसी के (आत्मसंयमयोगाग्नौ) अपने मन को रोक कर वा उसी संयम यानी एकाग्र चित्तरूपी अग्नि में (सर्वाणीन्द्रियकर्माणि) सर्व इन्द्रियों के कर्म (च) और (प्राणकर्माणि) प्राणों के कर्मों को (जुह्वति)होम करते हैं । यह पांचवां यज्ञ हुआ ॥

(नोट) आत्म नाम शरीर इन्द्रिय और मन को वशीभत कर लेने रूप संयमाग्नि में सब कर्मों का लय करना यही पांचवां यज्ञ है ॥ (भी० श०)

टीका-श्रवण दर्शन इत्यादि श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों के कर्म हैं और हाथ पांव वाणी इत्यादि जो कर्मेन्द्रियां हैं उन के कर्म चलना बोलना इत्यादि हैं । प्राण के ५ कर्म हैं अर्थात् १ " प्राण " का कर्म बाहर जाना, २ "अपान " का कर्म नीच जाना, ३ " व्यान" का कर्म संकुचित को फैलाना, ४ "समान" का कर्म खाये पिये हुये को एकत्र करना, ५ " उदान " का कर्म ऊपर ले जाना, ये सब इन्द्रियों के वा प्राण के कर्मों

को वह ध्यान निष्ठ मनुष्य होम देता है। कहां पर ? आत्मा के ध्यान में एकाग्र चित्त करना वही योग है सो उसी योग रूपी अग्नि में ध्यान योग्य विषय को भलीभांति जान लेने से जो ज्ञान होता है उसी ज्ञानरूपी इंधन से वह अग्नि प्रज्वलित होता है वा उसी ध्यानयोग्य विषय में मन को एकाग्र करना पड़ता है॥

मनुष्य का चित्त शुद्ध सत्त्वात्मक है उसी की वृत्ति से शरीर इंद्रिय वा प्राण इन सब की वृत्तियां होतीं हैं यह चित्त वृत्ति सब वृत्तियों को जानती है और जब वह आत्मस्वरूप में स्थिर हो जाती है तो रजस् तमस् का नाश हो जाता है यह जो चित्त वृत्तियां चंचल हुईं तो प्राण के कर्म शुरू हो जाते हैं वा इन्द्रियां अपने २ विषयों को दौड़तीं हैं परन्तु वह स्थिर रहीं तो प्राण और इन्द्रियों के कर्म आप ही बंद हो जाते हैं। आत्मस्वरूप के सिवाय और अब कहीं चित्त नहीं जाता तो उस अवस्था को "चित्त संयम" कहते हैं उसी का नाम योग है क्योंकि उस में चित्त वा चैतन्य का योग होता वा रजस् तमस् का वियोग होता है इस "आत्मसंयम" में इन्द्रियां वा प्राण के कर्म रुक जाते हैं इसी से भगवान् ने कहा है कि "आत्मसंयमयोग" रूपी अग्नि में सब इन्द्रियां वा प्राण के कर्म रुक जाते हैं। इसी अवस्था को "उन्मनि" या "शुद्धतुरीया" कहते हैं। आगे अलग २ और ५ यज्ञों का वर्णन करते हैं॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञायोगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयःसंशितव्रताः ॥२८॥

अर्थ-(तथा-अपरे) तिसी प्रकार दूसरे कोई २ (द्रव्ययज्ञाः) द्रव्यदान देने को ही यज्ञ समझते हैं (तपोयज्ञाः) कोई २ कठिन चांद्रायण आदि व्रत रूपतप को यज्ञ समझते हैं। कोई (योगयज्ञाः) चित्त वृत्ति निरोध रूपी समाधि साधने को ही यज्ञ कहते हैं (च) और कोई (स्वाध्याय-

ज्ञानयज्ञाः) वेद का श्रवण मनन करके उससे जो ज्ञान प्राप्त होता है उसी को यज्ञ रूप समझते हैं अथवा वेद पाठ एक यज्ञ वा उस से ज्ञान प्राप्त करना दूसरा यज्ञ समझते हैं (यतयः) ऐसे प्रयत्न करने वाले (संशितव्रताः) अपने व्रतों को तीक्ष्ण करके वेदाध्ययन करते हैं और उस से ज्ञान प्राप्त करते हैं जैसे तलवार की धार पर चलना कठिन काम है वैसा ही इन यज्ञों का करना भी समझो ॥

टीका—द्रव्य शब्द में पैसा, धान्य, वस्त्र, भूमि, पशु, इत्यादि आ जाते हैं वही सत्पात्रों के हस्त रूपी अग्नि में यजमान गृहस्थ होम देता है। तप अनेक प्रकार के हैं जैसे १-शीतोष्ण सहना, २-विषय भोग न करना, ३-ब्रह्मविचार रूप तप इन सब में तीसरा ही तप मुख्य है। इस में चित्त लगाने से अविद्या नाश होती है। जन्मांतर के सुकृतों से यह विचार मन में घसता वा सूझता है, इसी ब्रह्मविचार रूपी आहुति से स्वहित साधन के विवेकरूपी अग्नि को तृप्त किया कि वही तपयज्ञ हुआ। "असल,,योगतो चित्त वृत्ति का रोकना है परंतु बहुत से लोग शरीर में के षट् चक्रों को भेदते हुए ब्रह्म रंध्र में प्राण चढ़ाने का जो हठ योग है उसी को बड़ा समझते हैं परंतु केवल यही हठ योग साधने से मुक्ति नहीं होती इसको साधकर जो आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं उन्हीं को मोक्ष होता है क्योंकि आत्मज्ञान के विना अविद्या का अंधेरा नहीं हटता और अविद्या हटे बिना मुक्ति कहां और इस हठयोग का वर्णन ८वें अध्याय में होगा हठ योग से कई प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है इसी से संसार में अपनी प्रभुता बढ़ाने के हेतु लोग उसे साधना चाहते हैं परंतु वह बड़ा कठिन है उसके लिये शरीर पक्का वा बहुत पथ्य चाहिये जो इस काल में नहीं सध सकते। परमार्थ के लिये इस की कौड़ी भर भी कीमत नहीं, यही नहीं बल्कि यह बड़ा घातक है मन की चंचलता इससे रुकती सही है परंतु वह बड़ा भयंकर है जैसा कि क्लोरोफार्म

(chlorofrom) देना हर एक वैद्य का काम नहीं ऐसे ही हठ योग का साधना हर एक का काम नहीं। वेदों के अर्थ के ज्ञान को "स्वाध्याय,, ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान के साधने के लिये काम्य कर्म त्यागना चाहिये यह संन्यास पहिले कह आये हैं। इसी संन्यास का अवलंबन करके वेद भाष्यों के सीखने से आत्मज्ञान सहज में मिलता है आगेके श्लोक में ग्यारहवें प्राणायाम यज्ञ का वर्णन है ॥

अपानेजुह्वतिप्राणं प्राणेऽपानंतथाऽपरे
प्राणापानगतीरुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥२९॥

अर्थ-(अपरे) कोई २ (प्राणम्) पूरक वायु द्वारा प्राण की ऊर्ध्ववृत्ति को (अपाने) अधोवृत्ति में (जुह्वति) होम करते हैं। (प्राणेऽपानम्) पूरक काल में प्राण वा अपान को एक कर देते हैं तथा (प्राणापानगती रुद्ध्वा) कुम्भक वायु द्वारा प्राण वा अपान की ऊर्ध्व अधोगति को रोक कर रेचक काल में अपान को प्राणों में होम करते हैं। इस प्रकार पूरक, कुंभक, वा रेचक, द्वारा (प्राणायामपरायणाः) प्राणायाम में परायण होते हैं। ३० वें श्लोक का पूर्वार्द्ध-

अपरेनियताहाराः प्राणान्प्राणेषुजुह्वति ।

(अपरे) कोई २ अपने (नियताहाराः) आहार को कम करने का अभ्यास करके (प्राणान्) इन्द्रियों को आप ही से जीर्ण करके (प्राणेषु) प्राणों में उन की वृत्तियों में (जुह्वति) लय कर देते अर्थात् होम करदेते हैं अथवा " अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे" इस क्रिया के द्वारा पूरक वा रेचक के फेरफार से " सोऽहं " इस मन्त्र के अजपा जाप से तत्त्व का बोध करना पसंद करते हैं जैसा कि योगशास्त्र में कहा है॥

सकारेणबहिर्याति हकारेणविशेत्पुनः ।
प्राणस्तत्रसएवाह महंसइतिचिन्तयेत् ॥

" प्राणापानगती रुद्ध्वा " इस से कोई २ प्राणायाम यज्ञ करते हैं उस का अर्थ ऐसा है-

द्वौभागौपूरयेदन्नैर्जलेनैकंप्रपूरयेत् ।
मारुतस्यप्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत् ॥

इत्यादि वचन के अनुसार " अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति " जिन का नियत आहार है वे कुंभक वायु द्वारा प्राण वा अपान की गति को रोक कर प्राणों का संयम कर लेते हैं वा प्राणों को और इन्द्रियों को प्राण में होम करते हैं। कुम्भक से ही सर्व प्राण एक हो जाते हैं वा वे लोग इसी में लीन हुई इन्द्रियों में होम करना पसन्द करते हैं। जैसा कि योगशास्त्र में कहा है-

यथायथासदाभ्यासान्मनसःस्थिरताभवेत् ।
वायुवाक्कायदृष्टीनां स्थिरताचतथातथा ॥

वायु की अधोगति को " अपान " कहते हैं और ऊर्ध्वगति को प्राण कहते हैं। दाहिने नकुआ को दवाकर वायें नकुआ से प्राण को नीचे छोड़ कर प्राण की जो ऊर्ध्वगति होती है इस को जबरदस्ती से अपान गति करना इस को " पूरक " कहते हैं इसी का नाम अपान में प्राण का होम है। फिर दोनों नकुओं को दावने से उस प्राणवायु को कुछ समय पर्यन्त मूलाधार में रोक देने को " कुम्भक " कहते हैं। इस रुके हुए प्राणवायु को वांयां नकुआ दवाकर दाहिने नकुआ से धीरे २ छोड़ते हैं यही प्राणों में अपान का होम है वा उस क्रिया का नाम रेचक है। यह वारहवां यज्ञ हुआ॥

अब आगे आधे श्लोक में उपरोक्त वारह यज्ञों के जानने वा करनेवालों का फल कहते हैं॥ —तीसवें श्लोकका उत्तरार्द्ध—

सर्वेऽप्येतेयज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

अर्थ-(एते सर्वेऽपि) ये सब ही (यज्ञविदः) इन सब वारहों यज्ञों के जानने वाले वा प्राप्त करने वाले लोग (य-

यज्ञक्षपितकल्मषाः) यज्ञों के द्वारा अपने पापों का नाश कर देते हैं ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्तिब्रह्मसनातनम् ।
नायंलोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यःकुरुसत्तम!॥३१॥

अर्थ–(यज्ञशिष्टामृतभुजः) यज्ञ करने के पश्चात् जो शेष अन्न बच जाता है उस अमृतरूपी अन्न का भोजन करने वाले लोग (सनातनम्) नित्य वा अविनाशी (ब्रह्म) ब्रह्म को ज्ञान द्वारा (यान्ति) प्राप्त करते हैं वा (कुरुसत्तम) हे अर्जुन ! (अयज्ञस्य) जो लोग कोई यज्ञ नहीं करते उन का (अयंलोकः) यह अल्प सुख वाला मनुष्यलोक भी नहीं है, तो फिर (अन्यः) बहुत सुख देने वाला परलोक (कुतः) कहां से हो सकता है । अतएव यज्ञ करना ही चाहिये जिस से दोनों लोकों के सुख प्राप्त होवें ॥

टीका–जो नीच लोग कोई यज्ञ नहीं करते उन को इस लोक में सुख नहीं मिलता वा सब इन की निन्दा करते हैं, और परलोक का सुख तो उन्हें स्वप्न में भी नहीं मिल सकता इन लोगों से सकाम कर्म करने वाले ही श्रेष्ठ हैं । ऊपर कहे हुए यज्ञों में कोई कर्मयज्ञ वा कोई २ ज्ञानयज्ञ हैं उनमें कर्मयज्ञ कर्मों से ही प्राप्त होता है इस बात को खूब जान लेने से उत्तम फल मिलता है यह आगे के श्लोक में कह कर फिर ज्ञान यज्ञ की उस से भी श्रेष्ठता आगे बतावेंगे ॥

एवंबहुविधायज्ञा वितताब्रह्मणोमुखे ।
कर्मजान्विद्धितान्सर्वानेवंज्ञात्वाविमोक्ष्यसे॥३२॥

अर्थ–(एवम्) इसी प्रकार के (बहुविधा यज्ञाः) और भी बहुत से यज्ञ (ब्रह्मणोमुखे) वेदों के मुख से (वितताः) विस्तार किये गये हैं । अर्थात् वेदों ने साक्षात् बताये हैं और (तान्सर्वान्) उन सब को (कर्मजान्) काया मनसा वाचा के कर्मों से उत्पन्न हुए (विद्धि) जानो । अर्थात् वे

सब कर्म ही से संबन्ध रखते हैं उन में आत्मस्वरूप का स्पर्शमात्र भी नहीं रहता (एवं ज्ञात्वा) ऐसा जान कर वा ज्ञाननिष्ठ हो कर (विमोक्ष्यसे) तू संसार के बंधन से मुक्त हो जावेगा ॥

टीका–कर्म ही से यज्ञ होता है, ऐसा समझने से यही सिद्ध वा ज्ञात हो जाता है कि परमानन्दस्वरूप आत्मा अ-कर्ता है। अथवा इन सब कायिक वाचिक और मानसिक यज्ञों का विषय नहीं है, इसी से भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! तूं अभी तक यह तत्त्व नहीं जानता था, सो मैंने बताया। उस को जान लेने से तू कर्म बंधन से मुक्त होकर मोक्ष पावेगा ॥

अभीतक कर्म यज्ञ वा ज्ञानयज्ञ दोनों मिला कर कहे हैं अब उन में का रहस्य वा गूढ़ बातें आगे कहते हैं और ज्ञानयज्ञ ही की श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाद् ज्ञानयज्ञःपरन्तप !।
सर्वंकर्माऽखिलंपार्थ ज्ञानेपरिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

अर्थ--हे (परन्तप) अर्जुन ! (द्रव्यमयात्) आत्मा के व्यापार रहित केवल देवताओं के हेतु घृतादिक होम करने रूप (यज्ञात्) यज्ञ से (ज्ञानयज्ञः) ज्ञानरूपी यज्ञ (श्रेयान्) श्रेष्ठ है। यद्यपि ज्ञान भी मन के व्यापारों के अधीन है तथापि उस से मन को आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है इस से वह श्रेष्ठ है। (पार्थ) हे अर्जुन (सर्वंकर्माऽखिलम्) सबकर्मों का फल वा अन्त (ज्ञाने) ज्ञान में (परिसमाप्यते) समाप्त हो जाता है अर्थात् ज्ञान ही सब कर्मों का फल है ॥

टीका–व्रत इत्यादि हविर्द्रव्य ब्रह्म ही है ऐसा न समझ कर जो यज्ञ किये जाते हैं उन को द्रव्य यज्ञ कहते हैं अत-एव ब्रह्मनिष्ठ लोग ज्ञानदृष्टि से सब हविर्द्रव्यों को ब्रह्मरूप देख कर यज्ञ करते हैं। अथवा आत्मसंयम योगरूपी अग्नि में सकल वृत्तियों का होम करते हैं। ऐसे यज्ञ को " ज्ञान यज्ञ "

कहते हैं " द्रव्ययज्ञ " कर्म से उत्पन्न होता है। और सर्व सञ्चित वा क्रियमाण कर्म ज्ञान में लय होते हैं, अतएव ज्ञानयज्ञ ही कल्याणकारी है । सर्व कर्म से क्रियमाण कर्म की सूचना की है वा " अखिलम्" शब्द से सञ्चित कर्म की। ज्ञान की श्रेष्ठता इस हेतुसे बतायी है कि उसके प्राप्त करने के वास्ते अर्जुन शरण में आवे फिर उसे ज्ञान प्राप्त होवे अतएव आगे के श्लोकों में आत्मज्ञान का साधन बताते हैं और वह " शरणागति " है ॥

तद्विद्धिप्रणिपातेन परिप्रश्नेनसेवया ।
उपदेक्ष्यन्तितेज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

अर्थ--हे अर्जुन ! (तत्) तिस आत्मज्ञान को (विद्धि) तू जान, अर्थात् प्राप्त कर । तत्त्ववेत्ता ज्ञानी लोगों को (प्रणिपातेन) नमस्कार करने से वा यह मेरा तेरा संसार कहां से अथवा कैसा है ? और इस से निवृत्ति का क्या उपाय है ? ऐसे २ (परिप्रश्नेन) उन को प्रश्न करने से वा (सेवया) उन की सेवा करने से (तत्त्वदर्शिनः) अपरोक्ष के अनुभव में सम्पन्न (ज्ञानिनः) ज्ञानी लोग वा शास्त्रवेत्ता (ते) तुझ को (ज्ञानम्--उपदेक्ष्यन्ति) इस ज्ञान का उपदेश करेंगे ॥

टीका—इस श्लोक में श्रीभगवान् जी ने गुरु वा शिष्य के भी लक्षण बताये हैं। जब तक शिष्य दुःखी हो कर शरण में न आवे तब तक उसे उपदेश न करना चाहिये, और शिष्य को उपदेश योग्य भी देख लेना चाहिये । जब शिष्य आप ही उपदेश लेने की उत्कण्ठा दिखावे तब उपदेश करे गुरु भी शास्त्रज्ञ तथा अनुभवी होना चाहिये । अब आगे इस ज्ञान के उपदेश का फल ३॥ साढ़ेतीन श्लोकों में कहते हैं ॥

यज्ज्ञात्वानपुनर्मोह मेवंयास्यसिपाण्डव ! ।
येनभूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथोमयि ॥ ३५ ॥

अर्थ-(पाण्डव) हे अर्जुन ! (यत्) जिस तत्त्व को (ज्ञात्वा) जान कर अर्थात् प्राप्त करके (एवं मोहम्) इस प्रकार बंधु-

वर्ग के वध करने का मोह (पुनः —न—यास्यसि) तुझे फिर कभी उत्पन्न न होगा क्योंकि (येन) जिस ज्ञान के द्वारा (अशेषेण भूतानि) सर्व पिता पुत्रादि भूतों को जो अविद्या के कारण अन्यभाव से देखता है सो सब (आत्मनि) अपनी आत्मा में तू भेद रहित (द्रक्ष्यसि) देखेगा (अथो) उस के पश्चात् अपने आत्मा को (मयि) मुझ परमात्मा में भेद रहित (द्रक्ष्यसि) देखेगा अर्थात् सब भूतों को अपने आत्मा में तथा अपने आत्मा को मुझ परमात्मा में देखने लगेगा तब कोई भेद तेरे मन में न रहेगा ॥

(नोट) जल की तरङ्गों को जल में देखना यही है कि वे जल से भिन्न कुछ नहीं हैं वैसे सुवर्ण चांदी को पृथिवी में नाम पृथिवीरूप देखें मानें तो रूप के हानि लाभ से शोक हर्ष नहीं हो सकता है। इसी के अनुसार सब संसार को आत्मा में नाम—आत्मरूप में देखे तो फिर अज्ञानान्धकार मिट जाता है ॥ (भी० श८)

टीका—इस श्लोक के पूर्वार्ध में "व्यतिरेकज्ञान" तथा उत्तरार्द्ध में "अन्वयज्ञान" बताया है। यह "व्यतिरेक" और "अन्वय" ब्रह्मविद्या का रूप है उसी प्रकार "आवरण" तथा "विक्षेप" अविद्या के रूप हैं आप अपने को न जानकर देहादि इन्द्रियों को आत्मा मानना इसी का नाम आवरण है। स्वयं प्रकाश आत्मा आप है ऐसा समझने को अन्वय ज्ञान कहते हैं, इस ज्ञान से विक्षेप का नाश होता है। "व्यतिरेक" का बोध हुए विना "अन्वय" नहीं समझ पड़ता इसी लिये पूर्वार्ध में पहिले "व्यतिरेक ज्ञान" कहा है। केवल "अन्वय ज्ञान" से पञ्चभूत और उन के बने हुए सब ब्रह्माण्ड अपने आत्मस्वरूप में देखते बनता है। और इन जड़ भूतों का प्रकाश आत्मसत्ता के विना नहीं होता, यह बात "सर्वाणीन्द्रिय कर्माणि" इसी अध्याय के २७ श्लोक में स्पष्ट कर चुके हैं। जैसे तन्तु के विना वस्त्र, माटी विना घट, सोने के बिना

अलंकार, नहीं दीखते न ठहर सक्ते हैं। यानी एक के आश्रय से दूसरे दीखते हैं। इसी प्रकार सब ब्रह्माण्ड की रचना आत्मा ही में है परंतु वह मिथ्या है क्योंकि वे सब आत्मा ही के लिये दीखते हैं। तीनों काल में वे सब आत्मा ही हैं ऐसा ज्ञान हो जाने से "विक्षेप"का नाश होता है। "विक्षेप" का अर्थ विपरीत भावना है। वास्तविक में सर्व जड़ जगत् भ्रांन्ति मात्र है। यद्यपि "व्यतिरेक" ज्ञान से यह समझ पड़ने लगता है परंतु पूर्व संस्कारों के कारण वारंबार विपरीत भावना प्राप्त होने लगती है सो वह अन्वय ज्ञान द्वारा धीरे २ नाश होती है। परंतु इस विपरीत भावना को समझने के वास्ते प्रथम आत्मस्वरूप का ज्ञान होना चाहिये सो कोई समर्थ गुरू के द्वारा हो सक्ता है। परंतु जिस किसी का पूर्व ज्ञान बलवान् रहता है उसको तो एक दम ही यह ज्ञान हो जाता है कि सब भूतों में तथा अपने में और ईश्वर में कोई भेद नहीं॥

यह सुन कर भी अर्जुन को यह शंका रही कि भीष्मादिक के बध का दोष मुझे लगेगा अतएव भगवान् फिर कहते हैं॥

अपिचेदसिपापेभ्यः सर्वेभ्यःपापकृत्तमः।
सर्वंज्ञानप्लवेनैव वृजिनंसंतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

अर्थ-(सर्वेभ्यः पापेभ्यः) सब पापियों से (अपि) भी (चेत्) यद्यपि तू (पापकृत्तमः) बड़ा पाप करनेवाला (असि) है तथापि (सर्वं वृजिनम्) सब पाप समुद्र को (ज्ञानप्लवेन एव) केवल इसी ज्ञानरूपी नौका के द्वारा (संतरिष्यसि) तू अनायास पार हो जावेगा॥

अब अर्जुन को यह शंका हुई कि समुद्र के समान पापों से पार तो हो जाऊंगा परंतु उन पापों का नाश तो नहीं हुआ इसका समाधान आगे करते हैं वा सुझाते हैं कि क्रियमाण पापों की तो विसांत क्या है बल्कि इस ज्ञान से अनेक जन्मों के संचित पापों का भी नाश हो जावेगा॥

यथैधांसिसमिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन !।

ज्ञानाग्निःसर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेतथा॥३७॥

अर्थ-(अर्जुन) हे अर्जुन ! (यथा) जिस प्रकार (समिद्धः) विशेष प्रदीप्त हुआ (अग्निः) अग्नि (एधांसि) गीली तथा सूखी सर्वलकड़ियों को (भस्मसात् कुरुते) जलाकर खाक कर देता है (तथा) तिसी प्रकार (ज्ञानाग्निः) यह आत्मज्ञान रूपी अग्नि (सर्व कर्माणि) प्रारब्ध कर्म फल छोड़ के संचित और क्रियमाण सर्व कर्मों को (भस्मसात् कुरुते) जलाकर भस्म कर देता है अर्थात् ज्ञान मार्ग जिस का सध गया है उस को अन्य उपाय करने की आवश्यकता नहीं, यही बात आगे के श्लोक में और भी स्पष्ट करते हैं--

(नोट) जैसे रस्सी में सांप का जो भ्रम होता है उससे होने वाले सब भयादि रस्सी को रस्सी समझते ही नष्ट वा भस्म हो जाते हैं वैसे ही आत्मज्ञान का उदय होते ही सब दुःख मिट जाते हैं ॥ (भी० श०)

नहिज्ञानेनसदृशं पवित्रमिहविद्यते ।
तत्स्वयंयोगसंसिद्धः कालेनात्मनिविन्दति ॥३८॥

अर्थ-(इह) इस संसार में तप और योगाभ्यासादि में (ज्ञानेन सदृशम्) इस आत्मज्ञान के समान अन्य कोई काम इष्ट साधक (पवित्रम्) शुद्धि करने वाला (नहि विद्यते) नहीं है तो फिर सब लोग आत्मज्ञान ही का अभ्यास क्यों नहीं करते ? इस का समाधान उत्तरार्ध में करते हैं कि (तत्) वह आत्मज्ञान (कालेन) बहुत काल पर्यन्त (योगसंसिद्धः) कर्म योग साधन करते रहने से सिद्ध होकर (स्वयम्) अपने आप ही अनायास प्राप्त हो जाता है और (आत्मनि) अपने ही बीच में (विन्दति) आत्मा का बोध हो जाता है परन्तु विना कर्म योग के प्राप्त नहीं होता यह निश्चय जानो ॥

टीका-वेद तथा धर्म शास्त्र में अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त पवित्र करने के वास्ते लिखे हैं । परन्तु उन सब का शिरोमणि ज्ञान है । जिस प्रकार हाथी को पानी में लेजा कर कितना भी साफ क्यों न करें, परन्तु वह बाहर आने पर अपने स्व-

भावानुसार फिर भी अपने ऊपर धूलि डाल लेताहै। इसी प्रकार प्रायश्चित्त कर्मसे यद्यपि पापों का नाश हो जाताहै, तथापि अनेक जन्म के अभ्यस्त हुए स्वभावानुसार मनुष्य का चित्त फिर भी पाप करने को झुकता है। क्योंकि जितने कर्मों का प्रायश्चित्त करों उतने ही का नाश होता है, वाकी तो शिर पर ही सवार रहते हैं। परन्तु ज्ञान में यह शक्ति है कि वह सब कर्मों को समूल नाश कर देता है। अथवा मन की अनादि वासना को तोड़ कर उसे ब्रह्मसुखरूपी अमृत चखाता है। वा इधर उधर जाने नहीं देता। यह ज्ञान अपने पास ही रहता है कहीं अन्यत्र ढूंढ़ने को नहीं जाने पड़ता, क्योंकि वह ज्ञान अपना ही रूप है। परन्तु अज्ञान के कारण दूर दीखता है। उस में सर्वदा लक्ष्य देने का अभ्यास न रक्खे तो उड़ भी जाता है। यह अभ्यास दो प्रकार का है एक "व्यतिरेक" जिसते अपने को देह से जुदा जानते, और दूसरा "अन्वय" जिससे अपना देह सहित सर्व सृष्टि को अपना आत्मस्वरूप ही मानते हैं। इन दोनों योगों का बहुत काल पर्यन्त अभ्यास करने से अज्ञान का नाश होकर पूर्ण ज्ञान होजाता है। फिर जहां देखो तहां आत्मा ही दीखने लगता है ॥

यहां तक ज्ञान की प्रशंसा हुई अब उस ज्ञान प्राप्ति के अधिकारी को आगे कहते हैं ॥

श्रद्धावांल्लभतेज्ञानं तत्परःसंयतेन्द्रियः ।
ज्ञानंलब्ध्वापरांशान्ति-मचिरेणाऽधिगच्छति॥३९॥

अर्थ-(श्रद्धावान्) जिसको गुरू के उपदेश किये हुए विषय में और वेद शास्त्रोक्त विषय में पूरा २ विश्वास और प्रेम हो वा जो उसी में बुद्धि स्थिर रक्खे पीछे से (तत्परः) उसी उपदेश में निष्ठा रखता है और (संयतेन्द्रियः) जिसने अपनी इन्द्रियों का संयम अर्थात् दमन किया है सो (ज्ञानम्) इस ज्ञानको (लभते) प्राप्त करता है और कोई नहीं। अतएव

श्रद्धादि संपत्ति के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के वास्ते प्रथम चित्त शुद्धि के निमित्त कर्म योग का अनुष्ठान करना आवश्यक है। उसके पश्चात् जब ज्ञान प्राप्त हो जावे तो (ज्ञानं लब्ध्वा) उस ज्ञान की प्राप्ति से (अचिरेण) शीघ्र ही (परांशांतिम्) उत्तम शान्ति अर्थात् मोक्ष को (अधिगच्छति) प्राप्त हो जाता है॥

टीका–गुरू के तथा वेदान्त शास्त्र के वाक्यों पर भरोसा न करो तो कोई साधन नहीं बन सकता। साधारण लोगों की इन पर श्रद्धा न होने का कारण यह है कि उन वाक्यों के तत्व कहीं २ जो प्रत्यक्ष दीखते हैं उसके विरुद्ध हैं जैसे जगत् प्रपंच प्रत्यक्ष दीख रहा है। परंतु मिथ्या कहा जाता है, अतएव गुरू और वेदान्त शास्त्र जो कहते हैं उन पर विश्वास करना चाहिये यद्यपि वे प्रथम असंभव दीखें॥

अब आगे उनके लक्षण कहते हैं जो ज्ञानाधिकारी नहीं॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्माविनश्यति।
नायंलोकोऽस्तिनपरो नसुखंसंशयात्मनः ॥४०॥

अर्थ–(अज्ञः) जिस को गुरु के और वेदशास्त्र के उपदेश से भी ज्ञान नहीं होता वह (च) और (अश्रद्दधानः) जिस को कुछ ज्ञान हो भी जावे परन्तु उस में विश्वास नहीं करता वह और कुछ २ विश्वास भी हो जाने पर (संशयात्मा) जिस को यह संशय रहता है कि इस श्रद्धा से मुझे सिद्धि प्राप्ति होगी या नहीं? ये तीनों प्रकार के लोग (विनश्यति) हानि उठाते हैं। अर्थात् उन का स्वार्थ कभी सिद्ध नहीं होता परन्तु इन तीनों में से भी संशय युक्त मनुष्य का तो सर्वथा नाश ही होता है क्योंकि (संशयात्मनः) उस संशय करने वाले मनुष्य को धन लाभ में वा विवाहादि में सिद्धि न होने के कारण (न अयं लोकः) न तो यह लोक है और धर्म प्राप्त न होने के कारण (न परः अस्ति) न परलोक ही है, ऐसे मनुष्य को सर्वदा शंका रहने के कारण (न सुखम्) कोई प्रकार का संसारी भोग प्राप्त होना भी असंभव है। जैसा राजनीति में कहा है–

शंकाभिःसर्वमाक्रान्त–मन्नंपानंचभूतले ।
प्रवृत्तिःकुत्रकर्त्तव्या जीवितव्यंकथंनुवा ? ॥

टीका–गुरु के उपदेश से भी जिस को ज्ञान नहीं होता तो समझना चाहिये कि अच्छी तरह उन की चित्तशुद्धि नहीं हुई, उसी का नाम " अज्ञ " है। किसी को "व्यतिरेकज्ञान" हो जाने से आत्मा समझ पड़ता है परन्तु वह ऐसी शंका करता है कि जब चैतन्य के बिना जड़ पदार्थ को कोई भोगने की शक्ति नहीं है तो चैतन्य कैसे जड़ हो सकता है? इसी संशय में पड़ कर जो लोग " द्वैतमार्ग " ग्रहण कर लेते हैं, उन्हीं का नाम "अश्रद्दधानहै" तीसरे संशयात्मा की तो मौत ही समझो, उसे शास्त्रोक्त बातों में विश्वास नहीं होता, वह कहता है कि शास्त्र में देवता स्वर्ग नरक इत्यादि कई बातें लिखीं हैं परन्तु देखने में एक भी नहीं आती, तो कैसे विश्वास आवे उस के मन में ऐसी २ हजारों कुतर्कें आतीं हैं। परन्तु इस भय से वेदमार्ग को ऊपर से मानता है कि लोग मुझे नास्तिक न कहने लगें। ये तीनों प्रकार के लोग अद्वैत ज्ञान के अधिकारी नहीं हो सकते॥

जिस तरह फांसी पर चढ़ने वाला मनुष्य खाता तो है परन्तु फांसी के भय से घबड़ाता रहता है, इसी तरह संशयी मनुष्य विषयों को भोगता हुआ भी मरने के डर से सदैव घबड़ाता है, अतएव उस को इस लोक में सुख नहीं, तथा परलोक के विषय में संशय रखने के कारण दान, धर्म, यज्ञ, वगैरह नहीं करता। अतएव उसे स्वर्ग भी नहीं मिलता। इसी से वह दोनों लोक में सुखी नहीं ऐसा कहा गया है॥

वेद और शास्त्र पर विश्वास करने वाले मनुष्यों को भी संशय उत्पन्न होते हैं, परन्तु वे उक्तप्रकार के नहीं होते वा ज्ञान प्राप्त करके वे लोग तर जाते हैं—

ऐसा श्रीभगवान् जी आगे कहते हैं और दो श्लोकों में कर्म वा ज्ञान मय दोनों प्रकार की ब्रह्मनिष्ठाओं को संक्षेप से बताते हैं–

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तंनकर्माणि निबध्नन्तिधनञ्जय ! ॥४१॥

अर्थ–(धनञ्जय) हे अर्जुन ! (योगसंन्यस्त कर्माणम्) जिस ने ईश्वराराधन रूप योग साध कर अपने सर्व कर्म उसी में समर्पण कर दिये हैं उस को वा (ज्ञानसंछिन्नसंशयम्) जिस ने आत्मबोधरूपी ज्ञान के द्वारा देहाभिमानरूपी सब संशयों को क्षीण कर डाला है उस (आत्मवन्तम्) प्रमाद रहित शुद्ध बुद्धि के मनुष्य को (कर्माणि न निबध्नन्ति) लोक संग्रह के अर्थ वा स्वाभाविक कर्म बन्धन के हेतु नहीं होते ॥

टीका—अनादि अज्ञान के कारण मनुष्य को संशय उत्पन्न होते ही हैं । परन्तु कर्म अर्पण कर देने से ईश्वर प्रसन्न होकर उसकी बुद्धि एकदम शुद्ध कर देता है वा ऐसे मनुष्य कुछ भी आचरण करें तो ज्ञान के कारण बन्धक नहीं होते ॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थंज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनंसंशयंयोगमातिष्ठोत्तिष्ठभारत ! ॥ ४२ ॥

अर्थ–(भारत) हे अर्जुन ! (तस्मात्) अतएव (अज्ञानसंभूतम्) आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न हुआ जो संशय (हृत्स्थम्) तेरे हृदय में वर्तमान है (एनं संशयम्) इस संशय को जो शोकादि के निमित्त से हुआ है उस को (ज्ञानासिनात्मनः) देहात्मविवेक के ज्ञानरूपी खड्ग से (छित्वा) काट कर (योगमातिष्ठ) कर्मयोग का आश्रय कर और (उत्तिष्ठ) युद्ध करने को उठ ॥

(नोट) अर्जुन के तुल्य प्रत्येक ब्राह्मणादि को भी अपने २ शास्त्रोक्त स्वाभाविक कर्त्तव्य धर्म कर्म से उपराम वा मोह हो सकता, उन सभी अर्जुन स्थानियों के लिये श्रीभगवान् जी का यह उपदेश जानो ॥ (भी० श०)

टीका—हम मारेंगे वा भीष्म आदिक मरेंगे इस संशय का नाश केवल ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। अतएव ज्ञान प्राप्त करके क्षत्रियों को युद्ध करने का जो धर्म है सो आचरण कर आत्मा को शुद्ध सच्चिदानन्द नित्य निर्विकार वा पूर्ण समझता रह॥

यह चतुर्थाध्याय की टीका भी युगलमनोहर जी के चरणकमलों में अर्पण है॥

शमवस्थाविभेदेन कर्मज्ञानमयीद्विधा।
निष्ठोक्तायेनतंवंदे शौरिंसंशयसंछिदम्॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

॥ संन्यासयोग ॥

॥ ओम् नमोभगवतेवासुदेवाय॥

निवार्य्यसंशयंजिष्णोः कर्मसंन्यासयोगयोः ।
जितेन्द्रियस्ययतेः पञ्चमेमुक्तिमब्रवीत् ॥

तृतीय अ० के १७ वें श्लोक " यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् " इत्यादि में श्रीभगवान् जी कह आये हैं कि परिपक्क ज्ञानी को कर्म करने की आवश्यकता नहीं, फिर अध्याय ४ के ३३ वें श्लोक " सर्वं कर्माखिलं पार्थ " इत्यादि में भी ज्ञानी के लिये कर्म संन्यास (कर्मत्याग) कहा है परन्तु चौथे अध्याय के श्लोक ४१ "योग संन्यस्त कर्माणम्" और श्लोक ४२" तस्मादज्ञानसंभूतम् "इत्यादि में यह दर्शाया है कि कर्मयोग करना चाहिये। अर्जुन को इस पूर्वापर उपदेश में विरोध जान पड़ा और उस के मन में यह था ही कि युद्ध न करना पड़े अतएव उस ने श्रीभगवान् जी के वाक्यों ही में विरोध का अवसर पा के अब पञ्चम अध्याय में यह प्रश्न किया है कि--

॥ अर्जुनउवाच ॥

संन्यासंकर्मणांकृष्ण ! पुनर्योगंचशंससि ।
यच्छ्रेयएतयोरेकं तन्मेब्रूहिसुनिश्चितम् ॥१॥

अर्थ–(कृष्ण) हे कृष्ण ! (कर्मणां संन्यासम्) आप ने पहिले कर्मसंन्यास (कर्मत्याग) का उपदेश किया और (पुनः) फिर (योगं च) कर्मयोग की भी (शंससि)प्रशंसा करने लगे सो यह तो ठीक नहीं है अतएव (एतयोः) इन दोनों में से (यत् एकम्) जौनसा एक (श्रेयः) मेरा तथा सबका क-

त्याग करने वाला हो (तत्) सो वही (सुनिश्चितम्) भली भांति निश्चय करके (मे) मुझ से (ब्रूहि) कहिये ॥

टीका–श्रीभगवान् जी ने यह सचमुच कहा है कि परिपक्व ज्ञानी को कर्म त्याग देना ही ठीक है परन्तु अर्जुन को कर्म करने को इसलिये कहा कि वह तो अभी परिपक्व ज्ञानी नहीं, किन्तु केवल जिज्ञासु दशा ही में था, यह बात अर्जुन के लक्ष्य में ही न रही, और उसके इस प्रश्न से श्रीमहाराज ने भी यह समझा कि मोक्ष प्राप्ति के लिये मोक्ष चाहने वालों को "कर्मसंन्यास और कर्मयोग" इन दोनों की आवश्यकता होती है। अतएव अर्जुन का प्रश्न ठीक भी है, ऐसा विचार के श्री महाराज भगवान् जी उत्तर देते हैं कि–

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

संन्यासःकर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तुकर्मसंन्यासात् कर्मयोगोविशिष्यते ॥२॥

अर्थ–(संन्यासः) कर्म संन्यास (च) और (कर्मयोगः) कर्म योग ये (उभौ) दोनों (निःश्रेयसकरौ) कल्याण कारी हैं (तु) तथापि (तयोः) इन दोनों के बीच में (कर्मसंन्यासात्) कर्म संन्यास से (कर्मयोगः) कर्मयोग (विशिष्यते) विशेष करके श्रेष्ठ है। देखो श्रीमद्भागवत स्कंध ११ अध्याय३ श्लोक ४३ से ४६ तक ॥

(नोट) बन्धन चित्त का धर्म है उसी का नामान्तर राग वा भोगाभिलाष है, उस के सूक्ष्म संस्कार वासना रूप से चित्त में दखल किये हुए हैं, जब तक ज्ञान शस्त्र से उन का छेदन नहीं किया जाता, तब तक मनुष्य परमार्थ का टिकट [शिर मुंड़ाने तथा गेरुआ कपड़ा रंग ने रूप] लेकर भी परमार्थ के मार्ग में नहीं चलपाता, किन्तु काम क्रोध लोभादि शत्रु उस को इसी संसार की बाजी में घसीट लाते हैं। इसी लिये वह टिकट वाला होने पर भी उस परमार्थ की बाजी में न

होने से वावा जी कहाने योग्य नहीं होता किन्तु उस को जावाजी कहना चाहिये। ऐसे ही टिकट वाले साधु बहुत हैं और वास्तव में वावा जी कोई २ ही हैं। इसी लिये कहा है। वनेऽपिदोषाःप्रभवन्ति रागिणां, गृहेऽपि पञ्चेन्द्रिय निग्रहस्तपः बन में भी रागी पुरुष को काम क्रोधादि दबा कर पापकरा लेते हैं और इन्द्रियों को वशी भूत कर सके तो घर में भी तप हो जाता है। जैसे कर्म द्वारा ही वस्त्रादि सबकी शुद्धि दीखती है वेसे ही शुभ कर्मानुष्ठान से मन वाणी शरीर की शुद्धि होने पर ही सच्चा ज्ञान होता है इसी से कर्म योग मुख्य है॥ (भी० शा०)

(टीका)–भगवान् के उत्तर का यह भाव है कि मैंने वेदान्त वेद्य आत्मतत्त्व जानने वालों के लिये "कर्मयोग" नहीं बताया जो मेरे पूर्व उपदेश में तू विरोध समझता है। यह कर्म योग केवल तेरे लिये कहा है जो देहाभिमानी होकर बंधु बधादि के निमित्त शोक, मोह को प्राप्त हो रहा है। तुझे चाहिये कि इस शोक मोह रूपी संशय को देह और आत्मा के विवेक रूपी ज्ञान की तलवार से छेदन करके कर्मयोग कर, जो परमात्मा के ज्ञान प्राप्त करने का उपाय है क्योंकि कर्म योग से ही चित्त शुद्ध हो कर आत्मतत्त्व का ज्ञान होता है और उस ज्ञान के परिपाक हेतु ज्ञान निष्ठा का अवलंबन करके कर्म को त्यागना पड़ता है, यही मैंने पहिले कहा है। ये दोनों श्रेष्ठ हैं परन्तु अधिकारियों में भेद है, तथा दोनों मोक्ष मार्ग के साधन हैं॥

यह सुनकर अर्जुन को शंका हुई कि इस से तो मोक्ष मार्ग के लिये कर्म संन्यास ही अख़ीर सीढ़ी जानी जाती है, यह जानकर अब आगे भगवान् यह सिद्ध करते हैं कि कर्म योग ही में कर्म संन्यास शामिल है अतएव कर्म योग श्रेष्ठहै॥

ज्ञेयःसनित्यसंन्यासी योनद्वेष्टिनकाङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वोहिमहावाहो ! सुखंबन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

अर्थ-(महाबाहो) हे अर्जुन (यः) जो मनुष्य (न द्वेष्टि) नद्वेष करता है (न काङ्क्षति) न कोई इच्छा करता है (सः) वह (नित्य संन्यासी ज्ञेयः) कर्मानुष्ठान काल में सर्वदा संन्यासी ही समझा जाता है, उस का कारण यह है कि वह (निर्द्वन्द्वः) राग द्वेष, सुख दुःखादि द्वन्द्वों से रहित हो जाता है (हि) शुद्ध चित्त में हुए ज्ञान के द्वारा (सुखम्) अनायास (बन्धात्) संसार के बंधनों से (प्रमुच्यते) मुक्त हो जाताहै॥

टीका-जो मनुष्य सुख दुःख में समान रहता, अच्छे पदार्थ की इच्छा नहीं करता, बुरे पदार्थ से घृणा नहीं करता, और सब कर्म ईश्वर के अर्पण करता है, वह कर्म के बंधन में नहीं पड़ता और कर्म बंध उत्पन्न न होना यही संन्यासहै तो यह सिद्ध हो गया कि कर्म योग ही में संन्यास सध जाता है। अतएव कर्म योग श्रेष्ठ हुआ। इसी का आचरण करने से गृहस्थाश्रम में ही संन्यास का मूल मिल सकता है और अन्य आश्रम का अवलंबन करने की जरूरत नहीं पड़ती ॥

अब यह जाना गया कि कर्म योग तथा संन्यास योग में से कौन सा श्रेष्ठ है, ऐसा प्रश्न अज्ञानियों का है नकि विवेकियोंका, परंतु अर्जुन तो ऐसी कोई युक्ति विचारने की फिकर में था जिस से युद्ध न करना पड़े, उस ने विचार कर स्मरण किया कि "सांख्य" वा "योग" ये दोनों मार्ग अलहदा २ मोक्ष के वास्ते कहे हैं और यह भी कहा है कि इन दोनों में से यदि एक भी स्वीकार कर लेवे तो भी मोक्ष मिलता है। तो फिर अकेले संन्यास योग से वा अकेले कर्म योग से क्यों मोक्ष न मिलना चाहिये इस का समाधान श्री भगवान् जी आगे करते हैं ॥

सांख्ययोगौपृथग्बालाः प्रवदन्तिनपण्डिताः ।
एकमप्यास्थितःसम्यगुभयोर्विन्दतेफलम् ॥४॥

अर्थ—यहां सांख्य शब्द से ज्ञाननिष्ठा का बोध किया है उसी का अंग संन्यास है यह भी लखाते हैं। कर्म और संन्यास का एक ही फल है इन (सांख्ययोगौ) संन्यासयोग वा कर्मयोगों को (बालाः) अज्ञ लोग ही (पृथक्) अलहदा २ स्वतंत्र (प्रवदन्ति) कहते हैं (न पण्डिताः) परंतु पण्डित नहीं कहते क्योंकि उनमें से यदि (सम्यक्) उत्तम प्रकार से (एकमपि) एक का भी (आस्थितः) आश्रय ले लेवे तो (उभयोः) दोनों के (फलम्) फल (विन्दते) प्राप्त होजाते हैं॥

टीका—निष्काम कर्म योग को उत्तम रीति से साधन करो तो शुद्ध चित्त होकर ज्ञान प्राप्त होता है। कर्म और ज्ञान का जो एक ही फल मोक्ष है सो मिलता है। इसी प्रकार संन्यास का भी भली भांति साधन करने से उसका और उसके पहिले जो कर्म योग का अनुष्ठान कर चुके हैं उसका भी अर्थात् दोनों का फल जो मोक्ष है सो प्राप्त होता है तो फिर पृथक् २ फल कहां हुआ। इसी बात को फिर से आगे स्पष्ट करते हैं॥

यत्सांख्यैःप्राप्यते स्थानं तद्योगैरपिगम्यते।
एकंसांख्यंचयोगंच यःपश्यतिसपश्यति ॥ ५ ॥

अर्थ—संन्यासी लोगों को (यत् स्थानम्) जो मोक्षपद (सांख्यैः) ज्ञान निष्ठा के द्वारा (प्राप्यते) प्रकर्ष करके साक्षात् प्राप्त होता है (तत्) वह (योगैः अपि) कर्मयोगी को भी (गम्यते) प्राप्त होता है क्योंकि कर्मद्वारा शुद्ध चित्त हो कर उन को भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है अतएव (सांख्यम्) ज्ञान को (च योगं च) और कर्म को भी (यः) जो एक ही फल देने वाले समझ कर (एकं पश्यति) एक ही समान देखता है। (स पश्यति) वही आंखों से देखता है नहीं तो अन्धा है॥

(नोट)—शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन प्रकृति के परिणामों से भिन्न आत्मा पुरुष की संख्या

करना सांख्य का मुख्य विषय है और इन्हीं सब से भिन्न अपने स्वरूप में स्थिति रूप समाधि योग का साक्षात् रूप है। शरीरादि जड़ में जो आत्मबुद्धि अविद्या के प्रभाव से हो गयी है उस का मिटाना दोनों सांख्य योग का एक ही उद्देश है। इस लिये एक ही कार्य साधन के लिये सांख्य योग दो दर्शन भिन्न २ होने पर भी सूक्ष्म विचार करने पर एक ही ठहरते हैं॥ (भी० शा०)

टीका-जैसा कि दूसरे अध्याय में कहा है उसी प्रकार देह के तत्वों का विचार करके उन में से आत्मतत्व खोज के निकाल लेना उसी का नाम "सांख्यशास्त्र" है इस का वर्णन १३ वें अध्याय में फिर होगा। चित्तवृत्तियों का निरोध करके आत्मतत्व जानने को "योग" कहते हैं। सांख्यविचार से आत्मतत्व जान कर उस आत्मतत्व को सर्वत्र देखने का अभ्यास करो तो चित्त की एकाग्रता होती है और चित्त वृत्ति को रोक कर अष्टांगयोग साधने से भी वही एकाग्रता होती है अर्थात् सांख्य तथा योग का फल एक ही होता है तो वे एक ही हुए। बुद्धिमान् इन्हें एक ही जानते हैं और जो द्वैत दृष्टि से देखते हैं उन्हें अंधे समझो॥

यह सुन कर अर्जुन ने विचारा कि जब कर्म योगी को भी अखीर में संन्यास ही से ज्ञाननिष्ठा प्राप्त होती है तो फिर पहिले से ही संन्यास का अनुष्ठान करना ठीक है कर्म की क्या जरूरत है ? इस का समाधान आगे करते हैं॥

संन्यासस्तुमहाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तोमुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥

अर्थ-(महाबाहो) हे अर्जुन ! (अयोगतः) कर्मयोग किये विना (संन्यासस्तु) कर्मसंन्यास तो (दुःखमाप्तुम्) दुःख का हेतु है अर्थात् नहीं सध सकता है क्योंकि चित्तशुद्ध न होने से ज्ञाननिष्ठा का होना असंभव है। परंतु (योगयुक्तः) कर्म योग

युक्त मनुष्य चित्त शुद्ध होने के कारण (मुनिः) संन्यासी हो कर (न चिरेण) शीघ्र ही (ब्रह्म—अधिगच्छति) अपरोक्ष ब्रह्म को जानने लगता है अर्थात् मोक्ष पद को पाता है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि प्रथम कर्मयोग का आचरण करके चित्त शुद्ध करे अर्थात् संन्यास से कर्म योग ही श्रेष्ठ है सो कहा भी है कि—

प्रमादिनोबहिश्चित्ताः पिशुनाःकलहोत्सुकाः।
संन्यासिनोपिदृश्यन्ते दैवसंदूषिताशयाः॥

टीका—संन्यास दो प्रकार का है एक में तो शिखा सूत्र त्याग कर स्वतंत्र आश्रम लिया जाता है तथा दूसरे में काम्य कर्म त्यागते हैं। इन दोनों में काम्य कर्म का त्याग करके विहित कर्म करना यह श्रेष्ठ संन्यास का धर्म है, क्योंकि इसमें विहित कर्म भी करना पड़ते हैं, उस से कर्म त्याग का प्रत्यवाय दोष नहीं लगता, यही विहित कर्म विष्णु के समर्पण करने से चित्त शुद्ध होकर काम्य त्याग का सामर्थ्य होता है। इसी प्रकार फलेच्छा त्याग किये विना कर्म समर्पण ही नहीं हो सकता। इस से सिद्ध होता है कि कामना त्याग (संन्यास) और कर्मयोग एक दूसरे की सहायता चाहते हैं। यानी दोनों का आचरण एकदम करते रहना चाहिये। अब काम्यत्याग विना सच्चा कर्मयोग हो नहीं सक्ता, और सच्चा संन्यासाश्रम भी नहीं हो सक्ता। केवल मूंड मुड़ाने वा जनेऊ तोड़ने को संन्यास नहीं कहते किन्तु कामना का नाश करना ही संन्यास है। अतएव इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में कहा है कि कर्म योग भी काम्य त्याग रूपी संन्यास के विना सिद्धयोग नहीं होता योग युक्तो मुनिः" इन्हीं शब्दों में काम्य त्याग रूपी संन्यास का भाव निकलता है क्योंकि "मुनि,, उसका नाम है जो अपने विचार बल से "काम्य त्याग" साध लेवे क्योंकि केवल कर्म योगसे ही मोक्ष नहीं मिलता, मोक्ष का हेतु संन्यास ही है तो मुनि शब्द का अर्थ "संन्यासी" लेना चाहिये। कर्मयोगादि

क्रम से ब्रह्म प्राप्ति होती सही है परन्तु ऊपर देखने से कर्म में बंधन होने की शंका होती है। अतएव भगवान् आगे "योग-युक्त मुनि" की स्थिति और भी वर्णन करते हैं-

योगयुक्तोविशुद्धात्मा विजितात्माजितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपिनलिप्यते ॥ ७ ॥

अर्थ-(योगयुक्तः) जो योग में युक्त अर्थात् योग साधन में तत्पर है उसका (विशुद्धात्मा) चित्त भी शुद्ध होजाता है (विजितात्मा) उसका देह उसके अधीन रहता है अतएव (जितेन्द्रियः) उसकी इन्द्रियां भी वश में रहतीं हैं और (सर्व भूतात्मभूतात्मा) सब भूतों का आत्मा रूप जिसका भूतात्मा होता है अर्थात् यह समझता है कि सब देह जीव और पंचभूत इन सब का आत्मा मैं ही हूं ऐसा मनुष्य लोक संग्रह के हेतु वा स्वाभाविक कर्म (कुर्वन्नपि) करता हुआ भी (न-लिप्यते) उनमें लिप्त नहीं होता ॥

टीका-वह मनुष्य ऐसा समझता है कि जिस जीव को सुख दुःख भोगना पड़ता है वह अपना ही प्रतिबिंब है तथा उसका आत्मा भी अपना है और जिस उपाधि के योग से जीव भाव उत्पन्न होता है उसका भी आत्मा अपना है जैसा सूर्य का प्रतिबिंब पानी में दीखता है परंतु वह तेजस्वरूप प्रतिबिंब पानी है इसी प्रकार जीव भी आत्मस्वरूप ही है। उस योग युक्त को सर्व जगत आत्मभाव दीखता है अतएव वह कर्म करता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता। अहङ्कार शून्य होने के कारण उससे विषय भी दूर रहते हैं, वा वासना रहित होने के कारण उसे विषय भोग की इच्छा नहीं होती अतएव वह " जितेन्द्रिय ,, कहा गया उसकी बुद्धि शुद्ध वा मन भी वशमें रहता है। आत्मा सवार है और देह उसका रथ है सो वह अपने रथ में बैठा हुआ कुछ भी नहीं करता बुद्धि सारथी है और इन्द्रियां घोड़े हैं तो यह

बुद्धि भले बुरे का बिचार करके मन की सहायता से इन्द्रियों को रोक कर अच्छे मार्ग में ले जाती है मन है साईं वा-गडोर हुआ और विषय मार्ग हुए, अतएव सारथी रूप बुद्धि शुद्ध रही तो उत्तम ही निश्चय होगा, बिना निश्चय से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, अतएव योगयुक्त को प्रथम "विशुद्धात्मा" कहा है, उसकी बुद्धि उस ओर जाती ही नहीं जहां नुकसान हो, कभी २ ऐसा होता है कि गाड़ीवान् एक जगह जाने का निश्चय करता है परंतु बैल या घोड़े दूसरी ओर खींच लेजाते हैं परंतु ऐसे प्रसंग में वह गाडीवान् अपनी शक्ति से और वा-गडोर की मदद से जानवरों को रोक लेता है इसी प्रकार बुद्धि का एक निश्चय होने पर यदि इन्द्रियां दूसरी राह जाना चाहें तो बुद्धि रूपी सारथी उन इंद्रिय रूप घोड़ों को अपने बल से वा आत्मा की सत्ता से वा मन रूपी डोरी से खींचकर रोक लेता है। यह मन रूपी डोर जो हाथ से छूटी कि सब रथ मय सामान के सवार सहित गढ़े में गिरा, तथा डोर भी नष्ट भ्रष्ट हो जाती है अतएव मन को सदैव रोकना आ-वश्यक है। सारांश यह कि योग युक्त पुरुष " विशुद्धात्मा " हो कर " विजितात्मा "भी होता है अर्थात् उसका मन उस के अधीन रहता है तभी वह जितेन्द्रिय कहा जाता है ॥

यहां यह शंका होती है कि भला कर्म करता हुआ उसमें लिप्त कैसे न होगा? जब वह स्वयं करही रहा है तो अलहदा कैसे हुआ? इसका समाधान आगे के दो श्लोकों में करते हैं वा जताते हैं कि उस पुरुष को ऐसा अहंकार नहीं रहता कि मैं ही कर्ता हूं अतएव वह कर्मों के बंधन में नहीं पड़ता ॥

नैवकिंचित्करोमीति युक्तोमन्येततत्त्ववित्।
पश्यन्श्रृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्तइतिधारयन् ॥ ९ ॥

अर्थ–(युक्तः) कर्मयोग युक्त समाहित चित्त सावधान मनुष्य कर्म ही से (तत्ववित्) तत्व का जाननेवाला होकर (पश्यन्) देखता हुआ (शृण्वन्) सुनता हुआ (स्पृशन्) स्पर्श करता हुआ (जिघ्रन्) सूंघता हुआ (अश्नन्) भोजन करता हुआ (गच्छन्) चलता हुआ (स्वपन्) सोता हुआ (श्वसन्) श्वास लेता हुआ (प्रलपन्) बोलता हुआ (विसृजन्) मल मूत्र त्याग करता हुआ (गृह्णन्) ग्रहण करता हुआ (उन्मिषन्) नेत्र मूंदता हुआ वा (निमिषन्) नेत्र उघारता हुआ (अपि) भी (इति) ऐसा (मन्यते) मानता है कि (नैवकिंचित्करोमि) मैं कुछ भी नहींकरता वल्कि (इति) ऐसा (धारयन्) समझता है कि (इन्द्रियाणि) सब इन्द्रियां (इन्द्रियार्थेषु) अपने २ विषयों में वा व्यापरों में (वर्तन्ते) वर्त रहीं हैं। वह समझता है कि दर्शन श्रवण इत्यादि नेत्र श्रवणादि ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार हैं पांव का व्यापार गमन, बुद्धि का व्यापार सोना, प्राण का व्यापार श्वांस लेना, और बोलना वाणी का व्यापार है, इत्यादि सब कर्म करता हुआ भी उन के करने में कर्त्ता का अभिमान नहीं रखता अतएव उन में लिप्त नहीं होता जैसा कि इस सूत्र में कहा है "तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशादिति" ॥ वेदान्त सू० ४ । १ । १३ ॥

(नोट) योगी तत्वज्ञानी पुरुष में यह शंका नहीं हो सकती कि वह व्यभिचारादि कुकर्मों को करता हुआ इन्द्रियों का कृत्य माने। क्योंकि जबतक शास्त्रविरुद्ध कामों से चित्त का उपराम न होगा तबतक वह तत्ववेत्ता योगी हा ही नहीं सकता, इस से स्वाभाविक देखने आदि से प्रयोजन है ॥

टीका–जीव को जो २ दुःख भोगना पड़ते हैं वे सब कुबुद्धि की संगति से ही भोगना पड़ते हैं। जीवात्मा पुरुष है और बुद्धि स्त्री है। स्त्री सदैव यह चाहती है कि मेरा पुरुष

सुखी रहै परन्तु यदि वह स्त्री दुष्टा वा मूर्खा हुई तो प्रेम के वश से ऐसा भोजन खिला देती है कि पुरुष को कुपथ्य हो जाता है, वा उस की प्रकृति बिगड़ जाती है परन्तु उसी को यदि उत्तम वैद्य मिल जावे वा उस के कान पकड़े तो वही होशियार हो जाती है और अपने पति को उत्तम भोजन उस की प्रकृति के अनुसार देती है तब वह सुख पाता है, इसी प्रकार कुबुद्धि के योग से जीवात्मा को दुःख भी भोगना पड़ते हैं, परन्तु उसे सत्संगरूपी वैद्य मिल जावे तो वही सुबुद्धि हो जाती है और जीवात्मा को सुखकारी होती है। "तत्वज्ञ" वह कहाता है जो यह समझे कि मैं आत्मा वा अकर्त्ता हूं तो उसे अहंकार कहां से आ सकता है। जबतक बुद्धि में अहंकार है तभी तक वह मैं कर्ता हूं ऐसा मानता है तो यह सिद्ध हुआ कि जिस को यह अभिमान है कि मैं कर्ता हूं उस का कर्म लेप नहीं मिट सकता अर्थात् वह कर्म में लिप्त रहे ही गा, और चित्त शुद्ध न होने के कारण संन्यासी भी नहीं हुआ ऐसे मनुष्य को तो बड़े ही संकट में मग्न होना पड़ता है॥

इस शंका का समाधान करते हुए श्रीभगवान् जी आगे साधक की स्थिति कहते हैं॥

ब्रह्मण्याधायकर्माणि सङ्गंत्यक्त्वाकरोतियः।
लिप्यतेनसपापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥१०॥

अर्थ—(ब्रह्मणि) परमेश्वर को (आधाय) समर्पण करके वा (सङ्गंत्यक्त्वा) उस कर्म के फल की इच्छा त्याग के (यः) जो मनुष्य (कर्माणि करोति) कर्म करता है (सः) वह पुरुष बंध के हेतु जो (पापेन) पाप पुण्य रूपी कर्म हैं उन में (नलिप्यते) लिप्त नहीं होता (इव) जिस प्रकार कि पानी में रहने से भी (पद्मपत्रम्) कमल का पत्र (अंभसा) उस पानी में लिप्त नहीं होता॥

टीका-जो पाप है वही लोहे की बेड़ी है और पुण्य सोनेकी बेड़ी है, तो जब साधक पापों से बचता ही रहेगा तो ऐसा क्यों कहा कि वह पापों में लिप्त नहीं होता पाप से अभिप्राय बंधन शक्ति का है और पुण्य भी सुवर्ण रूपी बंधन है तो साधक पुण्य कर्म करता हुआ भी बंधन में न पड़ेगा इसी अभिप्राय से पाप शब्द यहां रक्खा है॥

बंधन का न होना कहकर अब आगे यह कहते हैं कि सदाचार से भी मोक्ष मिलता है॥

कायेनमनसाबुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनःकर्मकुर्वन्ति सङ्गंत्यक्त्वाऽत्मशुद्धये॥११॥

अर्थ (योगिनः) कर्म योग के साधनेवाले (सङ्गंत्यक्त्वा) श्रवण कीर्तनादि कर्मों के फलों की इच्छा त्याग कर (आत्मशुद्धये) अपनी बुद्धि वा चित्त शुद्ध करने के निमित्त (कायेन) स्नानादि करके अपने देह से, ध्यानादि करके (मनसा) मनके द्वारा तत्त्वों का निश्चय करके (बुद्ध्या) अपनी बुद्धि द्वारा और (केवलैरिद्रियैःअपि) कर्मों में लिप्त न की हुई इन्द्रियों के द्वारा भी (कर्म कुर्वन्ति) कर्म करते हैं॥

टीका-काया के कर्म स्नान संध्यादि हैं। मन का कर्म भगवत् का ध्यान है और बुद्धि के द्वारा यह निश्चय होता है कि सब तत्त्वों में आत्मा है केवल भगवद्भजन से ही मोक्ष मिलेगा, केवल इन्द्रियों का कर्म करता है इसका यह अभिप्राय है कि रजो गुण युक्त इन्द्रियों में जो वासना रहती है वह निष्काम कर्म भगवत् को अर्पण कर देने से नाश हो जाती है। कर्म फलकी इच्छा न करने से यह कर्म योगी केवल अपने अन्तःकरण की शुद्धि के लिये भक्ति योग करता है॥

कर्मों को ईश्वरार्पण कर देने से बंध न हो होता इसका अर्थ कई पाखंडी ऐसा लगाते हैं कि भला बुरा कोई कर्म क-

रने से कुछ अनुचित नहीं क्योंकि नित्य उन को कृष्णार्पण कर दिया कि आप वरी हुए, यह उन की बड़ी भूल है क्योंकि केवल मुंह से कृष्णार्पण कह देना काफी नहीं होता यह तीसरे अध्याय के ३० वें श्लोक " मयि सर्वाणि कर्माणि " में स्पष्ट हो चुका है। कर्म का अभिप्राय जो चाहे सो कर्म नहीं है किन्तु केवल वेद विहित कर्म है, यह अध्याय ४ के श्लोक १७ " कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यम् " में स्पष्ट किया है॥

कर्म करने में सब मनुष्य एक से दीखते हैं तो यह क्यों होता है कि उसी कर्म करके कोई मुक्त होता और कोई बंधन में पड़ता है? इस का समाधान आगे करते हैं॥

युक्तःकर्मफलंत्यक्त्वा शान्तिमाप्नोतिनैष्ठिकीम्।
अयुक्तःकामकारेण फलेसक्तोनिबध्यते ॥१२॥

अर्थ–(युक्तः) एकपरमेश्वर ही में निष्ठा करनेवाला कर्म योगी (कर्मफलंत्यक्त्वा) कर्मों का फल त्याग के कर्म करता है अतएव (नैष्ठिकीम्) अपनी निष्ठा के अनुसार अत्यन्त (शान्तिम्) जिसे मोक्ष कहते हैं उस शान्ति को (आप्नोति) पाता है वा इतर (अयुक्तः) बहिर्मुख लोग (कामकारेण) कामना में प्रवृत्त होने के कारण (फलेसक्तः) कर्म के फल में आसक्त हो कर (निबध्यते) बंधन को प्राप्त होते हैं॥

टीका–यहां तक ज्ञानी पुरुष का अकर्त्तापन वा उस के सम्बन्ध में और भी कई बातों का वर्णन हुआ और यह भी कहा गया कि अशुद्ध चित्तवाले को संन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है, अब यहां एक यह शंका होती है कि अज्ञानी को " चिदात्मा " नहीं समझ पड़ता इसी कारण वह अपने " अकर्त्तापन को भी नहीं समझ सकता, तथापि वह " चिदात्मा " अकर्त्ता ही बना रहता है जो अज्ञानी ने नहीं समझा तो इस से वह " चिदात्मा " कुछ " कर्त्ता " न हो गया तो फिर वह कर्म बन्धन में क्योंकर पड़ सकता है?॥

इस का समाधान आगे के श्लोक में होगा और यह भी कहेंगे कि शुद्ध चित्तवाले को संन्यास श्रेष्ठ है ॥

सर्वकर्माणिमनसा संन्यस्यास्तेसुखंवशी ।
नवद्वारेपुरेदेही नैवकुर्वन्नकारयन् ॥ १३ ॥

अर्थ–(वशी) जितेन्द्रिय वा शुद्धान्तःकरण वाला जित-चित्त पुरुष (मनसा) अपने विवेक बल से विक्षेप करने वाले (सर्वकर्माणि) सब कर्मों को (संन्यस्य) संन्यास यानी त्याग करके (देही) देह धारण किये हुए (नवद्वारे पुरे) इस देह-रूपी नव दरवाजे वाले नगर में (सुखम्–आस्ते) सुख से बैठा रहता है यह देहरूपी नगर अहङ्कार शून्य रहता है अतएव अहङ्कार के अभाव से इस देह से वह आप (कुर्वन्नैव) न कुछ करता है (न कारयन्) न करवाता है, अर्थात् न तो वह कर्त्ता बनता है, और न प्रेरक बनता है ॥

(नोट) शिर में चक्षु आदि सात और मलमूत्र त्याग के दो, ये नव छिद्र द्वाररूप हैं। स्त्री के देह में एक छिद्र अधिक होता है। एक नाभि का और एक तालु का ले कर उपनिषद् में ग्यारह द्वार लिखे गये हैं ॥ (भी० श०)

टीका–२ नेत्रके २ नाक के छिद्र २ कान वा १ मुख ऐसे ७ द्वार शिर में हैं वा पायूपस्थरूप (गुदा वा लिङ्ग) २ द्वार नीचे, ऐसे ९ दरवाजे इस देह में हैं। वह देही आप कुछ नहीं करता क्योंकि अहङ्कार शून्य है वा और से नहीं कराता क्योंकि वह किसी को अपना नहीं मानता। करने वा कराने का अहङ्कार अशुद्ध चित्त में होता है परन्तु वह वशी पुरुष अपना चित्त शुद्ध कर लेता है। अतएव न करता है और न कराता है, इसी से सुख से बैठता है। सत्व के चार भेद हैं १ अहंकार २ चित्त ३ बुद्धि ४ मन, अन्तःकरण द्वारा आत्मबोध होता है वह आत्मसत्ता से इतर जड़ पदार्थों को चेताता है, अतएव उस का नाम चित्त है, जिस के द्वारा निश्चय होता है उसे बु-

द्धि कहते हैं और मन से सङ्कल्प विकल्प होते हैं, इन सब में आत्मता अव्यय है वा ज्ञानी पुरुष उसी को अन्तःकरण में देखता हुआ मग्न रहता है अपने को वा जड़ को चेताने वाला चित्त प्रारब्ध भोग हुए पर्यन्त कायम रहता है और वह समाधि काल में ब्रह्मस्वरूप में उसी प्रकार लय होजाता है जिस प्रकार अज्ञानी सुषुप्ति में लीन होते हैं। संयमी पुरुष इन चित्त को वा बुद्धि को अकर्ता मानकर अपनी बुद्धि को अन्तःकरण में लय करता है तब वह चिन्मय हो जाता है। फिर मन संकल्प विकल्प करने वाला बचा, सो उसकी सहायता से पूर्व संस्कारानुरूप इन्द्रियां विषयों पर झुकती हैं परन्तु बुद्धि अकर्ता बन कर इन सब को अलहदा दिखाती है इस प्रकार देखने वाला पुरुष मन और इन्द्रियों तथा विषयों को अलग छोड़कर अपनी बुद्धि से अपन को अकर्ता मानता है और सुख से इस नवद्वार पुर में रहा करता है, परंतु मन को मोकला नहीं छोड़ता वा वासना रहित बुद्धि द्वारा उसको विषयों में प्रीति नहीं करने देता जैसे घोड़ा की लगाम सवार अपने हाथ में रखकर उसे नियमित स्थान में ही फिरने देता है उसी तरह यह ज्ञानी पुरुष मनरूपी घोड़े की लगाम अपने हाथ में रखकर उसे इन्द्रिय द्वारा नियमित विषय ही ग्रहण करने देता है, परन्तु उस पुरुष की सत्ता से यह सब कर्म होते हैं तो यह कहा हो जावेगा कि वही करवाता है परन्तु भगवान् कहते हैं कि यह बात नहीं है। जैसे सूर्य के प्रकाश से सृष्टि में भले बुरे सब काम होते हैं परन्तु इन का जवाबदार सूर्य नहीं होता। इसी प्रकार कर्म करवाने का दोष पुरुष को नहीं लगता तो फिर कर्म होते ही कैसे ? इसका उत्तर यह है, चुंबक का सहज स्वभाव है कि लोहा उस के निकट आने से आप ही आप नाचने लगता है परन्तु चुंबक न तो आप नाचता और न नचाता है इसी प्रकार ज्ञानी कर्म न करता

और न करवाता वह कर्म प्रकृति के गुणों के अनुसार आप से ही हुआ करते हैं। अतएव ज्ञानी को उन का बंधन नहीं होता अज्ञानी लोगों की बुद्धि अपना अकर्तापन नहीं समझती इसी लिये उनको कर्म बंधन होता है, इस में श्रुति का वाक्य है,

"एष एव साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यउन्निनीषते । एषएवासाधुकर्म्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते"

इत्यादि इस से वा लोगों की समझ से यह जाना जाता है कि शुभाशुभ कर्म वा उन के फल ईश्वर ही की प्रेरणा से यह जीव करता है, वह स्वतंत्र नहीं है तो उन को कैसे त्याग सकता है, पुनः ईश्वर ही की प्रेरणा से पुरुष को ज्ञान मार्ग मिलता है जिस से वह शुभाशुभ त्याग देता है तो स्वयं कर्ता कहां से हुआ ईश्वर ही प्रेरक है इससे वही पुण्य पाप का कराने वाला हुआ । इसका समाधान आगे दो श्लोकों में करतेहैं॥

नकर्तृत्वंनकर्म्माणि लोकस्यसृजतिप्रभुः ।
नकर्मफलसंयोगं स्वभावस्तुप्रवर्तते ॥ १४ ॥

अर्थ–(प्रभुः) शुद्ध सच्चिदानन्द निर्विकार ईश्वर (लोकस्य) लोगों के अर्थात् जीवों के (नकर्तृत्वम्) न तो कर्तापन को और (न कर्माणि) न कर्मों को (सृजति) उत्पन्न करता है परन्तु इस जीव का स्वभाव अविद्या है सो वह उसी के द्वारा कर्तापन प्रगट करता है । यह ईश्वर (न कर्मफल संयोगम्) कर्म के फल प्राप्ति का भी कारण नहीं बनता न उसे उत्पन्न करता है । केवल अनादि अविद्या के वश में होकर (स्वभावस्तु) मनुष्यों का स्वभाव ही (प्रवर्तते) कर्म में लगा देता है ईश्वर आप ही कर्त्तापन उत्पन्न नहीं करता और यह जो कुछ देहादि सुना जाता है सो सब अविद्या का खेल है ॥

टीका–जो अपने को कर्म का कर्ता मानता है वही उस कर्म फल का भोगने वाला भी अपने को जानता है, यद्यपि आत्मज्ञान से यह समझ पड़ता है कि यह सब मिथ्या है तथापि भोग काल में अहंपन आही जाता है कर्त्तापन या कर्म का फल यथा काल आपही आप मिलता है जैसे वृक्ष में यथा समय फल लगते हैं ॥

भगवान् ने अपन को "प्रभु" इस कारण कहा है कि मैं सब पुरुषार्थ देने को समर्थ हूं कर्म वा फल के संयोग से अनर्थ होता है परंतु वह उन को है जो ईश्वर को नहीं भजते, फल की इच्छा रख के जो कर्म करते हैं वे अपने हाथ से अपने पांव में बेड़ी डाल लेते हैं और जो ईश्वरार्पण कर देते हैं उन का जबाबदार ईश्वर हो जाता है। जैसा कि अध्याय ४ के श्लोक ११ "ये यथा मांप्रपद्यन्ते" में कहा है। जो जिस तरह उसको भजे उसी प्रकार वह उसे फल देता है देखो रहस पंचाध्यायी स्कंध १० अ० ३२ श्लोक १७ से २१ तक इसी कारण ईश्वर को विषमता का दोष नहीं, तथापि कर्म जड़ और उसका कर्त्ता जीव विस्मरण शील होने के कारण ईश्वर उस से कर्म भुगवाता है और कर्म फल संयोग भी ला देता है जैसे अच्छी धरती में बीज बोओ तो वह बीज ही फल देता है कुछ जमीन उस फल को नहीं बनाती। इसी प्रकार ईश्वर विना कर्म फल नहीं देता किन्तु उसी की शक्ति से फल होता है जीव की प्रवृत्ति पूर्व संस्कारानुरूप आप ही से होती है ॥

इस विषय का स्पष्ट वर्णन अध्याय २ के ५० श्लोक "बुद्धि युक्तो जहातीह" में हो चुका है ॥

नादत्तेकस्यचित्पापं नचैवसुकृतंविभुः ।
अज्ञानेनावृतंज्ञानं तेनमुह्यन्तिजन्तवः ॥ १५ ॥

अर्थ–सब का प्रेरक होने पर भी (विभुः) प्रभु ईश्वर (कस्यचित्) किसी का भी (पापम्) पाप वा (सुकृतंच) पुण्य

(न आदत्ते) नहीं लेता क्योंकि वह विभु परिपूर्ण वा आप्त काम है, यदि वह स्वार्थ की कामना से जीव के द्वारा पाप पुण्य करवाता तो वैसा होता, परन्तु यह बात नहीं है किन्तु जब ईश्वर अपने भक्तों पर अनुग्रह करता है और अभक्तों पर कोप करता है तो इस में विषमता आ गई और आप्त काम न रहा इस लिये कहते हैं कि ईश्वर का कोप भी अनुग्रह रूप है। इस बात का (अज्ञानेन) ज्ञान न होने से परमेश्वर सर्वत्र सम है ऐसा (ज्ञानम्) ज्ञान (आवृतम्) ढंका रहता है अतएव (तेन) उसी कारण से (जन्तवः) सर्व जीव (मुह्यन्ति) मोह को प्राप्त होकर ईश्वर में विषमता मानते हैं॥

टीका–जो कोई दूसरे से अपराध कराता वा उसका कौतुक भी देखता है तो वही आप अपराधी बनता है ईश्वर ऐसा नहीं करता अतएव वह मनुष्यों के अपराध का भागी नहीं हो सकता परंतु अपने जनके हाथ सुकृत कराके भी तो वह उसे सद्गति नहीं देता तो वह निर्दयी हुआ ? ॥

इस का समाधान यह है कि यदि ईश्वर आप ही जन से सुकृत कराने जावे तो उसकी दयालुता में अंतर पड़ता है जैसे माता बालक को माटी नहीं खाने देती तो वह रोता है और दूध पिलाने में भी रोता है इसी प्रकार यदि ईश्वर जबरदस्ती से सुकृत करावे तो करनेवाले को तत्काल दुःख होगा उसे दुःख हुआ कि ईश्वर निर्दयी कहलाया। अतएव वह सुकृत भी नहीं कराता॥

अब यह शंका होती है कि जो ईश्वर पाप फल निवारण नहीं करता तो भी निर्दयी दीखता है परंतु ऐसा करने से जो पाप कर्मों में आसक्त हैं उनको दुःख होगा अतएव ईश्वर पाप फल भी निवारण नहीं करता इस पर से यह प्रश्न हो सकता है कि ईश्वर ऐसा क्यों नहीं कर देता कि किसी का पाप करने को चित्त ही न चाहे? इसका उत्तर यह है कि अनादि प्रवाह के कारण जो होनेवाला है वही होता है यह जगत् प्रपंचरूपीवृक्ष माया के वश उपजता रहता और नाश भी होता है इसी माया के

योग से ब्रह्म भी ईश्वर बनता है अतएव ईश्वर उस माया को त्याग हो नहीं सकता, ब्रह्म माया को छोड़ना भी चाहे तो वह निर्धर्म होने के कारण छोड़ नहीं सकता, यही माया ब्रह्म बीज का अङ्कुर है। अतएव जब तक बीज ही नाश न हो तब तक अंकुर बना ही रहैगा। ब्रह्म वा माया के योग से यह सृष्टि सदैव इसी प्रकार बनती रहती है इस अनादि प्रवाह को न ईश्वर बंद कर सक्ता और न ब्रह्म ॥

अब यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर सम वा सदय है परंतु वह किसी के पुण्य पाप अपने ऊपर नहीं लेता इसी से महाराज ने यह कह दिया है कि न"कर्तापन"को और न कर्म को रचता है किन्तु "स्वभावस्तुप्रवर्त्तते,, आत्मा के समान जीवात्मा भी अकर्ता है परंतु बंध और मोक्ष बुद्धि के माथे है । जब तक इस बुद्धि को आत्मा का बोध होकर वासना का नाश नहीं होता तब तक वह अज्ञान के कारण "अकर्तापन,, नहीं समझती जहां उसने आत्मा को जानलिया कि उस का अज्ञान गया वा अकर्ता बनी और कर्म बंध का नाश हुआ आत्मा अकर्ता और कर्म मिथ्या यही परम ज्ञान है अध्याय २ के श्लोक ४५ को देखो ॥

अब आगे श्रीकृष्ण जी उस परम ज्ञान के लक्षण कहते हैं वा सुझाते हैं कि ऐसे ज्ञानी " नमुह्यन्ति ,, अर्थात् मोह को प्राप्त नहीं होते ॥

ज्ञानेनतुतदज्ञानं येषांनाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयतितत्परम् ॥१६॥

अर्थ–(तु ; परन्तु (आत्मनः) आत्मा के अथवा भगवत् के (ज्ञानेन) उपरोक्त ज्ञान द्वारा (येषाम्) जिन लोगों का भगवत की विषमता रूपी (तत्–अज्ञानम्) वह अज्ञान (नाशितम्) नाश हो गया है (तेषाम्) उनका अज्ञान नाश होकर वह (ज्ञानम्) ज्ञान (तत्परम्) परिपूर्ण ईश्वर स्वरूप (आदित्यवत्) सूर्यके

समान (प्रकाशयति) प्रकाश होता है अर्थात् जिस प्रकार सूर्य अंधकार को नाश करके संपूर्ण वस्तुओं को प्रकाश कर देता है उसी प्रकार वह ज्ञान सर्व अज्ञान को नाश करके यथार्थ ईश्वर रूप प्रकाश कर देता है ॥

टीका—जिस प्रकार भ्रम के कारण रस्मी का सर्प दीखना है वह भ्रम मिट जाने से रस्मी ही दीखती है उसी प्रकार बुद्धि को भ्रम हो जाने से आत्मा जान पड़ता वा रजस् तमस् स्वरूप प्रपंच मय दीखता है यह भ्रमरूपी अज्ञान गया कि ज्ञानस्वरूप आत्मा दीख पड़ता है। जिन ईश्वर उपासकों को ऐसा ज्ञान हो जाता है उनको जो फल मिलता है सो आगे कहते हैं॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

अर्थ—(तद्बुद्धयः) जिनकी निश्चयात्मक बुद्धि उसी ज्ञान रूपी ईश्वर में होती है (तदात्मानः) जिनका आत्मा वा चित्त भी उसी में लीन रहता है वा (तत्परायणाः) जिनका वही एक आश्रय रहता है और उसी (ज्ञाननिर्धून कल्मषाः) आत्मज्ञान के द्वारा तथा ईश्वर प्रसाद से जिनके पातक नाश हो जाते हैं वे लोग (अपुनरावृत्तिम्) जहां से फिर लौटना नहीं पड़ता उस पद को अर्थात् मोक्ष को (गच्छन्ति) पाते हैं॥

टीका—" तद्बुद्धयः" इस शब्द से " मनन " वा निदिध्यासन बताया है। जो गुरु मुख से सुना है उसको नाना युक्तियों से चिंतवन करने को "मनन" कहते हैं, इस मननसे सत्यासत्य का निश्चय होता है और उसी निश्चयमें प्रत्येकक्षण मनको लगाये रहने से क्रिया का "निदिध्यासन,, कहते हैं ये दोनों काम बुद्धि के हैं " तदात्मानः ,, इस पद से साक्षात्कार बताया है। "व्यतिरेक वा " अन्वय ,, ये दोनों "मनन,, वा "निदिध्यासन" की रीति हैं। आत्मा को सत्य और जड़ प्रपंच को असत्य जानने को " व्यतिरेक,, कहते हैं वा सर्व जड़ प्रपंच को आत्म-

स्वरूप देखने को अन्वय कहते हैं। इन दोनों रीतियों से " मनन,, वा "निदिध्यासन,, करने से चित्त तदाकार होजाता है। बुद्धि वा चित्त तदाकार हुआ कि " आत्मतत्त्व ,, प्राप्त हुआ, उसी को " तन्निष्ठा ,, कहते हैं। जब तक यह विश्वास न रक्खे कि आत्मज्ञान ही तारक है तब तक ऊपर लिखे अनुसार " श्रवण मनन,, वा "निदिध्यासन,, नहीं बनता ऐसे विश्वास को रखने वाले (तत्परायणाः) कहाते हैं। इस प्रकार से योग परिपक्व हुआ कि जन्म जन्मांतर के संचित पाप पुण्य का नाश होता है। " क्रियमाण ,, का लोप नहीं होता यह " ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ,, इस पद से सुझाया है। इस प्रकार कर्मनाश हुआ कि मोक्ष मिला परंतु प्रारब्ध भोग किये तक देह धरना अवश्य होता है तब तक यह ज्ञानी कैसा बर्ताव करता है सो आगे कहते हैं ॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणेगविहस्तिनि ।
शुनिचैवश्वपाकेच पण्डिताःसमदर्शिनः ॥१८॥

अर्थ-(विद्याविनयसम्पन्ने) विद्या और विनय युक्त (ब्राह्मणे) ब्राह्मण में (गवि) गाय में (हस्तिनि) हाथी में (शुनि) श्वान में (चैव) और (श्वपाके च) चाण्डाल में (पण्डिताः) विषम में भी सम रह कर ब्रह्म को देखनेवाले ज्ञानी लोग (समदर्शिनः) इन सब में एकभाव से देखते हैं। इन सब में कर्म की वा जाति की विषमता है परन्तु ज्ञानी लोग आत्मज्ञान से सब को एकदृष्टि से ब्रह्मरूप देखते हैं यद्यपि व्यवहार में ये सम नहीं हैं ॥

नोट--इस श्लोक में समदर्शी शब्द कहाहै और दर्शन का अर्थ जानना है। सो वह दर्शन परमार्थ विचार से बनता है। व्यवहार कोटि में वह ज्ञान नहीं आसक्ता। ज्ञान दृष्टि से दूध में घी है तो अवश्य और सभी को मान ने भी पड़ता है परन्तु व्यवहार में घी मांगने पर दूध नहीं लाया जासक्ता

सभी पदार्थों में जल तथा अग्नि व्यापक विद्यमान हैं परन्तु व्यवहार कोटि में खास प्रसिद्ध अग्नि जलही अग्नि जल माने जाते हैं। सब प्रकार के मोटे महीन कपड़ों में एक ही प्रकार के रुई कपास के परमाणु विद्यमान तथा ओत प्रोत हो रहे हैं। इस ज्ञान दृष्टि से सब वस्त्र एक ही समान रूप हैं परंतु व्यवहार कोटि में गजी मलमल आदि में बड़ा भेद है। सभी व्यवहार स्थूल विचार को लेकर चला है। इसी के अनुसार ब्राह्मण, भंगी, कुत्ता आदि में सत्--चित्त--आनन्दरूप से वा अस्ति--भाति—प्रियरूप से एकही चितिशक्ति विद्यमान है। इसी सूक्ष्मांश को लेकर समदर्शी होना परमार्थ के विचार से कहा है। व्यवहार कोटि में स्थूल विचार से माने हुए ब्राह्मण पन कुत्तापन आदि के भेद का स्थूलांश परमार्थ ज्ञान के लक्ष्य से भिन्न ही है उस का खंडन वा मण्डन दोनों ही यहां अपेक्षित नहीं हैं॥ (भी० श०)

टीका—जिस बुद्धि के द्वारा तत्त्वदृष्टि से सर्व ब्रह्मरूप देखा जाता है उसी बुद्धि से उत्तमाधम का भी विचार होता है, अतएव सब को समदृष्टि से देखना चाहिये परन्तु वर्ताव तारतम्य से करे। ब्रह्म सर्वत्र है यह ज्ञान हुआ परन्तु उस का जो वर्ताव है सो कर्म है अतएव वर्ताव यथायोग्य होना चाहिये। जैसे कान नाक मुख भी देह है परन्तु मुख का कौर नाक में नहीं खा सकते, इसी प्रकार आत्मनिष्ठा के द्वारा दृष्टि तो सम राखे परन्तु वर्ताव यथायोग्य ही राखे। देव पाषाण का हुआ वा उसी पाषाण की सीढ़ी भी हुई तो सीढ़ी पर जूता रख सकते हैं परन्तु देव के पांव पर मस्तक रक्खा जाता है। पीतल की पीकदानी वा पीतल का संध्यापात्र भी हुआ तो एक दूसरे के काम नहीं पड़ सकता अर्थात् जो जिस लायक होगा उस से वही काम किया जाना चाहिये। सम देखने को ही अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं॥

विषम में सम देखने का निषेध करते हुए भी वे समदर्शी पंडित जीवन् मुक्त हैं यह आगे कहते हैं। गौतम जी ने भी

यही कहा है कि–" समासमाभ्यां विषमसमेपूजात " इति ॥ अर्थ–पूजा में जो सम को विषम करते हैं और विषम को सम प्रकार से मानते हैं वे पूजक इस लोक से और परलोक से भी पतित हैं ॥

इहैवतैर्जितःसर्गो येषांसाम्येस्थितंमनः ।
निर्दोषंहिसमंब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणितेस्थिताः ॥१९॥

अर्थ–(येषाम्) जिन का (मनः) मन (साम्ये) समता में (स्थितम्) स्थित है अर्थात् जिन के मन सम हो गये हैं (तैः) उन के द्वारा (इहैव) जीते हुए भी इसी लोक में (सर्गः) संसार (जितः) जीता गया है अर्थात् वे इसी जन्म में जन्म मरण को जीत लेते हैं क्योंकि (ब्रह्म) ब्रह्म (निर्दोषं-हि) निश्चय करके निर्दोष वा (समम्) सम है (तस्मात्) तिस कारण से (ते) वे समदर्शी लोग (ब्रह्मणि एव) ब्रह्म ही में (स्थिताः) स्थित हैं अर्थात् ब्रह्मभाव को प्राप्त होजाते हैं॥

टीका–श्लोक १८ में जो समदर्शन कहा है वही ब्रह्मस्थिति है इस स्थिति में रहने से जड़ वा ब्रह्म एक ही दीखते हैं उसी से जन्म मरण की बाधा से छुटकारा होता है। जड़ में जो भ्रम है उसी का नाम सर्ग है जब यह भ्रम गया कि जड़ और ब्रह्म एक हुए अर्थात् अन्वय ज्ञान हुआ तो पुनर्जन्म छूटा समझो, जो लोग निर्दोष (दयावान्) और सम नाम (विषमता रहित सगुण ब्रह्म में स्थित यानी लीन हैं उन्हीं को समदृष्टि प्राप्त होती है क्योंकि श्रीभगवान् जी पहिले भी कह चुके हैं कि–"ये यथा मां प्रपद्यन्ते " अध्याय ४ श्लोक ११ इस श्लोक का विस्तार यहां तक आया है। और पूर्वापर सम्बन्ध से स्पष्ट दीखता है कि इस श्लोक में कहे हुए ब्रह्म का अभिप्राय सगुण ब्रह्म ही है। जब ऐसे निर्दोष सम ब्रह्म में लीन हो गये तो दोष युक्त वा विषय संसार को आप ही जीत लिया॥

अब आगे उन के लक्षण कहते हैं जो ज्ञानी ब्रह्मभाव को प्राप्त होकर सगुण भक्तिके द्वारा जीवन्मुक्त कहे जाते हैं॥

नप्रहृष्येत्प्रियंप्राप्य नोद्विजेत्प्राप्यचाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणिस्थितः ॥ २०॥

अर्थ-(ब्रह्मवित्) ब्रह्म को जान कर जो (ब्रह्मणिस्थितः) ब्रह्म ही में स्थित है वह (प्रियम्) अपने प्रिय पदार्थ को (प्राप्य) प्राप्त करके (न प्रहृष्येत) विशेष कर हर्षवान् नहीं होता (च) और (अप्रियम्) अप्रिय पदार्थ को (प्राप्य) प्राप्त करके न (उद्विजेत्) विषाद नहीं मानता क्योंकि उस की (स्थिरबुद्धिः) बुद्धि स्थिर हो जाती है, और (असंमूढः) अज्ञान का नाश हो जाने के कारण वह मोह को प्राप्त नहीं होता ॥

टीका-जिस की विषय वासना गई उस को प्रियपदार्थ में हर्ष और अप्रिय में विषाद कहां से आया? केवल प्रारब्ध भोगने तक पूर्वसंस्कार के अनुरूप उस का देह अपना वर्ताव करता है परन्तु उस की बुद्धि ब्रह्म में स्थिर रहने के कारण उस बुद्धि को हर्ष विषाद नहीं होता ॥

अब आगे वह उपाय वताते हैं जिस से मोह निवृत्त हो कर बुद्धि स्थिर होती है ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनियत्सुखम्।
सब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥

अर्थ-जिन का स्पर्श इन्द्रियां करें उन का नाम "स्पर्शाः" अर्थात् विषय (बाह्यस्पर्शेषु) ऊपरी इन्द्रियों के विषयों में (असक्तात्मा) जिस का चित्त आसक्त नहीं होता वह (आत्मनि) अपने अन्तःकरण में (यत्) जो उपशमात्मक (सुखम्) सात्विक सुख है उस को (विन्दति) प्राप्त करता है (सः) वही उपशम सुख को (ब्रह्मयोगयुक्तात्मा) योग समाधि द्वारा ब्रह्म में लीन हो कर अर्थात् ब्रह्म वा आत्मा की एकता को प्राप्त करके (अक्षय्यं सुखम्) जिस का कभी नाश न हो ऐसे सुख का (अश्नुते) भोग करता है ॥

टीका–विषय वा इन्द्रियों के संयोग से सुख तो सही होता है परन्तु परिणाम में उन के वियोग का दुःख है ही अतएव मोक्ष चाहने वाले विषयों से विरक्त रहते हैं। मन अपने स्वभाव से विषयों पर दौड़ता है परन्तु निश्चयात्मक बुद्धि से उसे रोक के आत्मस्वरूप में लगाना चाहिये। एक वार यह सुख चखा कि फिर मन महाराज विषयों की ओर ही न देखेंगे। जैसे नवोढा स्त्री को एकवार अपने पति संयोग का सुख मिला कि फिर दूसरीवार सास वगैरह को उस के पास जान को कहने की जरूरत नहीं पड़ती। उसी प्रकार मन आत्मस्वरूप का सुख पाते ही बुद्धि की सहायता फिर नहीं चाहता, विषयों का सुख आत्मा ही को होता है यह सही, परन्तु उस में दुःख जान कर बुद्धिमान् उस असल आत्मसुख को चाहते हैं जिस में कभी दुःख का नाम नहीं, यह आगे कहते हैं॥

येहिसंस्पर्शजाभोगा दुःखयोनयएवते।
आद्यन्तवन्तःकौन्तेय नतेषुरमतेबुधः॥ २२॥

अर्थ–(कौन्तेय) हे अर्जुन! (येहि) जो कि (संस्पर्शजाः) विषयों से उत्पन्न हुए (भोगाः) सुख भोग हैं (ते) वे सब (दुःखयोनयः) वर्तमान काल में भी स्पर्द्धा असूया–निन्दा युक्तहोने के कारण दुःख के (एव) ही जन्मस्थान हैं तथा उन का (आद्यन्तवन्तः) आदि भी है वा अन्त भी है अतएव (बुधः) विवेकी ज्ञानी पुरुष (तेषु) उन में (न रमते) आनन्द नहीं मानता है॥

टीका–विषय भोग होने के पहिले उन की इच्छा ऐसी बलवती होती है कि मनुष्य विकल होता है फिर वह भोग-इच्छा पूर्वक मिल गया वा उस का वियोग हुआ तो भी दुःख होता है। अतएव उन के आदि वा अन्त दोनों में दुःख है। जबतक विचार कायम है तबतक ठीक है परन्तु एकवार का-

मना की हवा छुटी कि विवेक रूप दीप को बुझा देती है, वा मनुष्य भोगप्राप्ति के उपाय में मग्न हो जाता है। उस में बाधा आई कि क्रोध खड़े ही हैं, फिर वही दशा होती है जो अध्याय २ के ६२।६३ श्लोक में कही है अतएव आत्मानन्द में ही यत्न करना श्रेष्ठ है॥

यह सुन कर अर्जुन ने विचारा कि "भोगत्याग" तो बड़ा दुस्तर है, और श्री भगवान् जी की ओर देखने लगा तब श्रीभगवान् जी आगे बोलते हैं कि मोक्षमार्ग ही परम पुरुषार्थ है, वा यद्यपि कामक्रोध का वेग उस का प्रबल शत्रु है तथापि इन को सहन करने में जो समर्थ है वही मोक्षका भागी है॥

शक्नोतीहैवयःसोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवंवेगं सयुक्तःससुखीनरः ॥ २३ ॥

अर्थ-(कामक्रोधोद्भवं वेगम्) काम से वा क्रोध से उत्पन्न हुआ जो वेग अर्थात् मन वा नेत्रादि का क्षोभरूप है उस को (इहैव) इस लोक में उस के उत्पन्न होते समय पर ही (शरीरविमोक्षणात्प्राक्) क्षणमात्र नहीं वल्कि यह शरीर छोड़ने के पहिले ही अर्थात् जब तक जीवे तब तक (यः) जो मनुष्य (सोढुं शक्नोति) सहन कर सकता वा रोक सक्ता है (सः) वही (नरः) मनुष्य (युक्तः) समाहित योगी और (सः सुखी) वही सुखी पुरुष है॥

टीका-काम वा क्रोध स्वतः अचेतन हैं तथा अपने मन के द्वारा ही जीते जाते हैं विवेक और वैराग्य ही उनके नाश करने के हथियार हैं, इनको सदैव काम में लाते रहो तौ कामक्रोध मन को नहीं चला सकते। विचार से काम न निकले तो आत्मस्वरूप का आश्रय करे। अथवा विरक्त महात्मा का सत्संग करे। केवल काम क्रोध के वेग को रोकने से मोक्ष नहीं मिलता किन्तु और भी कुछ चाहिये सो आगे कहते हैं॥

योऽन्तःसुखोऽन्तराराममस्तथान्तर्ज्योतिरेवयः ।
सयोगीब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥२४॥

अर्थ--(यः) जो (अंतःसुखः) अपने आत्मा ही के बीच में सुख पाता है और विषयों में सुख नहीं मानता तथा (अंतरारामः) जो बाहिर की क्रीडा व विश्राम को न लेकर केवल अपने आत्मा ही में क्रीडा वा विश्राम करता है (तथा) और जो गीत नृत्यादि को न देख कर (अंतर्ज्योतिरेव यः) केवल अपने अंतःकरण में ही दृष्टि रखता है (स योगी) वही पूर्ण योगी (ब्रह्मभूतः) ब्रह्म में स्थित होकर (ब्रह्मनिर्वाणम्) ब्रह्म ही में लय (अधिगच्छति) पावता है अर्थात् पूर्ण परमानन्द रूपी आत्मा में लीन होकर जन्म मरण से छुटकारा पाता है ॥

टीका---ऐसा ही योगी काम क्रोध के वेग को रोक सक्ता है जो बाहरी विषयोंमें आसक्त न हो वह अपने ही में सुख मानता और अपने ही बीचमें रमता है। वह सर्व विषयोंतथा इन्द्रियों को ब्रह्म दृष्टि से ही देखताहै। जिस प्रकार वस्त्र में सब ओर तंतु ही दीखते हैं उसी प्रकार वह सर्व जड़ प्रपंच में आत्मा ही को देखता है और उसी में रमण करके सुख मानता है। इन वाक्यों में द्वैत भाव उत्पन्न होता है अतएव उस के निवारणार्थ श्रीभगवान् कहते हैं कि वह योगी आप ही अंतर्ज्योति बन कर रहता है ज्योति नाम ज्ञान का प्रकाश-बाहरी प्रकाश व अंधकार दोनों को प्रकाशित करता है। जैसे सूर्य अलंकार को प्रकाशित करता है और सुवर्ण उस अलंकार में वर्तमान ही रहता है परंतु अंधकार में सोना नहीं दीखता केवल अलंकार ही हाथ में भासता है इस से सिद्ध हुआ कि सूर्य के बिना अलंकार रह सक्ते हैं परंतु सुवर्ण के विना नहीं रह सकते तो सोना ही अलंकार की

ज्योती हुआ। इसी प्रकार आत्मा को सर्व जगत् की ज्योति स-मझना चाहिये। अतएव अन्तर्ज्योति पुरुष स्वतः आत्मा ही है उसी का नाम "ब्रह्मभूत" है परंतु जब वह ब्रह्म ही है तो ब्रह्म तो निर्गुण है फिर इस पुरुष को त्रिगुणात्मक देह न होना चाहिये इसको स्पष्ट करने के वास्ते भगवान् ने कहा है कि वह "ब्रह्मनिर्वाणमधिगच्छति" अर्थात् प्रारब्ध भोग पूर्ण होते ही वह पुरुष इसी देह में निर्वाण (मोक्ष) पावता है, यद्यपि उसका प्रतिबिंब (जीव) बिंब (ब्र-ह्म ईश्वर) में मिला रहता है तथापि प्रारब्ध भोग समय उसको फिर जीव भाव यानी (प्रतिबिंबभाव) उत्पन्न होता है उसकी अविद्या नाश हुई रहती है परंतु बुद्धि कायम र-हती है वा उसी बुद्धि में इन्द्रियां भरी रहती हैं। जैसे बने हुए चांवल बर्तन में खाने के लिये भरे रहते हैं ये चांवल खाने के काम में आते हैं उनका बीज नहीं बन सक्ता उसी प्रकार इस ज्ञानी योगी की इन्द्रियां बुद्धि में केवल प्रारब्ध भोग तक ही भरी रहतीं और भोगने के काम आतीं हैं परन्तु पुनर्जन्म का बीज नहीं हो सक्तीं अतएव उस पुरुष को इसी देह में निर्वाण प्राप्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्त है और जो कुछ उसे प्राप्त होता है सो आगे कहते हैं॥

लभन्तेब्रह्मनिर्वाणमृषयःक्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधायतात्मानः सर्वभूतहितेरताः॥ २५॥

अर्थ–(ऋषयः) जिन सम्यक् दर्शी ज्ञानी लोगों के (क्षी-णकल्मषाः) कर्म नाश होने के कारण सर्व पाप नाश होगये हैं तथा (छिन्नद्वैधाः) जिनका द्विविधारूप संशय नाश हो गया है (यतात्मानः) चित्त का संयम होगया है तथा जो (सर्वभूतहि-तेरताः) सब प्राणि मात्र के हित करने में उद्यत रहते हैं वे अनुभवी लोग (ब्रह्मनिर्वाणम्) मोक्ष को (लभन्ते) पाते हैं ग्रा-मादिक में इन का जाना केवल गृहस्थों के हित के हेतु है॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनांयतचेतसाम् ।
अभितोब्रह्मनिर्वाणं वर्त्ततेविदितात्मनाम्॥२६॥

अर्थ-(कामक्रोधवियुक्तानाम्) जो काम क्रोध रहित होजाते हैं वा (यतीनाम्) जिनको संन्यास के कारण कर्म में प्रीति नहीं रहती तथा जिनके (यतचेतसाम्) चित्त का संयम होजाता है और जिनको (विदितात्मनाम्) आत्म तत्त्व का ज्ञान हो गया है तिन पुरुषों को (अभितः) उभय प्रकार अर्थात् जीवते समय वा मृत होजाने पर (ब्रह्मनिर्वाणम्) मोक्ष (वर्त्तते) तैयार है । केवल मरने से ही वे ब्रह्म में लय नहीं होते, बल्कि जीवते ही में मोक्ष समझो ॥

(नोट)-इन्द्रियों को और चित्त को नियम से विरुद्ध लेशमात्र भी चलायमान न होने देना तथा काम क्रोध के प्रबल वेग को रोक सकना यह काम आत्मज्ञान के साथ२ ही हो सकता है। आत्मज्ञान की लेशमात्र झलक आते ही काम क्रोधादि के बन्धन ढीले हो जाते हैं तब ही एक आत्मा सअभितः नाम संमुख प्रत्यक्ष सर्वत्र दीखने लगता है॥ (भी० शा०)

टीका-जिस का अन्वय समाधियोग सध गया उस को सब जगत ब्रह्मरूप दीखता है फिर निर्वाण के लिये उस को मरने तक ठहर ने की आवश्यकता नहीं, यह त्रिगुणात्मक देह धरे रहने पर भी वह पुरुष चित्त को अपने वश में रख कर त्रिगुणों के वश नहीं होता, और धीरज से उन के वेगको सह लेता है, इसी में उस का पुरुषार्थ वा मुक्तपन है । श्लोक २३ और २४ इत्यादि में यह कहा है कि (स योगी ब्रह्मनिर्वाणम्) वह ज्ञान प्राप्त हुआ योगी मोक्ष पाता है ॥

अब आगे २ श्लोकों में उसी योग को संक्षेप से कह कर यह बताते हैं कि ज्ञान प्राप्त न होने पर भी जो लोग मोक्ष की इच्छा करके " मनोजय " का साधन करते हैं वे भी ज्ञान पा कर मोक्ष पाते हैं। इस योगी के लक्षण छठवें अध्याय में विस्तार पूर्वक कहेंगे ॥

स्पर्शान्कृत्वाबहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरेभ्रुवोः ।
प्राणापानौसमौकृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यःसदामुक्तएवसः ॥ २८ ॥

अर्थ—रूप रसादिक जो बाह्य विषय हैं उन को चिन्तन करने से वे भीतर प्रवेश करते हैं सो उन (बाह्यानूस्पर्शान्) बाहिरी विषयों को उन का चिन्तन त्याग के (बहिः कृत्वा) बाहर ही रख के (च) और (भ्रुवोः) दोनों भौंहों के (अन्तरे) बीच में (चक्षुः) दृष्टि को लगा के वा (नासाभ्यन्तरचारिणौ) नाक के भीतर चलने वाले (प्राणापानौ) दोनों प्राण वा अपान वायु को (समौ कृत्वा) एकसाथ चलाके उस उपाय से (मोक्षपरायणः, मुनिः) मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा वाला मुनि (यतेन्द्रियमनोबुद्धिः) अपनी इन्द्रियां और मन वा बुद्धि को रोक कर रखता है और इसी कारण (विगतेच्छाभयक्रोधः) उस की इच्छा भय और क्रोध नाश होजाता है (यः) जो मुनि इसप्रकार वर्ताव करता है (सः) वह (सदा) हमेशा (मुक्तएव) जीता हुआ भी मुक्त के समान है ॥

टीका—नेत्रों को बहुत मूंद रखने से निद्रा में लय हो जाता है, और खोलने से दृष्टि बाहर को दौड़ती है अतएव इन दोनों दोषोंके परिहार के वास्ते आधी आंख खोल कर भौंहों के मध्य में दृष्टि लगावै इसी को " चक्षुश्चैवान्तरेभ्रुवोः" कहा है। नाक के दोनों स्वर श्वांस लेने में ऊपर नीचे जाते हैं, अतएव उन की ऊर्ध्वगति और अधोगति रोक के एक ही गति करै उस क्रिया को " प्राणापानौ समौ कृत्वा " कहा है । अर्थात " कुम्भक " करै ॥

स्पर्शाः अर्थात् विषय समुदाय सब बाहिर ही रहते हैं परन्तु उन का स्मरण मात्र हुआ कि भीतर गड़बड़ा देते हैं । अतएव वह स्मरण न होने देवै और दृष्टि को भ्रूमध्य में ल-

गावै तो मन कुछ चिन्तन ही न कर सकेगा। मन प्राण के आधीन है अतएव प्राण और अपान दोनों को नाक के अन्दर ही चलाता रहे तो मन आप ही स्थिर रहेगा, और इच्छा भय वा क्रोध त्यागने से मन का शोधन भी हो जावेगा तभी वह स्थिर होगा। ऐसी २ साधना से आत्मा का ज्ञान होकर मुक्ति मिलती है। अतएव आगे कहते हैं कि केवल इस प्रकार इन्द्रिय साधन वा संयम से मुक्ति नहीं, बल्कि आत्मज्ञान से होती है॥

भोक्तारंयज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदंसर्वभूतानां ज्ञात्वामांशान्तिमृच्छति ॥२९॥

अर्थ-(यज्ञतपसाम्) मेरे भक्त जो यज्ञ वा तप करके मुझे ऊपर कहे अनुसार इन्द्रिय दमन और अन्तःकरण का निरोध करके समर्पण करते हैं उन सब का अपनी इच्छानुसार भोगने वाला अथवा पालने वाला वा (सर्वलोकमहेश्वरम्) सर्वलोकों का महान् ईश्वर अर्थात् देवादिदेव वा (सर्वभूतानाम्–सुहृदम्) सर्व प्राणिमात्र का विना किसी इच्छा के उपकार करने वाला वा अन्तर्यामी (माम्) इस प्रकार मुझे (ज्ञात्वा) समझ कर मेरे ही प्रसाद से (शान्तिम्) मोक्ष को (ऋच्छति) प्राप्त करते हैं अर्थात् जो मनुष्य मुझे इसप्रकार जानता है वही मोक्ष का भागी होता है॥

(नोट) सर्वतन्त्र सिद्धान्त से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि एक ही आत्मतत्त्व सब चराचर में जिस प्रकार से और जिस २ रूप से विद्यमान है। वेदादि शास्त्र और सत्संगादि उपाय से इस बात के ठीक २ समझ में आ जाने पर ही मनुष्य को ठीक शान्ति प्राप्त हो सकती है अर्थात् आत्मज्ञान ही शान्ति का अनन्य उपाय है। आत्मज्ञान ब्रह्मज्ञान एक ही बात है। आत्मज्ञान की प्रथम सीढ़ी पर चित्त के पहुंचते ही ईश्वर प्रत्यक्ष ही दीखने लगता है। तब भ्रम वा अज्ञान

से होने वाले सभी दुःख सूर्योदय में अन्धकार के तुल्य एकसाथ ही नष्ट हो जाते हैं ॥ (भी० श०)

टीका—अपना आत्मा सब को अतिप्रिय होता है जब देह को भी यह आत्मा समझ पड़ता है तो उसे वह आत्मा और उस के सम्बन्धी लोग प्रिय लगते हैं परन्तु आत्मा का सच्चा स्वरूप समझ जाने पर यह बात फिर नहीं रहती, बल्कि यही मालूम होता है कि अपना आत्मा सर्व जगत् का आत्मा है और वही आत्मा साक्षात् श्रीभगवान् जी है। अतएव वह सर्वलोकों का सुहृद् अर्थात् आत्मा हुआ, और सर्वयज्ञ वा तप का भोक्ता और सब से श्रेष्ठ देव हुआ। यत्नशील मनुष्य ऐसा ही जान लेते हैं, अतएव शान्तिरूप मोक्ष पाते हैं ॥

यह पञ्चम अध्याय की टीका श्रीयुगलमनोहर जी के चरण कमलों में समर्पण है ॥

विकल्पशङ्कापोहेन येनैवंयोगसांख्ययोः ।
समुच्चयःक्रमेणोक्तः सर्वज्ञंनौमितंगुरुम् ॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ षष्ठाऽध्यायारम्भः ॥

॥ ओं नमोभगवतेवासुदेवाय ॥

॥ ध्यान और आत्मसंयम योग ॥

चित्तेशुद्धेऽपिनध्यानं विनासंन्यासमात्रतः ।
मुक्तिःस्यादितिषष्ठेऽस्मिन् ध्यानयोगोवितन्यते ॥

पञ्चम अध्याय के आरम्भ में अर्जुन जी ने यह प्रश्न किया था कि संन्यास और कर्मयोग इन दोनों में जो एक ही श्रेयस्कर हो सो बतावो । उस का उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण जी ने दिदिया कि मोक्ष चाहनेवाले को दोनों ही श्रेष्ठ हैं परन्तु कर्मसंन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है क्योंकि संन्यास में कर्मयोग के लक्षण नहीं हैं । परन्तु कर्मयोग करने से कर्मसंन्यास भी सध जाता है । तत्पश्चात् इच्छा, द्वेष, और द्वन्द्व रहित जो मनुष्य रह सकता है वह संन्यासी है । यह तथा उस के सम्बन्ध में जो २ शंका आईं उन का निवारण किया । उस के पीछे यह भी कहा कि कर्मयोग से शीघ्र ही ब्रह्मप्राप्ति होती और उस योग को करने वाला ज्ञानदृष्टि से अकर्ता ही रहता है । इस सम्बन्ध में श्रीभगवान् जी ने अपना अकर्तापन बताया है ॥

अब इस अध्याय के आरम्भ में श्रीभगवान् जी यह क-कहते हैं कि कर्मयोगी को कर्म ही में संन्यास सधता है क्योंकि यह अर्जुन को भलीभांति नहीं समझ पड़ा था इस से २-श्लोकों में संन्यास से कर्मयोग की श्रेष्ठता बताते हैं—

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

अनाश्रितःकर्मफलं कार्य्यंकर्मकरोतियः ।
ससंन्यासीचयोगीच ननिरग्निर्नचाक्रियः ॥ १ ॥

अर्थ-(कर्मफलम्) कर्मों के फल का (अनाश्रितः) आश्रय न करके अर्थात् इच्छा न रख कर (यः) जो मनुष्य (कार्यं कर्म) वेद विहित कर्म अवश्य करने के योग्य समझ कर (करोति) उस का आचरण करता है (स सन्यासी च योगी च) वही संन्यासी है तथा वही कर्मयोगी है और (न, निरग्निः) अग्निसाध्य कर्म त्यागी पुरुष संन्यासी तथा योगी नहीं हो सकता, (न च) और न (अक्रियः) अग्निक्रियादि से हीन पुरुष संन्यासी वा योगी हो सकता है ॥

(नोट) कार्य नाम वेदशास्त्रोक्त नियम से यज्ञ, दान तप, कर्म करता हुआ कर्मफलत्यागी उत्तम कक्षा का संन्यासी तथा योगी है। तथा वेदशास्त्र से भिन्न स्वाभाविक कर्म करता हुआ भी फलभोगों का सर्वथात्यागी मध्यम संन्यासी वा योगी होगा। परन्तु जो निरग्नि और अक्रिय नाम वेदोक्त-गार्हपत्य आहवनीयादि अग्नियों का और सन्ध्योपासन पञ्च-महायज्ञादि कर्मों का तो त्याग करदेवे और अच्छे २ भोजन वस्त्रों का ग्रहण करे, तथा शिर मुंडाके गेरुआ कपड़ा धारण करके संन्यासी योगी बने, वह न संन्यासी है न योगी है किन्तु लोकवञ्चक है ॥ (भी० श०)

टीका-कर्मफल की इच्छा त्यागने को ही कर्मत्याग कहा है, अतएव निष्काम कर्म करने द्वारा कर्मयोगी संन्यासी ही हुआ। इस श्लोक का भाव यह है कि संन्यास का आश्रय न ले कर भी कर्मयोगी को संन्यास सध जाता है, जिस ने आश्रम संन्यास लिया उस के वास्ते शास्त्र में अग्निसाध्य कर्म वर्जित हैं। अतएव वह निरग्नि संन्यास हुआ, यह निरग्नि संन्यास तो तब श्रेष्ठ है जब मन में कोई प्रकार की वासना न होय, यदि कामना का त्याग न किया तो वह आश्रम एक स्वांग ही है, क्योंकि वह न तो ठीक संन्यासी है, न कर्मयोगी, "तो निरग्नि " शब्द से यह बताया है कि इस श्लोक में कहा हुआ कर्मयोगी इस प्रकार से ढोंगी संन्यासी नहीं है ॥

जो काम्यफल त्याग करके संन्यासाश्रम लेते हैं उन के वास्ते शास्त्रानुसार नित्य विहित कर्म करने की आवश्यकता नहीं होती, इस के न करने का दोष उन्हें नहीं लगता। परन्तु गृहस्थाश्रम में काम्यफल त्यागने पर भी विहित कर्म न करे तो दोष है ऐसे गृहस्थ को जो विहित कर्म त्यागता है "अक्रिय" अर्थात् कर्महीन कहा है। अतएव श्रीभगवान् जी ने कहा है कि इस श्लोक में कहा हुआ कर्मयोगी ऐसा गृहस्थाश्रमी अक्रिय नहीं है क्योंकि ऐसा अक्रिय न तो संन्यासी हो सकता न कर्मयोगी, जब आत्मा का देह के साथ सम्बन्ध माना तब अक्रिय कहां रहा, इससे यही सिद्ध हुआ कि काम्य त्याग के जो निष्काम नित्य विहित कर्म करे वही संन्यासी वा कर्मयोगी है॥

अब आगे यह बताते हैं कि कर्मयोग ही में संन्यास है, वा दोनों मार्ग एक समय में सध सकते हैं॥

यंसंन्यासमितिप्राहुर्योगन्तंविद्धिपाण्डव ! ।
नह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगीभवतिकश्चन ॥२॥

अर्थ—(पाण्डव) हे अर्जुन ! "संन्यास एवात्परे च यत्" इत्यादि श्रुति के अनुसार (यं संन्यासम्) जिस को संन्यास (इति प्राहुः) ऐसा श्रेष्ठ करके कहा है (तम्) उसी को केवल फल संन्यास अर्थात् फलेच्छा रहित होने के कारण (योगम्) योग ही (विद्धि) जानो क्योंकि (असंन्यस्तसंकल्पः) जिस ने शुभाशुभ फल सङ्कल्प अर्थात् फलेच्छा नहीं त्यागी वह (कश्चन) कोई कर्म निष्ठ हो वा ज्ञाननिष्ठ भी क्यों न हो परन्तु (योगी नहि भवति) योगी नहीं हो सकता, अर्थात् फल संकल्प त्यागने से ही चित्त का विक्षेप नष्ट होता है तभी वह योगी कहाता है॥

टीका—जब तक मन में कामना है तबतक फल का संकल्प भी है और कामना त्यागी कि फल संकल्प भी रफू हुए,

तो ऐसा कामना त्याग रूप संन्यास धरके निःसंग नित्यकर्म करे तब कर्मयोग सिद्ध होता है। जैसे अन्न तैयार हुए बिना भोजन नहीं होते तैसे ही कामना त्याग किये विना निष्काम कर्म नहीं हो सकते। फिर भोजन की इच्छा बिना अन्न तैयार नहीं होता, उसी प्रकार निष्काम कर्म करने की इच्छा बिना काम्य त्याग नहीं होता। इसी कारण काम्य त्याग करने पर भी जो निष्काम विहित कर्म नहीं करता उसको श्री-भगवान् जी ने श्लोक २ में "अक्रिय" कहा है वा उस की निन्दा की है। यद्यपि काम्य त्याग रूप संन्यास और कर्म-योग भिन्न दीखते हैं परन्तु एक के बिना दूसरा हो नहीं सकता, अतएव वे दोनों एक ही हैं। यहां यह शंका होती है कि कर्मयोग क्या जन्म ही भर करना चाहिये? उस का परिहार आगे करके कर्मयोग की अवधि बताते हैं॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते।
योगारूढस्यतस्यैव शमःकारणमुच्यते॥ ३॥

अर्थ-(योगम् आरुरुक्षोः) ज्ञानयोग की सीढ़ी पर चढ़ने की इच्छा करने वाले (मुनेः) मननशील पुरुष को उस के ऊपर चढ़ने का (कारणम्) साधन (कर्म उच्यते) कर्म ही कहा जाता है क्योंकि कर्म ही प्रथम चित्त की शुद्धि करने वाला है। और (योगारूढस्य) ज्ञानयोग पर चढ़े हुए पुरुष को (तस्यैव) उस ज्ञाननिष्ठा के परिपक्व होने का (कारणम्) साधन (शमः) चित्त की सावधानी (उच्यते) कही जाती है क्योंकि शान्त चित्त में कोई विक्षेप करने वाला कर्म बाधा नहीं कर सकता॥

टीका—जो योगारूढ नहीं हुआ परन्तु उस की इच्छा करता है उसे "आरुरुक्षुः" कहा है उस को जो गुरू से सुना है उस के मनन करने में लगना वा कर्म करना ही चाहिये। कर्म से चित्त शुद्ध होगा तब वह योगारूढ होगा, केवल उपदेश

ही सुन कर विषयासक्त रहने पर भी जो कर्म त्याग देता है वह शब्दज्ञानी ही हुआ, अतएव कर्म करना ही चाहिये। जड़ चैतन्य विवेक से आत्मा को जान भी लिया तथापि चित्त को आत्मरूप करने के लिये निष्काम कर्म करना अवश्य ही है। इस निष्काम कर्म का अभ्यास हो गया कि वह योगारूढ़ हुआ समझो। इसी अवस्था का नाम समाधि है, इस समाधि में चित्त वा चैतन्य का संयोग हो जाता है वा जड़ वृत्ति का वियोग हो जाता है क्योंकि जड़वृत्ति का कारण काम है वा जब निष्काम चित्त हो गया तो जड़वृत्ति आप ही विदा हुई। इसी कारण चित्त का समाधान होने तक कर्मयोग करना चाहिये वा उस समाधान को कायम रखने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। इस यत्न से समाधि सधती है और समाधि सधी कि जीवन्मुक्त हुआ ॥

समाधि दो प्रकार की है १ " निर्विकल्प " जिसे पहिले " व्यतिरेक " कह आये हैं और २ "सविकल्प" जिसे "अन्वय" कहा है ॥

अब योगारूढ़ कब समझा जावेगा सो आगे कहते हैं ॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

अर्थ–(यदा हि) जिस समय निश्चय करके (इन्द्रियार्थेषु) इन्द्रियों के अर्थ नाम विषयों में वा उन विषयों के साधने के हेतु (कर्मसु) कोई कर्म करने में (न, अनुषज्जते) आसक्ति नहीं करता इसी कारण से (सर्वसंकल्पसंन्यासी) आसक्ति की जड़ सर्व भोग विषयों के वा कर्म विषयों के संकल्पों को त्याग देता है (तदा) तब (योगारूढ़ उच्यते) योग पर आरूढ़ हुआ कहा जाता है अर्थात् सिवाय सच्चिदानन्द आत्मा के और किसी से प्रीति नहीं रखता ॥

(नोट) संकल्प नाम मनोरथों का है कि ऐसी २ स्त्री

मिल जावे, ऐसा वा इतना धनादि मिलजाय, इसप्रकार से शत्रु का नाश हो जाय तो बड़ा आनन्द हो, इत्यादि प्रकार के संकल्प योगाभ्यास के द्वारा छूट जाते हैं। क्योंकि वैराग्य हुए विना कभी किसी का चित्त एकाग्र होता ही नहीं। योगाभ्यास करते २ जब इस श्लोक में कही दशा पर पहुंचे तब उसे योगारूढ़ नाम योग की सीढी पर पहुंच गया माना जायगा॥ (भी० ग०)

टीका-विषय तथा उन के प्राप्त्यर्थ यत्न इन दोनों की प्रीति त्यागने परभी मन सूक्ष्म वासना के कारण उन का चिन्तन किया करता है। अतएव वह चिन्तन रूपी संकल्पों को त्याग किये विना योगारूढ़ नहीं हो सकता। "शम" अर्थात् समाधि का अभ्यास किये बिना योगारूढ़ पद से भी गिरने का भय रहता है। यह समाधि जब बिना यत्न किये स्थिर रहने लगे तब पक्का ज्ञानी होता है। जैसे कच्चे माटी के घड़ा में पानी भरो तो वह धीरे २ गल जाता है परन्तु घट को पका देवो तो पानी नहीं गिरता उसी प्रकार पक्का ज्ञानी हुआ तो फिर उस के ज्ञान जाने का भय नहीं रहता॥

संकल्प विकल्प ये सब मन के खेल हैं अतएव उस को रोकना और रागादि स्वभाव को त्यागना चाहिये, क्योंकि विषयों में आसक्ति से बंधन होता और त्यागने से मोक्ष मिलता है यह आगे कहते हैं॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैवह्यात्मनोबन्धुरात्मैवरिपुरात्मनः ॥५॥

अर्थ-(आत्मना) अपनी बुद्धि से तथा विवेक ज्ञान से (आत्मानम्) अपने मन को (उद्धरेत) योग पर चढ़ाके संसार से उद्धार करना चाहिये। (आत्मानम्) इस मन को (न, अवसादयेत्) अधोगति में न जाने देना चाहिये, यानी सदा कर्मों ही में न लगाए रहे (हि) क्योंकि (आत्माएव) विषय संग

रहित मन ही (आत्मनः) अपना (बन्धुः) उपकार करने वाला मित्र है और (आत्मा एव) रागद्वेष युक्त मन ही (आत्मनः) अपना (रिपुः) अपकार करने वाला शत्रु है अर्थात नरकादि को पहुंचाने वाला है ॥

(नोट) यों भी कह सकते हैं कि अपने आप ही अपने को अधोगति में गिरने से निकाले वा बचावे । अपने को दुःखसागर में न डुबावे । क्योंकि आप ही अपना बन्धु नाम हितैषी तथा आप ही अपना शत्रु है । अपने को संसारी विषयों में आप ही फसाने से अपना शत्रु और उन विषयों से आप ही अपने को बचावे तो यही बन्धुपन है ॥ (भी०शा०)

टीका—मन बुद्धि के आधीन है अतएव उसे बुद्धि से ही रोकना चाहिये । यह बुद्धि विवेक युक्त होने से मन को वासना रूपी कुओं में नहीं पड़ने देती । यदि पड़ भी गया हो तो उस की डोर बुद्धि के हाथमें रहने के कारण वह उसे खींच सकती है । अपने सुख दुःख भोगने वाले चिदंश जीव को सुख होवे यह बुद्धि का सहज स्वभाव है, जिस बात में सुख है, उसी में बुद्धि इस मन को लगा देती है । जिस में दुःख है उस में से निकाल देती है । जब तक बुद्धि यह जानती है कि विषयों ही में सुख है, तबतक उसे वासना प्रवाह में डाले रहती है । परन्तु जब विवेक रूपी सत्संग से उसे यह जान पड़ता है कि विषय भोग दुःखों के कूप हैं । परमार्थ ही में सुख है तब यह विषयवासना से निकाल कर मन को ब्रह्मचिन्तन में लगा देती है क्योंकि उसके बिना विषयवासना नहीं जाती । जैसे भूखे के सामने मिष्टान्न आवे तो उस का मन उसी में लग जाता है परन्तु जब बुद्धि से यह समझ पड़ता है कि उस में विष है तो वही बुद्धि उसे खाने नहीं देती, इसी प्रकार जब बुद्धि को जान पड़ा कि विषय संग में नरक वा गर्भवास है तो वह विषयों की ओर देखती भी नहीं, केवल परमार्थ में प्रीति कराती है, इसीकारण श्रीभगवान् जी ने कहा है कि बुद्धिद्वारा

मन को रोको और दुःखसागर में डूबने न दो कहा भी है-

मनएवमनुष्याणां कारणंबन्धमोक्षयोः ।
मुक्तिमिच्छसिचेत्तात ! विषयान्विषवत्त्यज ॥

आत्मा किस का बंधु है वा किस का शत्रु है यह आगे कहते हैं॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः ।
अनात्मनस्तुशत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैवशत्रुवत् ॥६॥

अर्थ-(येन) जिस किसी ने (आत्मना) अपनी बुद्धि के द्वारा (आत्माएव) अपने मन ही को (जितः) जीत-लिया है अर्थात् वश में कर लिया है (तस्य, आत्मनः) उस बुद्धि वाले का (आत्मा बन्धुः) मन ही मित्र है अर्थात् उस की बुद्धि आत्मज्ञ हो जाने के कारण आत्मयोग में मन को लगा देती है (तु) परन्तु (अनात्मनः) जिस का मन वश में नहीं हुआ तथा उसे आत्मज्ञान नहीं हुआ उस का (आत्मा-एव) मन ही (शत्रुत्वे) शत्रु भाव में हो कर (शत्रुवत्) शत्रु के समान (वर्तेत) वर्ताव करता है अर्थात् विषयासक्त मन मोक्षमार्ग में प्रतिबंधक है ॥

जीताहुआ मन मित्रवत कैसे वर्त्तता है ? सो आगे कहते हैं-

जितात्मनःप्रशान्तस्य परमात्मासमाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथामानाऽपमानयोः॥७॥

अर्थ-(जितात्मनः) जिस के मन अन्तःकरणादि वश में हो गये हैं उस (प्रशान्तस्य) रागादि विक्षेप रहित शान्तस्व-भाव वाले पुरुष का (परम्) केवल (आत्मा) आत्मा बुद्धि मन (शीतोष्णसुखदुःखेषु) गर्मी शरदी तथा सुख दुःख (तथा) और (मानापमानयोः) मान अपमान में भी (समाहितः) आत्मस्वरूप में स्थिर रहता है अर्थात् काम क्रोध रहित हो कर शांति आती और बुद्धि विवेक युक्त हो जाने के कारण

मन को रोक लेती है किन्तु विषयों का चिंतन नहीं करने देती, ऐसे मनुष्य की बुद्धि मन सहित आत्मनिष्ठ हो जाती है । उसे मानापमान प्रतीत नहीं होते, यदि हुए भी तो उनके गुणों का कार्य जान कर अपने को असंग मानता है ॥

अब आगे योगारूढ़ के लक्षण और श्रेष्ठता का फिर संक्षेप वर्णन करते हैं ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थोविजितेन्द्रियः ।
युक्तइत्युच्यतेयोगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८ ॥

अर्थ—(ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा) ज्ञान नाम उपदेश और विज्ञान नाम अपरोक्ष अनुभव इन दोनों के द्वारा इच्छा रहित हो कर जिस की बुद्धि वा चित्त तृप्त हो गया है तथा उसी कारण (कूटस्थो—विजितेन्द्रियः) निर्विकार हो गई है या निर्विकार होने के हेतु जिस ने अपनी इन्द्रियां जीत ली हैं और इन्द्रियजित होने के कारण जिस की (समलोष्टाश्मकाञ्चनः) माटी के खंड पत्थर और सुवर्ण एक सरीखे दीखने लगे हैं वह (युक्तः, योगी) योगारूढ़ हो गया (इतिउच्यते) ऐसा कहा जाता है ॥

टीका—" व्यतिरेक " बोध को ज्ञान वा अन्वयबोध को विज्ञान कहते हैं, जिसको ये दोनों प्रकार की समाधि सध गईं उसकी बुद्धि अन्य चिंतन छोड़ के केवल आत्म स्वरूप में तृप्त रहती है। तथा वासना का बीज़ नाश होजाता है । ऐसे ही पुरुष को " कूटस्थ „ यानी निर्विकार कहते हैं क्योंकि उसे इन्द्रियों तथा विषयों का विकार नहीं होता । वह इन्द्रिय जित हो ही जाता है । ज्ञान विज्ञान तृप्त वा कूटस्थ ये दोनों लक्षण गुप्त रहते हैं अर्थात् उस पुरुष के सिवाय दूसरे को नहीं दीख पड़ते केवल जितेन्द्रियपन दूसरों को दीखता है । जो ऊपर से योग युक्त कहें तो कई ढोंगी लोग भी ऊपर से जितेन्द्रियपन दरसाते हैं और योगी भी प्रारब्ध भोग समय अ-

पनी इन्द्रियों को उन के विषयों में वर्तता हुआ दीखता है। अतएव सच्चे योगी को पहिचानने के लक्षण चौथे चरण "समलोष्टाश्मकांचनः" में बताये हैं॥

ज्ञान और विज्ञान ये दोनों समाधि एकत्र कहीं, इस से अर्जुन को शंका हुई कि यदि इनमें से एक ही सधी तो क्या वह योगारूढ़ न हुआ? तो दोनों में एक श्रेष्ठ होना चाहिये। इसका समाधान आगे करके कहते हैं कि इस श्लोक में कहे हुए योगी से आगे वाला श्रेष्ठ है॥

सुहृन्मित्रार्युदासीन-मध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपिचपापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥९॥

अर्थ-(सुहृन्मित्रार्युदासीनः) सुहृत् स्वभाव से हितकारी, मित्रस्नेहवश उपकार करनेवाला, अरि-घातकरनेवाला और उदासीन न वैरी न मित्र (मध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु) अपना और वैरीका -बिचोई द्वेष करने योग्य संबन्धी (साधुषु) सदाचारी (अपि) और (पापेषु) दुराचारी इन सब में जो (समबुद्धिः) सम बुद्धि रक्खे अर्थात् इन सबको एक भाव से देखे वह पुरुष (विशिष्यते) विशेष करके श्रेष्ठ है॥

टीका-व्यतिरेक समाधि द्वारा चित्त वृत्ति रोकने परभी इस विचित्र सृष्टि में रहने से द्वेषभावना उत्पन्न होती है। अतएव अन्वय समाधि वाला ही श्रेष्ठ होता है, बिना प्रयोजन स्वभाव से हितकारी जैसे बाप मा इत्यादि सुहृत् हैं, जो सर्वदा अपना बुरा चाहे वह वैरी है। जो मित्र भी नहीं और वैरी भी नहीं उसे उदासीन कहा है, अपना व अपने वैरी का मित्र हो वह "मध्यस्थ" है, जो अपना घात करने को तैयार हो उसका नाम "द्वेष्य" ऐसे २ विषम स्वभाव के मनुष्यों में जिस की बुद्धि सम रहे, उसी को अन्वयसमाधि निष्ठ जानो॥

यहां तक योगारूढ़ के लक्षण कहे अब श्लोक १० से लगाय श्लोक ३२ "स योगी परमोमतः" तक उस योगारूढ़ पु-

रुष के अष्टांग योग साधने के प्रकार वर्णन करते हैं जिन से उन के चित्त और चैतन्य का योग हो जाता है ॥

योगीयुञ्जीतसततमात्मानंरहसिस्थितः ।
एकाकीयतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

अर्थ-(सततम्) सर्वदा (रहसि स्थितः) एकान्त स्थान में बैठकर (एकाकी) अकेला होकर (यतचित्तात्मा) चित्त और देह का संयम करके (निराशीः) सर्व इच्छा त्याग कर (अपरिग्रहः) धन दारादि परिग्रह छोड़ के (योगी) योगारूढ़ पुरुष (आत्मानम्) अपने मन को (युञ्जीत) आत्म स्वरूप में युक्त करे क्षण मात्र बहिर्मुख वृत्ति न होने देवे तथा शरीर निर्वाह के सिवाय और कुछ संचय न करे ॥

टीका-अष्टांग योग में के "यम" वा "नियम" इस में बताए हैं, मुख्य संयम तो इन्द्रियों का रोकना है क्योंकि इस के विना चित्त का संयम नहीं होता, एकांत स्थान में अकेले रहना यही नियम है परन्तु जब ताईं धन दारादि का आशा पाश नहीं छूटता तब ताईं खाली संयम नियम से कुछ नहीं होता और चित्तस्थिर हो नहीं सक्ता अतएव "निराशीरपरिग्रहः "उपाय बताया है ॥

आगे २ श्लोकों में आसन इत्यादि के नियम बताते हैं ॥

शुचौदेशेप्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितंनातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनःकृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासनेयुञ्ज्याद्-योगमात्मविशुद्धये॥१२॥

अर्थ-(आत्मनः) अपने (आसनम्) आसन को (शुचौदेशे) शुद्ध स्थान में (प्रतिष्ठाप्य) जमा कर बैठे, यह आसन (स्थिरम्) हिलता न हो वा (न अति उच्छ्रितम्) अधिक ऊंचा न हो और (न अतिनीचम्) न अधिक नीचा

हो, (चैनाजिनकुशोत्तरम्) प्रथम कुश अर्थात् दर्भ उस के ऊपर व्याघ्र वा मृगचर्म वा उस के ऊपर वस्त्र विछावे ॥ ११ ॥ (तत्र) उस (आसने) आसन पर (उपविश्य) बैठकर (मनः) मन को (एकाग्रम्) विक्षेप रहित (कृत्वा) करके वा (यत-चित्तेन्द्रियक्रियः) चित्त वा इन्द्रियों के व्यापारों को रोक कर (आत्मविशुद्धये) अपने मन वा बुद्धि की शुद्धि वा शान्ति के निमित्त (योगं युञ्ज्यात्) योग का अभ्यास करे। यह अभ्यास अज्ञानी को ज्ञानवान् करता है वा ज्ञानी को जीवन्मुक्त करता है इस को दीर्घ काल तक करना चाहिये ॥

टीका—मन की एकाग्रता से प्राणायाम सुझाया है उस से चित्त का संयम होता वा मन के संकल्प बन्द होते हैं इस पर भी श्रीभगवान् ने कहा है कि चित्त वा इन्द्रियों की वृत्ति को रोक कर योग का अभ्यास करे तब फिर यह कौन सा योग है ? । यदि कर्मयोग का अभिप्राय हो तो वह नहीं हो सकता क्योंकि उस में स्त्री ऋत्विजादि का संग लगता है और श्री भगवान् जी कहचुके हैं कि इस में " अपरिग्रहः " होना चाहिये, यदि हठयोग कहने का अभिप्राय समझा जावे तो उस में वासना भंग नहीं होतीं क्योंकि हठयोगी को देह अजर अमर करने की इच्छा रहती है, इस को यद्यपि स्त्रीपुत्रादि का बन्ध नहीं रहता परन्तु अपने देह का पाश तो रहता है अतएव हठयोग भी यहां लागू नहीं होता ॥

यहां तो श्रीभगवान् ने यह कहा है कि " आत्मविशुद्धये " अर्थात् अपने मन वा बुद्धि के शुद्ध करने के लिये योग करे तो यही स्पष्ट दीखता है कि श्रीकृष्ण जी ने "योग" शब्द से अपनी सगुण मूर्त्ति का ध्यान बताया है, कोई यह कहे कि आत्मस्वरूप का योग कहा होगा तो वह भी नहीं हो सकता क्योंकि शुद्ध बुद्धि के होने के पीछे आत्मा का ज्ञान होता है परन्तु श्रीभगवान् जी ने यहां कहा है कि बुद्धि की

शुद्धि के निमित्त योग करे तो अवश्य योग शब्द से सगुण ध्यान ही का आशय हुआ ॥

यहां कोई यह भी कह सकता है कि अशुद्ध बुद्धि से योग सधता ही नहीं, और यहां तो श्रीभगवान् जो कहते हैं कि बुद्धि की शुद्धि के निमित्त योग करे तो फिर वह कौनसी शुद्धि होगी, जिसके द्वारा योग साधने को कहा है ?। इसका उत्तर यह है कि जैसे पकाने के पहिले चावल धो कर बहुत शुद्ध करने पड़ते हैं, उसी प्रकार कर्मयोग से शुद्ध हुई बुद्धि को आत्मा अनात्मा का विचार होने लगता है। परन्तु उसे योगारूढ़ होने के वास्ते अतिशुद्ध करना चाहिये। अतएव उस का साधन हेतु सगुण ध्यान कहा है। ध्यान सगुण का वा धारणा निर्गुण की होती है क्योंकि सगुण के ध्यान में जुदे २ अवयव रहते हैं तो द्वैतभाव हो जाता है, अतएव सगुणध्यान के साथ निर्गुण की धारणा अवश्य है यह निर्गुणधारणा एकाएकी सधती नहीं, अतएव मूर्त्ति के जुदे २ अवयवों का ध्यान करना पड़ता है फिर एक ही पूरी मूर्त्ति का ध्यान करने का अभ्यास करना चाहिये। यही उपदेश श्रीशुकमुनि जी ने भी श्रीमद्भागवत में स्कन्ध २ के अध्याय २ के श्लोक ८ से १३ तक किया है। उन में का श्लोक १३ वां लिखते हैं ॥

> एकैकशोऽङ्गानिधियाऽनुभावयेत्,
> पादादियावद्धसितं गदाभृतः ।
> जितंजितंस्थानमपोह्यधारयेत्,
> परंपरंशुद्ध्यति धीर्यथायथा ॥

वही आगे के श्लोक में कहते हैं धारणा का रूप ऐसा है कि आत्मा सत्व वृत्ति में दीखकर वही वृत्ति उस स्वरूप में प्रवृत्त होने लगे वा उस में जड़ का आभास बिलकुल न हो उसी का नाम " धारणा " है यही धारणा निश्चल हुई कि वही " समाधि " हो जाती है ॥

अब दो श्लोकों में देहादि की धारणा को कहते हैं जिस-से चित्त एकाग्र होता है ॥

समंकायशिरोग्रीवं धारयन्नचलंस्थिरः ।
संप्रेक्ष्यनासिकाग्रंस्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्माविगतभी–र्ब्रह्मचारिव्रतेस्थितः ।
मनःसंयम्यमच्चित्तो युक्तआसीतमत्परः ॥१४ ॥

अर्थ-(कायशिरोग्रीवम्) देह का मध्यभाग मस्तक और गर्दन, अर्थात् मूलाधार से लगाके शिर के अग्रभाग पर्यन्त को (समम्) सीधा (अचलम्) निश्चल (धारयन्) धारणा करके (स्थिरः) अपने प्रयत्न में दृढ़ हो कर (स्वम्) अपने (नासिकाग्रम्) नाक के अग्रभाग को (संप्रेक्ष्य) देख कर अर्थात् आधे नेत्र खुले रख के और इधर उधर की (दिशः च) दिशाओं को भी (न अवलोकयन्) नदेख कर ॥ १३ ॥ (प्रशान्तात्मा) शान्त चित्त हो कर (विगत भीः) भय रहित हो कर तथा (ब्रह्मचारिव्रते–स्थितः) योगसाधन के ब्रह्मचर्य इत्यादि नियमों में प्रवृत्त हो कर (मनः) मन को (संयम्य) रोक करके (मच्चित्तः) मुझ ही में चित्त लगा कर (मत्परः) मुझ में परायण होकर मेरी प्राप्ति को ही अपना परम पुरुषार्थ समझता हुआ (युक्तआसीत) वह योगी इस प्रकार से होकर रहे ॥

(नोट)–जैसे कोई सब प्रकार के वस्त्रों में कपास, रुई वा सूत को ही देखे वैसे ही भगवान् की व्याप्त विभूतियों को पारमार्थिकी सत्ता, प्रकाश वा चमक तथा प्रियरूप से सब वस्तुओं में देखे और माने तथा सब में लौकिक विषय भावना का त्याग करता चले । " नेति-नेति " श्रुति का भी यही अभिप्राय है । ऐसा ज्ञानी ईश्वरतत्पर कहा जायगा ॥ (भी० श०)

टीका–ऐसे अभ्यास से मन का संयम होता है और उसी के द्वारा वह साधक पुरुष केवल सगुण रूप श्रीकृष्ण को ही

मोक्ष दाता निश्चय करके उन्हीं का स्मरण कीर्तन करता है। उसकी बुद्धि भी सगुण ध्यान में शान्ति पाती है, और वह भगवान् ही के भरोसे रहता है। अतएव उसकी साधना में आनेवाले विघ्नों का डर भी उसे नहीं रहता, वह ब्रह्मचारी भी होजाता है अर्थात् उसकी योग साधना में जो बातें अनुकूल हैं, उन्हीं को ग्रहण करता और प्रतिकूल को त्याग देता है ॥

यही धारणा कायम रही कि वही समाधि है उसको लय (निद्रा) विक्षेप (कल्पना) भंग नहीं कर सकते। निद्रा का परिहार "युक्ताहारविहारादि" आगे कहेंगे और विक्षेप का उपाय "प्रत्याहार" है। इस प्रत्याहार का वर्णन इसी अध्याय में "योग भ्रष्ट" के प्रकरण में करेंगे ॥

पूर्वजन्म के योगभ्रष्ट को इस जन्म में बिना कष्ट योग सध जाता और जो आत्मज्ञ होकर सगुण भक्त होता है, वह भी विक्षेप से अनायास मुक्त रहता है ॥

आगे योगाभ्यास का फल कहते हैं ॥

युञ्जन्नेवंसदात्मानं योगीनियतमानसः ।
शान्तिंनिर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥१५॥

अर्थ-(एवम्) इस प्रकार से (सदा) सर्वदा (आत्मानम्) अपने मनको (युञ्जन्) समाहित करता हुआ (योगी) योगीजन (नियतमानसः) अपने चित्त को रोक लेता है वह (शान्तिम्) संसार से उपराम रूपी उस शांन्ति को (अधिगच्छति) प्राप्त होता है जिस में (निर्वाणपरमाम्) परमोत्तम प्राप्त करने योग्य कैवल्य (मोक्ष) है और जिससे (मत्संस्थाम्) मेरे ही रूप में स्थिति प्राप्त होती है ॥

टीका-" निर्वाण " शब्द से निर्गुण निर्धर्म ब्रह्म प्राप्ति की सूचना की है। इस स्थिति में सब प्रकार की तरङ्गें नष्ट होकर मैं वा तू यह भेद बिलकुल नहीं रहता। जिसको यह अनुभव हो गया उसको सहज में शांति का वैभव मिल गया और वही जीवन मुक्त कहा जाता है इसी शांति को "मत्-

संस्थाम्" कहा है अर्थात् भगवान् कहते हैं कि वह मेरे ही अधीन है ॥

अब आगे के २ श्लोकों में योगाभ्यास निष्ठावाले के आहारादि के नियम कहते हैं जिनके साधन से श्लोक १४ के टीका में कहा हुआ समाधि भंग करनेवाला " लय " नहीं होता ॥

नात्यश्नतस्तुयोगोऽस्ति नचैकान्तमनश्नतः ।
नचातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतोनैवचार्जुन ! ॥१६॥

अर्थ-हे अर्जुन ! (अति-अश्नतः) जो अधिक खाता है वा जो (एकान्तम्) कुछ भी (अनश्नतः) न खाने वाला अर्थात् बहुत ही कम खाता है इन दोनों को ही (योगो न अस्ति) योग समाधि नहीं बन सकता (च) तथा (अतिस्वप्नशीलस्य न) अधिक सोनेवाले से भी नहीं और (जाग्रतो नैव) अधिक जागनेवाले से भी योग नहीं सधता तो फिर कौन योग साधने के योग्य है सो आगे कहते हैं—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्यकर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगोभवतिदुःखहा ॥१७॥

अर्थ-(युक्ताहारविहारस्य) जिस के भोजनादि आहार तथा विहार नाम चलना फिरना नियत हैं अर्थात् प्रमाण से हैं (कर्मसु) कर्म करने में जिस का (युक्त चेष्टस्य) प्रयत्न परिमित है (युक्त स्वप्नावबोधस्य) जिस का सोना जागना प्रमाण से है उस का योग (दुःखहा) दुःख हरने वाला (भवति) होता है अर्थात् उसे कुछ दुःख न होकर योग सिद्ध हो जाता है ॥

(नोट) संसारी मनुष्य भी खाना, पीना, सोना, जागना तथा अन्य कर्म नियम से कर सकता है । उस से वह संसारी कामों में सिद्धि प्राप्त कर लेगा किन्तु योगी वा ज्ञानी नहीं हो सकेगा परन्तु, ज्ञान वा योगाभ्यासादि परमार्थ के काम में लगने वाला ही वैसा करे तो सुफल होगा ॥ (भी० प्र०)

टीका—यहां पर "योग" और "एकान्त" इन दोनों शब्दों से "व्यतिरेक" तथा "अन्वय" योग सुझाया है। खाना पीना विहार और कर्म इत्यादि सब अपने २ प्रमाण से जो रक्खेगा उसे दुःख न होगा ॥

आहार के नियम

द्वौभागौपूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् ।
मारुतस्यप्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत् ॥

प्रत्येक क्रिया का प्रमाण बांधना चाहिये अर्थात् इतने समय और इतना चलना स्नान, भोजन, सोना, जागना इत्यादि॥

कर्म से विहित कर्म की सूचना की है वह भी परिमित चाहिये। प्रपंच निर्वाह के लिये जो कर्म हैं वे भी विहित कर्म में शामिल हैं योग निष्पन्न पुरुष कब होता है सो स्थिति आगे कहते हैं ॥

यदाविनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहःसर्वकामेभ्यो युक्तइत्युच्यतेतदा ॥१८॥

अर्थ—(यदा) जब उक्त प्रकार से (विनियतम्) विशेष प्रकार निरोध किया हुआ (चित्तम्) चित्त (आत्मनि एव) केवल आत्मस्वरूप ही में (अवतिष्ठते) स्थिर हो जाता है और वह पुरुष (सर्व कामेभ्यः) इस लोक परलोक की सब प्रकार की कामनाओं से (निःस्पृहः) इच्छा रहित हो जाता है (तदा) तब (युक्तः) उसे योग प्राप्त हो गया (इति उच्यते) ऐसा कहा जाता है ॥

टीका—बिना चित्त स्थिर हुए समाधि नहीं जमता और स्थिर चित्त हुआ तथा इच्छा त्यागी कि वैराग होकर समाधि भंग होने का कोई कारण नहीं होता, आत्मस्वरूप से उचट कर मन दूसरी जगह गया कि उसी का नाम "विक्षेप" होता है, जब कोई कामना ही न रहेगी तो विक्षेप भी क्यों होगा ॥

अब आगे उपमा देकर यह बताते हैं कि चित्त चंचल क्यों होता है तथा किस उपाय से कैसा आत्माकार होके निश्चल होता है ॥

यथादीपोनिवातस्थो नेङ्गतेसोपमास्मृता ।
योगिनोयतचित्तस्य युञ्जतोयोगमात्मनः ॥१९॥

अर्थ-(यथा) जिस प्रकार (निवातस्थः) वायु शून्य स्थल में रक्खा हुआ (दीपः) दिया (नेङ्गते) हिलतानहीं (सा) वही (उपमा स्मृता) चित्त आत्मस्वरूप में स्थिर होने की उपमा है किसकी उपमा सो आगे कहते हैं (आत्मनः) आत्म विषय रूपी (योगम्) योग को (युञ्जतः) अभ्यास करने वाले (यत चित्तस्य) जिस का चित्त निरोध हो गया है उस (योगिनः) योगी को अर्थात् दीप की उपमा उस को दी है जो अपनी चित्तवृत्तियों को रोककर अपने चित्त को आत्म समाधि योग में लीन करने का अभ्यास करता है, क्योंकि वहां उस को वासनारूपी वायु नहीं लगती अतएव वह चञ्चल नहीं होता ॥

(नोट) जैसे जहां वायु नहीं चलता वहां दीपज्योति निश्चल प्रवाह से सीधी अचल जला करती है वैसे ही योगाभ्यास करते हुए योगी पुरुष का चित्त प्रवाह दीपज्योति के तुल्य जब अचल प्रवाह में वहने लगे और विषयों के झकोरों से चलायमान न हो वा काम क्रोधादि का उबाल न उठे तब जानो योग की परिपक्क दशा हुई ॥ (भी० श्रा०)

इसी अध्याय के श्लोक २ " यं संन्यासमितिप्राहुर्योगं तं विद्धिपाण्डव " इत्यादि में कर्म ही को योग शब्द से कहा है फिर " नात्यश्नतस्तुयोगोऽस्ति " श्लोक १६ इत्यादि में उसी कर्म को " समाधियोग" शब्द से कहा है तो अब इन में मुख्य योग कौनसा हुआ? यह स्पष्ट करने के हेतु से आगे ३॥ श्लोकों में समाधि योग के स्वरूप और फल को बता कर यह सिद्ध करते हैं कि समाधि योग ही मुख्य योग है ॥

यत्रोपरमतेचित्तं निरुद्धंयोगसेवया ।
यत्रचैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनितुष्यति ॥२०॥

अर्थ-(यत्र) जिस अवस्था में (योगसेवया) समाधिरूप योगाभ्यास के द्वारा (निरुद्धम्) रोका हुआ (चित्तम्) चित्त (उपरमते) विश्राम वा शान्ति को प्राप्त करता है, इसी योग का स्वरूप वा लक्षण पातञ्जलि सूत्र में कहा है " योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः " उस का फल आगे कहते हैं (च) और (यत्र) जिसअवस्था में (आत्मना) समाधि योग से शुद्ध किये मन के द्वारा (आत्मानम्-एव) केवल आत्मा ही को (पश्यन्) देखता हुआ देहादि को नहीं देखता और (आत्मनि) आत्मा ही में (तुष्यति) सन्तोष मानकर विषय सुख नहीं चाहता अर्थात् इन्द्रियों की सहायता न ले कर केवल बुद्धि के द्वारा अत्यन्त सुख भोगता है जो आगे कहते हैं ॥

सुखमात्यन्तिकंयत्तद्-बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्तियत्रनचैवाऽयं-स्थितश्चलतितत्त्वतः ॥ २१ ॥

अर्थ-(यत्र) जिस अवस्था में (यत्) जो सुख (अतीन्द्रियम्) विषय तथा इन्द्रियों के सम्बन्ध से परे है और केवल (बुद्धिग्राह्यम्) आत्माकार बुद्धि के द्वारा ही ग्रहण हो सकता है (तत्) उस (आत्यन्तिकं सुखम्, निरतिशय नित्य सुख को (वेत्ति) प्राप्त करता है यानी वहां इन्द्रियां और उन के विषयों का कोई प्रयोजन नहीं (च) अतएव (अयंस्थितः) ऐसी अवस्था में स्थित हो कर वह योगी (तत्त्वतः) आत्मस्वरूप के पास से (न चलति) कभी भी चलायमान नहीं होता, तब योग सिद्ध हुआ जानो ॥

टीका-आत्मा ही विषय है और विषयों से जो सुख मिलता है वही आत्मसुख है । परन्तु भ्रम के कारण वे विषय आत्मस्वरूप न दीख कर केवल विषयरूप ही दीखते हैं । अतएव विषयसम्बन्धी दुःख भी आत्मसुख में मिल जाता है ।

जैसे फूल का हार भ्रम से सर्प दीखे तो भय होता ही है। परन्तु उस की सुगन्धरूप सुख नहीं जाता, ऐसी भ्रान्ति रहते तक भय का दुःख और सुगन्ध का सुख दोनों मिश्रित रहते हैं। परन्तु भ्रान्ति मिटने पर केवल सुगन्ध सुख रह जाता है। इसी प्रकार विषय आत्मस्वरूप दीखने लगे कि भ्रम जनित दुःख नाश हो जाता है। और केवल नित्य आत्मसुख प्राप्त होता है। विषयों का आकार आंखों से दीखे बिना नहीं रह सकता। परन्तु बुद्धि से यह निश्चय करते रहना चाहिये कि वह आत्मस्वरूप ही है॥

ऐसा आत्म सुख रूपी अमृत मिलजाने पर विषय रूपी कांजी की इच्छा भला कौन करेगा? और इसी कारण से चित्त उस से चलायमान नहीं होता यह आगे कहते हैं॥

यंलब्ध्वाचापरंलाभं मन्यतेनाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितोनदुःखेन गुरुणापिविचाल्यते॥२२॥

अर्थ—(यम्) जिस आत्मस्वरूप को (लब्ध्वा) प्राप्त करके (ततः) उस से (अधिकम्) अधिक (अपरं च लाभम्) और कोई भी लाभ (न मन्यते) नहीं मानता है क्योंकि उसी में निरतिशयानंद प्राप्त होता है और (यस्मिन् स्थितः) उस आनंद की अवस्था में पहुंच कर (गुरुणापि दुःखेन) बड़े २ शीतोष्णादि हानि रूपी दुःख से भी (न विचाल्यते) नहीं हटाया जाता अर्थात् उस आत्म सुख में मग्न हो जाने पर बड़े २ दुःखों को भी कुछ न मानता हुआ वहां से नहीं हटता इस से यह सिद्ध हुआ कि अनिष्ट निवृत्ति इस योग का लक्षण है अर्थात उस को साधने से संपूर्ण अनिष्ट नष्ट हो जाते हैं॥

अब आगे इस योग शब्द की व्याख्या कहते हैं॥

(नोट) २१। २२ श्लोकों में कहे ब्रह्मानन्द वा आत्मानन्द को समझने के लिये प्रत्यक्ष दृष्टान्त अच्छी निद्रा है। जब अच्छी नींद आती है तो उस समय का आनन्द भी इन्द्रियों

को छोड़ के केवल बुद्धि से जाना जाता है। उस निद्रा सुखानुभव के समय भी अन्य सब को भुला देना वा छोड़ देनाही चाहता है। निद्रा और समाधि में केवल तमोगुण सत्त्वगुण का भेद है जब ऐसी दशा हो जाय कि अब मैं इसे छोड़ कर अन्य सुख कुछ नहीं चाहता क्योंकि इस से बड़ा आनन्द और कुछ नहीं है। तभी मान लो कि यही ब्रह्मप्राप्ति का आनन्द वा सुख है। विषय सुख में स्खलन, थकावटरूप भी दुःख लगा है ॥ (भी० शा०)

तंविद्याद्दुःखसंयोग-वियोगंयोगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेनयोक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा॥२३॥

अर्थ-(तम्) जो पिछले तीन मंत्रों में कही है उस विशेष अवस्था को अर्थात् (दुःखसंयोगवियोगम्) जिस में दुःख रूप विष मिश्रित जो सुख वह दुःख रूप ही है उस का वियोग होता है उसे (योग संज्ञितम्) योग कहते अर्थात् योग उस का नाम है जिस में दुःख देने वाले पदार्थों का वियोग यानी नाश हो जावे उसी को योग (विद्यात्) जानना चाहिये परमात्मा में क्षेत्रज्ञ का योजन करने वा मिलाने का नाम भी योग हो सकता है उस में स्थित हो जाने से दुःख ऐसे भागते हैं जैसे शूरवीरों को देख के डरपोंके भागते हैं। जब योग का ऐसा महा फल है तो आगे आधे श्लोक में कहते हैं कि उस को बड़े यत्न से अभ्यास करना चाहिये (सः योगः) वह योग शास्त्र वा आचार्य का उपदेश (निश्चयेन) निश्चय द्वारा (निर्विण्ण चेतसा) निर्वेदरहित चित्त से अर्थात् विरक्त अन्तःकरण से (योक्तव्यः) अभ्यास करने के योग्य है यद्यपि शीघ्र सिद्ध न हो तथापि उस के अभ्यास से दुःख का नाश जानकर यत्न बंद नहीं करना चाहिये विषयों की ओर से चित्त का उदासीन होना निर्वेद कहाता है ॥

टीका--चित्त और चैतन्य का जोड़ा है क्योंकि चैतन्य ही से चित्त सचेत होता तभी उसे चित्त कहते हैं परन्तु भ्रम के कारण जुदे २ दीखने लगते हैं और यह भ्रम जड़ दुःख वृत्तियों के संयोग से उत्पन्न होकर सुख देने वाले चित्त चैतन्य संयोग को बिगाड़ देता है। इन का वियोग अर्थात् नाश हुआ कि चित्त चैतन्य संयोग आप ही सुखकारक हो जाता है, इस जड़ वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। आत्मा सुख स्वरूप है इस से चित्त उस में लगा कि दुःख भागा॥

यहां तक अष्टांग योग का अर्थात् यम १। नियम २। आसन ३। प्राणायाम ४। धारणा ५। ध्यान ६। और समाधि ७--का वर्णन हुआ, अब आगे आठवें अङ्ग यानी प्रत्याहार को कहते हैं॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वासर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्यसमन्ततः॥ २४॥
शनैःशनैरुपरमेद्बुद्ध्याधृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थंमनःकृत्वा नकिंचिदपिचिन्तयेत्॥२५॥

अर्थ--(संकल्पप्रभवान्) संकल्प से उत्पन्न होने वाली (सर्वान् कामान्) योग के प्रतिकूल सब कामनाओं को (अशेषतः) स्थूल सूक्ष्म वासना सहित सर्व प्रकार (त्यक्त्वा) त्याग के (मनसा एव) विषय दोष देखने वाले मन के द्वारा ही (समन्ततः) सब ओर फैलने वाले (इन्द्रियग्रामम्) इन्द्रियों के समूह को चारों ओर से (विनियम्य) विशेष करके रोक कर (२४) योग साधना चाहिये परन्तु यदि पूर्व कर्म संस्कार के कारण मन चलायमान होता दीखे तो धारणा से उसे स्थिर करना चाहिये जैसा आगे कहते हैं (धृतिगृहीतया) धारणा के द्वारा वश की हुई (बुद्ध्या) बुद्धि से (मनः) मनको (आत्मसंस्थम्). भली भांति आत्मस्वरूप में निश्चल (कृत्वा) करके (शनैः शनैः) धीरे २ क्रम २ से अभ्यास करके

(उपरमेत्) संसार से उपराम को प्राप्त करे उपराम का स्वरूप यह है कि (किंचत् अपि) कोई भी और बात की न (चिन्तयेत्) चिन्ता न करे अर्थात् निश्चल मन आप ही प्रकाशमान परमानन्द में मग्न होकर आत्मध्यान से जुदा नहीं होता ॥

टीका—मन विषयों का चिन्तन किये विना नहीं रह सक्ता परन्तु बुद्धि से उसे रोकना पड़ता है। और आत्मस्वरूप में लगाना चाहिये अतएव उस बुद्धि को ही धारणा के द्वारा वश करे। वह हुई कि मन रुका—इतना करने पर भी यदि मन रजोगुण के वश से विषय चिंतन करने में चलायमान होवे तो फिर उसे " प्रत्याहार " द्वारा वश में लावे जैसा आगे कहते हैं ॥

यतोयतोनिश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततोनियम्यैतदात्मन्येववशंनयेत्॥ २६ ॥

अर्थ—(चञ्चलम्) चंचल होने से धारणा करने पर भी (अस्थिरम्) स्थिर न होनेवाला (मनः) मन (यतोयतः) जिस जिस विषय की ओर (निश्चरति) चलायमान होवे (ततस्ततः) उस उस विषय से (नियम्य) हटाकर (एतत) इस मनको (आत्मनि एव) आत्मस्वरूप में ही (वशं नयेत्) स्थिर करना चाहिये ॥

टीका—आत्मप्रकाश होने पर कोई कल्पना नहीं उठती अतएव जिस २ विषय में मन दौड़े वहीं वहीं उसे आत्मस्वरूप में लगावे ऐसा करने से वह वश में होकर जड़ वृत्ति का चिंतन ही न करेगा तथा आत्मसुख का लाभ होगा ॥

इस प्रकार प्रत्याहारादि से पुनः पुनः मनको वशीभूत करने से रजोगुण का नाश हो जाने पर योग का सुख प्राप्त होगा यही आगे कहते हैं ॥

प्रशान्तमनसंह्येनं योगिनंसुखमुत्तमम् ।
उपैतिशान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

अर्थ–उक्त प्रकार (शान्तरजसम्) जिसका रजोगुण (विषयेन्द्रिय संयोग) नाश हुजाता है इसी कारण (प्रशान्तमनसम्) जिसका मन शान्त हो जाता है (ब्रह्मभूतंयोगिनम्) उसी ब्रह्मत्व को प्राप्त हुए योगी को (एनम्) यह (अकल्मषम्) पापरहित (उत्तमं सुखम्) उत्तम समाधि रूप सुख आप ही से (हि) निश्चय करके (उपैति) प्राप्त होता है और को नहीं ॥

टीका–जिस सुख में इन्द्रियगण नहीं दीखते उसका नाम "शान्त रजसम्सुख" है जहां इन्द्रियां न हों वहां विषय भी नहीं हो सकते यह स्पष्ट ही है जिस सुख में जड़ वृत्ति रूपी दुःख कल्मष नहीं वह सुख ब्रह्म भूत है अर्थात् केवल सत्य वृत्ति का सुख है क्योंकि उसमें रजस् तथा तमस् का स्पर्श नहीं॥

अब आगे कहते हैं कि ऐसे सुख का भोगी योगी कृतार्थ होजाता है ॥

युञ्जन्नेवंसदात्मानं योगीविगतकल्मषः ।
सुखनब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तंसुखमश्नुते ॥ २८ ॥

अर्थ–(एवम्) इस प्रकार (सदा) हमेशा (आत्मानम्) अपने मनको (युञ्जन्) वशी भूत करके आत्मा में लगा कर वह (योगी) योग साधनेवाला (विगतकल्मषः) विशेष करके पाप रूपी वासना से रहित होकर (सुखेन) अनायास ही (ब्रह्मसंस्पर्शम्) अविद्या निवर्तक ब्रह्म के संस्पर्श अर्थात् साक्षात्कार हो जाने पर जो सुख होता है वह (अत्यन्तम्) अन्त न होनेवाला सर्वोत्तम (सुखम्) अखंडानन्द (अश्नुते) भोग करता है अर्थात् जीवन मुक्त होजाता है ॥

टीका–सब पातकों का वीज बासना है वह न रही कि अनायास मन आत्म स्वरूप में स्थिर हो जाता है फिर उसे

वृत्ति निरोध की खट पट नहीं करनी पड़ती यहां तक इस निर्विकल्प योग का वर्णन हुआ ॥

योग दो प्रकार के हैं १ व्यतिरेक, २ अन्वय, प्रथम व्यतिरेक ज्ञान द्वारा आत्मस्वरूप को पहिचान कर पीछे उसी को चराचर में देखना चाहिये अतएव यहां तक प्रथम यह व्यतिरेक समाधि योग कहा गया। अब आगे अन्वय समाधि योग भगवान् कहनेवाले हैं क्योंकि अन्वय समाधि योग के बिना सच्चा अद्वैतमत सधता नहीं, जब तक कि निर्विकल्प समाधि रहेगी तब तक अद्वैत रहेगा, परन्तु आंख खुली कि द्वैत तैयार हो है अतएव अद्वैत साधने के वास्ते अन्वय योग की आवश्यकता होती है। सो आगे के श्लोक में बता कर कहते हैं कि उपरोक्त योग से ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानिचात्मनि।
ईक्षतेयोगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः ॥ २९ ॥

अर्थ-(योगयुक्तात्मा) योग के अभ्यास से समाहित चित्त वाला पुरुष (सर्वत्र समदर्शनः) सब ठौर सम दृष्टि से स्थिर ब्रह्म ही को देखता है तथा अविद्या से जो देहादि परिच्छेद होता है उससे रहित होकर (आत्मानम्) अपनी आत्मा को (सर्वभूतस्थम्) ब्रह्मादि से लेकर स्थावर पर्यन्त वर्त्तमान देखता है (च) और (आत्मनि) भेद रहित होकर अपने आत्मा में (सर्वभूतानि) उन सब भूतों को (ईक्षते) देखता है ॥

(नोट) जैसे पृथिवी के घटपटादि सब विकार सदा पृथिवी में ही स्थित रहते हैं, एक क्षण भर भी पृथिवी से पृथक् नहीं ठहर सकते। क्योंकि उन का पृथिवी के साथ तादात्म्य सम्बन्ध वा उपादानोपादेय भाव है तभी ऐसा कहा वा माना जाता है कि सब घट पटादि पृथिवीस्थ हैं और सब

में पृथिवी है। इसी के अनुसार सब भूतों में आत्मा है और सब भूत आत्मा में हैं। क्योंकि आत्मा के साथ सब का तादात्म्य है॥ (भी० भ०)

टीका-विषम सृष्टि में सम ब्रह्म देखना केवल मुक्ति का काम है, ऐसे शब्द कहने से तो द्वैतभाव दीखता है परन्तु उन के बीच में अद्वैत भरा है। उसी प्रकार जगत् द्वैतरूपी दीखता है तथापि वह अद्वैत है आत्मा सर्वभूतों में है ऐसा कहने से आत्मा और भूत भिन्न २ दीखते हैं उसी तरह आत्मा में सर्वभूत कहना भी द्वैतभाव बताता है परन्तु वह भिन्न नहीं है जैसे तरङ्गों में जल और जल में तरङ्गें हैं। यद्यपि दो नाम हैं तथापि एक ही पदार्थ है उसी प्रकार चराचर में आत्मा तथा आत्मा में चराचर दोनों एक ही जानो। " योग " शब्द से आत्मा वा भूतों का संयोग कहा है, उस योग में दृष्टि डालो तो जल में तरङ्ग तथा तरङ्ग में जल दीखता है परन्तु वास्तविक में दोनों जलरूप ही हैं उसीप्रकार आत्मा वा चराचर का योग बना ही हुआ है। उस योग में दृष्टि गई तो विषय भावना से चित्त विकल होता है परन्तु यदि बुद्धि से ऐसी दृढ़भावना करे कि चराचर आत्मा ही का रूप है। आत्मा में चराचर तथा चराचर में आत्मा है तो वही विकल चित्त सुख पाता है ऐसे योग में जिस का चित्त युक्त है उस को " योग युक्तात्मा " कहते हैं। सब व्यवहार करते हुए भी ऐसे योगी को आत्मभावना दृढ़ रहती है अतएव वह जीवन्मुक्त होता है। इस प्रकार आत्मज्ञान में भी मुझे सब भूतों का आत्मा समझ कर मेरी उपासना मुख्य कारण जाने, तब जीवन्मुक्त होता है यह आगे कहते हैं और सुझाते हैं कि जीव ब्रह्म की एकता देखना ही मुख्य उपासना परमेश्वर की है॥

योमांपश्यतिसर्वत्र सर्वंचमयिपश्यति।
तस्याहंनप्रणश्यामि सचमेनप्रणश्यति ॥३०॥

अर्थ-यः जो कोई (माम्) मुझ परमेश्वर को (सर्वत्र) भूतमात्र में सब ठौर (पश्यति) देखता है (च) और (सर्वम्) सब प्राणीमात्र को (मयि) मुझ में (पश्यति) देखता है (तस्य) उस पुरुष को (अहम्) मैं (न प्रणश्यामि) अदृश्य नहीं होता अर्थात् सर्वदा सर्वत्र दीखता हूं (स च) और वह भी (मे) मुझ को (न प्रणश्यति) अदृश्य नहीं होता अर्थात ऐसे मनुष्य को मैं प्रत्यक्ष हो कर उसे कृपादृष्टि से देख कर उस पर अनुग्रह करता हूं वह मेरा ही आत्मा है और इसी हेतु ब्रह्म का जानने वाला ब्रह्म कहलाता है

॥ चौपाई ॥

आकर चार लाख चौरासी । जाति जीव नभ जल थल वासी ॥
सीय राम मय सब जग जानी । तुलसी कृत ॥

(नोट) भगवान् को सब पदार्थों में देखने तथा भगवान् में सब को देखने की रीति यही है कि सब में चेतनता, शोभा, चमक, दर्शनीयता, वा महिमा एक ही आत्मतत्त्व की है । जैसे सुवर्ण के सब आभूषणों में जो २ महत्त्व, चमक वा बहु मूल्यपन है वह सब सुवर्ण का ही है । वैसे संसार भर की सब महिमा भगवान् की देखे । और सब आभूषणों में सुवर्ण को तथा सुवर्ण में सब आभूषणों की सत्ता के तुल्य सब में ईश्वर को और ईश्वर में सब जगत् को ज्ञानी पुरुष देखे ॥ (भी० श०)

टीका-भगवान् को चराचर में तथा चराचर को भगवान् में जो देखने लगता है उस का योग भ्रंश कभी नहीं होता क्योंकि वह भगवान् को नहीं छोड़ता भगवान् उसे नहीं छोड़ सक्ते । पहिले श्लोक में सर्वत्र तथा सब को आत्मा में देखना कहा यह निर्गुण उपासना कही, अब इस श्लोक में भगवत् को चराचर में और चराचर को भगवत् में देखना यह भक्तियोग अर्थात् सगुण उपासना कही है । ऐसी उपासना वाले का

भगवान् सदा रक्षक रहता है, अतएव उस को योग सिद्धि अनायास होती है ऐसा समझने वाला "विधि किङ्कर," न हो जावे अतएव आगे कहते हैं कि-

सर्वभूतस्थितंयोमां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथावर्तमानोऽपि सयोगीमयिवर्तते ॥ ३१ ॥

अर्थ-(यः) जो कोई (सर्बभूतस्थितम्) अभेद भाव से सर्व भूतों में स्थित वा वर्तमान जानकर (माम्) मुझे (एकत्वमास्थितः) एक ही रूप स्थित मान के भेद न रखकर मेरा आश्रय लेकर (भजति) भजता है (सः योगी) वह ज्ञानी कहलाता है और (सर्वथा वर्तमानोऽपि) सर्व कर्म परित्याग करने पर भी वा सब प्रपंचों में वर्तता हुआ भी (मयि वर्तते) मुझ ही में वर्तता है अर्थात् वह मुक्त हो जाता है ॥

टीका-जो ईश्वर सब जगत् रचकर उस में आप विराजमान है वही अपना आत्मा है ऐसा जिसने व्यतिरेक ज्ञान से जान लिया उसे भगवान् सब से प्रिय होता है। वह सर्व चराचर में भगवन्त रूप जानकर एकत्व भाव से सर्वोत्तमभक्ति करता है तथा प्रारब्धानुसार प्रपंच में वर्तता हुआ भी भगवन्त ही में वर्त्तता है, देखने में प्रपंच और परमार्थ ये दोनों एक दूसरे के विरुद्ध दीखते हैं। इस से कोई यह समझेगा कि भगवद्भक्ति प्रपच में वर्त्तता हुआ भी परमार्थ कैसे कर सक्ता है? परन्तु ख्याल रखना चाहिये कि भगवद्भक्ति रूप अमृत जो पीता है उसे प्रपंचरूप विष बाधा नहीं कर सकते॥

इस प्रकार भगवद्भक्ति में आरूढ़ होकर जो भजन करते हैं उनमें से जो भूत दया रखता है वह और भी श्रेष्ठ है यह आगे कहते हैं॥

आत्मौपम्येनसर्वत्र समंपश्यतियोऽर्जुन।
सुखंवायदिवादुःखं सयोगीपरमोमतः ॥ ३२ ॥

अर्थ-(अर्जुन) हे अर्जुन ! (आत्मौपम्येन) अपने ही स-दृश (यः) जो पुरुष अपना सुख वा दुःख जैसा दूसरों के (सुखं यदिवा दुःखम्) सुख वा दुःख को (सर्वत्र) सब ठौर (समम्) एक समान (पश्यति) देखता है अर्थात् अपने स-रीखा सब किसी को सुखदेने की इच्छा करता रहता है तथा किसी को दुःख नहीं देना चाहता (सः योगी) वह योगी (परमो मतः) मेरे मन में बड़ा श्रेष्ठ है अर्थात् मुझे अतिमान्य है ॥

टीका-जो ज्ञानी पुरुष ब्रह्म सुख में मग्न रह कर सुख मानता है उस की अपेक्षा वह मनुष्य श्रेष्ठ है जो अपने पूर्व अनुभव का स्मरण रख कर सर्व प्राणी मात्र में दया रखता है अपनी भूख प्यास में जैसा कष्ट होता है वैसा दूसरों को भी होता होगा यह बिचार के उनको भूख प्यास निवारण करना चाहिये । सब प्राणिमात्र में भगवान् का बास है अत-एव उनको सुख देने से भगवान् संतुष्ट होते हैं । सर्व साधा-रण मनुष्यों को ऐसा वर्ताव करना चाहिये परंतु ज्ञानी का और भी यह कर्तव्य है कि उसे भूत मात्र का अज्ञान नाश करके ज्ञान सुख देना चाहिये तुकाराम बुवा ने भी कहा है "भूत दया ठंवा मग काय उणें, प्रथम साधन हें चि असे " ॥

उक्त लक्षण युक्त योग का साधन असंभव मान कर दो श्लोकों में अर्जुन प्रश्न करता है॥

अर्जुनउवाच ॥

योऽयंयोगस्त्वयाप्रोक्तः साम्येनमधुसूदन ! ।
एतस्याहंनपश्यामिचञ्चलत्वात्स्थितिंस्थिराम्३३॥

अर्थ-(मधुसूदन) हे कृष्ण ! लय विक्षेप शून्य केवल आत्मा के साक्षात्कार अर्थात् (साम्येन) अपने समान सब को जानने का (यः) जो (अयं योगः) यह योग (त्वया प्रोक्तः) आपने कहा सो (चञ्चलत्वात्) मन के चंचल होने के कारण (एतस्य) इस योग को (अहम्) मैं (स्थिरां स्थि-

तिम्र) दीर्घ काल तक स्थिरता (न पश्यामि) नहीं देखता अर्थात् वह योग सदा स्थिर नहीं रह सकता क्योंकि चंचलमन एक ठौर घड़ीभर भी स्थिर नहीं रहता तो दिन रात उस का एक जगह ठहरना असंभव प्रतीत होता है सिवाय चंचल होने के इस मन में और भी दोष हैं जो आगे कहते हैं ॥

चञ्चलंहिमनःकृष्ण ! प्रमाथिबलवद्दृढम् ।
तस्याहंनिग्रहंमन्ये वायोरिवसुदुष्करम् ॥३४॥

अर्थ-(कृष्ण) हे कृष्ण ! (मनः) यह मन (हि) निश्चय करके (चञ्चलम्) स्वभाव ही से चंचल तो है और (प्रमाथि) देह तथा इन्द्रियों को मथने वाला अर्थात् क्षोभ करने वाला है और (बलवत्) बलवान् होने के कारण विवेक द्वारा भी जीता नहीं जासक्ता और (दृढम्) यह ऐसा दृढ़ बंधा हुआ है कि अनेक कर्म उपासनादि करते रहने पर भी वह विषय वासना के बंधन में पड़ाही रहता है । और इसी कारण उस का भेद नहीं कर सक्ते । अतएव जिस प्रकार आकाश में घूमते हुए (वायोः) पवन का (निग्रहम्) घटादिक में भरके रोकना (सुदुष्करम्) कठिन है (इव) उसी प्रकार (तस्य) इस चंचल मन का भी निग्रह अर्थात वशीभूत करलेना दुष्कर अर्थात् सर्व प्रकार असंभव (अहं मन्ये) मैं समझताहूं॥

श्री कृष्ण जी भी मन की चपलता तथा इन्द्रियादि की क्षोभ कारकता स्वीकार करके अब उस के निरोध करने का उपाय आगे कहते हैं ॥

॥ श्री भगवानुवाच ॥

असंशयंमहाबाहो ! मनोदुर्निग्रहंचलम् ।
अभ्यासेनतुकौन्तेय ! वैराग्येणचगृह्यते ॥३५॥

अर्थ-(महाबाहो) हे अर्जुन ! जो तू कहता है कि (चलम्) चपल (मनः) मन (दुर्निग्रहम्) रोका नहीं जासक्ता यह बात (असंशयम्) निस्संदेह सत्य है (तु) परंतु (कौन्ते-

य) हे अर्जुन । (अभ्यासेन) परमात्माकार वृत्ति द्वारा (च)और (वैराग्येण) विषयों के भोग की इच्छा त्यागने से वह मन (गृह्यते) अपने अधीन हो सक्ता है अर्थात् अभ्यास करने से लय का नाश हो जाता है तथा वैराग्य से विक्षेप दूर होता है और सर्वत्र परमात्माकार दीखने लगता है जैसा कि योग शास्त्र में कहा है—

मनसोवृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतयास्थितिः ।
असंप्रज्ञातनामाऽसौ समाधिरभिधीयते ॥

टीका--मन की दो गति हैं १ लय तथा २ विक्षेप, लय अभ्यास से और विक्षेप वैराग्य से दूर होता है,। आत्मा को पहिचान कर अपने मन को आत्मस्वरूप में लगाने को अभ्यास कहा है ऐसा अभ्यास वैराग्य के बिना केवल नहीं होता याचकों को यह समझाया ही गया है कि आत्मा ही से सुख मिलता है । विषयों से सुख दुःख की खिचड़ी होती है जब तक मन को सच्चे सुख का ज्ञान नहीं होता है तब तक वह विषयों पर दौड़ता है । जैसे कि प्यासे मनुष्य को स्वच्छ पानी न मिले तो वह मैले पानी ही को पीकर संतुष्ट हो जाता है आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाने पर भी मन विषयों में दौड़ता है परंतु विवेक द्वारा उस को वहां से हटा देवे तो वह आत्मस्वरूप की ओर आप ही से झुकजाता है जीव और ब्रह्म की एकता को योग कहते हैं ॥

अब आगे कहते हैं कि इस मन के संयम बिना ऐसा योग नहीं सध सकता है । इस चंचल मन के विषय में कवियों ने भी ऐसा कहा है ॥

सवैया ॥

चंचल जो मन की गति है अतिरूप सुवन २में फिरिये ।
कुंडल लोल कपोलन में अलकनि पलकनि चित्त में धरिये ॥
पर बेंदी भाल रमाल दिये अधरन में मोती पर हरिये ।

अलबेली लाल विहारिनि को दिन रैन निहारिन ही करिये॥१॥
निशिवासर वस्तु विचार करे सुख सांच हिये करुणा धन है।
अघ निग्रह से गृह धर्म कथा सुपरिग्रह साधन को गन है।
कहैं केशव भीतर जोग जगे अति ऊपर भोगनि में तन है।
मन हाथ सदा जिन के तिन को घर ही वन है वनही घरहै॥२॥

असंयतात्मनायोगो दुष्प्रापइतिमेमतिः।
वश्यात्मनातुयतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥३६॥

अर्थ-उक्त प्रकार अभ्यास और वैराग्य द्वारा जिसका (असंयतात्मना) चित्त उसके वशीभूत नहीं हुआ है उसको (योगः) यह योग (दुष्प्रापः) प्राप्त होना कठिन है (इति मे मतिः) यह मेरा मत है (तु) परंतु (वश्यात्मना) अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा जिस का चित्त वश में होगया है उसको इसी (उपायतः) उपाय से (यतता) प्रयत्न करने से यह योग (अवाप्तुम्) प्राप्त होने को (शक्यः) समर्थ हो सकता और उसी को अखण्डानन्द प्राप्त होता है॥

यह सुन कर अर्जुन को यह संशय हुआ कि अभ्यास तथा वैराग्य पूर्ण रूप न होने से यदि पूरा ज्ञान प्राप्त न हो पावे और बहुत काल इन्हीं के सम्बन्ध में लग जाने से यदि बीच ही में मृत्यु हो गई तो फिर क्या फल होगा ऐसा संशय युक्त होकर प्रश्न करता है॥

॥ अर्जुनउवाच ॥

अयतिःश्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्ययोगसंसिद्धिं कांगतिंकृष्णगच्छति॥३७॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिवनश्यति।
अप्रतिष्ठोमहाबाहो! विमूढोब्रह्मणःपथि॥३८॥
एतन्मेसंशयंकृष्ण! छेत्तुमर्हस्यशेषतः॥
त्वदन्यःसंशयस्यास्य छेत्तानह्युपपद्यते॥ ३९॥

अर्थ-(कृष्ण) हे कृष्ण ! यदि प्रथम इस योग को सच्चे मन से (श्रद्धयोपेतः) श्रद्धा पूर्वक प्रवृत्त होने पर (अयतिः) उसके पश्चात् वह योगाभ्यास करने वाला प्रारब्ध वशात् वा किसी प्रतिबंध से भली भांति प्रयत्न न करके अपने अभ्यास में शिथिल पड़ जावे तथा (योगात्) इस योग से (चलितमानसः) उसका चित्त हट कर विषयों की ओर झुक कर वैराग्य मन्द पड़ जावे तो इस प्रकार अभ्यास वैराग्य शिथिल हो जाने से (योगसंसिद्धिम्) योग की सिद्धि अर्थात् ज्ञान को (अप्राप्य] प्राप्त न होकर (कां गतिं गच्छति) वह मनुष्य कौन गति को प्राप्त होता है ? ॥ ३७ ॥ और (महाबाहो) हे कृष्ण ! कर्मों को ईश्वर के अर्पण कर देने के कारण वा ब्रह्म प्राप्ति के उद्योग में लग कर काम्य कर्म भी त्याग देने से उसको स्वर्ग प्राप्त नहीं होता, और योग की सिद्धि न होने के कारण उसे मोक्ष भी नहीं मिलता तो इस प्रकार (उभयविभ्रष्टः) वह मनुष्य दोनों ओर से भ्रष्ट होकर (कच्चित) क्या नाश को प्राप्त होता है ? (अप्रतिष्ठः) निराश्रय होकर (ब्रह्मणः) ब्रह्म प्राप्ति के उपाय के (पथि) मार्ग में (विमूढः) मोहित होकर अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति में निराश होकर (कच्चित्) क्या वह (न नश्यति) नाश को प्राप्त नहीं होता मुझे जान पड़ता है कि उसकी दशा (छिन्नाभ्रमिव) फटे हुए बादल के समान होती है यानी जैसे बादल का टुकड़ा एक बादल से जुदा होकर दूसरे बादल को न पहुंच कर बीच ही में नष्ट होजाता है तो क्या उसी प्रकार इस मनुष्य की भी गति होती है ? कि न इधर का हुआ न उधर का हुआ ॥ ३८॥

(कृष्ण) हे कृष्ण ! (मे) मेरी (एतत्) इस (संशयम्) शंका को (छेत्तुम्) (अर्हसि) समाधान आप ही से जो सर्वज्ञ हो (अशेषतः) भली भांति हो सक्ता है अर्थात् आप ही इस संदेह को छेदन करने योग्य है और (अस्य सं-

शयस्य) इस शंका का (छेत्ता) छेदन अर्थात् मिटानेवाला (त्वदन्यः) तुम्हारे सिवाय कोई अन्य पुरुष (नहि—उपपद्यते) होने योग्य नहीं है यह भारी वा कठिन शंका है अतएव आप के सिवाय कोई दूसरा उसे निवृत्त नहीं कर सक्ता ॥

अर्जुन के इस महत्व के प्रश्न का उत्तर भगवान् ४॥ श्लोकों में आगे देते हैं ॥

श्रीभगवानुवाच ॥

पार्थ ! नैवेहनामुत्र विनाशस्तस्यविद्यते ।
नहिकल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिंतात!गच्छति॥४०॥

अर्थ-(पार्थ) हे अर्जुन ! (तस्य) उस ज्ञाननिष्ठ मुमुक्षु मनुष्य का उभय पक्ष में उक्तप्रकार पतित होने से (नैवेह) न इस लोक में नाश है और (नामुत्र) न परलोक में (विनाशः) नरक प्राप्ति (विद्यते) होती है क्योंकि (तात !) हे भाई ! (कश्चित्) कोई भी (कल्याणकृत्) शुभ काम करने वाला मनुष्य किसी प्रकार की (दुर्गतिम्) दुर्गति को (नहि गच्छति) प्राप्त नहीं होता क्योंकि यह शुभ कर्म करने वाला पुरुष श्रद्धा युक्त हो कर योग में प्रवृत्त होता है और बीच में कोई प्रतिबन्ध आजाने से उस की हानि नहींहोती॥

टीका—लोकरीति से प्रेमपूर्वक अर्जुन को "तात" शब्द कहा है। जिस को केवल सत्त प्रकृति से मोक्ष की इच्छा बनी रहती है वह दुर्गति नहीं पाता. तो फिर मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने वाले को दुर्गति कहां से आई, उसे योगभ्रष्ट कहते हैं और वह योगभ्रष्ट पुरुष जिस गति को प्राप्त होता है सो आगे कहते हैं ॥

प्राप्यपुण्यकृतांल्लोका—नुषित्वाशाश्वतीःसमाः ।
शुचीनांश्रीमतांगेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

अर्थ-(योगभ्रष्टः) वह योगभ्रष्ट पुरुष (पुण्यकृताम्) अश्वमेधादि पुण्यकर्म करने वाले के (लोकान्) लोकों को (प्रा-

ण्य) प्राप्त करके और वहां पर (शाश्वतीः समाः) बहुत वर्षों पर्यन्त निवास कर वहां का सुख भोग के फिर से (शुचीनाम्) सदाचारी (श्रीमताम्) धनवान् राजा रईस पुरुषों के (गेहे) घर में (अभिजायते) जन्म धारण करता है ॥

(नोट) यह बात विशेष कर उस युग वा काल में चरितार्थ हो सकेगी कि जब राजा रईस भी अच्छी कोटि के विद्वान् सदाचारी पूर्णधर्मात्मा—होतेथे। उसी काल में योगभ्रष्ट का वैसे घरों में जन्म होना उचित भी है। अब के राजा रईस संस्कृतविद्या के मर्मबोध से सर्वथा शून्य, विषयी, धर्म तथा सदाचार की मर्यादा से च्युत, चर्बी मिले साबुन से हाथ मांजने वाले म्लेच्छ भाषाओं में प्रवीण होते हैं उन का ऐसा पुण्य कहां से हो सकता है? कि जिस से उन के घर में कोई योगभ्रष्ट पुरुष जन्म लेवें। सब कथन सबकाल में संघटित न हो तो कोई दोष नहीं, जब चरितार्थ हो तभी के लिये वह कहा जानो॥ (भी० श०)

टीका—अश्वमेधादि यज्ञ करने से अगणित पुण्य हो कर जो लोक उस यज्ञ करने वाले को मिलते हैं वेही योगभ्रष्ट को भी प्राप्त होते हैं। वहां के अगणित सुख भोग करके फिर शुद्धाचरणी पवित्र श्रीमानों के घर में उस का जन्म होता है। अर्थात् उसे इस लोक तथा परलोक के दोनों सुख मिलते हैं। योगभ्रष्ट दो प्रकार के होते हैं एक तो आत्मज्ञान पा कर संग दोष से फिर विषयासक्त हो जावें और उसी कारण वे उस योग से भ्रष्ट हो जावें तथा दूसरे योगसाधन का प्रयत्न करते २ वह सिद्ध न होने के पहिले मर जाते हैं। इन दोनों में से पहिले पुरुष के बावत् अर्जुन का प्रश्न है। वह ज्ञान प्राप्त करने पर भी मूर्ख बन कर विषयासक्त होता है। अन्तकाल में जैसी वासना रहती है उसी के अनुसार जन्म होता है यह अष्टमअध्याय में कहेंगे। पहिले प्रकार का योग भ्रष्ट इस वासना के कारण पवित्र धनवान् के यहां जन्म ले कर विषय

सुख भोगता है उन के बाद पूर्वबुद्धि के संयोग से वह पुरुष अपने अधूरे योग का फिर अभ्यास करता है ॥

अब आगे दूसरे प्रकार के योगभ्रष्ट की गति बताते हैं ॥ जिस ने चिरकाल अभ्यास किया नहीं परन्तु बीच में ही मरण हो जाने के कारण उस का योग सिद्ध नहीं होने पाया वह मनुष्य चिरकाल पवित्रलोक में वास करके फिर जन्म लेता है ॥

अथवायोगिनामेव कुलेभवतिधीमताम् ॥
एतद्धिदुर्लभतरं लोकेजन्मयदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अर्थ (अथवा) वह योगभ्रष्ट पूर्वोक्त पुरुषों के जो योगारूढ़ नहीं हुए उनके कुल में जन्म पा कर (धीमताम्) केवल ज्ञानी (योगिनाम् एव) योगनिष्ठ मनुष्यों के ही (कुले भवति) कुल में जन्म लेता है (यत) जो (ईदृशम्) इस प्रकार मोक्ष का हेतु (एतत) यह (जन्म) जन्म है यह (लोके) इस लोक में (दुर्लभतरम्) बहुत दुर्लभ है ॥

(नोट) कुल परम्परा दो प्रकार से मानी गयी है एक जन्म से दूसरी विद्या से, महर्षि पराशर जी परमसिद्ध योगी थे उन के बीजप्रभाव से उन के कुल में वेदव्यास भी वैसे ही योगी हुए फिर व्यास जी से वैसे ही जीवन्मुक्त शुकदेव जी हुए। संप्रति कलिकाल के विषयी गृहस्थों में ज्ञानी वा योगी प्रायः नहीं दीखते। विद्या से कुल परम्परा जब चलती थी तब वेदानुकूल गुरुशिष्यों के काम भी नैष्ठिक ब्रह्मचर्यादि होते थे, सो यह भी प्रचार नष्ट हो गया, इस से अब ऐसे गृहस्थ कुल प्रायः दृष्टिगोचर नहीं होते जो कि योगी वा ज्ञानी कहे जावें। तथापि ब्राह्मणकुलों में कोई कुछ योगी किसी २ अंश में मिलेंगे। सर्वांश में नहीं उन्हीं में संप्रति योगभ्रष्टों का जन्म हो सकता है ॥ (भी० श०)

टीका—वह दूसरे प्रकार का योगभ्रष्ट मनुष्य योगी के ही कुल में जन्म लेता है क्योंकि मरते समय वह विषयासक्त नहीं रहता। उत्तरार्द्ध में इसीप्रकार के योगभ्रष्ट के जन्म की प्रशंसा

की है। ज्ञानी के कुल में जन्म होना मोक्ष का हेतु है और कर्मकाण्डी धनवालों के कुल में नानाप्रकार के विक्षेप होने के कारण वहां से मोक्ष मिलना कठिन है। श्रुति का प्रमाण भी है। (नास्याब्रह्मवित् कुले भवति) ज्ञानी के कुल में अज्ञानी का जन्म नहीं होगा और हुआ भी तो वह उत्पन्न होकर ज्ञानी हो जाता है। इस लोक में आत्मतत्त्व का विचार करना ही दुर्लभ है भोग सब लोकों में पशु पक्षी मनुष्य देवनादि को एकसा बरोबर होता है, केवल आकृति का भेद है जो राजा को अपनी रानी में आनन्द है वही कंगाल को अपनी कुरूपा मलिना स्त्री में, तथा कूकर को कूकरी में वही आनन्द है खाना सोना भय इत्यादि सब में समान है परंतु मनुष्य देह में एक ज्ञान ही विशेष है जो पशु पक्षियों का धर्म ही नहीं अतएव ज्ञान हीन मनुष्य पशु से भी नीच है जैसा कहा है कि—

आहारनिद्राभयमैथुनंच, सामान्यमेतत्पशुमानवानाम् । ज्ञानंनराणामधिकोविशेषो ज्ञानेन हीनाः पशुभिःसमानाः ॥

इस प्रकार जन्म लेकर वह योग भ्रष्ट क्या करता है सो आगे के श्लोक में कहते हैं ॥

तत्रतंबुद्धिसंयोगं लभतेपौर्वदेहिकम् ।
यततेचततोभूयः संसिद्धौकुरुनन्दन ! ॥४३॥

अर्थ—(कुरुनन्दन) हे अर्जुन ! (तत्र) उस जन्म में वह मनुष्य (पौर्वदेहिकम्) अपने पहिले देह में संपादन किये हुए (तं बुद्धिसंयोगम्) उसी ब्रह्म विषयक बुद्धि के संस्कार को (लभते) प्राप्त करता है अर्थात् उसकी बुद्धि उसी अधूरे ब्रह्म योग में यहां भी प्रयत्न करने लगती है (ततः) तिसके पश्चात् (संसिद्धौ) उस योग की सिद्धि करने में यानी मोक्ष में वह योग भ्रष्ट (भूयः च) फिर भी अधिक (यतते) प्रयत्न करता है ॥

(नोट) सभी शास्त्रों के प्रायः सभी कथन अधिकांश सम्भव को लेकर कहे जाते हैं। तदनुसार ४१ । ४२ श्लोकों का भी आशय जानो कि योगभ्रष्ट का शुद्धाचारी राजा रईसों के घर में वा श्रेष्ठों के कुल में जन्म होना अधिक संभव है। पर उक्त दोनों से भिन्न कुलों में भी योगभ्रष्टों का जन्म हो सकता है क्योंकि अनेक साधारण कुलों में भी कबीर नानक और दादू आदि महात्मा योगी हो चुके हैं तथा अब भी कहीं २ होते हैं ॥ (भी० श०)

टीका-पूर्वजन्म में जो उसे मोक्ष की तथा सत्संगादि की इच्छा रहती थी वही इस जन्म में भी उसकी बुद्धि में प्रकाश करने लगती है। जैसी २ उमर बढ़ती जाती तैसी २ वह बुद्धि भी बढ़ती है और उसी मान से पूर्व संस्कार भी उस की बुद्धि में प्रवेश हो जाते हैं। इस योगभ्रष्ट जन्म में किसी को बाल्यावस्था में किसी को तरुणाई में तथा किसी को बुढ़ापे में पूर्व कर्मभोग के अनुसार उस पूर्व देह की बुद्धि का प्रकाश होता है। तदनन्तर सत्संग मिलने पर वह पुरुष आत्मयोग का अभ्यास करता है, यह सत्संग दोप्रकार का है-१सन्तों का संग द्वितीय ग्रन्थों का अवलोकन,-भगवान् ने जिस का जैसा योग रच राखा है वैसा अनायास उस को प्राप्त होता है। किसी को सन्तों की भेंट से वह ज्ञान मिलता है वा किसी को ईश्वर ही गुरु रूप होकर वह ज्ञान देदेता है और किसी को आप ही से उसका स्फुरण हो जाता है। इसका कोई विशेष नियम नहीं है परंतु यह निश्चय है कि किसी भी मार्ग से ईश्वर उस के पूर्व जन्म का ज्ञान उसे देता है फिर वह साधक मुक्ति का यत्न करके धीरे २ मोक्षरूपी योग सिद्धि को प्राप्त करता है ॥

ऐसा क्यों होता है अर्थात् वह मनुष्य प्रयत्नादि क्यों करता है ? उसका कारण आगे बताते हैं—

पूर्वाभ्यासेनतेनैव ह्रियतेह्यवशोपिसः ।
जिज्ञासुरपियोगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

अर्थ-(तेनैव पूर्वाभ्यासेन) उसी पूर्व जन्म में किये हुए अभ्यास के द्वारा (सः) वह मनुष्य (अवशः अपि) कोई इच्छा न करता हुआ भी जबरदस्ती से (ह्रियते हि) निश्चय करके खींचा जाता है अर्थात् अपनी इच्छा के विरुद्ध भी विषयों से मुंह मोड़ कर ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है तथा पूर्व अभ्यास के वश में होकर उसे मोक्ष का यत्न करना ही पड़ता है और उसका परिणाम यह होता है कि (योगस्य) योग के स्वरूप को जानने की केवल (जिज्ञासुः अपि) इच्छा करता हुआ भी अर्थात् यद्यपि उसे योग प्राप्त न हुआ हो परंतु योग मार्ग में प्रवेश ही किया अथवा पाप के वश से योग भ्रष्ट हो गया हो तथापि (शब्द ब्रह्म) वेद में कहे हुए ब्रह्म योग के (अतिवर्तते) परलो पार पहुंच जाता है अर्थात् वेदोक्त कर्मफलों को उल्लंघन करके उनसे श्रेष्ठ जो मोक्ष है सो प्राप्त कर लेता है।

(नोट) बुद्धिमानों को यह बात माननी अवश्य पड़ती है कि शास्त्रों का ज्ञान वा सत्सङ्गादि का उपदेश किसी २ को ही लगता है सबको नहीं कि जैसे युवा पुरुष को ही काम का उद्बोधक सामान देख के काम चेष्टा होती है बालक को नहीं होती । तो इस में कोई खास कारण अवश्य है। जैसे युवा पुरुष के हृदय में काम का बीज है वही उद्बोधन रूप जल सींचने से अङ्कुरित होता है पर बालक के हृदय में काम का बीज नहीं इसी कारण उद्बोधन से भी उसका कामदेव नहीं जगता । वैसे ही जिसके हृदय में पूर्व जन्म के योग वा ज्ञान का बीज विद्यमान है उसी को शास्त्र का वा सत्सङ्ग का उपदेश रूप जल सेचन ज्ञान वा योग को अङ्कुरित कर देता है । इसी से पता लग जाता है कि यह पूर्व जन्म का योग भ्रष्ट था ॥ (भी० श०)

टीका-ऐसे मनुष्य के पूर्वाभ्यास रूपी कर्म संस्कार रूप से उसकी बुद्धि में रहते ही हैं। अतएव कर्म योग का आचरण करके चित्त शुद्धि की खट पट में न पड़के वह एक दम योग में प्रवृत्त होता है। जिसको ऐसा मालूम पड़ता है कि ज्ञान ही तारक है। तो समझना चाहिये कि उसका चित्त पूर्व जन्म ही में शुद्ध हो गया है इसी को स्पष्ट करने के लिये भगवान् ने उत्तरार्ध में कहा है कि "जिज्ञासुरपि योगस्य" इत्यादि यहां पर "जिज्ञासु" पद से "आत्मजिज्ञासु" कहने का आशय है क्योंकि अर्जुन का प्रश्न था कि (योगाच्चलितमानसः) ऐसे पुरुष की क्या गति होती है? "शब्द ब्रह्म" का अर्थ वेद है। वह पुरुष वेद से भी परे हो जाता है। अर्थात् कर्म न करके योग ही में लगता है। पवित्र श्रीमान् के घर जन्म लेकर भी वह कर्म के वशीभूत नहीं होता, बल्कि ब्रह्म को जानकर केवल लोक संग्रह के हेतु कर्म करता है॥

उक्त वाक्य से जाना गया कि योग भ्रष्ट की बुद्धि पूर्वाभ्यास के द्वारा उसको जबरदस्ती ज्ञान मार्ग में लगा देती है तो फिर उसे यत्न करने की क्या जरूरत है? यह एक शंका है। फिर जिस प्रकार शुद्ध वस्त्र भी कालांतर में मैला हो जाता है तथा उसे धोना पड़ता है उसी प्रकार योग भ्रष्ट का पूर्व शुद्ध चित्त, कालांतर में मलिन हो जाता है और उसे शुद्ध करने के लिये कर्म करना पड़ता है किन्तु भगवान् ने इसके विपरीत कहा है यह दूसरी शंका है इन दोनों शंकाओं का समाधान आगे के श्लोक में करते हैं॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगीसंशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततोयातिपरांगतिम्॥ ४५॥

अर्थ-जब कि इस प्रकार मंद प्रयत्न करनेवाला योगी उत्तम गति को पाता है। तो फिर उसकी श्रेष्ठ गति होना

क्या कठिन है जो (योगी) योग साधनेवाला (प्रयत्नात्) उत्तरोत्तर अधिक श्रम वा यत्न करके अपने (यतमानः तु) अभ्यास में तत्पर रह कर (संशुद्धकिल्बिषः) योग ही के बल से पापों से मुक्त हो जाता है वह योगी (अनेक जन्म) बहुत जन्मों में साधे हुए योग तथा अभ्यास के द्वारा (संसिद्धः) सम्यक् प्रकार ज्ञान की सिद्धि प्राप्त करके (ततः) तिनके पश्चात् (पराङ्गतिं याति) श्रेष्ठ गति अर्थात् मोक्ष को पाता है ॥

टीका—" प्रयत्न बिना मोक्ष नहीं मिलता „ जो यह कहा है कि योग भ्रष्ट का पूर्व अभ्यास उसे बलात्कार ज्ञान मार्ग में खींच लेता है इसका यह आशय है कि उसे कर्म करने की इच्छा न रह कर वह सीधा ठेठ ज्ञान की ओर जाता है जितना अभ्यास उसका पहिले हो चुका है वह अनायास प्राप्त होकर उसके आगे उसे यत्न करना पड़ता है परंतु औरों के समान उसे चित्त संयम करने में श्रम नहीं करना पड़ता यह पहली शंका का समाधान हुआ ॥

दूसरी शंका का समाधान "अनेक जन्म संसिद्धिः„ वा "संशुद्ध किल्बिषः„ इन दोनों वाक्यों से किया है। अनेक जन्म पर्यन्त निष्काम कर्म के आचरण करने से ब्रह्म जानने की इच्छा उत्पन्न हुई कि शुद्ध चित्त हो गया ऐसा समझो, यह कह सकते हैं कि योग भ्रष्ट हो जाने से उसके चित्त पर फिर कुछ मैल चढ़ गया होगा परंतु यह मैल ऐसा नहीं है जैसा अनादि मैल बुद्धि पर चढ़ा हुआ रहता है वा उसी कारण उस बुद्धि को विषय ही प्यारे लगते हैं। जैसे लोहे में स्वाभाविक कठोरता तथा कालापन रहता है तो भी पारस लगने से ये दोनों गुण मिट कर लोहे का स्वच्छ सोना होजाता है उसी प्रकार अनादि विषय वासना रूपी मैल निष्काम कर्म भगवत् को अर्पण कर देने से नाश होजाता है वा चित्त भी सुवर्ण कैसा हो जाता है। जैसे सुवर्ण पर धूल पड़ने से वह मैला दीखता है परंतु हाथ से पोंछो तो फिर थोड़े

ही श्रम से शुद्ध हो जाता है। उसी प्रकार निष्काम कर्म द्वारा शुद्ध किये हुए चित्त पर यदि थोड़ा सा मैल चढ़ भी जावे तो उसे दूर करने में कोई श्रम करने की जरूरत नहीं, बुद्धि का अनादि मल गया कि वह शुद्ध निष्पाप हुई और योग के द्वारा उसी को और भी निर्मल किया कि मोक्ष प्राप्त हुआ ॥

इस प्रकार योग की श्रेष्ठता बता कर अब आगे अर्जुन को योगी होने का उपदेश करते हैं ॥

तपस्विभ्योऽधिकोयोगी ज्ञानिभ्योऽपिमतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिकोयोगी तस्माद्योगीभवार्जुन॥४६॥

अर्थः-(तपस्विभ्यः) कठिन चान्द्रायणादि तपानिष्ठ पुरुषों से (ज्ञानिभ्यः अपि) शास्त्र विज्ञानवालों से भी और (कर्मिभ्यश्च) इच्छा पूर्व कर्म करनेवालों से भी (योगी) योग साधनेवाला (अधिकः) श्रेष्ठ है ऐसा (मतः) मेरा मत है (तस्मात्) अतएव (अर्जुन) हे अर्जुन ! (योगी भव) तू भी योगी हो जा ॥

(नोट) श्लोक ४५ से यह भी ज्ञात होता है कि पूर्व जन्म का प्रबल संस्कार वासना रूप से जो विद्यमान होता है वह जन्मान्तर में उपदेश वा सत्संगादि उद्बोधक हेतुओं के बिना भी काल आजाने पर वृक्षों में स्वत एव फल लगने के तुल्य अवस्थानुसार बुद्धि बढ़ने के साथ २ स्वयं जागता है और ज्ञान योग की ओर उसको बलात्कार झुका देता है। पांच ज्ञानेन्द्रियों का मन के सहित अपने स्वरूप में स्थिर होना चञ्चलता का मिटजाना वा पूर्ण जितेन्द्रिय होना जिस को इन्द्रिय निग्रह तथा दम भी कहते हैं यही योग का खास चिन्ह है। सो तप ज्ञान वा कर्मानुष्ठान होने पर भी यदि उक्त प्रकार का योग न हो तो यह सम्भव है पर योग के ठीक होने पर तप आदि स्वयं सिद्ध हो जाते हैं इसी से योग सब से श्रेष्ठ कहा है॥ (भी० शा०)

टीका—चान्द्रायणादि व्रत पंचाग्नितपना तथा शीतकाल में प्रातः स्नान इत्यादि ये तपादि करने से बड़ी पदवी मिलती है परंतु यह फल नाशवान है कर्माचरण करके नाना देवतों की पूजा करने से उन देवतों के लोक मिलते हैं। पर वे भी नश्वर हैं परंतु योगी को नित्य पद अर्थात् मोक्ष मिलता है कोई २ कर्म त्याग के निष्काम कर्म ही करके उस का फल " आत्मज्ञान „ चाहते हैं परंतु वह हो जाने पर भी चित्त को निश्चल करने के हेतु योग करना ही पड़ता है। कोई २ ज्ञानाभिमानी लोग ऐसा कहते हैं कि जो दीखते हैं वे सर्व जगत् आत्मा ही हैं ऐसा समझा कि ज्ञान हुआ, फिर योग की क्या जरूरत है परन्तु यह उनका मत घातक ही समझो क्योंकि केवल शब्द कहने से वस्तु प्राप्ति का कार्य नहीं होता, उस वस्तु के प्रत्यक्ष प्राप्त होने ही में कार्य सधता है। सर्व विषय आत्मा ही है, ऐसा यदि समझ भी लिया जावे तो भी अनादि संस्कार के कारण वे विषय विषयरूप ही से मन के ऊपर घूमते रहते हैं। उन को दूर करने के वास्ते " अभ्यास " चाहिये जैसे किसी को तमाखू खानेकी आदत बहुत दिन से हो और वह उसे बुरा जानता भी हो तो भी एकदम नहीं छोड़ सकता। धीरे २ वह आदत छूटती है, उसी प्रकार विषयवासना का नाश बहुत काल योगाभ्यास के विना नहीं होता और उस का नाश हुए बिना विषय आत्मस्वरूप नहीं दीख सकते ॥

अब आगे यह कहते हैं कि यम नियम परायण योगियों के मध्य में भी मेरा भक्त श्रेष्ठ है ॥

योगिनामपिसर्वेषांमद्गतेनान्तरात्मना॥।
श्रद्धावान्भजतेयोमां समेयुक्ततमोमतः ॥४७॥

अर्थ-(सर्वेषाम् योगिनाम्-अपि) इन सब योगियों में भी (मद्गतेनान्तरात्मना यः) जो अपना मन मुझ में आसक्त करके (श्रद्धावान्) श्रद्धापूर्वक(माम्) मुझ परमेश्वर को (भजते) भजता है (सः) वह (मतः) मेरे मत में (युक्तमः) योग युक्त पुरुषों में श्रेष्ठ है क्योंकि वह मेरा ही भक्त होता है॥

टीका-पहिले श्लोक में यह कहा है कि योगी सब से श्रेष्ठ है। तथा इस श्लोक में यह कहा है कि इन सब योगियों में से सगुण भक्त योगी श्रेष्ठ है जो योगी हैं, वे युक्त कहे जाते हैं क्योंकि उन के चित्त आत्मस्वरूप में लगे हुए होते हैं। इस रीति से आत्मस्वरूप में युक्त अर्थात् लीन हो कर जो सगुण भक्ति करते हैं वे " युक्तम " होते हैं॥

इस अध्याय में इसप्रकार सगुण भक्ति की श्रेष्ठता बताकर उसी का विस्तार पूर्वक वर्णन आगे के अध्याय में करेंगे॥

यह छठवें अध्याय की टीका श्रीयुगलकिशोर जी के चरणारविन्दों में समर्पण है॥ इति॥

आत्मयोगमवोचद्यो भक्तियोगशिरोमणिम्॥
तंवन्देपरमानन्दं माधवंभक्तशेवधिम्॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः समाप्तः॥

॥ अथ सप्तमाध्यायः ॥

ओंनमोभगवतेवासुदेवाय ॥

विज्ञेयमात्मनस्तत्त्वं संयोगसमुदाहृतम् ।
भजनीयमथेदानी-मैश्वरंरूपमीर्यते ॥

छठवें अध्याय के अन्त में " मद्गतेनान्तरात्मना " इत्यादि वाक्यों से श्रीभगवान् जी ने यह बताया है कि-आत्मभजन करने वाले योग युक्तों को अपना योगयुक्त सगुण भक्त श्रेष्ठ हैं। अब इस अध्याय में कहते हैं कि वह सगुण ईश्वर कौन तथा कैसा है? जिस को भक्ति करना चाहिये। यही विषय अध्याय १२ तक कह कर अपना वह स्वरूप बताते गये हैं जिस की उपासना करना चाहिये ॥

श्रीभगवानुवाच ॥

मय्यासक्तमनाःपार्थ ! योगंयुञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयंसमग्रंमां यथाज्ञास्यसितच्छृणु ॥ १ ॥

अर्थ-(पार्थ) हे अर्जुन ! (मयि) मुझ परमेश्वर में (आसक्तमनाः) अपने मन को आसक्त अर्थात् लगा कर तथा (मदाश्रयः) केवल मेरा ही आश्रय रख कर (योगंयुञ्जन्) जो योगाभ्यास मैंने अध्याय ६ में बताया है उस का आचरण करता हुआ तू (यथा) जिस प्रकार जौन रीति से (असंशयम्) सन्देह रहित हो कर (माम्) मुझे (समग्रम्) विभूति, बल ऐश्वर्यादि सहित पूर्णरूप से (ज्ञास्यसि) जान सकेगा (तत्) सो (शृणु) सुन ॥

टीका-सब चराचर में निर्गुण ब्रह्म देखने को " सर्वात्मयोग " कहते हैं इस सर्वात्मयोग में चित्त लगा कर मायाभास रूप आकारवान् जगत् जो दीखता है उस को सगुण ईश्वर का रूप समझने को सगुणभक्ति कहते हैं। सर्वात्मयोग के बिना स-

गुणभक्ति नहीं होती, अतएव उस योग के साधने से ही सगुण-भक्ति पुष्ट होती है ऐसा समझते रहना चाहिये। निर्गुणज्ञान ही से सगुण ज्ञान होता है और जो आत्मज्ञान होने पर सगुण भक्ति का आदर नहीं करते, उनकी योगसिद्धि उन्हीं के प्रयत्नों पर अवलम्बन रहती है। अतएव उन को बड़ा क्लेश होता है परन्तु ज्ञानी सगुणभक्त का योग सगुण ईश्वर की सहायता से अनायास सिद्ध होता है॥

आगे श्रीभगवान् जी कहते हैं कि जिस से सब आकार-वान् जगत मेरा सगुण रूप जानेगा वही भक्तियोग तुझ से कहता हूं॥

ज्ञानंतेऽहंसविज्ञान-मिदंवक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वानेहभूयोन्यद् ज्ञातव्यमवशिष्यते॥२॥

अर्थ—सब चराचर में एक निर्गुण वा एक निर्गुण में अनेक चराचर देखने के अनुभव को विशेष ज्ञान अर्थात् विज्ञान कहते हैं। (सविज्ञानम्) इस विज्ञान के सहित (ज्ञानम्) शास्त्र सम्बन्धी केवल निर्गुण ज्ञान जिसे "व्यतिरेक" कहते हैं (इदम्) वही (अहम्) मैं (ते) तुझे (अशेषतः) पूर्णरूप से (वक्ष्यामि) बताता हूं) यत्) जिस को (ज्ञात्वा) जानकर (इह) इस लोक के कल्याण मार्ग में (अन्यत्) फिर और कुछ (भूयः) अधिक (ज्ञातव्यम्) जानने के योग्य (न—अवशिष्यते) बाकी नहीं रहता अर्थात् उसी से मनुष्य कृतार्थ हो जाता है॥

टीका—इस ज्ञान तथा विज्ञान के जानलेने से अनेक मुमुक्षु लोग मुक्त हो गये, तथापि सगुण भजन पूर्णरूप से उन्हें प्राप्त नहीं हुआ वे लोग सर्वज्ञ हैं सही परन्तु उन्हें यह जानना फिर भी बाकी रहा कि सर्व—आकारवान् जगत् ईश्वर की सगुण मूर्त्ति रूप है यही बाकी ज्ञान श्रीभगवान् जी अब आगे कहते हैं। निर्गुणोपासक लोग सब ठौर ब्रह्म ही को देखते हैं परन्तु वे यह समझते हैं कि, आकारवान् जगत् कुछ नहीं है बल्कि माया

का प्रकाश है पर सच है कि तत्त्वदृष्टि में यह कुछ नहीं, परन्तु जबतक यह तत्त्वदृष्टि नहीं होती तब तक सामान्य दृष्टि में वह मायाभास प्रत्यक्ष दीखता है और वह क्लेश दिये विना नहीं रहता निर्गुण उपासना में यही न्यूनता है सो वह सगुण उपासना से मिट जाती है ॥

अब आगे कहते हैं कि मेरी भक्ति विना मेरा ज्ञान होना दुर्लभ है ॥

मनुष्याणांसहस्रेषु कश्चिद्यततिसिद्धये ।
यततामपिसिद्धानां कश्चिन्मांवेत्तितत्त्वतः ॥ ३ ॥

अर्थ—असंख्य जीवों के मध्य में मनुष्य के सिवाय किसी और को कल्याण की ओर प्रवृत्ति नहीं होती और (मनुष्याणां सहस्रेषु) हजारों मनुष्यों में (कश्चित) कोई विरला ही मनुष्य अपने पुण्य के बल से (सिद्धये) आत्मज्ञान सिद्ध करने के लिये (यतति) प्रयत्न करता है वा (यततामपि सिद्धानाम्) यत्न करके सिद्ध होने वाले हजारों मनुष्यों में (कश्चित्) कोई विरला पूर्व पुण्य से आत्मा को जानता है और ऐसे हज़ारों आत्मज्ञानियों में कोई कोई ही (माम्) मुझ परमात्मा को मेरे ही प्रसाद से (तत्त्वतः) तत्त्वदृष्टि से (वेत्ति) जानता है। यही दुर्लभ आत्मतत्त्व श्रीभगवान् श्री अर्जुन को अब बताते हैं ॥

टीका—पहिली सीढ़ी कर्म योग है उस से चित्त शुद्ध होकर आत्मबोध होता है आत्मबोध से सर्व जगत् सगुण ब्रह्मरूप दीखता है अर्थात् सगुण भक्ति की सीढ़ी आत्मबोध के ऊपर होती है यही बात " मां वेत्ति तत्त्वतः" इस वाक्य से बताई है जैसे चित्त शुद्धि के विना ज्ञान नहीं होता, तैसे ही तत्त्वज्ञान विना सगुण भगवन्त नहीं जानाजाता इस से सगुण भजन की श्रेष्ठता सिद्ध होती है ॥

अब आगे दो श्लोकों में यह रहस्य बताते हैं कि सर्व विश्व सगुण भगवन्त ही है और यही परमेश्वर अपनी प्रकृ-

ति द्वारा सृष्टि उत्पन्न करता है। प्रकृति के दो भेद हैं १परा २ अपरा सो इस श्लोक में अपरा प्रकृति का स्वरूप निरूपण करते हैं क्योंकि प्रकृति के द्वारा ही भगवान् को ज्ञान होता है॥

भूमिरापोऽनलोवायुः खंमनोबुद्धिरेवच।
अहङ्कारइतीयंमे भिन्नाप्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

अर्थ-(भूमिः) भूमि को आदि लेकर सूक्ष्म पंच महाभूत (आपः) जल (अनलः) अग्नि (वायुः) हवा (खम्) आकाश (मनः) मन वा उस का कारण अहंकार (बुद्धिः) बुद्धि वा उसका कारण महत्तत्त्व (एव च) और (अहङ्कार) अहङ्कार वा उस का कारण अविद्या (इतीयम्) ऐसी यह (मे) मेरी (प्रकृतिः) अपरा प्रकृति अर्थात् माया नाम्नी शक्ति (अष्टधा) आठ प्रकार के (भिन्ना) विभागों में प्राप्त है। इस प्रकृति के वास्तव में यद्यपि २४ भेद हैं तथापि वह सब इन्हीं आठ भेदों के अन्तर्गत हैं क्षेत्र के अध्याय यानी १३ वें अध्याय में इसी प्रकृति को २४ तत्त्व युक्त कहेंगे "महाभूतान्यहंकारो" श्लोक ५ अध्याय १३ इत्यादि॥

टीका-ये आठप्रकार मिल के भगवान् की एकमाया कहाती है जिस प्रकार से एक सुवर्ण के जुदे २ अलंकार होते हैं परंतु उन सबमें निर्विकार सुवर्ण रहता है वा जैसे सूर्य की किरणों से मृग जल की लहरें उठती हैं परन्तु वे सब किरणें ही हैं इसी तरह सर्व जगत् की जुदी २ आकृति एक भगवान् का स्वरूप ही है। जिस शक्ति के द्वारा वह जगत् भासमान होता है वह भगवान् की माया है सुवर्ण की शक्ति से अलंकार दीखते वा सूर्य की किरण-शक्ति से मृगजल दीखता है उसी प्रकार से भगवान् की माया के द्वारा सब जगत् जड़ दीख पड़ता है इस माया के ८ भेदों से २३ प्रकार की विकृति उत्पन्न हुई है अर्थात् पृथिवी को आदि लेकर पंचभूतों में शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध ये पांच

विषय मिले हैं और अहंकार में १० इन्द्रियां शामिल हैं ऐसे २१ तत्त्व हुए यानी भूत ५+ विषय ५+ अहंकार १+इन्द्रियां १०=२१ मन १+बुद्धि १=२३ ये २३ माया के विकार हैं और चौबीसवां तत्त्व अव्यक्त तत्त्व है जो आगे के श्लोक में कहेंगे वही क्षेत्रज्ञ है उसी का नाम पराप्रकृति है यही नवधा प्रकृति २४ तत्त्वों को दिखाती है, सर्व क्षेत्रों में यही तत्त्व रहते हैं और इन्हीं तत्त्वों के ब्रह्मांड बने हैं ॥

यहां तक अपराप्रकृति को कह कर अब आगे पराप्रकृति कहते हैं ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिंविद्धिमेपराम् ।
जीवभूतांमहाबाहो ! ययेदंधार्यतेजगत् ॥ ५ ॥

अर्थ-हे (महाबाहो) अर्जुन ! जो आठ प्रकार की प्रकृति ऊपर कही है (इयम्) यह (अपरा) निकृष्ट है क्योंकि वह जड़ है और दूसरों पर निर्भर है (इतःतु) परंतु इसके परें यानी इससे (पराम्) श्रेष्ठ (अन्याम्) और दूसरी (जीवभूताम्) चैतन्यात्मक यानी जीव स्वरूपी (मे) मेरी (प्रकृतिम्) प्रकृति को (विद्धि) जानो उसी का नाम पराप्रकृति है और वह परा प्रकृति इस कारण श्रेष्ठ है कि (यया) उसी चेतन्य वा क्षेत्रज्ञ स्वरूपी प्रकृति के द्वारा (इदम्) यह (जगत्) संसार (धार्यते) धारण किया जाता है अर्थात् वही प्रकृति अपने कर्म के प्रभाव से इस जगत् को धारण करती है और उसी के द्वारा मैं भी इस जगत में जीवरूप होकर प्रवेश हुआ हूं " तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् „ इति श्रुतिः ॥

टीका-यही पराप्रकृति जीवधारी है इसी से उसे "जीवभूता„ कही है मानलो कि घड़ा अपराप्रकृति है और उस में का पानी पराप्रकृति है उस में जो सूर्य का प्रकाश पड़ता है वह " चित्प्रकाश „ मानो केवल जलमें प्रकाश नहीं है परंतु सूर्य के तेज से वह प्रकाश पाता है वही तेज घट को भी

प्रकाशित करता है इसी प्रकार " शुद्ध सत्व " पराप्रकृति का स्वरूप समझो उसमें जो चैतन्य का प्रतिबिंब पड़ा वही जीव है और वही जीव पराप्रकृति रूप हो जाता है अतएव उस प्रकृति को जीव भूता कहा है जो चैतन्य पराप्रकृति को प्रकाशित करता है वही अपरा प्रकृति रूपी क्षेत्र को भी प्रकाशित करता है यह विषय अध्याय १५ में पूर्ण रूप से स्पष्ट करेंगे, यहां पर इतना ही समझना चाहिये कि जिससे जीव भाव उत्पन्न होता है वही पराप्रकृति है और यही पराप्रकृति जगत् की कल्पना करती है इसी लिये चौथे चरण में कहा है कि "यया इदं जगत् धार्यते „ अब यह खुलासा करना है कि सर्व जड़ जगत् अपराप्रकृति है भला उसे पराप्रकृति कैसे धारण करती है स्वप्न में आप एकाध नगर की कल्पना करते हैं उसका आधार मन ही है उसी प्रकार अपराप्रकृति रूपी सर्व जगत् का आधार पराप्रकृति रूपी ईश्वर है अर्थात् ईश्वर इस पराप्रकृति द्वारा अपराप्रकृति की कल्पना करके साक्षि रूप से उसे आप धारण करता है सर्व जगत् का आभास और स्थिति केवल ईश्वर के साक्षिपन पर अवलंबन है। जब तक ईश्वर साक्षिरूप है तब तक इस जगत् का प्रकाश है यह साक्षित्व पराप्रकृति से है। इसीलिये कहा है कि पराप्रकृति के योग से ईश्वर जगत् को धारण करता है, जैसे पराप्रकृति के बिना अपरा का ज्ञान नहीं होता उसीप्रकार अन्तःकरण के बिना इन्द्रियों का ज्ञान नहीं, अतएव अपने देह में अन्तःकरण ही को पराप्रकृति जानो, यह ईश्वरोपाधिरूप पराप्रकृति का एक अंश है, तथा जीवोपाधि कहाती है इसी से जीव का नाम चिदंश है ॥

इन दोनों प्रकृतियों के रूपों को दरशा कर अब यह कहते हैं कि इन्हीं प्रकृतियों के द्वारा मुझे सृष्टि आदि उत्पन्न होने का कारण बनना पड़ता है अर्थात् ये प्रकृति उपादान कारण हैं और मैं चैतन्य ईश्वर निमित्त कारण हूं ॥

एतद्योनीनिभूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहंकृत्स्नस्यजगतः प्रभवःप्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

अर्थः-जिन क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ स्वरूप प्रकृति का कारण मैं हूं (एतत्) उन (योनीनि) स्थावर जङ्गमरूपी (सर्वाणिभूतानि) सर्वभूतों का कारण भी मैं हूं (इति) ऐसा (उपधारय) तू जान अर्थात् तू ऐसा समझ कि मेरी पराप्रकृति सम्पूर्ण भूतों का उत्पत्ति स्थान है, उन में जड़ प्रकृति तो देहरूप है वा चेतनाप्रकृति स्वयं मेरा अंश हो कर वा भोक्ता बन कर देह में प्रवेश करती है, वा अपने कर्म से देहों का धारण करती है तो वह देह मेरी प्रकृति से उत्पन्न हुई, अतएव मेरी प्रकृतिरूप (कृत्स्नस्य जगतः) सर्व जगत् का (प्रभवः) परम कारण वा उत्पत्ति करने वाला (तथा) और (प्रलयः) संहार कर्ता (अहम्) मैं हूं ॥

टीका-" अपराप्रकृति " कल्पना है और यह कल्पना पराप्रकृति करती है तो यही दोनों प्रकृतियां कार्य कारणरूप हुईं, फिर ईश्वर का ठिकाना कहां रहा ? अतएव उत्तरार्द्ध में कहा है कि मैं सर्व जगत् का कर्ता, रक्षक तथा नाशक हूं जैसे सुवर्ण में नग है उसीप्रकार भगवत् के निर्गुणरूप से सब जगत् है उसी से उत्पन्न वा उसी में लय हो जाता है विकार वा आकार प्रकृति के खेल हैं और उस प्रकृति का धनी ईश्वर है इस अध्याय के श्लोक १ " असंशयं समग्रंमां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ,, में जो कहा है वह यही ज्ञान है ॥

मत्तःपरतरंनान्यत्किंचदस्तिधनञ्जय !।
मयिसर्वमिदंप्रोतं सूत्रेमणिगणाइव ॥ ७ ॥

अर्थ—हे (धनञ्जय) अर्जुन ! इस जगत् के सृष्टि संहार का स्वतंत्र कारण (मत्तः) मुझ से (परतरम्) श्रेष्ठ (किंचदन्यत्) और कोई भी दूसरा (न-अस्ति) नहीं है अर्थात्

केवल मैं ही मुख्य कारण हूं। अब श्लोकार्द्ध में यह बताते हैं कि इस जगत् की स्थिति का भी मुख्य हेतु मैं ही हूं क्योंकि (सूत्रे) धागे में (मणिगणाइव) मणियों के समूह के समान (इदं सर्वम्) यह सब जगत् (मयि) मुझ में (प्रोतम्) गुथा हुआ है अर्थात् मेरे ही बीच में स्थित है ॥

टीका—सगुण ब्रह्म के परे कुछ नहीं है वह अनन्त है तथा उनके बीच में सर्व जगत् है श्लोक ६ में कह आये हैं कि सर्व जगत् भगवत् रूप है तो फिर सेव्य सेवक भाव नहीं रहता है परन्तु यह भाव रहता है ऐसा उपदेश इस श्लोक के दृष्टांत से किया है कि जैसे मणियों को सूत्र का आधार रहता है उसी प्रकार सर्व जगत् को भगवान् का आश्रय है अर्थात् भगवान् श्रेष्ठ है और जगत् उनका सेवक हुआ ॥

अब यह शंका होती है कि जब एक भगवान् ही श्रेष्ठ है तो बाकी सब एक समान हुए यदि ऐसा है तो कोई किसी का पूज्य वा माननीय न रहा इस संशय को निवारण करने के हेतु श्री महाराज आगे के ५ श्लोकों में अपनी विभूति तथा पूर्णता बताकर यह सिद्ध करते हैं कि जगत् की स्थिति का कारण मैं ही हूं और जहां २ जो २ वस्तु उत्तम दीखे उसे भगवान् का रूप जानकर पूज्य तथा श्रेष्ठ मानते हैं ॥

रसोऽहमप्सुकौन्तेय ! प्रभास्मिशशिसूर्ययोः ।
प्रणवःसर्ववेदेषु शब्दःखेपौरुषंनृषु ॥ ८ ॥

अर्थ—हे (कौन्तेय) अर्जुन ! (अप्सु) जल के बीच में (रसः) रसरूपी विभूति (अहम्) मैं हूं अर्थात् जल का जो रसरूप है वही मैं हो कर उस में स्थित हूं तथा (शशिसूर्ययोः) चन्द्र तथा सूर्य में (प्रभा—अस्मि) प्रकाशरूपी विभूति मैं ही वर्तमान हूं और भी जगह इसी प्रकार मुझे जानो (सर्ववेदेषु) वैखरीरूप सर्ववेदों में उन का मूल कारण (प्रणवः) ओंकार मैं हूं तथा (खे) आकाश में (शब्दः) शब्दरूप मैं हूं और (नृषु) पुरुषों में (पौरुषम्) पराक्रमरूप मैं हूं ॥

पुण्योगन्धःपृथिव्यांच तेजश्चास्मिविभावसौ ।
जीवनंसर्वभूतेषु तपश्चास्मितपस्विषु ॥ ९ ॥

अर्थ (पृथिव्याम्) पृथ्वी में (पुण्यो गन्धः) उत्कृष्ट सुगन्ध जो है वह मेरी विभूति है (च) तथा (विभावसौ) अग्नि में जो (तेजः) दुःसह प्रकाश है वह (अस्मि) मैं हूं (सर्वभूतेषु) सब प्राणियों में जो (जीवनम्) प्राणधारणरूपी आयुष्य है सो मैं हूं (च) तथा (तपस्विषु) तपस्वी लोगों में यानी वानप्रस्थ आश्रम धारण करने वालों में जो द्वन्द्व सहनरूपी (तपः) तप है वह (अस्मि)मैं हूं। विचार का नाम भी तप है ॥

बीजंमांसर्वभूतानां विद्धिपार्थ! सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

अर्थ–हे (पार्थ) अर्जुन ! (सर्वभूतानाम्) सर्व चराचर में सजातीय कार्य उत्पादन की सामर्थ्य जो (सनातनम्) नित्य है वा सदा से चली आई है अर्थात् उत्तरोत्तर सर्वकार्यों के अन्तर्गत है वह (बीजम्) बीज यानी सामर्थ्य (माम्) मुझे ही (विद्धि) जानो अर्थात वह मेरी विभूति है और ना-शवान् नहीं तथा (बुद्धिमताम्) बुद्धिमान् लोगों की (बुद्धिः) प्रज्ञा वा विवेकशक्ति (अस्मि) मैं हूं तथा (तेजस्विनाम्) तेजस्वी वा प्रगल्भों का (तेजः) तेज यानी प्रागल्भ्य (अहम्) मैं हूं॥

बलंबलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धोभूतेषु कामोऽस्मिभरतर्षभ ! ॥११ ॥

अर्थ–हे (भरतर्षभ) अर्जुन ! (काम) जो वस्तु प्राप्त नहीं है उस की अभिलाषा अर्थात् राजस वा (राग) जिस वस्तु को चाही वह मिल गई परन्तु और अधिक प्राप्त करने की इच्छा या तृष्णारूप तामस यानी इन दोनों राजस वा तामस (विवर्जितम्) रहित जो (बलवताम्) बलवान् लोगों का (बलम्) बल है अर्थात् सात्विक रूपी स्वधर्मानुष्ठान करने

की सामर्थ्य है वह (अस्मि) मैं हूं तथा (भूतेषु) प्राणियों में जो (धर्माविरुद्धः) शास्त्र के विरुद्ध नहीं अर्थात् अपनी स्त्री से केवल पुत्र मात्र उत्पन्न करने योग्य (कामः) कामदेव है वह (अस्मि) मैं हूं ॥

टीका–यहां यह शंका होती है कि ईश्वर सर्वसम है तो उसे इस प्रकार उत्तम वा अधम का भेद तथा विचार क्यों होना चाहिये? इसका समाधान ऐसा है कि लोगों के मन त्रिगुण चक्र में भ्रमते रहते हैं। अतएव गुणों के अनुसार उन्हें फल मिलते हैं। यह अध्याय १४ में स्पष्ट किया जावेगा। जो कर्म धर्म के विरुद्ध नहीं वह सतोगुण के योग से शुद्ध रहता है। अतएव उस योग से उत्तम लोक मिलता है, रजोगुण से मध्यम वा तमोगुण से निकृष्ट लोक मिलता है। जब ईश्वर ही में तीनों गुण हुए तो विषम फल क्यों होता? इसका उत्तर यह है कि एक ही वस्तु के कई प्रकार होते हैं और ऐसा नियम नहीं है कि सब समान धर्म के हों देखो लोहे का हथौड़ा लोहे की ही वेड़ी को काटता है यह सर्व विषमता प्रकृति की है परंतु ईश्वर सम ही है ॥

येचैवसात्त्विकाभावा राजसास्तामसाश्चये।
मत्तएवेतितान्विद्धि नत्वहंतेषुतेमयि ॥ १२ ॥

अर्थ–(येचैव) और जो अन्य (सात्त्विका भावाः) सतोगुणी अर्थात् शम दम आदि भाव हैं तथा (राजसाः) हर्ष दर्प आदि रजोगुणी (च) और (ये तामसाः) जो शोक मोहादि तमोगुणी भाव हैं अर्थात् ये जो त्रिगुणात्मक भाव हैं सो प्राणियों के स्वकर्म वश उत्पन्न होते हैं (तान्) उन सबको (मत्तः) मुझ से (एव) ही उत्पन्न हुए (इति विद्धि) ऐसा समझो क्योंकि ये तीनों गुण मेरी ही प्रकृति के कार्य हैं (तु) किन्तु ऐसा होने पर भी (अहम्) मैं (तेषु) उनमें (न) नहीं वर्तता अर्थात् जीवों के समान मैं उनके अधीन नहीं होता परन्तु (ते) वे मेरे स्वाधीन होकर (मयि) मुझ में वर्तते हैं ॥

टीका–भ्रम के कारण रस्सी का सर्प दीखता है, अर्थात् रस्सी से ही सर्प उत्पन्न हो जाता है परंतु वह रस्सी उस सर्प में नहीं रहती क्योंकि सर्प तो वहां है ही, नहीं केवल रस्सी मात्र सर्प का अधिष्ठान बन जाती है, उसी प्रकार इस त्रिगुण का अधिष्ठान निर्गुण है परंतु वास्तविक में उसमें निर्गुण नहीं रहता, क्योंकि वह भ्रम रूप सर्प के समान मिथ्या ही है। इस कारण भगवंत की सर्वात्मना स्थिति विभूतियों के बीच में रह कर भी उनको गुण कर्म के अनुसार विषय फल मिलते हैं। यह अपूर्व तत्त्व इन्हीं त्रिगुण कार्यों के सबब नहीं जाना जा सक्ता और न इसप्रकार सर्वात्मक ईश्वर का ज्ञान होता है ॥ सो आगे कहते हैं–

त्रिभिर्गुणमयैर्भावै–रेभिःसर्वमिदंजगत् ।
मोहितंनाभिजानाति मामेभ्यःपरमव्ययम् ॥१३॥

अर्थ–(एभिः) इन पूर्वोक्त (त्रिभिः) तीन प्रकार के (गुणमयैः) कामलोभादि वा सत्त्व रज स्तमसादि गुण विकार युक्त (भावैः) स्वभावों के द्वारा (इदम्) यह (सर्वम्) संपूर्ण (जगत्) जगत् (मोहितम्) मोह को प्राप्त हो रहा है अतएव (एभ्यः) इन गुण स्वभावों के (परम्) परे रहनेवाले अर्थात् इनको स्पर्श न करने वाले वा (अव्ययम्)। नित्य निर्गुण निर्विकार (माम्) मुझे (न) नहीं (अभिजानाति) जान सकता है मैं इन गुणों का केवल नियन्ता हूं वा उन से दूर रहता हूं परंतु जगत् के लोग उनके वशीभूत हो रहे हैं सो वे मुझे नहीं जान सकते ॥

टीका–इन तीनों गुणों में से सत्त्वगुण भी रजस् तमस् मिश्रित होजाने के कारण गर्भवास का हेतु होजाता है। चित्त वा मन ये दोनों सत्त्वगुण मय हैं, इन्द्रियां रजोगुणात्मक हैं और देह तमो गुणात्मक है, अहंकार में ये सब एक हो जाते हैं।

उसी का नाम मोह और अविवेक है। आत्मा को देखने वाला इन सब से जुदा है यह न जानने से जीव को मोह होता है परन्तु भगवद्भक्त इन तीनों गुणों के पार हो जाता है। वह भगवान् को पहिचान लेता है यह आगे कहते हैं। इस भगवद्भजन से उनकी अनादि अविद्या का नाश हो जाता है॥

दैवीह्येषागुणमयी ममामायादुरत्यया।
मामेवयेप्रपद्यन्ते मायामेतांतरन्तिते ॥१४॥

अर्थ-(मम) मुझ परमेश्वर की (गुणमयी) सत्वादि गुण विकार युक्त (दैवी) अति अद्भुत अलौकिक (एषा माया) यह माया शक्ति (दुरत्यया) बड़ी दुस्तर है (हि) यह प्रसिद्ध बात है तथापि (ये) जो लोग (माम् एव) मुझे अनन्य भाव से तथा अव्यभिचारिणी भक्ति से (प्रपद्यन्ते) भजते हैं (ते) वेही (एताम्) इस दुस्तर (मायाम्) मायाको (तरन्ति) पार कर देते हैं और पार होकर फिर मुझे प्राप्त सक्ते हैं॥

(नोट) वेदोक्त अग्नि, वायु आदित्य और इन्हीं के नामान्तर वा रूपान्तर ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं। इन्हीं सब देवों से यह प्रत्यक्ष संसार हुआ है (देवेभ्यस्तु जगत्सर्वम्-मनु-) इन्हीं तीन देवोंके अङ्गप्रत्यङ्ग अवान्तर भेद अन्य सब देवता हैं। संसार अग्नि आदि तत्वरूप, वा शब्द स्पर्श रूप रस गन्धादि रूप से प्रतीत होता यही दैवी माया है इसी माया के साथ में माया के स्वामी भगवान् भी अपने सत् चित् आनन्द रूप से वा अस्ति भाति प्रिय रूप से विद्यमान् हैं। कि जैसे काष्ठ वा पत्थर आदि में उन्हीं के रूप से विद्यमान् अग्नि प्रकट हुए बिना प्रतीत नहीं होता अग्नि को चाहने वाला अग्नि को चित्त में रखता हुआ काष्ठादि के संघर्ष से अग्नि को प्रकट करता है वैसे इसी माया के संघर्ष में भगवान् का शरण लो तो माया के पार होगे भगवान् दीखने लगेंगे॥ (भी० श०)

टीका--मा अर्थात् नहीं, और या जो न होने पर भी दीख पड़े ऐसा माया शब्द का अर्थ है जैसे "मृगतृष्णिका" में सचमुच जल नहीं होता परन्तु दीखता है उसी प्रकार यह माया का खेल है। अतएव ईश्वर की त्रिगुणात्मक शक्ति का नाम माया है जैसे मध्यान्ह के पीछे धूप के मन्द हो जाने पर मृग तृष्णिका नहीं दीखती, उसी तरह स्थिति काल पूर्ण होने पर यह माया निर्गुण में लीन हो जाती है। उस समय इसको नहीं थी सो कह सकते हैं, परन्तु जैसे प्रतिदिन मध्यान्ह काल में मृगतृष्णिका प्रगट होती है वैसे ही प्रत्येक सृष्टि काल में यह माया भी प्रगट होती है। सूर्य की किरणों को मृगतृष्णा के जल की इच्छा नहीं होती, तथापि मध्यान्ह होते ही मृग तृष्णा आप ही उत्पन्न हो जाती है। तद्वत् निर्गुण को कुछ इच्छा न रहने पर भी सृष्टिकाल आते ही यह माया आप से आप ही दीखने लग जाती है। तब उसी योग से निर्गुण को सगुणपन आजाता है और त्रिगुण प्रगट हो जाता है। यह त्रिगुण कार्य रूप से माया ही है, अतएव मिथ्या है। संस्कृत में रस्सी का नाम गुण है, जैसे रस्सी से प्राणी बांधे जाते हैं। तैसे ही सत्व, रजस् वा तमस् ये तीनों गुण जीव के बंधन हैं। इसी से उन का नाम त्रिगुण है। इस गुण मयी माया रूप नदी के पार होना दुस्तर है। यदि वह सत्य होती और दीख पड़ती तो नाव डालकर उस के पार हो सक्ते थे। अथवा प्रलय काल के सूर्य की गरमी से सूख जाती होती तो प्राणी उसके पार पगों से उतर जाते, उसे पकड़ना चाहे तो दीखती नहीं, परन्तु जो पकड़ने जावे वह उस के फंदे में फंस जाता है। जो इसमें डूबा वह खुद नहीं जानता कि मैं डूब गया, और जो कहता है कि मैं पार हो गया, वह भी डूबा हुआ दीखता है, ऐसे ऐसे इस माया के अजीब खेल हैं वासना की पवन ज़ोर से चली कि इस माया नदी में काम-

ना की लहरें उठने लगती हैं, तथा अहंकार की प्रबल धार में जीव पड़ जाता है, तब काम क्रोध रूपी मछलियां उसे निगलना चाहती हैं और लोभ रूपी मगर दबा बैठता है। इतने में मद मत्सर रूपी भुजंग उसे घेर कर काटने लगते हैं तथा अनेक विषय इधर उधर अपनी २ ओर खींचते हैं, उस समय इस दुःख से पार करने वाली भगवत् रूपी नाव काबू में नहीं आती इस माया नदी को पार होने के वास्ते केवल भगवद्भक्ति एक उपाय है इसी से भगवान् ने कहा है कि "मामेव ये प्रपद्यन्ते" इत्यादि "एव" शब्द से यह बताया है कि भगवान् के सिवाय कोई दूसरा पार करने वाला नहीं है क्योंकि यह माया भगवान् की शक्ति है तथा अन्य देवता जो भगवान् के केवल अधीन हैं वे उसको नहीं टाल सक्ते क्योंकि वे भगवान् की इच्छानुसार ही स्व २ कार्य में प्रवृत्त होते हैं॥

जब केवल भगवान् ही में यह सामर्थ्य है तो सब लोग उस को ही क्यों नहीं भजते इस का कारण आगे कहते हैं॥

नमांदुष्कृतिनोमूढाः प्रपद्यन्तेनराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरंभावमाश्रिताः॥१५॥

अर्थ-जो लोग (दुष्कृतिनः) पापी तथा दुराचारी हैं इसी कारण से (मूढाः) विवेक शून्य हैं वे अधम कहाते हैं ऐसे (अधमाः नराः) अधम पुरुष (माम्) मुझे (न प्रपद्यन्ते) नहीं भजते क्योंकि पाप शील होने के कारण (मायया) माया के फंद में फंसने से उन का (अपहृतज्ञानाः) वह ज्ञान नाश होजाता है जो शास्त्र और आचार्य के उपदेश से प्राप्त भी हुआ हो और वे लोग (आसुरं भावम्) असुरों के स्वभावों का (आश्रिताः) आश्रय करते हैं अर्थात् उन के स्वभाव असुर लोगों कैसे होजाते हैं जो–

"दंभोदर्पोऽभिमानश्च क्रोधःपारुष्यमेवच"

अध्याय १६ श्लोक ४ में कहे हैं॥

टीका—भगवद्भजन न करने का कारण एक पाप है बुरे काम के संस्कार को पाप कहते हैं ऐसे बहुत काल के संचित संस्कार बुद्धि में बने रहने से वे वैसे ही कर्म में फिर प्रवृत्त करते हैं। जब तक ये बुरे संस्कार उत्तम संस्कारों के द्वारा नाश न हो वें तब तक बुद्धि को भगवद्भजन रूपी उत्तम मार्ग नहीं सूझता भजन का फल मोक्ष है और यह मोक्ष विषयों से परे है तो जब तक विषय प्यारे हैं, तब तक भजन की ओर मन नहीं जाता। वे विषय सदैव काम्य कर्मों में लगाते हैं, इनका कारण माया है, इस माया से उनका ज्ञान अर्थात् सत असत् का विवेक नहींसा हो जाता है। सब लोग यह समझते हैं कि हम देह ही हैं परंतु वास्तव में हम देह से जुदे हैं। भला मुरदा में अपन कहां हैं, यह साफ दीखने पर भी कि देह अपन नहीं हैं किन्तु देह असद् वस्तु है अपने मन में यह विचार नहीं आता कि यही माया का कर्तव्य है, उसी से हम विषयों के फंद में फंसते हैं। जिनको भगवद्भजन नहीं भाता उनके तीन प्रकार कहे हैं १ दुराचारी जिन्हें बुरे कर्म ही प्यारे लगते हैं २ मूर्ख जो भगवत् महिमा नहीं समझ सक्के ३ अधम जो वेद शास्त्र जाननेपर भी काम्य कर्मों की ओर झुकते हैं ॥

अब आगे कहते हैं कि मुझे केवल सुकृती लोग भजते हैं और अपने २ सुकृत के तारतम्य से वे चार प्रकार के हैं,चाहे सकाम चाहे निष्काम भजन करें परंतु वे सब सुकृती हैं ॥

चतुर्विधाभजन्तेमां जनाःसुकृतिनोऽर्जुन !! ।
आर्तोजिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानीचभरतर्षभ ! ॥ १६ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! (सुकृतिनः) जिन्होंने पूर्व जन्म में पुण्य कर्म किये हैं वे (जनाः) लोग (माम्) मुझे (भजन्ते) भजते हैं और वे (चतुर्विधाः) चार प्रकार के हैं १ (आर्त्तः) जो विपत्ति वा रोग से पीडित हैं जैसे द्रौपदी, गजेन्द्रादि,

ऐसे जीवों ने यदि पूर्व जन्म में पुण्य कर्म किये हों तो वह मुझे भजता है, नहीं तो नहीं यह बात सब चारों भजनेवालों को लागू है। २ (जिज्ञासुः) जिनको आत्म ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा होती है, वह निष्काम भजन पूजन करता है जैसे उद्धव सुदामा आदि ३ (अर्थार्थी) जो इस लोक के वा परलोक के भोग साधन होने के अर्थों वा पदार्थों की इच्छा करता है जैसे ध्रुवादि (च) और ४ (ज्ञानी) जो आत्मवेत्ता परमात्मा को अपने से भिन्न नहीं जानता है (भरतर्षभ) हे अर्जुन! ये चारों ही सुकृती लोग हैं॥

टीका–आर्त्त तथा "अर्थार्थी" ये दोनों सकाम भजन करते हैं और "जिज्ञासु" वा "ज्ञानी" ये दोनों निष्काम भजन करते हैं तो सकाम भजन वाले भी सुकृति हुए क्योंकि पुण्य के विना ईश्वर का भजन होता ही नहीं भगवान् मोक्ष रूपी अमृत देने वाले हैं। परन्तु जो कोई कांजी रूप काम्यफल मिलने की इच्छा से उसे भजते हैं उन्हें वह वही देता है क्योंकि उसका स्वभाव कल्पवृक्ष कैसा है यानी जो मागे वही देता है। कांजी मांगने वालों की भी पहिचान भगवान् से हो जाती है और कालान्तर में उन्हें भी अमृत लाभ होता है। जो यह समझते हैं कि सब ब्रह्म ही हैं फिर ईश्वर का भजन क्यों करें वा जिसका चाहे उसका भजन कर सकते हैं। वे महान् मूर्ख हैं क्योंकि सर्वत्र समदृष्टि नहीं रहती और यही होने के निमित्त भगवद्भजन करना पड़ता है। यह सच है कि ब्रह्म-सर्वत्र सम है परन्तु उपाधि भेद से उसमें विषमता आजाती है। ईश्वर की उपाधि शुद्ध सत्व है अतएव वह नित्य मुक्त है। जीव की उपाधि त्रिगुण है अतएव वह बद्ध है, बद्ध को बद्ध नहीं छुड़ा सकता, अतएव नित्यमुक्त ईश्वर की प्रार्थना करने से वही बंध मोचन कर सकता है अन्य नहीं, उसी के भजन से द्वैत का भी नाश होता है क्योंकि लोहे की बेड़ीको लोहे के हथियार ही काटते हैं॥

अब आगे कहते हैं कि उपरोक्त चारों भजन करने वालों में से ज्ञानी श्रेष्ठ है ॥

तेषांज्ञानीनित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियोहिज्ञानिनोऽत्यर्थमहंसचममप्रियः ॥१७॥

अर्थ-(तेषाम्) इन चारों में से (ज्ञानी) जो ज्ञानी है वह (विशिष्यते) विशेष करके श्रेष्ठ है क्योंकि वह (नित्ययुक्तः) सदा मेरे ही में निष्ठा रखता है या (एकभक्तिः) केवल एक मुझ में ही भक्ति करता है उस को देहादि का अभिमान नहीं रहता वा उसे चित्त का विक्षेप नहीं होता अतएव वह नित्ययुक्त वा एकांत भक्त हो सकता है । इसी कारण उस (ज्ञानिनः) ज्ञानी को (अहम्) मैं (हि) निश्चय करके (अत्यर्थम्) अत्यन्त (प्रियः) प्यारा लगता हूं और (स च) वह भी (मम) मेरा (प्रियः) प्यारा होता है अर्थात् उसको मैं प्रिय लगता हूं तथा मुझे वह प्यारा लगता है इसी से नित्य युक्त आदि चार कारणों से वह श्रेष्ठ तथा सर्वोत्तम है ॥

(नोट) ज्ञान, आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, तत्त्वज्ञान इत्यादि शब्दों का एक ही मतलब है । ज्ञानी का मुख्य चिन्ह समता है, वह जान लेता है कि सब चराचर में एक ही आत्मा सत् अन्य सब असत् हैं । जब निश्चय हो जाता है कि संसार के मानुष वा दिव्य सभी विषय, देह इन्द्रियादि कल्पित असत्य क्षणस्थायी अनित्य हैं कि जैसे किसी वृक्ष वा घर को गिरता हुआ देखले कि अब शीघ्र ही गिर जायगा तो उस से भावी आशा छोड़के उदास हो जाता है । वैसे ही संसार के स्त्री भोजन, वस्त्र, धनैश्वर्यादि सब से किसी न किसी कक्षा का वैराग्य वा उदासीनता हो जाती है । साथ ही एक अकल्पित सत् ईश्वर भी सब में दीखने लगता है । उसी के यथार्थ जानने से सब दुःख छूट जायंगे यह भी अटल विश्वास हो जाता है ।

इसी कारण वह सब में नित्य २ ईश्वर की महिमा को देखता और अनेक देवतादि के नाम रूपों में विद्यमान आभूषणों में एक सुवर्ण के तुल्य एक ही आत्मा की भक्ति करता है। उसे अनेक देवता दीखते भी नहीं, वास्तव में अनेक हैं भी नहीं, इसी से ठीक २ तत्त्व जानने वाला होने से वह श्रीभगवान् जी को और भगवान् उस को प्रिय हैं॥ (भां० शा०)

टीका—जिस को केवल परमानन्दरूप एक भगवत् पर अखण्ड प्यार यानी भक्ति होवे वही एक भक्त है। नित्ययुक्त का आशय यहां प्रीति युक्त का है। यह सिद्ध हो चुका है कि आत्मा सब से प्रिय है, पुत्र दारादि अपने ही निमित्त प्रिय हैं, और होशियार मनुष्य अपने कल्याण ही के हेतु ईश्वर को भजता है, मूर्ख बिना प्रयोजन किसी को नहीं भजता, इस से स्पष्ट है कि ईश्वर से अपने को अपना प्यार अधिक है। अतएव इस भेद के कारण सच्ची भक्ति नहीं बन पड़ती, सच्चा भक्त वही है जो भेद न रख कर ऐसी भक्ति करे कि हमारा आत्मा वही ईश्वर है। जो ऐसा भक्त होगा वही "नित्ययुक्त हो सकता है, जो ज्ञानी वा भक्त होगा वह कभी भी "अयुक्त" न होगा इसी से "नित्ययुक्त ज्ञानी" को सब से श्रेष्ठ कहा है वह यही समझता है कि विना प्रयोजन अपने को प्रिय रहने वाला अपना आत्मा भगवन्त ही है। इसी से नित्य युक्त रहता है। यह नित्य युक्त भाव "ज्ञानीभक्त" को ही प्राप्त होता है, केवल ज्ञानी को नहीं, क्योंकि केवल ज्ञानी निर्गुण में आसक्त रहता है अतएव वह भक्त नहीं हो सकता—आर्त्त जिज्ञासु वा अर्थार्थी इन तीनों को आत्मबोध न होने के कारण उन से वैसी उत्तम भक्ति नहीं बन पड़ती, वह केवल ज्ञानी से बनती है। इसी से वह श्रीभगवान् जी को अत्यन्त प्रिय होता है इस से यह न समझा जावे कि बाकी के तीन भजने वाले श्रीभगवान् जी को प्रिय नहीं अतएव आगे कहते हैं कि—

उदाराःसर्वएवैते ज्ञानीत्वात्मैवमेमतम् ।
आस्थितःसहियुक्तात्मा मामेवानुत्तमांगतिम् ॥१८॥

अर्थ (एते) उक्त चार प्रकार के ये भक्त (सर्वे एव) सब ही (उदाराः) महान् पुरुष वा मोक्ष के भागी हैं (तु) परन्तु (ज्ञानी) जो ज्ञानी है वह (आत्मा एव) मेरा आत्मा ही है यह (मे) मेरा (मतम्) निश्चय मत है क्योंकि (सः) वह ज्ञानी (युक्तात्मा) मुझ एक ही में चित्त लगा कर (माम् एव) मुझ ही को (अनुत्तमाम्) सर्वोत्तम (गतिम्) गति मान कर (आस्थितः) मेरे ही बीच में स्थित रहता है वा मेरा ही आश्रय रखता है अर्थात् मेरे सिवाय कोई दूसरा फल उत्तम नहीं समझता ॥

टीका-ये चारों प्रकार के मनुष्य श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे श्रीभगवान् जी को श्रेष्ठ मान कर उन्हीं का भजन करते हैं। यद्यपि कोई २ सकाम भजन करते हैं परन्तु कुछ काल में वे भी निष्काम हो कर ज्ञान प्राप्त करके मुक्ति पाते हैं। देखो प्रह्लाद, ध्रुव, गोपी, इत्यादि का इतिहास कि उनकी कामना पूरी होकर उन्हों ने मोक्ष भी पाया, परंतु पहिले तीनों भक्त ज्ञानी की बराबरी नहीं कर सकते क्योंकि ज्ञानी की देहात्मता दूर होकर उसका चित्त सदैव आत्मस्वरूप में युक्त रहता है। अतएव उसे "युक्तात्मा" कहा है-"ज्ञानी निर्गुणोपासक" को भी युक्तात्मा कह सकते हैं परंतु "मामेव आस्थितः" इन पदों से स्पष्ट किया है कि युक्तात्मा होकर भी वह ज्ञानी सगुण का भजन करता है, फिर "मामेवानुत्तमांगतिम्" इन शब्दों से यह बताया है कि वह ज्ञानी बिना निमित्त केवल भगवंत को भजता है क्योंकि वह कृतार्थ हो जाता है और मोक्ष की भी इच्छा नहीं करता। जो मोक्ष के निमित्त ईश्वर को भजते हैं वे मोक्ष भक्त हैं ईश्वर भक्त नहीं। यह ज्ञानी एक ईश्वर को ही सर्वोत्तम गति मानता है किन्तु मोक्ष से भी कुछ प्रयो-

जन नहीं रखता, अतएव मोक्षार्थी निर्गुणोपासक इम की बराबरी नहीं कर सकते जैसे बुलाया हुआ ब्राह्मण वा आप से आया हुआ ब्राह्मण इन दोनों को भोजन एकसा मिलता है परन्तु बुलाये हुए का सन्मान अधिक होता है उसी प्रकार निर्गुणोपासक से ज्ञानी सुगण भक्त श्रेष्ठ होता है ॥

अब आगे कहते हैं कि ज्ञान होने पर भी मेरा इस प्रकार का सगुण भक्त दुर्लभ है ॥

बहूनांजन्मनामन्ते ज्ञानवान्मांप्रपद्यते ।
वासुदेवःसर्वमिति समहात्मासुदुर्लभः ॥१९॥

अर्थ-(बहूनां जन्मनाम्) बहुत से जन्मों में थोड़ा २ पुण्य संचय करते २ (अन्ते) आखिर के जन्म में (ज्ञानवान्) ज्ञान प्राप्त करके वह ज्ञानी (सर्वम्, वासुदेवः) यह सर्व चराचर वासुदेव रूप है (इति) ऐसी सर्वात्मदृष्टि द्वारा (माम्) मुझ को (प्रपद्यते) प्राप्त होता है अर्थात मेरी सगुण भक्ति करने लगता है । अतएव (सः महात्मा) वह महात्मा पुरुष जिसकी सर्वत्र वासुदेव मय दृष्टि है (सुदुर्लभः) बहुत ही दुर्लभ है अर्थात् ऐसे पुरुष बहुत ही कम दीख पड़ते हैं ॥

टीका-सैकड़ों जन्म पर्यन्त पुण्य करने से ज्ञानी होने की इच्छा होती है फिर सैकड़ों जन्म पर्यन्त ज्ञान साधन करने से वह प्राप्त होता है । तब वह सर्व सगुण विश्व को भगवत् रूप जानकर भगवद्भक्ति करने लगता है । सर्व भूतों में सगुण भगवंत है ऐसा अनुभव करने वाला कोई बिरला ही पुरुष होता है, निर्गुणोपासक कहता है कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" सगुणोपासक कहता है "वासुदेवः सर्वमिति" निर्गुण वा सगुण दोनों में "कारण" जगत् ही है वा इतर देवता कार्य रूप हैं अतएव सगुण भगवान् ही का भजन करना उचित है । क्योंकि निर्गुण सर्व धर्म रहित है ॥

प्रायशः सब लोग आत्मा या परमात्मा को परिच्छिन्न समझते हैं वलिक कोई २ अभागे ज्ञानियों की निन्दा करते हैं

तथा श्रीमहाराज के इस वाक्य का अनादर करके अपनी जिह्वा से अपने को वारंवार पापी पापात्मा नहीं कहते और जो कोई दूसरा उन से पापी कहे तो लड़ने को तैयार होते हैं ऐसे लोगों की जो गति होगी सो दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं ॥

इतिहास—एक राजा भेदवादी भगवत् का उपासक सब से कहा करता था कि जो पापी भगवत् से विमुख हैं, उन का उद्धार तो भगवान् आप ही करेंगे क्योंकि उन का नाम पतितपावन अधमउधारन करुणानिधान है और जो भगवत् भक्त कर्मकाण्डी वा ज्ञानी योगी हैं। वे अपनी भक्ति तथा कर्मज्ञानादि की सहायता से कृतार्थ होंगे। तो अब यह नहीं मालूम पड़ता कि नरक में कौन जावेंगे ?। यह प्रश्न हमेशा लोगों से किया करता था। बहुत से लोग उत्तर देने में चकराते थे, एकदिन एक ज्ञानी महात्मा उस राजा के पास पहुंचे। उन ने यही प्रश्न किया, महात्मा बोले कि हे राजन्! तुम बड़े सुकृती धर्मात्मा तथा बुद्धिमान् हो और भक्त भी हो। राजा बोला कि महाराज! ऐसे तो आप ही हैं मैं महाअधम पातकी हूं। यह सुनके महात्मा उसी समय वहां से उठ खड़े हुए और राजा की ओर से मुख फेर के बोले कि हे नारायण! आज तूने कैसे बुरे अधम पापात्मा का मुख दिखाया, यह देख कर राजा क्रोधित हो बोला कि तू कैसा ज्ञानी है जो लोगों को गालियां देता है महात्मा बोले बच्चा—गालियां नहीं देता तेरे प्रश्न का उत्तर देता हूं। मेरे कहने का तात्पर्य तो समझले अरे! तू वा तेरे सरीखे लोग जो आप ही अपने को अधम पापात्मा कहते हैं वे नरक में जावेंगे। आप तो अपने मुख से अपने को हो सहस्र वार पापी कहते हो "पापोहं पापकर्माहं पापात्मा पापसंभवः" और हमने एक ही बार कहा तो इतना बुरा मानता है। हम को प्रथम इतना आदर देकर अभी तू तड़ाक करने लगा। तू अपने ही मन से खूब विचार ले कि तू धर्मात्मा है या

पतित है। जो धर्मात्मा है तो शुद्धात्मा को पापात्मा क्यों कहता है और जो पतित है तो औरों के कहने का क्यों बुरा मानता है?। इतने ही उपदेश से राजा का अज्ञान जाता रहा और वह समझ गया कि अपने को जो दास वा पतित कहते हैं यह केवल ऊपर ही की बोल चाल है क्योंकि दास वा पतित बनना तो बड़ा कठिन है। मुख से तो यों कहैं कि "सियाराम मय सब जग जानी, करौं प्रणाम सप्रेम जुगानी" और ज्ञानियों की बुराई करें धन्यहै ऐसी समझ को॥

यह कह आये हैं कि सकाम पुरुष भी काम प्राप्ति के हेतु भगवद्भजन करता है वह काम प्राप्त करके धीरे २ कालान्तर में मुक्त होजाता है, कोई २ अतिशय राजसी वा तामसी होकर काम के वशीभूत हैं वे अन्य देवतों की सेवा भेद भाव से करते हैं तो इसका क्या कारण है क्योंकि सर्व वेद शास्त्र यही कहते हैं कि केवल भगवंत का भजन करो इस का समाधान आगे ४ श्लोकों में करते हैं॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तंतंनियममास्थाय प्रकृत्यानियताःस्वया॥२०॥

अर्थ-पुत्र कीर्ति शत्रु जयादि ऐसी २ (तैः तैः कामैः) जुदी २ बहुत कामनाओं के द्वारा (हृतज्ञानाः) जिन का ज्ञान वा विवेक हर लिया गया है वे (तं तं नियमम्) उसी २ देवता की आराधना में उपवासादि जो २ नियम नियत है उस सब को (आस्थाय) स्वीकार तथा आचरण करके उन में भी (स्वया प्रकृत्या) अपनी २ पूर्वाभ्यासानुरूप प्रकृति के (नियताः) वशी भूत होकर (अन्यदेवताः) उसी २ प्रकार के भूत प्रेत यक्षादि क्षुद्र देवतों को (प्रपद्यन्ते) भजते हैं अर्थात् जैसी जिसकी प्रकृति होती है वा जैसी जिसकी कामना होती है वह उसी के अनुसार उसी २ देवता के पूजन भजन के नियम साधकर उसी विशेष देवता का भजन करता है।

आत्मरूप भगवत् को भूल जाता है उसकी यही दशा है कि-
"घर का योगी योगना आन गांव का सिद्ध" कहा भी है कि-

वासुदेवंपरित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते ।
तृषितोजान्हवीतीरे कूपंखनतिदुर्मतिः ॥

(नोट) अमुक कामना की सिद्धि के लिये अमुक देव की उपासना इस २ प्रकार से करे ऐसे अनेक लेख ग्रन्थों में हैं। यद्यपि कुछ भी धर्म न करने तथा केवल खेती व्यापार नौकरी आदि में ही फंसे साधारण मनुष्य की अपेक्षा भेद वाद को लेके कामना सिद्धि के लिये ग्राम देवतादि का पूजन करने वाले अवश्य अच्छे हैं। तथापि ऐसे भेदवाद के विचार को छोड़ के सब नाम रूपों में एक ही ईश्वर को अभेद रूप से मानते हुए कामना को त्याग के जो निष्काम एक ही ईश्वर का भजन पूजन उपासना करते हैं उन की अपेक्षा ये भेद वादी सकामोपासक बहुत नीची कोटि के हैं। श्लोक २० का यही आशय है ॥ (भी० श०)

टीका-जो पुण्यवान् होते हैं उन्हीं को वेद शास्त्र के पढ़ने सुनने से ज्ञान प्राप्त होता है। पापियों को नहीं जैसे पानी सब ठौर एकसा बरसता है परंतु ऊसर ज़मीन में उसका कुछ असर नहीं होता। इसका यह कारण है कि पूर्व संस्कारों के अनुसार उन पापियों के मन विषय भोगों की ओर झुकते हैं। इसी कारण सच्चे ज्ञान मार्ग की ओर उन की बुद्धि नहीं झुकती वे काम्य कर्म ही को भला समझते हैं ॥

यहां पर यह शंका होती है कि जब केवल एक भगवान् ही का भजन श्रेष्ठ है तो वह सब जनों को उसी में प्रवृत्त क्यों नहीं करता ?। इसका समाधान आगे करते हैं कि जो जिस देवता को चाहता है मैं उसी में उसकी श्रद्धा बढ़ा देता हूं। जो निष्काम मेरा आराधन करते हैं उनको सन्मार्ग में लगा देता हूं यह वाक्य भी प्रसिद्ध है कि " जैसे को हरि तैसे ",

योयोयांयांतनुंभक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्यतस्याचलांश्रद्धां तामेवविदधाम्यहम् ॥२१॥

अर्थ–(यः यः) जो जो भक्त (यां यां तनुम्) जिस जिस देवता रूपी मेरी ही मूर्ति मान कर (श्रद्धया) श्रद्धा पूर्वक (अर्चितुम्) उस के पूजन करने की (इच्छति) इच्छा करता है (अहम्) मैं अन्तर्यामी (तस्य तस्य) उस २ भक्त की उसी उसी देवता की मूर्ति में (ताम् एव) उसी ही (श्रद्धाम्) श्रद्धा को (अचलाम्) दृढ़ वा स्थिर (विदधामि) कर देताहूं॥

(नोट) समष्टि रूप से सब माया का अभिमानी एक ही सगुण ईश्वर है और वह स्थिति वा रक्षा का देव विष्णु भगवान् है । उस के अधीन व्यष्टि रूप से भिन्न २ अंशों के कार्य निर्वाहक सगुण देवता अनेक हैं । उन में से जिस २ देव की भक्ति जो २ भक्त श्रद्धा से करता है उसकी श्रद्धा को भगवान् उसी नाम रूप में अचल कर देते हैं । जैसे किसी खास राज्यांश के अधिकार पर जो नियत है उस कलक्टर आदि से प्रेम प्रीति करनेवाला मुख्य राजा का विरोधी वा उससे उदासीन नहीं हो सकता किन्तु वह काम भी मुख्य राजा को संतोष जनक होता है । वैसे ही यहां भी अन्य देवों के उपासक मुख्य देव के प्रेम पात्र ही होते हैं ॥ (भी० श०)

टीका–सब देवता एक भगवान् के ही रूप हैं परंतु जिसको जिस देवता की भक्ति होती है उसको उसी की आराधना में वही भगवान् दृढ़ कर देता है भगवंत का स्वभाव कल्पवृक्ष का सा है कि उस से जो कोई जो कुछ मांगता है वह उसे वही देता है । वह सम होने के कारण विषम फल नहीं देता । अध्याय ५ में कह आये हैं कि फल कर्मानुरूप होता है वा भला बुरा फल प्रारब्ध ही से मिलता है परंतु मूर्ख लोग यह समझते नहीं, अच्छा हुआ तो कहते हैं कि किस्मत से हुआ, और बुरा हुआ तो देवता ने किया ऐसी समझ उन मूर्ख लोगों की रहती है ॥

सतयाश्रद्धयायुक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभतेचततःकामान्मयैवविहितान्हितान् ॥२२॥

अर्थ-(सः) वह भक्त (तया श्रद्धया युक्तः) उसी दृढ़ श्रद्धा से युक्त होकर (तस्य) उसी देव मूर्ति की (आराधनम्) आराधना (ईहते) करता है (ततः) उससे उसी देवता का अन्तर्यामी होकर जो जो (कामान्) फल वा संकल्प (मया एव) मैंने ही (विहितान्) निर्माण कर रक्खे हैं (तान्) उनको (हि) निश्चय करके उसी देवता से (लभते च) प्राप्त ही कर लेता है । क्योंकि वे सब देवता मेरे अधीन हैं वा मेरी ही मूर्त्ति हैं, जो यह फल किसी को प्रत्यक्ष न हो तो लोगों का विश्वास वेद शास्त्र में न रहेगा परन्तु जो यह विश्वास बना रहेगा तो कभी न कभी सिद्धान्त में भी विश्वास होकर वे लोग मेरा निष्काम भजन करके कृतार्थ हो जावेंगे ॥

(नोट) इस गीता भर में मैं ऐसा २ हूं वा ऐसा २ करता हूं । इत्यादि प्रकार से भगवान् ने अपने उस स्वरूप को लेकर कहा है कि जो ब्रह्मा में ब्रह्मा नाम रूप से, विष्णु में विष्णु नाम रूप से, शिव में शिव नाम रूप से, गणेश जी में गणेश नाम रूप से, देवी में देवी नाम रूप से, तथा इन्द्र वरुणादि में उसी २ नाम रूप से एक ही आत्मतत्त्व विद्यमान है। इसी लिये अन्य पुराणादि ग्रन्थों में जहां २ देवी जी वा शिवादि देवों ने ऐसा कहा हो कि मैं ही सब कुछ कर्ता धर्ता हूं वहां का कथन भी उसी एक वास्तविक आत्मतत्त्व को लेकर कहा मानने से विरोध भाग जाता है । क्योंकि वेदादि सब शास्त्रों का एक ही सिद्धान्त है कि विकार वाचक तरंगादि सब शब्दों से एक ही असली जलादि तत्त्व को कहते मानते हैं और असत होने से तरंगादि विकार को कुछ भी नहीं मानते हैं ॥(भी०श०)

टीका—गोपियों ने श्रीकृष्ण प्राप्ति के लिये कात्यायनी देवी

की आराधना की, अखीर में स्वयं कृष्ण ने ही आकर उन्हें वरदान दिया, पीछे अपने विरह का दुःख भी दिया, इस कथासे भगवान् ने यही तत्त्व स्पष्ट कर दिखाया है। परंतु यह फल असंभव है, यह दिखानेको उनको विरह का दुःख भी दिखाया। यही बात श्री महाराज आगेके श्लोक में कहते और समझाते हैं कि यद्यपि सर्व देवता मेरा ही स्वरूप हैं इसीसे उनकी आराधना भी मेरी ही आराधना है। तथा उस आराधना का फल दाता मैं ही हूं। तथापि इन देवताओं के भक्तों को जो फल मिलता है उस से साक्षात् मेरे भक्तों का फल भिन्न प्रकार का है॥

अन्तवत्तुफलंतेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजोयान्ति मद्भक्तायान्तिमामपि॥२३॥

अर्थ–(तु) परन्तु (तेषाम्–अल्पमेधसाम्) उन ऐसे अल्पबुद्धि वाले वा परिच्छिन्न दृष्टिवालों को मेरा दिया हुआ भी (तत्) वह (फलम्) फल (अन्तवत्) नाशवान् (भवति) होता है क्योंकि भेदभाव से (देवयजः) अन्यदेवतों की आराधना करने वाले उन्हीं (देवान्) अन्तवान् देवतों में (यान्ति) मिल जाते हैं और (मद्भक्ताः) साक्षात् अभेदभाव से मेरे भक्त (माम्–अपि) मुझ अनादि अनन्त को (यान्ति) प्राप्त करते हैं अतएव उन्हें परमानन्द प्राप्त होता है॥

(नोट) भेदभाव अन्तवाला और वास्तविक अभेद अनन्त है यहां श्रीभगवान् जी का अभिप्राय यह नहीं है कि अन्य शिव, देवी आदि नाम रूपों से कोई भेद छोड़के एक ही आत्मतत्त्व की उपासना करे तो भी उस को अन्तवाला फल होगा। किन्तु अभिप्राय यही है कि किसी भी नामरूप से उपासना करे परन्तु भेदभाव छोड़ के सभी नामरूपों में एक ही चैतन्य को देखता मानता हुआ जो भक्ति करेगा वही मेरा भक्त है और उसी को अनन्त फल होगा। और भेदवाद

को ले कर भक्ति करने वाले ही देवयज्ञ अर्थात् देवों के पूजक वा उपासक यहां कहे जानो । ऐसा सिद्धान्त मानने से सब शास्त्रों की एक सङ्गति मिल जावेगी ॥ (भी० श०)

टीका—अन्य देवतों के भक्त अल्पबुद्धि के होते हैं अतएव उन को श्रीभगवान् जी वैसा ही फल देते हैं। भगवद्भक्त भगवान् ही में मिल जाते हैं। हाथ, पांव, नाक, आंख ये सब एक ही शरीर के भाग हैं परन्तु आंख का काम हाथ नहीं कर सकते। इसी प्रकार देवता लोग मोक्ष नहीं दे सकते, सत्व शुद्ध हुए विना मोक्ष नहीं होता, अतएव उस के प्राप्त करने को शुद्ध सत्व की उपाधि रूप सगुण भगवन्त ही का भजन करना चाहिये ॥

देवतों के समान श्रीभगवान् जी का भी अवतार देह होता है परन्तु मूर्त्ति मायिक होती है जैसा कहा है।

" मायामयमिदंदेवि ! वपुमनतुतात्त्विकम् "

यदि श्रीभगवान् जी में इतनी श्रेष्ठता है वा उस के भजने में विशेष फल है तो सब लोग अन्य देवतों को छोड़ आप श्रीभगवान् जी को ही क्यों नहीं भजते ? इस का कारण आगे कहते हैं ॥

अव्यक्तंव्यक्तिमापन्नं मन्यन्तेमामबुद्धयः ।
परंभावमजानन्तो ममोव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

अर्थ—(अबुद्धयः) अल्प बुद्धि वाले लोग (माम्) मुझ (अव्यक्तम्) निराकार प्रपञ्चातीत को (व्यक्तिम्) मनुष्यरूप वा मत्स्य कूर्मादि के शरीर को (आपन्नम्) धारण करने के कारण एकदेशी वा परिच्छिन्न (मन्यन्ते) समझते हैं इस का कारण यह है कि वे (मम) मेरा (परंभावम्) परम उत्तम निरुपाधिक शुद्ध स्वरूप (अजानन्तः) नहीं जानते, वह स्वरूप कैसा है कि (अव्ययम्) नित्य अविनाशी है और (अ-

नुत्तमम्) उस से उत्तम भाव कोई दूसरा नहीं है अर्थात् जगत् की रक्षा करने के हेतु मैं परमेश्वर नानाप्रकार के विशुद्ध वा सर्वोत्तम लीलारूपी सत्त्वरूप मूर्त्ति धारण करता हूं परन्तु मन्द मति लोग मेरे रूपों को एकदेशी परिच्छिन्न कर्मनिर्मित भूतादिक का देह समझते हैं उन को उक्त प्रकार के "अन्तवत्" यानी नाशवान् फल मिलते हैं ॥

(नोट)सभी देवों के व्यक्त प्रकट होने वाले नाम रूप एक ही प्रकार से मानने चाहिये। वास्तव में सभी का एक अविनाशी अव्यक्तरूप ही है । देवों के व्यक्तरूप उन २ काम में उन २ कार्य की सिद्धि के लिये मायारूप से होते हैं। इस लिये सभी साकार देवरूपों में एक ही अव्यक्त अविनाशी निराकार को देखना मानना चाहिये ॥ (भी० श०)

टीका—जिस माया के द्वारा हम अपने को ब्रह्म मानते हैं। वह माया शुद्ध सत्त्व रूपिणी है। उसी का अवलम्बन करके श्रीभगवान् जी देह धारण करते हैं। अतएव वह नित्य मुक्त हैं। परन्तु जीवों का देह त्रिगुणात्मक माया का बना है। अतएव वह बन्धक होता है। इसी कारण अवान्तर देह वा जीवदेह एकसमान नहीं हो सकते। यह नित्यमुक्त का उत्तम प्रभाव ज्ञानहीन लोग नहीं जानते और अवतार देह को अपने देह के समान मानते हैं । मुक्तता वा बद्धता ये दोनों कल्पना के खेल हैं। अपन ब्रह्म हैं ऐसी कल्पना की तो वह मुक्ति देती है। अपन देह हैं ऐसी कल्पना की तो वह संसार के बन्धन में डाल देती है। ये दोनों कल्पना एकसमान कैसे हो सकती हैं। राजा वा भिखारी दोनों के शरीर एकसे होते हैं। परन्तु राजा में भिखारी के दरिद्र हरने की शक्ति रहती है। इसीप्रकार भगवन्त की देह में जीवदेहों का संसार के दुःख हरने की शक्ति रहती है । मूढ़ लोग यह प्रभाव नहीं जानते, अतएव ईश्वर के अवतार देह को इतर देह के समान मानते हैं ॥

अब आगे श्रीमहाराज जी कहते हैं कि ये लोग मुझे क्यों नहीं जान सकते उसका कारण यह है कि–

नाहंप्रकाशःसर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयंनाभिजानाति लोकोमामजमव्ययम् ॥२५॥

अर्थ–(अहम्) मैं (सर्वस्य) सब लोगों को (प्रकाशः) प्रगट (न) नहीं होता हूं बल्कि केवल निज भक्तों को ही प्रगट दीखता हूं क्योंकि (योगमाया समावृतः) योगमाया के द्वारा मैं अपना सपूर्ण रूप ढंपा हुआ रखता हूं। मेरी युक्ति जो अचिंत्य प्रज्ञाविलास है उसी का नाम योगमाया है। वह अघटमान की घटना करने की शक्ति रखती है, इसी कारण साधारण बुद्धि के चिंतन में भी नहीं आसक्ती, वही मुझे ढांपे रहती है अतएव मेरे स्वरूप के जानने में (मूढः) मोहित वा अनजान होकर (अयम्) यह अभक्त वा अश्रद्धावान् (लोकः) लोग (माम्) मुझे (अजम्) अजन्मा वा (अव्ययम्) नित्य अविनाशी (न अभिजानाति) नहीं जान सकता बल्कि अन्य जन्म लेनेवाले वा नाशवान् देहों के समान मानते हैं यह माया उनको मोह लेती है जैसे बाजीगर की माया औरों को मोह लेती है परन्तु बाजीगर को नहीं ॥

टीका–जिस सामर्थ्य से भगवान् का वास जग के बीच में है उसी सामर्थ्य से वह अपने अवतार रूप में भी रहता है परन्तु लोगों की दृष्टि अविद्या से अन्धी हो रही है, इस कारण वे यह नहीं समझ वा देख सकते कि ईश्वर अव्यय वा अजन्मा है, यह अविद्या गई कि ज्ञान दृष्टि प्राप्त हो जातीहै। उसके द्वारा भक्त लोग भगवंत का यथार्थ रूप जान सकते हैं॥

ऊपर यह कह चुके हैं कि मेरा सर्वोत्तम रूप सर्व साधारण लोग नहीं जानते। अब आगे कहते हैं कि मेरी सर्वोत्तमता वही जान सकते हैं जिन की ज्ञान शक्ति मेरे समान है वा अज्ञान से ढंपी हुई नहीं, और लोगों को उसका ज्ञान नहीं होता ॥

वेदाऽहंसमतीतानि वर्त्तमानानिचार्जुन ! ।
भविष्याणिचभूतानि मांतुवेदनकश्चन ॥ २६ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! (समतीतानि) जो होकर नष्ट होगये हैं (च) और जो (वर्तमानानि) हाल में वर्तमान हैं (च) और जो (भविष्याणि) आगे होनेवाले हैं इन सब (भूतानि) भूतों अर्थात प्राणियों को (अहं वेद) मैं जानता हूं क्योंकि मेरी माया मेरे आश्रय में रहकर मुझे नहीं मोह सकती (तु) परंतु (माम्) मुझे (कश्चन) कोई भी (न वेद) नहीं जान सकता क्योंकि और सब मेरी माया में मोहित हो रहे हैं। प्रथम तो, सच्चिदानन्द से पृथक् कोई पदार्थ है ही नहीं और जो भ्रान्तिजन्य है भी तो वह जड़ होने के कारण चैतन्य को जान नहीं सक्ता ॥

टीका—यह बात लोक में प्रसिद्ध है कि माया केवल ईश्वर के आश्रय में तथा उसी के अधीन रहती है औरों को मोह लेती है क्योंकि भगवान् सर्वज्ञ तथा जीवगण अज्ञ हैं। श्रीभगवान् जी की माया का प्रभाव इसी अध्याय के १४ वें श्लोक " दैवीह्येषा गुणमयी ,, में कह आये हैं ॥

यहां पर यह कहा गया है कि माया ही के कारण जीवों को परमेश्वर का ज्ञान नहीं होता अब उसी अज्ञान का दृढ कारण आगे कहते हैं ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेनभारत ! ।
सर्वभूतानिसंमोहं सर्गेयान्तिपरन्तप ! ॥ २७ ॥

अर्थ—हे (भारत) अर्जुन ! (सर्गे) इस स्थूल देह की उत्पत्ति होते ही उस के अनुकूल वस्तु की (इच्छाद्वेषसमुत्थेन) चाह करना वा उस के प्रतिकूल वस्तु से वैर भाव करना इन दोनों से उत्पन्न हुआ जो (द्वंद्वमोहेन) शीतो-

ष्णा सुख दुःखादि द्वन्द्वों के निमित्त मोह अर्थात् अविवेक है उससे हे (परन्तप) अर्जुन ! (सर्वभूतानि) सब प्राणी (संमोहम्) मोह को (यान्ति) प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् सब लोग इसी चिन्ता में फंस जाते हैं कि मैं सुखी हूं। तथा मैं दुःखी हूं। अतएव मेरा ज्ञान उन्हें नहीं होता और इसी से वे मुझे भजते भी नहीं, शीतोष्णादि द्वंद्वों को दूर करने का जो प्रयत्न है सोई भ्रान्ति है। क्योंकि इनकी प्राप्ति तथा दूर करना प्रारब्ध वशात् अवश्यंभावी है अथवा दिन रात के समान वे बने ही रहते हैं।

टीका—जन्म लेते ही मनुष्य को यह भ्रांति हो जाती है कि मैं देह हूं इसका कारण पूर्व जन्म का द्वंद मोह होता है इच्छा वा द्वेष से सर्व कर्म होते हैं। उनके भोगने के वास्ते दूसरा देह लेना पड़ता है। इस देह में उसे यह ज्ञान वा विवेक नहीं रहता कि मैं कौन हूं, तो फिर दूसरे को वह कैसे जान सकता है। द्वंद्व के निमित्त प्रयत्न करना ही अविवेक है, विना इस के त्याग किये ईश्वर का वा अपना ज्ञान नहीं हो सकता। श्रीभगवान् जी यह कहचुके हैं कि मैं सर्वज्ञ हूं वा जीव अविद्या युक्त अज्ञ है परन्तु यह अज्ञ जीव भी भगवद्भजन से सर्वज्ञ हो जाता है। इच्छाद्वेष ही संसार की जड़ें हैं, इन को त्यागना अवश्य है, भगवद्भजन किस से बन पड़ता है सो आगे कहते हैं ॥

येषांत्वन्तगतंपापं जनानांपुण्यकर्मणाम् ।
तेद्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्तेमांदृढव्रताः ॥ २८ ॥

अर्थ—(तु) परन्तु (पुण्यकर्मणाम्) पुण्य कर्माचरण से (येषाम्, जनानाम्) जिन मनुष्यों का प्रतिबन्धक (पापम्) पातक कर्म (अन्तगतम्) नष्ट हो गया है (ते) वे (द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः) सुख दुःखादि का निमित्त जो मोह होता है उस से मुक्त होके (दृढव्रताः) दृढ़ निश्चय से एकान्त हो कर (माम्) मुझे (भजन्ते) भजते हैं क्योंकि शुभ कर्म करने से उन का

रजस्, तमस्, कम हो जाता है वा इसी द्वन्द्व का निमित्त मोह भी कम हो जाता है ॥

(नोट) वास्तव में सुख चाहता हुआ भी जीव रागद्वे-षादि के मोहान्धकार से अन्धा सा रहता हुआ सुख के हेतु ईश्वराराधन के मार्ग को नहीं देख पाता । द्वन्द्व मोह तथा पाप एक ही वस्तु है । जिस समय दृढ़ विचार से आत्मज्ञान वा ईश्वरभक्ति करने का दृढ संकल्प हो जाय और दिन रात में अनेक वार सर्वांशों वा अधिकांश कालों में भी ई-श्वर को न भूले तब जानलो कि इस के पापों का अन्त आ गया है । पापों के अन्त होने का चिन्ह ईश्वर में दृढ़रूप चित्त का लगना ही है ॥ (भी० श०)

टीका–यह पहिले कह आये हैं कि जिन ने पाप की ग-ठरी बांध रक्खी है वे श्रीभगवान् जी को नहीं भजते, पाप का क्षय पुण्य कर्म किये विना नहीं होता और यह क्षय हुआ कि मनुष्य आप ही भगवद्भजन करने लगता है। यह भजन दृढ़ निश्चय होकर एक तरीका चलाने से सुख दुःखरूपी मोह का नाश होता है तदनन्तर ज्ञानयुक्त भक्ति करने से मोक्ष मिलता है ॥

आगे भी कहते हैं कि येही भजन करनेवाले कृतार्थ होते हैं॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्ययतन्तिये ।
तेब्रह्मतद्विदुःकृत्स्नमध्यात्मंकर्मचाखिलम् ॥२९॥

अर्थ–(जरामरणमोक्षाय) बुढ़ापा तथा मरण यानी मृत्यु से छूटने के वास्ते (ये) जो लोग (माम्–आश्रित्य) मेरा ही आश्रय ले कर (यतन्ति) यत्न करते हैं (ते) वे (तद्ब्रह्म) उस पर ब्रह्म को (विदुः) जानते हैं और (कृत्स्नम्) स-म्पूर्ण (अध्यात्मम्) अध्यात्म को जानते हैं जिससे वह परब्रह्म जाना जाता है अर्थात् देहादि से व्यतिरिक्त शुद्ध आत्मा को जानते हैं (च) तथा उस के साधन करने के लिये जो (अखिलम्-कर्म) सर्व कर्म हैं वे भी सरहस्य जानने लगते हैं ॥

टीका-जिस दशा में अविद्या से मुक्त होने की इच्छा उत्पन्न होती है उस दशा को जिज्ञासु दशा कहते हैं, यह जिज्ञासा तभी होती है जब जन्म मरण का दुःख व्यापने लगता है। जन्म भर सुख रहा तो भी बुढ़ापे में दुःख व्यापता ही है, और किन्हीं भाग्यवानों को यह भी नहीं होता, परंतु मरने का दुःख तो किसी को चूकता ही नहीं, मरण काल में दुःख हुआ तब जिज्ञासा उत्पन्न हुई तो किस काम की, मरने पर पूर्वकर्मानुसार फिर जन्म हुआ कि पूर्ववत् मनुष्य फिर मोह वश हो मूर्ख बन जाता है, इस कारण जिज्ञासा जल्दी तथा मरने के पहिले ही उत्पन्न होना चाहिये ॥

पुण्य कर्माचरण से पाप का नाश होकर भगवद्भजन में रुचि होती है। भगवद्भजन से उक्त प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि यत्न के द्वारा ही उसे ईश्वर के प्रसाद से ब्रह्म विद्या प्राप्त हो जाती है और उस से वह ब्रह्म को जान लेता है। ब्रह्म जानने के दो प्रकार हैं, १ केवल ब्रह्म का ज्ञान जिसे " व्यतिरेक ज्ञान " कहते हैं। २ "कृत्स्नम्" अर्थात् " सर्व ब्रह्म „ जिसे " अन्वयज्ञान „ कहते हैं। फिर वह मनुष्य अध्यात्म तथा कर्म को भी जानता है ॥

ऐसे मनुष्य का योग भ्रष्ट नहीं होता जो कुछ और भी वह जानता है सो आगे कहते हैं ॥

साधिभूताधिदैवंमां साधियज्ञंचयेविदुः ।
प्रयाणकालेऽपिचमां तेविदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

अर्थ-(ये) जो लोग (माम्) मुझे (साधिभूताधिदैवम्) अधिभूत सहित तथा अधिदैव सहित (च) और (साधियज्ञम्) अधियज्ञ सहित (विदुः) जानते हैं (ते) वे (युक्त चेतसः) मुझ में मन आसक्त करके (प्रयाणकालेऽपि च) मरण समय में भी (माम्) मुझको (विदुः) जानते रहते हैं। अर्थात् उस समय व्याकुल भी होकर मुझे नहीं भूलते इसी कारण मेरे भक्तों का योग भ्रंश नहीं होता ॥

टीका–" अधिभूत „ " अधिदेव „ तथा "अधियज्ञ" इन तीनों वाक्यों का अर्थ अगले अध्याय में श्रीमहाराज कहेंगे परंतु यहां भी संक्षेप से उनका आशय कहना अवश्य है १ " अधिभूत „ अर्थात् " नश्वरद्रव्य „ २ " अधिदैव „ अर्थात् "जीवपुरुष „ ३ " अधियज्ञ „ अर्थात् " सर्वसाक्षी ईश्वर „ इन में "अधिदैव" अर्थात् जीव पुरुष तो जानने वाला हुआ और उस को जो जानना चाहिये वह " अधिभूत" अर्थात् नश्वर जड़ सहित वा " अधियज्ञ " ईश्वर सहित पिछले श्लोक में जो" ब्रह्म " कहा वही इस श्लोक का अधिभूत है वा अध्यात्म से अधिदैव तथा कर्म से अधियज्ञ का आशय होता है, ये सब आगे स्पष्ट होंगे। नाशवान् देह में जीवरूपी पुरुष निद्रित रहता है तो इस देह सहित जीव के स्वरूप जानने को अधिभूत सहित अधिदैव को जानना कहते हैं। उसीप्रकार अधियज्ञ अर्थात् ईश्वर जिस का प्रतिबिम्ब जीव है तो ईश्वर सहित जीव के स्वरूप जानने को " साधियज्ञ अधिदैव " जानना समझो ॥

जड़ का निषेध किये विना जीव का स्वरूप नहीं जाना जाता और बिम्बरूपी ईश्वर है, उस के विना प्रतिबिम्ब अर्थात् जीव का स्वरूप नहीं समझ पड़ता, यही समझाने के हेतु भगवान् जी ने यह कहा है कि " साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः " जो इस प्रकार से श्रीभगवान् जी को जानता है उसी को प्रयाण काल में उस का यानी भगवत् का स्मरण रहता है ॥

कोई कहते हैं कि यहां जो मोक्ष कहा है वह निर्गुण मोक्ष है परंतु ऐसा हो नहीं सक्ता, क्योंकि प्रयाणकाल में निर्गुणोपासक केवल ब्रह्मरूप ही में लीन होता है अथवा उस स्थिति में मुक्ति सुख का अनुभव होता ही नहीं, परंतु इस

श्लोक में तो भगवान् जी ने कहा है कि प्रयाणकाल में वे मनुष्य "विदुः„ अर्थात् जानते हैं इस से यहां पर सगुण मोक्ष ही सिद्ध होता है ॥

" प्रयाणकालेऽपि „ इसका अर्थ प्रयाणकाले सत्यपि ऐसा लिया तो आपही सगुण मोक्ष सिद्ध होजाता है ॥

"अपि" शब्द से भगवान् ने यह बताया है कि निर्गुण मोक्ष में जानना नहीं है, परन्तु सगुण भक्त मुक्ति ही में जान लेता है ॥

इस अध्याय में सगुणभक्ति का वर्णन किया है और अन्त भी उसी में हुआ है ॥

कृष्णभक्त्यैवयत्नेन ब्रह्मज्ञानमवाप्यते ।
इतिविज्ञानयोगाख्ये सप्तमेसम्प्रकाशितम् ॥

यह सप्तम अध्याय की टीका श्रीयुगलचरणारबिन्दों के अर्पण है ॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञान योगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

अथाष्टमोऽध्यायः ॥

ओ३म् नमोभगवतेवासुदेवाय ॥

ब्रह्मकर्म्माधिभूतादि विदुःकृष्णैकचेतसः ।
इत्युक्तंब्रह्मकर्मादि स्पष्टमष्टमउच्यते ॥

पिछले अध्याय के अन्त के दो श्लोकों में श्रीभगवान् जी ने यह कहा है कि मेरा भक्त ब्रह्माध्यात्मादि सातप्रकार के पदार्थों के द्वारा अन्तकाल में भी मुझ ब्रह्म को जान सकता है। अतएव उन्हीं सात पदार्थों का तत्त्व जानने की इच्छा करके अर्जुन आगे के दो श्लोकों में प्रश्न करता है क्योंकि "ऋते-ज्ञानान्नमुक्तिः" इस श्रुति में यह कहा है कि बिना ब्रह्म-ज्ञान के मुक्ति नहीं मिल सकती ॥

अर्जुन उवाच ॥

किंतद्ब्रह्मकिमध्यात्मं किंकर्मपुरुषोत्तम !
अधिभूतंचकिंप्रोक्त-मधिदैवंकिमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञःकथंकोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ! ।
प्रयाणकालेचकथं ज्ञेयोऽसिनियतात्मभिः ॥ २ ॥

अर्थ—हे (पुरुषोत्तम) श्रीकृष्ण ! (तत्) वह (ब्रह्म) केवल ब्रह्म वा सर्व ब्रह्म (किम्) कैसा है अर्थात् सोपाधिक वा निरुपाधिक ब्रह्म में भेद क्या है ? । (अध्यात्मम्, किम्) अध्यात्म क्या है ? (कर्म) कर्म (किम्) किसे कहते हैं ? । (च) और (अधिभूतम्) अधिभूत (किं प्रोक्तम्) किस को कहा है ? तथा (अधिदैवम्) अधिदैव (किम्–उच्यते) क्या कहा जाता है ? ॥ १ ॥

हे (मधुसूदन) श्रीकृष्ण ! (अत्र अस्मिन् देहे) इस देह में (अधियज्ञः) अधियज्ञ (कः) कौन है वा (कथम्) कैसा है ? (च) और (नियतात्मभिः) जिन्हों ने अपने चित्त

को वशीभूत किया है वे लोग (प्रयाणकाले) मरण समय में (कथम्) किस प्रकार (ज्ञेयः–असि) तुझे जानते हैं अर्थात् इस देह में जो यज्ञ वर्तमान है (तस्मिन्) उस में (अधियज्ञः) अधिष्ठाता वा प्रयोजक कौन है ? और फलदाता कौन है ? यह स्वरूप का प्रश्न हुआ। अब अधिष्ठान पूंछता है कि (कथम्) कौन प्रकार से वह इस देह में स्थित है । अर्जुन का तात्पर्य यह है कि आप का शुद्ध स्वरूप क्या है ? वा इन शब्दों के यथार्थ आशय क्या हैं ॥

अब आगे तीन श्लोकों में श्रीभगवान् जी क्रम से प्रश्नों के उत्तर देते हैं ? ॥

श्रीभगवानुवाच ॥

अक्षरंब्रह्मपरमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गःकर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

अर्थ–जो नहीं चलता उस का नाम अक्षर है तो फिर जीव को भी क्या अक्षर कह सकते हैं ? अतएव श्रीभगवान् जी कहते हैं कि जो (परम्) परम (अक्षरम्) अक्षर है अर्थात् सर्व जगत का मूल कारण वा शुद्ध सच्चिदानन्द, निर्विकार अखण्ड नित्यमुक्त है वही (ब्रह्म) ब्रह्म है, श्रुति भी कहती है कि " एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्ति " जो स्वयं ब्रह्म ही का अंश हो कर जीवरूप से प्रगट होता है वही स्वभाव है और वही आत्मा और देह का अधिष्ठाता वा भोक्ता बनता है उस को " अध्यात्म " शब्द से (उच्यते) कहा है। यानी उसी का नाम " अध्यात्म " है (भूतभावोद्भवकरः) सर्व भूतों का जो भाव अर्थात् सत्ता वा उत्पत्ति करने वाला जो (विसर्गः) देवतों के निमित्त द्रव्य त्यागरूपी यज्ञ है उसी की (कर्मसंज्ञितः) कर्मसंज्ञा है यानी उसी का नाम कर्म है। " आदित्याज्जायते वृष्टिः " इस क्रम से भूतों की वृद्धि होती है उसी को " उद्भव " कहा है देखो अध्याय ३ के श्लोक ९ से १६ तक। ये तीनों प्रश्नों के उत्तर हुए ॥

टीका—अर्जुन ने जो ७ प्रश्न किये उनमें से पहिला प्रश्न यह था कि "ब्रह्म" क्या है,? उसका उत्तर श्रीभगवान् जी देते हैं कि ब्रह्म अक्षर है वही परम है जो नाशवान् वा चलायमान नहीं उसे अक्षर कहते हैं। जड़ सृष्टि नश्वर है, जड़ भाग दूर करने से जो बचता है, वही अक्षर ब्रह्म है वह शब्द से कहा नहीं जा सकता। केवल बुद्धि से जाना जाता है अतएव वह अनिर्वाच्य कहाता है। क्षर तथा अक्षर के विचार को "व्य-तिरेक,, कहा है और इसी विचार से अर्जुन को आत्मा का अनुभव हुआ तो अविद्या का नाश होगया परंतु इतने से अद्वैत का पूर्ण बोध नहीं होता क्योंकि जड़ भाग भा-सित होना इन्द्रियविकार उत्पन्न करता और द्वैत को प्र गट करता है। अविद्या के इसी प्रकार को "विक्षेप,, कहते हैं। इसका नाश हुए बिना पूर्ण अद्वैत नहीं समझ पड़ता, जैसे सुवर्ण अलंकार रूप से दीखता है वैसे ही ब्रह्म सृष्टि रूप से दी-खता है। ऐसा पक्का विचार बुद्धि से किया कि "विक्षेप,, का नाश होता है। इसी बोध को "अन्वय,, बोध कहते हैं। यही "परमं ब्रह्म,, इस शब्द से बताया है। कारण से कार्य उत्पन्न होता है अतएव कार्य से कारण "परम,, अर्थात् श्रेष्ठ है। ब्रह्म कारण है, सकल सृष्टि उसका कार्य है, जैसे तन्तु का कार्य पट, माटी का कार्य घट, तथा सुवर्ण का कार्य अलंकार है। इन सब कार्यों में कारण वर्तमान रहता है। उसी प्रकार सर्व जड़ सृष्टि में अक्षर ब्रह्म वर्तमान है। सर्व जड़ जगत् परम ब्रह्म है, ऐसी पक्की समझ होजाने से सब ब्रह्म रूप दीखने लगता और पूर्ण अद्वैत का बोध हो जाता है॥

"अध्यात्म,, क्या है यह दूसरा प्रश्न था, इसका उत्तर भगवान् ने "स्वभाव,, बताया है। स्वभाव का अर्थ अपना भाव यह जड़ जगत् अपना यानी आत्मा ही का कार्य है। यह बात "स्वभाव,, शब्द से जनाई है। जो कार्य हैं वही

कारण हैं यह " परम ,, शब्द से अद्वैत बोध कराया और वही " अध्यात्म ,, शब्द से दृढ़ किया है। सब जड़ जगत् ब्रह्म मय दीखने लगे तो भी अपन अलग तथा जड़ जगत् अलग यह द्वैत बना रहा, अतएव भगवान् ने " अध्यात्म ,, शब्द की योजना करके यह समझाया है कि अपन ही ब्रह्म हैं, और जड़ जगत् " स्वभाव ,, अर्थात् अपना ही भाव यानी कार्य है। इस प्रकार पहिले प्रश्न के उत्तर में ब्रह्म दो प्रकार से बता दिया, और दूसरे प्रश्न के उत्तर में उसी को दृढ़ किया है॥

अब " कर्म ,, शब्द की व्याख्या करते हैं। " भूत ,, अर्थात् " पंचभूत , उसका " भाव " अर्थात् भूतांश देह है, इन का "उद्भव,, अर्थात् कारण इस कारण को जो निर्माण करता है उसी का नाम विसर्ग है। इसी "विसर्ग,, का नाम "कर्म,, कहा है, उसी को ब्रह्म समझना चाहिये। क्योंकि पहिले कह चुके हैं कि जो कारण है वह सब ब्रह्म है, इसी ब्रह्म में सर्व कर्म मिश्रित हैं कर्म ही ब्रह्म है' ऐसा जान पड़ता है, क्योंकि जितने कार्य हैं वे अंत में " कारण ,, ही में मिल जाते हैं॥

देह और भूतों के उपजने के कारण को "विसर्ग,, कहा है अर्थात् विसर्ग का भाव सृष्टि काल हुआ, क्योंकि वही जगत् का निमित्त कारण होता है। घड़ा तैयार होने को माटी और कुम्हार चाहिये, अर्थात् ये दोनों कारण हुए, माटी तो उपादन कारण तथा कुम्हार निमित्त कारण है। उसी प्रकार जगत् का उपादान कारण ब्रह्म और बिसर्ग यानी सृष्टिकाल निमित्त कारण है। अनादि सृष्टिकाल आया तब प्रथम "काल,, उत्पन्न होता है। महत् तत्त्वादि कारण रूप प्रगट होते हैं। इन से पंचभूत, पंचभूतों से भूतांश देह उपजते हैं , इसी को "भाव" कहा है। " उद्भव ,, शब्द से महत्तत्त्वादि की सूचना की है। इन महत्तत्त्वों को सृष्टिकाल उत्पन्न करता है, इसी से उसे " विसर्ग ,, कहा है। इसी " विसर्ग ,, को "कर्म,,कहा

है। क्योंकि सर्व कर्म सृष्टिकाल में समाप्त हो जाते हैं। उन्हीं के अनुसार यह जीव देह धारण करके फिर उसी प्रकार कर्म करने लगता है, अब यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म ही सृष्टिरूप से भासमान होता है ॥

यहां तक ३ प्रश्नों के उत्तर हुए, अब आगे के श्लोक में और ३ प्रश्नों के उत्तर देते हैं—

अधिभूतंक्षरोभावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहेदेहभृतांवर !॥ ४ ॥

अर्थ-हे (देहभृतांवर) देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! सर्व भूतों में जो (क्षरो भावः) नश्वर भाव अर्थात् नाशवान् देहादि पदार्थ हैं उनको (अधिभूतम्) अधिभूत कहते हैं यानी जो प्राणी मात्र अधिष्ठान रूप है वही अधिभूत है (च) और सूर्य मंडल में जो अपने अंश भूत सर्व देवतों का (अधिदैवतम्) अधिपति है उसी को (पुरुषः) विराट् पुरुष वा हिरण्य गर्भ कहते हैं, वही देवतों का अधिष्ठाता है। श्रुति का वाक्य भी है—

सर्वेशरीरीप्रथमः सर्वैपुरुषउच्यते ।
आदिकर्तासभूतानां ब्रह्माग्रेसमवर्तत ॥

(अत्र देहे) इस देह में स्थित जो (अहम्-एव) केवल एक मैं हूं वही (अधियज्ञः) अधियज्ञ है अर्थात् मैं ही यज्ञ का अधिष्ठाता देवता हूं तथा यज्ञादि कर्मों का प्रवर्तक और फल दाता भी हूं। क्योंकि मैं ही देहांतर्वर्ति अर्थात् अंतर्यामी होकर जीव के असत्तादि गुणों को दूर करता हूं। जैसा श्रुति कहती है कि "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्योऽभिचाकशीति,, भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! तू सब देह धारियों में श्रेष्ठ है, अतएव तूभी पराधीन स्वप्रवृत्ति, निवृत्ति अन्वय, व्यतिरेक के द्वारा ऐसे अन्तर्यामी को जानने के योग्य है ॥

टीका—श्लोक ३ में जो "अक्षरं ब्रह्म" कहा उसी से यह प्रतीत हो गया कि जड़ सृष्टि का भाव नश्वर है, परंतु इस श्लोक में वही बात कहने की क्या आवश्यकता थी ?। वह अध्याय ७ के अंत के श्लोक "साधिभूताधिदैवं माम्" से मालूम होती है, इस श्लोकार्द्ध में भगवान् ने कहा है कि अधिभूत सहित अधिदैव को जानना चाहिये "अधिदैव" "अधियज्ञ" का प्रतिबिंब है, तो वह भी अधिभूत से पृथक् नहीं हो सक्ता, यही बात आगे "द्वाविमौ पुरुषौ लोके" इस श्लोक में स्पष्ट की जावेगी। अध्याय २ में भी सूक्ष्म भाव से कह आये हैं कि ब्रह्म के समान प्रतिबिंबांश पुरुष भी अक्षर है, और शरीरके समान नश्वर नहीं। यहां पर केवल "क्षर" न कहकर "क्षरभाव" कहा है उस का आशय ऐसा है कि भूतों का आभास मात्र भाव नश्वर है। परन्तु वास्तव में वे भूत ब्रह्महो हैं। जैसे तमाशे में लड़का स्त्रीभाव बताकर फिर पुरुष भाव बताने लगता है, तब स्त्री वेष नाहीं सा हो जाता है। और जैसे पानी की ही तरंगें बनतीं हैं परंतु तरंगोंका भाव यानी आकार नश्वर होता है, पानी को नश्वर नहीं कह सक्ते, इसी आशय से अधिभूतों को क्षरभाव कहा है। इसी क्षर भाव सहित अधिदैव को जानना चाहिये, यही अध्याय७ में कहा है और जो व्यापक अक्षर ब्रह्म है, उसी का नश्वर भाव "अधिभूत" है इसी का नाम "नवद्वारपुर" है । और जो जीव सकल इन्द्रियों का अधिष्ठाता होकर उस पुर में वास करता है उसी का नाम "अधिदैव" है। वह सब इन्द्रियों को जिलाता है और जब वह जीव नाहींसा हो जाता है, तब इन्द्रियों के देवता कुछ नहीं कर सकते वही देह मुरदा हो जाता है। यानी जीव ही सब को जिलाता है, और वह नष्ट हुआ कि देह में व्यापक ब्रह्म भी मुरदे का नश्वर भाव दिखाता है। यह चौथे और पांचवें प्रश्न का उत्तर हुआ। छठवें प्रश्न का उत्तर "अधियज्ञोऽहमेवात्र" है, इससे भगवान् ने अर्जुन को यह उपदेश किया है कि "अधियज्ञ" अर्थात् सगुण

ईश्वर जैसा सर्व जगत् में है वैसा ही तेरे देह में है और वह मैं ही हूं ॥

जैसा वह भगवान् अर्जुनके देह में है वैसा सब देहों में नहींहै, यह दिखाने के वास्ते अर्जुन को "देहभृतांवर" कहा है इस से केवल अर्जुन ही को नहीं, वल्कि सर्व भक्तों को गौरव दिया है। ईश्वर सब के हृदय में है तो फिर भक्तों से ही क्यों प्रसन्न रहना चाहिये ? भला यह वारंवार कहा है कि भगवान् का स्वभाव कल्पवृक्ष कासा है, यानी वह विना मांगे किसी को कुछ नहीं देता, यद्यपि वह सर्व देहों में समान है, तो भी जो कोई उस से भक्ति मांगता है उसी को देता है और वही देह धारियों में श्रेष्ठ गिना जाता है ॥

अब आगे के श्लोक में अर्जुन के सातवें प्रश्न का जो दूसरे श्लोक में किया था कि—"प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि" उसका उत्तर देते हैं कि अन्तकाल में मेरा ज्ञान ही एक उपाय है, तथा उसका जो फल है सो आगे कहते हैं—

अन्तकालेचमामेव स्मरन्मुक्त्वाकलेवरम् ।
यःप्रयातिसमद्भावं यातिनास्त्यत्रसंशयः ॥ ५ ॥

अर्थ-(च) और (माम्, एव) उक्त लक्षण युक्त मुझ अन्तर्यामी को ही (अन्तकाले) मरते समय (स्मरन्) स्मरण करता हुआ (कलेवरम्) देह को (मुक्त्वा) त्याग के (यः) जो मनुष्य (प्रयाति) प्रकर्षता के साथ अर्चिरादि मार्ग से उत्तरायण पथ को जाता है (सः) वह (मद्भावम्) मेरे स्वरूप को (याति) प्राप्त होता है (अत्र) इस में (संशयः) सन्देह (न—अस्ति) नहीं है, अर्थात् मेरा स्मरण है सोई ज्ञान का उपाय है, तथा मेरे भाव को प्राप्त होना वही उस का फलहै ॥

टीका—अध्याय ७ के श्लोक ३० में " प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुः " जो कहा है उस का अर्थ अर्जुन समझा नहीं था, इसी से उसने जो प्रश्न किया था कि " प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि " श्लोक २ उस का उत्तर यही दिया है कि प्राय

त्यागते समय जो भगवत्स्मरण करता है वह सगुण मोक्ष पाता है। अर्थात् सगुण भगवत् रूप नित्य मुक्त हो जाता है, वह निर्गुण मोक्ष नहीं पाता, यह " नास्त्यत्र संशयः " इस पद से सुझाया है॥

अब आगे कहते हैं कि यह नियम नहीं है कि अन्त में केवल मुझ को स्मरण करके मेरा रूप पाते हैं। वल्कि उस समय जिस २ का स्मरण करते हैं उसी का भाव पाते हैं॥

यंयंवापिस्मरन्भावं त्यजत्यन्तेकलेवरम्।
तंतमेवैतिकौन्तेय! सदातद्भावभावितः॥ ६॥

अर्थ–हे (कौन्तेय) अर्जुन। (यं यम्, भावम्) जिस २ भाव अर्थात् अन्य देवता (वापि) अथवा अन्य किसी वस्तु को (अन्ते) अन्तकाल में (स्मरन्) स्मरण करता हुआ कोई मनुष्य (कलेवरम्) देह को (त्यजति) त्यागता है (तं तम्, एव, एति) वह उसी २ स्मरण किये हुए भाव को प्राप्त होता है। अन्तकाल में उसी विशेषभाव को स्मरण होने का यह कारण है कि पहिले (सदा) सर्वदा से उस के चित्त में (तद्भावभावितः) वही भाव प्यारा वा बसा हुआ रहता है अर्थात् जिस वस्तु का चिन्तवन सदा बना रहता है उसी का स्मरण अन्तकाल में रहता है, उसीके भाव को वह मरने वाला प्राप्त होता है। कहा भी है कि—

बद्धोबद्धाऽभिमानीस्यान्–मुक्तोमुक्ताऽभिमानितः।
किंवदन्तीहसत्येऽयं यामतिःसागतिर्भवेत्॥

टीका–ज्ञानी हो वा अज्ञानी हो, परन्तु मरण काल में जिस की याद उसे आती है वही रूप उसे प्राप्त होता है। यह अनादि प्रवाह चला आता है, उस में कभी किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता, अतएव उस समय भगवत् रूप का स्मरण आने से वही मिल जाता है, श्लोक ५ में जो " मद्भाव " कहा है उस का आशय श्रीभगवान् जी का सगुणरूप ही है॥

इतिहास-एक ज्ञानी महात्मा अपने शिष्यों से कहा करते थे कि मरने पर जब हम वैकुण्ठ में पहुंचेंगे तब घण्टा बजैगा, तब तक हमारे शरीर को राखे रहना, जब घण्टा सुनलो तब दाहक्रियादि करना, जब महात्मा का अन्त समय आया तो वे पड़े २ वेरी के पके फलों को जो सामने लगेथे देख रहेथे, अतएव उन का जीव एक फल में प्रवेश करके कीड़ा हो गया, जब बड़ी देर तक घण्टा का शब्द न हुआ, तब शिष्यवर्ग बड़े शोच में पड़े, इतने में एक दूसरे महात्मा पहुंचे, उन्होंने पूंछा कि मरते समय स्वामी जी की दृष्टि किधर को थी ? । शिष्यों के बताने पर महात्मा ने ठीक सामने के सब वेर तुड़वा मंगाये, उन में से एक में जो कीड़ा निकला उसे मारते ही आकाश में घण्टानाद हुआ, अर्थात् महात्मा का जीव जो वेर में अटक गया था, सो वैकुण्ठ को पहुंच गया ॥

पूर्व से जो भाव चित्त में बसा रहता है उसी की याद मरणकाल में भी आती है। उस समय मनुष्य वेवश हो कर अन्य वस्तु का चिन्तन नहीं कर सकता, अतएव श्रीभगवान् जी आगे कहते हैं कि मनुष्य सर्वदा मेरा ही चिन्तवन करता रहे, जिस से अन्तकाल में विक्षेप न हो कर मुझ को ही प्राप्त होवे और स्वधर्माचरण से अन्तःकरण शुद्ध कर लेगा तो अवश्य ही मुझ में चित्त लगेगा ॥

तस्मात्सर्वेषुकालेषु मामनुस्मरयुध्यच ।
मय्यर्पितमनोबुद्धि-र्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

अर्थ-(तस्मात्) तिस कारण (सर्वेषु कालेषु) सर्वकाल में (माम्) मुझ को (अनुस्मर) स्मरण करता रह (च) और (युध्य) युद्ध कर क्योंकि युद्धादिक तेरे धर्म हैं और विना स्वधर्माचरण के चित्त की शुद्धि नहीं होती और चित्त शुद्धि हुए विना उक्त प्रकार मेरा चिन्तन सर्वदा नहीं वन सकता । इस प्रकार तू (मय्यर्पितमनोबुद्धिः) अपना संकल्पात्मक मन

और व्यवसायात्मिका बुद्धि मुझ में अर्पण करके अर्थात् लगा के (असंशयस्) निःसन्देह वा अनायास (माम्-एव) मुझ ही को (एष्यसि) प्राप्त हो जावेगा क्योंकि निष्काम बुद्धि से स्वधर्माचरण करने पर निःसन्देह चित्त शुद्ध होगा तदनन्तर सर्वदा मेरा स्मरण बना रहेगा ॥

(नोट) जीवेश्वर संवाद पक्ष में श्रीभगवान् जी का उपदेश सब जिज्ञासुओं के लिये ऐसा है कि अपना २ कल्याण चाहने वाले ब्राह्मणादि अपने २ स्वाभाविक कुल परम्परागत वेदशास्त्रानुकूल वर्णाश्रम धर्म की सिद्धि के लिये उस २ धर्म के विरोधी मनुष्यादि वा काम क्रोधादि के साथ युद्ध भी करें और युद्ध करते हुए वा स्वधर्माचरण करते हुए प्रत्येक समय मेरा स्मरण करते रहें मुझ को न भूलें तो उन के संसार परमार्थ दोनों सिद्ध होंगे और सर्वत्र उन का विजय वा लाभ ही होगा अन्त में परमगति होगी ॥ (भी० श०)

टीका देहान्त समय में सगुण भगवन्त का स्मरण रहा तो सगुण मोक्ष मिल कर उसी मुक्ति में भजन सुख मिलता है। स्मरण का कारण प्रीति है अतएव सर्व काल में मुझ में प्रीति रख कर मेरा ही स्मरण करता रह, यह प्रीतियुक्त भक्ति ९ प्रकार की है ॥

श्रवणंकीर्तनंविष्णोः स्मरणंपादसेवनम् ।
अर्चनंवन्दनंदास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

ये सब स्मरण के बिना नहीं बन पड़तीं, अतएव स्मरणभक्ति सब का जीवनमूल है। यहाँ स्मरण से जीता भी कीड़ा का भृङ्ग हो जाता है। तो फिर मरने पर स्मरण के अनुसार गति मिलने में क्या सन्देह है?। ज्ञानीभक्त निर्गुण ही में सगुण का चिन्तन करता है, अतएव उसके अन्तःकरण में निर्गुण स्वरूप बनता है। उस का देह जीवते ही में सगुण रूप बनता है, यह सुन कर अर्जुन ने विचारा हो [ऐसा अनुमान किया जाता है]

कि मेरा कृष्णरूप होना तो हो गया, परन्तु युद्ध की गड़बड़ में मेरी सगुण भक्ति में अन्तर पड़ेगा, यह सर्वज्ञाता श्रीभगवान् जी ने जान कर उत्तरार्द्ध में यह उपदेश किया है कि "मय्यर्पितमनोबुद्धिः" अर्थात् युद्ध तो कर परन्तु मन वा बुद्धि को मुझ में ही लगाये रह। यहां पर यह शङ्का होती है कि बुद्धि के अर्पण करने से मन आप ही अर्पण होजाता है तो फिर दोनों क्यों कहे ? इस का निवारण यह है कि कोई भी काम करते वक्त मन तो उसी के स्मरण में रहता,बाक़ी बातें को भूल जाता है। यह मन का सहज धर्म है। किसी भी कर्म में मन गड़ गया कि उसे उस के हेतु का भी स्मरण नहीं रहता, जिस हेतु से वह कर्म प्रारम्भ किया है। परन्तु गुप्तरूप से उस हेतु का संस्कार बुद्धि में बना रहता है, जिस बात में सुख है उस का निश्चय बुद्धि ही करती है। और उस के सिवाय दूसरे कर्म में मन को लगा भी देती है। परन्तु वह कर्म पूरा होने पर फिर उसी बात में उसे लगा देती है। जिस में उस का निश्चय जमा हो, इसी कारण श्रीभगवान् जी ने कहा है कि तेरा मन युद्ध में लगने पर भी बुद्धि में मेरा स्मरण रहेगा तो वह फिर मन को मेरी ओर झुका देगी। यहां तक परमेश्वर के स्मरण का वहिरंग साधन हुआ॥

अब आगे यह बताते हैं कि सर्वदा स्मरण का अभ्यास करना यही एक मुक्तिदायक अन्तरङ्ग साधन है। और वही अन्तरङ्ग साधन आगे के श्लोक में बताते हैं॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसानान्यगामिना।
परमंपुरुषंदिव्यं यातिपार्थानुचिन्तयन्॥ ८॥

अर्थ—हे (पार्थ) अर्जुन! (अभ्यासयोगयुक्तेन) अभ्यास रूपी उपाय से एकाग्र किये हुए तथा उसी कारण (नान्यगामिना) अन्य विषय में न जाते हुए (चेतसा) चित्त के द्वारा (परमम्) सब से श्रेष्ठ (दिव्यम्) प्रकाशवान् (पुरुषम्)

परमेश्वर को (अनुचिन्तयन्) सदैव स्मरण करता हुआ (याति) उसी को प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसी के रूप में मिल जाता है॥

टीका–चित्त को आत्मस्वरूप ईश्वर में लगाने के अभ्यास को " अभ्यासयोग " कहते हैं, जब २ वह विषयों में दौड़े तब तब वहां से हटाने की आदत डालना चाहिये। ज्ञानी सगुण भक्त को चाहिये कि अपना चित्त इसप्रकार आत्मस्वरूप में लगाकर परम पुरुष जो सगुणरूप श्रीभगवान् जी हैं उन का ध्यान करे, और सब विषयों से अपना चित्त खींच लेवे। जिस अनुभव से युक्त हो कर ईश्वर अपना शरीर अर्थात् सब विश्व की कल्पना करता है, उसी अनुभव से ध्यान करे तो उस को सगुण साक्षात्कार कहते हैं। यह ध्यान ज्ञानी से ही बन सकता है। इस प्रकार साकार सगुण ध्यान करके देह त्यागने से परम पुरुष को प्राप्त होता है॥

आगे फिर भी उसी परम पुरुष का स्पष्ट वर्णन दो श्लोकों में कहते हैं जो चिन्तवन करने योग्य है।

कविंपुराणमनुशासितार–मणोरणीयांसम-नुस्मरेद्यः । सर्वस्यधातारमचिन्त्यरूप–मादि-त्यवर्णंतमसःपरस्तात् ॥ ९ ॥

प्रयाणकालेमनसाऽचलेन भक्त्यायुक्तोयोग वलेनचैव। भ्रुवोर्मध्येप्राणमावेश्यसम्यक् सतं-परंपुरुषमुपैतिदिव्यम् ॥ १० ॥

अर्थ–वह परम पुरुष कैसा है ? कि (कविम्) सर्वज्ञ है अर्थात् सर्वविद्या का निर्माण करने वाला है (पुराणम्) अनादि सिद्ध है (अनुशासितारम्) सर्व जगत् का नियन्ता वा शासनकरने वाला है (अणोः) सूक्ष्म से भी (अणीयांसम्) अतिसूक्ष्म है अर्थात् आकाश वा काल इत्यादि से भी सूक्ष्म है (सर्वस्यधातारम्) सर्व जगत् का धारण वा पोषण करने

वाला है और उस की अपरिमित महिमा होने के कारण (अचिन्त्यरूपम्) उस का रूप मन वा बुद्धि के गोचर नहीं होता वह (आदित्यवर्णम्) सूर्य के समान प्रकाशवान् ज्ञान स्वरूप है और वह (तमसः) तमोगुणी प्रकृति के (परस्तात्) परे वर्तमान है, अर्थात् वह प्रपञ्च सहित प्रकृति को छोड़ कर उस के परे रहता है " वेदाहमेतंपुरुषंमहान्त-मादित्यवर्णंतमसःपरस्तात "—इतिश्रुतेः। ऐसे पुरुष को (यः) जो मनुष्य (प्रयाणकाले) अन्तकाल में (भक्त्यायुक्तः) भक्ति वा प्रीति सहित (अचलेनमनसा) विक्षेप रहित निश्चल मन से (चैव) और (योगबलेन) अपने योगबल से (भ्रुवोर्मध्ये) दोनों भौंहों के बीच में (सम्यक्) भलीभांति (प्राणम्) अपने प्राण को (आवेश्य) स्थिर करके (अनुस्मरेत्) स्मरण करे (सः) वह (तम् परम्) उस परमात्मस्वरूप (दिव्यम्) ज्योतियुक्त (पुरुषम्) पुरुष को (उपैति) प्राप्त होता है॥

टीका—" कवि " अर्थात् सर्वज्ञ जिस का ज्ञान स्वतः सिद्ध होवे। ब्रह्मा को प्रथम ज्ञान सगुण भगवन्त से ही मिला है और वही परम्परा से चला आता है । यह कवि शब्द निर्गुण को लागू नहीं होता " "अनुशासितारम्" कहने से जीव वा ईश्वर निराले दीखते हैं परन्तु उस का परिहार यह है कि मूल में जीव वा ईश्वर एक हैं, क्योंकि ईश्वर का प्रतिबिम्ब जीव है। परन्तु भोगमात्र में द्वैतभाव है जैसे जुदे २ वर्तनों में सूर्य का प्रतिबिम्ब अलहदा २ दीखता है, तद्वत् ईश्वर प्रतिबिंब रूप से जुदा २ देह धरता है और जीव से उस के कर्मानुरूप सुख दुःख भुगवाता है । श्रुति का वाक्य है कि—"अणोरणीयान् महतो महीयान्, आदित्यवर्णंतमसः परस्तात ,, इन वाक्यों से साकार सगुण सिद्ध होता है॥

निर्गुणोपासना या सगुणभक्ति जिन को नहीं प्राप्त होती और वे हठ योग करते हैं उनका भी मुक्ति प्रकरण श्लोक १०

हठ योग शास्त्र में कहा है कि दोनों भौंहों के बीच के भाग में द्विदल आज्ञा चक्र होता है–वहीं पर हठयोगी अपने प्राण को चढ़ाता है,, "योग बलेन,, इस वाक्य से यह बताया है कि हठयोगी पंचभूतों के पांचचक्र भेद करके छठवें आज्ञा चक्र में प्राण चढ़ाता है। हठ योग शास्त्र के प्रमाण से १ गुदा द्वार पर मूलाधार चक्र चार दलका है इसके ऊपर २ स्वाधिष्ठान चक्र छः दल वाला कमल का है–इसके ऊपर ३ नाभि कमल में मणि पूरक चक्र दश दल का है उसके ऊपर हृदय में अनाहत चक्र बारह दलका है, उसके ऊपर कंठ स्थान में विशुद्ध चक्र सोलह दल का है, उसके ऊपर भौंहों के बीच में आज्ञा चक्र है। यह योग कष्ट साध्य है, और निर्मल वा तीव्र बुद्धिवालों के लिये है। परंतु जो मंद बुद्धि वा मंद वैराग्य गृहस्थ हैं, उनके वास्ते करुणाकर भगवान् सहज उपाय आगे कहते हैं और बताते हैं कि वह दिव्य पुरुष कैसा है। और केवल अभ्यास योग से प्रणव के अभ्यास का अंतरङ्ग साधन भी बताते हैं–

> यदक्षरंवेदविदोवदन्ति,
> विशन्तियद्यतयोवीतरागाः।
> यदिच्छन्तोब्रह्मचर्य्यंचरन्ति,
> तत्तेपदंसंग्रहेणप्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

अर्थ–(वेदविदः) वेदों के अर्थ जाननेवाले लोग (यत) जिसको (अक्षरम्) अक्षर यानी अविनाशी (वदन्ति) कहते हैं " एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि, सूर्या चंद्रमसौ विधृतौ तिष्ठत इति श्रुतेः" (वीतरागाः) विरागी (यतयः) प्रयत्न करनेवाले (यत) जिस में (विशन्ति) प्रवेश करते हैं और (यत्) जिसको (इच्छन्तः) जानने की इच्छा करनेवाले गुरुकुल में वास करके (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचारी का व्रत (चरन्ति) आचरण करते हैं (तत्) उस (पदम्) प्राप्त

करने योग्य अवस्था विशेष को (ते) तुझ से (संग्रहेण) संक्षेप से (प्रवक्ष्ये) कहता हूं अर्थात् उस के प्राप्त करने का उपाय तुझे बताता हूं ॥

टीका—यहां यह दरशाया है कि वेद वेदांत जाननेवालों को वह शास्त्र ज्ञान नहीं रहता जो यत्न करनेवाले वैराग्य शील योगी को होता है। इनको वह स्वरूप कालांतर में प्राप्त होता है। जो वैराग्य शील को तुर्त मिलता है ॥

यह ऊपर कह आये हैं कि हठयोगी आज्ञाचक्र पर्यंत अपने प्राण को चढ़ाता है परंतु जिस उपाय वा क्रम से वह क्रिया होती है सो आगे के दो श्लोकों में कहते हैं ॥

सर्वद्वाराणिसंयम्य मनोहृदिनिरुध्यच ।
मूर्ध्न्याधायात्मनःप्राण-मास्थितोयोगधारणाम् ॥१२
ओमित्येकाक्षरंब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यःप्रयातित्यजन्देहं सयातिपरमांगतिम् ॥ १३ ॥

अर्थ (सर्वद्वाराणि) सब इन्द्रिय द्वारों को (संयम्य) निरोध करके अर्थात् चक्षु आदि के द्वारा बाहरी विषयों को ग्रहण न करके (च) और (मनः) मन को (हृदि) हृदय में (निरुध्य) स्थिर करके अर्थात् बाहरी विषयों का स्मरण भी न करके (मूर्ध्नि) भौंहों के बीच मस्तक में (आत्मनः) अपने (प्राणम्) प्राण को (आधाय) रख कर (योगधारणाम्) योग की धारणा अर्थात् स्थिरता का (आस्थितः) आश्रय करके (ब्रह्म) ब्रह्म वाचक (इति) जो (ओम्) ओंकार (एकाक्षरम्) एक अक्षर है उस को (व्याहरन्) उच्चारण करता हुआ और उस ओम् अक्षर का वाचक (माम्) मुझ (अनुस्मरन्) स्मरण करता हुआ (यः) जो पुरुष (देहम्) देह को (त्यजन्) त्याग करके (प्रयाति) प्रकर्ष करके जाता

है (सः) वह (परमाम्, गतिम्) मेरी श्रेष्ठ गति को (याति) प्राप्त होता है ॥

टीका-इस देह में जो ९ द्वार हैं, "नवद्वारे पुरे" (अध्याय ५ श्लोक १३) उन सब को हठ योगी रोकता है अर्थात् गुदाद्वार में एकपांव की एड़ी अड़ा लेता है, दूसरे पांव से लिङ्ग दबाता है, दोनों हाथों के अंगूठों को कानों में लगाता, दोनों तर्जनी से दोनों आंखों को दबाता है, दोनों बीच की अंगुलियों से दोनों नकुओं को दबाता है वा दोनों ओठों को अनामिका तथा कनिष्ठिका अंगुलियों से दबा लेता है। मन को हृदय में स्थिर कर लेता है, प्राण को आज्ञाचक्र में चढ़ाता है, उस आज्ञाचक्र को भेद करके मस्तक में जो सहस्रदल कमल है उस में प्राण ले जाता है और भगवत् का स्मरण करके तालू में जो सूक्ष्म ब्रह्मरन्ध्र है उस में से प्राण निकाल देता है ॥

ओङ्कारःसर्ववेदान्त–सारस्तत्त्वप्रकाशकः ।
तेनचित्तसमाधानं मुमुक्षूणांप्रकाश्यते ॥

यह एकाक्षर ओम् ब्रह्मवाचक सब वेदों का सार है, उसी प्रकार कृष्ण, अनन्त, नारायण, ये नाम भी वेद में कहे हैं। ओ३म् भी भगवन्त जी का नाम है। वह एक अक्षर है अन्य नामों में अधिक अक्षर हैं । अध्याय १७ श्लोक २३ में ओ३म् को नाम कहेंगे, यहां पर ओंकार से प्राणायाम की भी सूचना की है जो अध्याय ४ में स्पष्ट करचुके हैं ॥

कोई २ ऐसा अर्थ करते हैं कि ओ३म् कहता हुआ प्राण त्यागता है, परन्तु यह चूक है क्योंकि मस्तक में प्राण चढ़ाने पर वाचा बन्द हो जाती है तो फिर उच्चारण कैसे हो सकता है ?। इस से यही कहना ठीक है कि ओ३म् से प्राणायाम की ही सूचना की है ॥

अब आगे फिर उसी पूर्वोक्त बात का स्मरण कराते हैं कि अन्तकाल में धारणा करके नित्य अभ्यास करने से ही मेरी प्राप्ति होती है और उपाय से नहीं ॥

अनन्यचेताःसततं योमांस्मरतिनित्यशः ।
तस्याऽहंसुलभःपार्थ! नित्ययुक्तस्ययोगिनः ॥१४॥

अर्थ—हे (पार्थ) अर्जुन ! (यः) जो मनुष्य (अनन्यचेताः) अन्त कहीं चित्त न चलाकर (सततम्) निरन्तर (नित्यशः) प्रतिदिन (माम्) मुझे (स्मरति) स्मरण करता है (तस्य नित्ययुक्तस्ययोगिनः) उस नित्य युक्त अर्थात् समाहित योगी को (अहम्) मैं (सुलभः) सुलभरीति से प्राप्त हो जाता हूं और किसी को नहीं क्योंकि वह मुझे आठोयाम स्मरण करता रहता है । मैं भी उस को नहीं भूल सकता ॥

टीका—जिस के चित्त को ऐसा बोध हो जाता है कि सब जड़ जगत् आत्मा हो कर ईश्वर ही का रूप है उसी को "अनन्यचेताः" कहते हैं जैसा कि अध्याय ६ श्लोक ३० "यो मां पश्यति सर्वत्र" में कहा है । ऐसा निर्गुण ज्ञानी यदि सगुण श्रीभगवान् जी के चरणों में अनुराग रक्खे तो उसे सहज में भगवत्प्राप्ति होजाती है, और उसको हठयोग की दुःख देने वाली खटपट करनेकी जरूरत नहीं पड़ती, क्योंकि वह नित्ययुक्त नाम सदैव भगवच्चरणों में प्रीति रख कर मुक्ति सुख का अनुभव लेता है । ऐसा ज्ञानी सगुण भक्त जीवते ही मुक्ति सुख भोगता है, परन्तु देह रहे तक बीच २ में उसे प्रारब्धभोग भोगना ही पड़ता है, और प्रारब्ध रूपी देह छूटने पर उसे जन्म मरण का मुख नहीं देखने पड़ता, क्योंकि उसे ईश्वर प्राप्ति सहज में हो जाती है। यही बात आगे कहते हैं अर्थात् ईश्वर प्राप्ति का फल बताते हैं ॥

मामुपेत्यपुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्तिमहात्मानः संसिद्धिंपरमांगताः ॥१५॥

अर्थ—उक्त लक्षणयुक्त (महात्मानः) मेरे भक्त विरक्त महात्मा लोग (माम्) मुझ को (उपेत्य) प्राप्त करके (पुनः)

फिर के (दुःखालयम्) दुःख का घर (अशाश्वतम्) अनित्य और क्षणभंगुर (जन्म) जन्म को (न–आप्नुवन्ति) नहीं पाते, यानी उन का पुनर्जन्म नहीं होता क्योंकि उन्हें (परमां संसिद्धिम्) परम उत्तम सिद्धि जो मोक्ष है उस को (गताः) प्राप्त हो जाते हैं, यानी वे लोग जब मुझे पा लेते हैं तो फिर पुनर्जन्म का दुःख उन्हें कहां से हो सकता है॥

टीका–" माम् उपेत्य " इस में " उप " का अर्थ समीप है, इस शब्द से सगुण मोक्ष का भाव दरशाया है (संसिद्धिं परमाङ्गताः) इस वाक्य से निर्गुण मोक्ष की सूचना की है ये दोनों योगी हठयोगी से श्रेष्ठ हैं, ऐसा तात्पर्य इस श्लोक का है, " माम् " शब्द से भी सगुण भगवान् सिद्ध होता है क्योंकि निर्गुण में समीपत्व वा दूरत्व नहीं हो सकता॥

अब आगे यह निर्धारण करते हैं कि अन्यान्य देवतों की उपासना से सब लोकों में पुनरावृत्ति होती है, और केवल मेरे उपासकों को पुनर्जन्म नहीं होता॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ! ।
मामुपेत्यतुकौन्तेय ! पुनर्जन्मनविद्यते ॥ १६ ॥

अर्थ–हे अर्जुन ! (आब्रह्मभुवनात्) ब्रह्मलोक से लगाकर (लोकाः) सब लोक (पुनरावर्तिनः) पुनर्जन्म देने वाले हैं क्योंकि ब्रह्मलोक भी नाशवान् है अतएव जिन को वह लोक प्राप्त हो जाता है। उन में उस कोटी का ज्ञान उत्पन्न न होने के कारण उन का अवश्य पुनर्जन्म होता है और जो उपरोक्त प्रकार के क्रम से मुक्ति फल पाने के हेतु उपासना करके ब्रह्मलोक प्राप्त करलेते हैं, उन को भी वहां ज्ञान प्राप्त होकर ब्रह्मा के संग मोक्ष मिल जाता है जैसा कि नीचे के श्लोक में कहा है॥

ब्रह्मणासहतेसर्वे संप्राप्तेप्रतिसञ्चरे ।
परस्यानेकृतात्मानः प्रविशन्तिपरंपदम् ॥

(तु) परन्तु हे (कौन्तेय) अर्जुन ! (मामुपेत्य) मुझ को प्राप्त हो जाने पर (पुनर्जन्म न विद्यते) फिर जन्म नहीं होता॥

(नोट) यह बात पहिले भी प्रकट हो चुकी है कि जैसे इस गीता पुस्तक में भगवान् ने अपने असली स्वरूप को दिखाते जताते हुए सब उपदेश किया है। वैसे ही ब्रह्मा, शिव शक्ति आदि पदों से भी शास्त्रों के अनेक स्थलों में असली स्वरूप का विचार किया है वहां भी उसकी प्राप्ति से पुनर्जन्म नहीं हो सकता। यह गीता तत्त्वज्ञान परमार्थ के विचार का पुस्तक है। इसी से संसारी व्यवहार कोटि का विचार इस में नहीं है। कार्यवाचक पदों से असत् कार्य का बोध होना ही संसारी व्यवहार है। और उन्हीं कार्य तरंगादि विकार वाचक पदों से भी मूलतत्त्व का विचार करना ही परमार्थ है। ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि नाम रूपों से भी संसार कोटि में भिन्न भिन्न तथा परमार्थ में एक ही तत्त्व का विचार है॥ (भी०श०)

टीका—सत्यलोकादि सब नश्वर हैं परन्तु वैकुण्ठ नहीं क्योंकि यह श्रीभगवान् जी का ही स्वरूप है, इतर देवता अपने को अपने २ लोकों के धनी मानते हैं अतएव वे लोक नश्वर हैं, परन्तु सगुण श्रीभगवान् जी वैकुण्ठ को अपना ही स्वरूप मानते हैं अतएव वह शाश्वत हैं॥

तपस्विनोदानशीला वीतरागास्तितिक्षवः।
त्रैलोक्यस्योपरिस्थानं लभन्तेशोकवर्जिताः॥

ऐसे २ पुराणों के वाक्यों से यह पाया जाता है कि इन लोकों से महर्लोकादि उत्कृष्ट हैं, और उन में यह भी विशेषता है कि यद्यपि सब के समान वे भी नाशवान् हैं परन्तु औरों की अपेक्षा बहुत काल पर्यन्त स्थित रहते हैं। यही दिखाने के वास्ते आगे कहते हैं कि ब्रह्मा की आयु १०० वर्ष की होती है सो दिन दिन में वह तीनों लोक की उत्पत्ति करता है वा रात २ में प्रलय कर देता है, ब्रह्मा की रात्रि वा दिन का यह प्रमाण है॥

सहस्रयुगपर्यन्त-महर्यद्ब्रह्मणोविदुः।
रात्रिंयुगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदोजनाः ॥१७॥

अर्थ-(सहस्रयुगपर्यन्तम्) एक हजार युगों के बीतने पर (यत्) जो (ब्रह्मणः) ब्रह्मा का (अहः) एक दिन है उसे जो लोग (विदुः) जानते हैं वा (युगसहस्राम्) एक हजार युग में अन्त होने वाली (ताम्)तिस (रात्रिम्) रात को भी जो योग बल से जानते हैं (ते) वे सर्वज्ञ (जनाः) लोग ही (अहोरात्रविदः) दिन वा रात के जानने वाले कहे जाते हैं परन्तु जो अल्पदर्शी केवल सूर्य वा चन्द्र की गति ही के दिन रात को जानते हैं उन को "अहोरात्रविदः" नहीं कहसकते॥

टीका-यहां पर "युग" शब्द से चतुर्युग का आशय है जैसा कि विष्णुपुराण में कहा है कि-"चतुर्युगसहस्रन्तु ब्रह्मणोदिनमुच्यते" महर्लोकादि के निवासियों को भी "ब्रह्मणः" कहा है, यहां पर काल की गणना इस प्रकार है कि मनुष्यों की एक वर्ष-देवतों का एक रातदिन,

ऐसी एकरात दिन
नय पक्ष मासादि } =चतुर्युगम्
की १२००० वर्ष

एक हजार चतुर्युग=ब्रह्मा का एकदिन

उतनी ही रात्रि वा उतने ही रातदिन के पक्षमास सहित जब १०० वर्ष हों वही ब्रह्मा की परम आयु है। जो हठ योगी ब्रह्मरन्ध्र के भेद करके प्राण निकालते हैं, उन को इतनी वा ऐसी १०० वर्षों तक सत्यलोक में वास करने का शुभावसर मिलता है। तब ब्रह्मा जी के साथ उन की मुक्ति होती है। इन हठयोगियों से वे लोग बहुत अच्छे हैं जिन को अध्याय ६ में योगभ्रष्ट कहा है। क्योंकि उन का यदि एकजन्म वृथा गया तो दूसरे जन्म में वे अपना पूर्वाभ्यास चलाकर मुक्ति पा लेते हैं॥

सत्यलोक में सूर्य्यनारायण जी नहीं हैं तो वहां रातदिन कैसे जाने जाते हैं ? सो आगे कहते हैं ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयःसर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमेप्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

अर्थ–(अहरागमे) ब्रह्मा का दिन आरम्भ होने पर स-र्वाःव्यक्तयः) सर्व चराचर भूत (अव्यक्तात्) कारण रूप प्र-कृति से (प्रभवन्ति) उत्पन्न होते हैं क्योंकि कार्य का अव्य-क्तरूप कारण होता है और (रात्र्यागमे) रात्रि के हो जाने पर अर्थात् ब्रह्मा के शयन करने पर सर्व भूत (तत्रैव–अव्य-क्तसंज्ञके) उसी कारण रूप प्रकृति में (प्रलीयन्ते) लय हो जाते हैं अथवा वे प्रसिद्ध " अहोरात्रविदः „ यानी दिवस रात्रि को जाननेवाले लोग जिस को ब्रह्मा का दिन मानते हैं उस दिन का प्रारम्भ होने पर सर्वभूत अव्यक्त से व्यक्त हो जाते हैं। जिस को रात्रि मानते हैं उस के प्रारम्भ होने पर लय को प्राप्त हो जाते हैं ॥

टीका–" प्रकृति „ स्वतः व्यक्तता रहित है और उस से जो भूतों की व्यक्ति होती है उसे सृष्टि कहते हैं। जब ब्रह्मा की रात्रि आती है तब १०० वर्ष तक वर्षा बन्द होजाती है सूर्य का तेज बढकर सब रसों को शोष लेता है। इसी कारण से अन्न नहीं उपजता, तिस से सब प्राणी नष्ट होजाते हैं। तब शेष-नाग के हज़ार फनों से विष की ज्वाला उत्पन्न होकर स्वर्ग तक सब जला देती है। फिर १०० वर्ष तक लगातार हाथी की सूंड़ के बराबर धारा से जल वर्षता है। जिस से समुद्र भी अपनी मर्यादा को छोड़ देता है। तब स्वर्ग मृत्यु और पाताल तीनों लोक जलामय हो जाते हैं। इस प्रकार यह सृष्टि जहां से उत्पन्न होती है उसी में लय होजाती है। फिर ब्रह्मा का दिन प्रारम्भ होता है तब सृष्टि फिर उत्पन्न होती है। उक्त प्रलय काल में प्रकृति भी ब्रह्म में लय होजाती है और सृष्टिकाल में फिर उदय होती है ॥

इस प्रकार सृष्टि और प्रलय बारम्बार होते हैं, वे ही जीव पुनः पुनः जन्मते मरते हैं। अतएव इस के विषय में वैराग्य ही रखना श्रेष्ठ है यह उपदेश आगे करते हैं॥

भूतग्रामःसएवायं भूत्वाभूत्वाप्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशःपार्थ ! प्रभवत्यहरागमे॥१९॥

अर्थ–हे (पार्थ) अर्जुन ! (भूतग्रामः) सब चराचर प्राणियों का समूह जो पहिले था (सएवायम्) वही (अहरागमे) ब्रह्मा के दिन प्रारंभ होने पर (भूत्वा भूत्वा) वारंवार उत्पन्न हो २ कर (रात्र्यागमे) रात्रि आने पर (प्रलीयते) नाश होकर फिर दिन आने पर (अवशः) वे वश या कर्म के वश होकर (प्रभवति) उत्पन्न होता है अर्थात् वही प्राणि समूह उत्पन्न और प्रलय हुआ करता है। दूसरा कोई नया नहीं। परन्तु जीवों का यह चक्र तभी तक चलता है जब तक उनमें ज्ञान उत्पन्न नहीं होता॥

यह सुनकर अर्जुन को यह शंका हुई कि जो ईश्वर ही सर्व विश्वरूप होजाता है तो विश्व के संग उस ईश्वर का भी नाश होना चाहिये। इस शंका के निवारणार्थ अन्तर्यामी श्रीकृष्णचन्द्र जी आगे के दो श्लोकों में यह सिद्ध करते हैं कि सब लोक अनित्य हैं तथा परमेश्वर का स्वरूप नित्य है और वही परात्पर परम गति है॥

परस्तस्मात्तुभावोऽन्यो–ऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यःससर्वेषुभूतेषु नश्यत्सुनविनश्यति॥ २० ॥
अव्यक्तोऽक्षरइत्युक्त–स्तमाहुःपरमांगतिम्।
यंप्राप्यननिवर्त्तन्ते तद्धामपरमंमम॥ २१ ॥

अर्थ–(तु) परंतु जो चराचर का कारण भूत अवयक्त है (तस्माद्अव्यक्तात्) उस अव्यक्त से (परः) परे यानी उन का भी कारण भूत (यः) जो (अन्यः) और दूसरा विलक्षण (अव्यक्तः) अव्यक्त है यानी चक्षु आदि का अगोचर (भावः) भाव (सनातनः) अनादि है (सः) वह (सर्वेषु भूतेषु)

संपूर्ण कार्य कारणरूपी भूतों के (नश्यत्सु) नाश होजाने पर भी (न विनश्यति) नाश नहीं होता है उनके अविनाशी होने का प्रमाण आगे के श्लोक २१ में देते हैं ॥

जो (अव्यक्तः) अव्यक्त अर्थात् अतीन्द्रिय यानी इन्द्रियों से भी परे भाव है और जिसको (अक्षरः) प्रवेश नाश शून्य (इति) ऐसा "अक्षरात् संभवतीह विश्वम्„ इत्यादि श्रुतियों में (उक्तः) कहा है (तम्) उस को (परमां गतिम्) प्राप्त करने योग्य परम पुरुषार्थ (आहुः) कहा है "पुरुषान्नपरं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः" इत्यादि श्रुतयः। उसको परमगति कहने का कारण यह है कि (यम्) जिसको (प्राप्य) पहुंच कर (न निवर्तन्ते) फिर लौटते नहीं हैं (तत्) वह (मम) मेरा (परम धाम) परम स्वरूप है अर्थात् मैं ही परम गति हूं क्योंकि सर्व दुःखों की निवृत्ति और परमानंद की प्राप्ति मुझ से ही होती है यही मुक्ति और यही परम धाम है॥

टीका—पहिले जो अव्यक्त माया तत्व कहा है उस से सनातन अव्यक्ततत्व निराला है, क्योंकि इसमें वह सत्ता है जो माया में नहीं है। माया से सृष्टि उत्पन्न होती है. अतएव माया सृष्टि का कारण और सृष्टि उसका कार्य हुआ, तो जब कारण ही की सत्ता नहीं तो उसके कार्य में कहां से आई ?। माया का कारण ब्रह्म है परन्तु वह माया के प्रवाह में नहीं पड़ता, क्योंकि माया मिथ्या और ब्रह्म सत्य है तो सत्य वस्तु मिथ्या रूप क्यों धारण करेगी ?। इसी कारण से सत्ता मात्र अव्यक्ततत्व अर्थात् चैतन्य सत्ताहीन अव्यक्ततत्व से निराला है परन्तु सत्ता विना सत्ताहीन शून्यवत् है। अतएव विश्व को ब्रह्म की सत्ता का आधार रहता है । नश्वर विश्व का नाश भी हुआ तो भी उसका आधार ब्रह्ममात्र कायम रहता है। सत्ता स्वरूप को भाव कहना चाहिये, तथा सत्ताहीन जो भाग है उसे अभाव कहना चाहिये। "माया„ शब्द का यह अर्थ है कि जो नहीं होने पर भी दीखता है अतएव जो दीखता है। परन्तु विचार करने पर नाहीं सा मालूम पड़-

ता है, उसी का नाम अभाव है। जैसे सुवर्ण में अलंकार दीखता है परंतु विचार दृष्टि से वह सुवर्ण ही है। अतएव अलंकार दीखता है, तद्वत् ब्रह्म की सत्ता यानी भाव है। अतएव माया रूप विश्व दीखता तो है परन्तु वास्तविक में वह ब्रह्म ही है। सुवर्ण का अलंकार मिटादो तो वह सोना ही रह जाता है, उसी प्रकार प्रलय काल में विश्व का नाश हुआ कि बाक़ी केवल ब्रह्म रहजाता है। सोने में जो अलंकार होने की शक्ति रहती है वह अव्यक्त है। उसके योग से जो अलंकार बनते हैं वे नश्वर होते हैं। उसी प्रकार ब्रह्म में विश्व होने की जो शक्ति रहती है वही माया है। उसीके योग से ब्रह्म विश्व बनता है परंतु वह विश्व नाशवान् होता है और ब्रह्म का नाश नहीं होता क्योंकि वह नित्य है। सत्ता है वही भाव है वा जिस की व्यक्ति नहीं वही अव्यक्त है जो व्यक्ति दीखती है वह सब माया है यह विना अव्यक्त तत्व के नहीं ठहर सकी। अतएव इसी अव्यक्ततत्व का जो अक्षर भाव है वही सब व्यक्त हो जाता है। यह भाव उन व्यक्ति की सत्ता मात्र है आकार विकार सब माया के खेल हैं। यह अक्षर भाव मात्र के क्षर भाव से निराला रहता है, इसी कारण विश्व का नाश हो जाता है, इसी अक्षर भाव को परमगति कहते हैं क्योंकि उसको प्राप्त होने पर पुनरावृत्ति नहीं और यही मुक्ति कहाती है। यह मुक्ति चार प्रकार की है १सायुज्य २ सारूप्य ३ सालोक्य ४ सामीप्य। सायुज्य मुक्ति का नाम निर्गुण मोक्ष है। अर्थात् परमगति "तद्धाम परमं मम" अर्थात् सगुण मोक्ष जिस से भगवान् का घर यानी वैकुंठ मिलता है। वैकुंठ कोई घर या गांव नहीं है। वल्कि शुद्ध सत्व स्थिति का नाम है। अतएव जो वैकुंठ है वही भगवान् का स्वरूप है उस स्थिति में प्राप्त हुए कि भगवान् के रूप में समाये। वही सगुण मोक्ष हे। गोलोक, सत्यलोक, वैकुंठ, अयोध्या, वृन्दावन इत्यादि इसी अव्यक्त सच्चिदानंद परमधाम के नाम हैं इस हेतु से ये भी नित्य परात्पर कहे जाते हैं॥

अब आगे यह बताते हैं कि उस परमधाम परम गति के प्राप्त करने का अंतरङ्ग उपाय भक्ति है ॥

पुरुषःसपरःपार्थ ! भक्त्यालभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानिभूतानि येनसर्वमिदंततम् ॥२२॥

अर्थ हे (पार्थ) अर्जुन ! (सः) वह अर्थात् मैं (परः पुरुषः) परम पुरुष यानी पुरुषोत्तम (अनन्यया भक्त्या) एकान्त भक्ति द्वारा ही (लभ्यः) प्राप्त होने के योग्य हूं अन्य प्रकार से नहीं, मेरे परम पुरुष होने का यह कारण है कि (भूतानि) सर्व भूत (यस्य) जिस के (अन्तःस्थानि) बीच में स्थित हैं (येन) जिसके द्वारा (इदं सर्वम्) यह सब जगत् (ततम्) व्याप्त हो रहा है अर्थात् सर्व चराचर जगत् मेरे बीच में स्थित हैं और मैं ही सब में व्याप रहा हूं ऐसा उत्कृष्ट पुरुष जो मैं हूं सो अनन्य शरण होने से ही मिलता हूं किन्तु मेरे मिलने का और कोई उपाय नहीं है ॥

टीका—आत्मा के सिवाय किसी को और कुछ प्यारा नहीं है और वही सर्व सगुण विग्रह है ऐसा ज्ञान दृष्टि से देखकर तथा आत्मस्वरूप को जानकर सगुण का भजन करने से उत्तम पुरुष को वैकुण्ठनाथ की प्राप्ति होती है। इस गीता में भक्ति शब्द सगुणोपासना का सूचक है, और यह भक्ति अनन्य अर्थात् अभेद होनी चाहिये। भेद उपासना वाले तथा कर्मनिष्ठ सदा परतन्त्र रहते हैं, वे स्वर्गादि में जा कर सालोक्य सामीप्यादि भक्ति पा कर फिर जन्म मरण के चक्र में घूमते हैं।

यहां तक यह बताया है कि केवल परमेश्वर के उपासक उस को प्राप्त करके फिर जन्म नहीं लेते तथा अन्य उपासक पुनर्जन्म लेते हैं। अब आगे यह कहते हैं कि कौन मार्ग से जाने वाले फिर जन्म लेते हैं, वा कौन नहीं लेते, हठयोगी को भी यह लागू होता है ॥

यत्रकालेत्वनावृत्ति—मावृत्तिंचैवयोगिनः ।
प्रयातायान्तितंकालं वक्ष्यामिभरतर्षभ ! ॥२३॥

अर्थ-(यत्र काले) जिस काल में (प्रयाताः) जानेवाले (योगिनः) योगी लोग (अनावृत्तिं तु) न लौटने के स्थान को (चैव) और जिस काल में (आवृत्तिम्) लौटने के स्थान को (यान्ति) जाते हैं हे (भरतर्षभ) अर्जुन! (तं कालम्) उस काल को मैं (वक्ष्यामि) तुझ को बताता हूं ॥

टीका-यहां पर "काल" शब्द से कालाभिमानी देवतों को सूचित किया है अर्थात् जिस काल में जो देवता हैं उन के उपासक उन्हीं देवतों के मार्ग से जाते हैं। पहिले कह आये हैं कि हठयोगी अपने प्राण से ब्रह्मरन्ध्र को भेद करके ब्रह्मलोक को जाते हैं ॥

अब यह कहते हैं कि कौन से काल में देह छोड़ने से किस मार्ग से जा कर फिर जन्म नहीं लेते, वा कौन से काल में किस मार्ग से जा कर फिर जन्म लेना पड़ता है। यह काल वा मार्ग परतन्त्र भेद उपासना वालों के वा कर्मनिष्ठा वालों के लिये है, ज्ञानीभक्त तो स्वतन्त्र मुक्ति पाते हैं ॥

अग्निर्ज्योतिरहःशुक्लः षण्मासाउत्तरायणम् ।
तत्रप्रयातागच्छन्ति ब्रह्मब्रह्मविदोजनाः ॥ २४ ॥

अर्थ-" तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति " इस श्रुति में कहे हुए अर्चिरभिमानी देवतों को (अग्निर्ज्योतिः) अग्नि वा ज्योति शब्दों से सूचित किया है, (अहः) दिवस शब्द से दिवसाभिमानी देवता (शुक्लः) शुक्ल से शुक्लपक्षाभिमानी देवता और (षण्मासा-उत्तरायणम्) उत्तरायण सूर्यनारायण जी के छः महीने से उत्तरायणाभिमानी देवतों को सूचित किया है। अन्यान्य श्रुतियों में कहे हुए संवत्सर वा देवलोकादि के देवतों का भी इसी से बोध होता है। इस प्रकार का जो मार्ग है (तत्र) उस में (प्रयाताः गये हुए भगवत् के उपासक लोग (ब्रह्म गच्छन्ति) ब्रह्म को प्राप्त होते हैं क्योंकि (जनाः) वे लोग (ब्रह्मविदः) ब्रह्म को जाननेवाले रहते हैं अर्थात् वे लोग प्रथम अग्नि के देवता के पास पहुंचते हैं फिर ज्योति के देवता के फिर दिन के देवता

के फिर शुक्ल पक्ष के देवतों के पास और वे देवता इन को ब्रह्मलोक में पहुंचा देते हैं ॥

तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति, अर्चिषोऽहरन्हआपूर्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान् षण्मासानुदङ्ङादित्यएतिमासेभ्यो देवलोकम्"इतिश्रुतिः"।

टीका-"उत्तरायण" यह देवतों का दिवस है, अतएव अग्नि, वा ज्योतिका देवता, मूर्त्तिमान् दिवस, शुक्ल पक्ष, छः महिना, उत्तरायण, ये सब देवता उन उपासक को ब्रह्मलोक में पहुंचाते हैं क्योंकि इन छः महिनों में ब्रह्मलोक का मार्ग खुला रहता है। इस मार्ग में रहने वाले देवता प्रकाश रूप होते हैं। इस उत्तरायण मार्ग से गये हुए योगी को क्रम से मुक्ति होती है, अर्थात् ब्रह्मलोक में निवास मिलकर वे ब्रह्म के साथ मुक्त हो जाते हैं। क्योंकि हठयोगी अपक्वज्ञानी होता है परंतु पक्वज्ञानी को शीघ्र ही मुक्ति मिलती है। उसे नाक मुंह दबाने की आवश्यकता नहीं। अब आगे आवृत्ति मार्ग बताते हैं जिसमें पुनर्जन्म होता है ॥

धूमोरात्रिस्तथाकृष्णः षण्मासादक्षिणायनम् ।
तत्रचांद्रमसंज्योति-र्योगीप्राप्यनिवर्तते ॥२५॥

अर्थ-(धूमः) धूमाभिमानी देवता (रात्रिः) रात्र्याभिमानी देवता (तथा) और (कृष्णः) कृष्णपक्षाभिमानी देवता वा (षण्मासा दक्षिणायनम्) दक्षिणायन रूपी छः मास का देवता, इन देवतों के मार्ग में होकर (तत्र) वहां (प्रयाताः) गये हुए (योगी) कर्मयोगी (चांद्रमसं ज्योतिः) चंद्रमा से प्रकाशित जो स्वर्गलोक है उसको (प्राप्य) प्राप्त करके वहांपर चंद्रकलामृत का सेवन करते हुए इच्छानुसार कर्म फल भोग के (निवर्तन्ते) फिर से जन्म लेते हैं ॥

"ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिः रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान् षण्मासान्

दक्षिणादित्यएतिमासेभ्यः पितृलोकं पितृलोका
त् चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति" इत्यादिश्रुतिः॥

टीका-इस श्लोक में भी अपक्वज्ञानी हठयोगी के प्रयाण का वर्णन है। यहां तक यह सिद्ध होगया कि-(१) निवृत्ति कर्म सहित उपासना करने पर क्रम से मुक्ति होती है (२) काम्य कर्म सहित उपासना से स्वर्ग भोगने पर जन्म लेना पड़ता है (३) निषिद्ध कर्म करने से नरक भोगने के उपरांत पुनर्जन्म है (४) क्षुद्र कर्म करने वाले जंतुओं को इसी संसार ही में फिर २ के जन्म लेना पड़ता है॥

आगे उक्तप्रकार के दोनों मार्गों का एकत्र वर्णन करते हैं॥

शुक्लकृष्णेगतीह्येते जगतःशाश्वतेमते।
एकयायात्यनावृत्ति-मन्ययावर्ततेपुनः॥ २६॥

अर्थ-(शुक्ल कृष्णे) प्रकाशमय शुक्लार्चिरादिगति, तथा कृष्ण-तमोमय धूमादि गति (एते हि गती) ये दोनों ही मार्ग ज्ञान और कर्म के अधिकारी (जगतः) जगत् के लोगों के लिये (शाश्वते) अनादि हैं यह (मते) मेरी संमति है, क्योंकि संसार भी अनादि है, उनमें से (एकया) एक के द्वारा अर्थात् शुक्ल मार्ग के जाने से (अनावृत्तिम्) मोक्ष को (याति) प्राप्त होता है तथा (अन्यया) दूसरे अर्थात् कृष्ण मार्ग के जाने से (पुनः) फिर से (आवर्त्तते) जन्म होता है॥

टीका-एक उत्तरायण प्रकाशरूप है, दूसरी दक्षिणायन तमोरूपी गति है, अतएव उत्तरायण काल में प्रयाण करनेवाले फिर जन्म नहीं पाते, तथा दक्षिणायन में प्राण त्यागने वाले फिर जन्म लेते हैं, परन्तु तदनन्तर इन का भी मोक्ष होता है। क्योंकि छठवें अध्याय में कहे हुए योगभ्रष्ट के समान यह दक्षिणायन मार्ग में जाने वाला योगी भी फिर इस जन्म में अपने पूर्वयोग को परिपक्व करके पुनरावृत्ति से मुक्त हो जाता है। अतएव पहिले से कुछ कम यह दूसरा मार्ग भी सम्मत अर्थात् श्रेष्ठ है। यह बात "मते" शब्द से सुझाई है॥

मार्गों के ज्ञान का फल दिखाकर अब आगे भक्तियोग का फल बताते हैं वा अर्जुन को जो दोनों गतियों को सम्मत अर्थात् श्रेष्ठ सुन कर जो मोह उत्पन्न हुआ था उस को दूर करते हैं ॥

नैतेसृतीपार्थ ! जानन् योगीमुह्यतिकश्चन ।
तस्मात्सर्वेषुकालेषु योगयुक्तोभवार्जुन ! ॥२७॥

अर्थ-हे (पार्थ)अर्जुन ! मोक्ष और संसार को प्राप्त कराने वाले(एते) इन दोनों (सृती) मार्गों को (जानन्) जानता हुआ (कश्चन) कोई भी (योगी) योग साधनेवाला (न मुह्यति) मोह को प्राप्त नहीं होता अर्थात् सुख प्राप्त करने के हेतु स्वर्गादि फल की कामना नहीं रखता किन्तु परमेश्वर निष्ठ होजाता है (तस्मात्) तिस कारण से हे (अर्जुन !) तू (सर्वेषु कालेषु) सर्व काल में अर्थात् सदैव (योगयुक्तः) योग में युक्त (भव) हो अर्थात् योग को कभी न छोड़ ॥

टीका—जो लोग परमेश्वर निष्ठ होकर सदैव स्वरूप में चित्त लगाये रहते हैं वे भला क्यों ब्रह्मदेव के रात वा दिन गिनने बैठेंगे ? यहां भगवान् के कहने का भाव यही है कि काम्य कर्म करनेवाले कर्मयोगी जिस गति को पाते हैं उससे इस योगयुक्त की गति बड़ी श्रेष्ठ है। दुष्काल से पीड़ित लोग कांदा भाजी को दौड़ते हैं, परंतु उत्तम भोजन पानेवाला उस तरफ झुकता भी नहीं, उसी प्रकार जिस ज्ञानी योगी को तुर्त मोक्षामृत मिल सकता है, वह उस मोक्ष को प्राप्त करने के हेतु हजारयुगपर्यन्त क्यों ब्रह्मलोक में बैठा रहेगा। अतएव योगी इस गति को नहीं भूलता और इसी कारण भगवान् उस योग में सदैव युक्त रहने का उपदेश करते हैं॥

अब इस अंत के श्लोक में फल सहित उन आठ प्रश्नों के अर्थ का निर्णय करते हैं जिनका वर्णन इस अध्याय में हो चुका है ॥

वेदेषुयज्ञेषुतपस्सुचैव,

दानेषुयत्पुण्यफलंप्रदिष्टम् ।
अत्येतितत्सर्वमिदंविदित्वा,
योगीपरंस्थानमुपैतिचाद्यम् ॥ २८ ॥

अर्थ—(वेदेषु) वेदो में अध्ययनादि से (यज्ञेषु) यज्ञों में अनुष्ठानादि से (तपःसु) तपों में शरीरादि क्षीण करने से (चैव) और (दानेषु) दानों में सत्पात्रादि को देने से (यत्) जो (पुण्यफलम्) उत्तम फल शास्त्रों में (प्रदिष्टम्) वताये हैं (तत्सर्वम्) उन सब को (अत्येति) लांघ कर अर्थात् उन सब से श्रेष्ठ जो योगैश्वर्य का फल है उसी को योगी प्राप्त करता है क्योंकि वह (इदम्) इन आठो प्रश्नों के अर्थ के निर्णय का तत्व (विदित्वा) जान कर और उसी कारण (योगी) योगी ज्ञानी हो कर (परम्) उत्कृष्ट (च) और (आद्यम्) जगत् का मूल भूत (स्थानम्) विष्णु पद को (उपैति) प्राप्त करता है ॥

टीका—" वेदयन्तीति वेदाः " अर्थात् जो किसी बात को जतावे उस का नाम " वेद " है यानी वेदों के द्वारा भेद का निषेध हो कर अद्वैत ब्रह्म जाना जाता है । वेद, यज्ञ, तप, और दान का जो फल होता है उन सब को अतिक्रमण करके अर्थात् लांघ के योगी अपना चित्त ब्रह्ममय कर लेता है । तब ब्रह्मनिष्ठ हो जाने से ईश्वरपदरूपी मोक्ष तुरन्त पाता है । इस योगी की स्थिति वेदों से भी परे होती है, अतएव वह वेदों में कहे हुए सर्वफलों के पार जो श्रेष्ठ फल अर्थात् सद्योमुक्ति है, उसे प्राप्त करता है। "परं स्थानमुपैति चाद्यम्" इन शब्दों से सगुण तथा निर्गुण दोनों मोक्ष वताये हैं ॥ इति॥

यह अष्टमाध्याय की टीका श्रीयुगलचरणारविन्दों के अर्पण है ॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथनवमोऽध्यायः ॥

॥ ओम् नमो भगवते वासुदेवाय ॥

परेशःप्राप्यतेशुद्ध–भक्त्येतिस्थितिमष्टमे ।
नवमेतुतदैश्वर्य–मत्याश्चर्यंप्रपंचयते ॥

सप्तम और अष्टम अध्यायों में भगवान् श्रीकृष्ण जी ने यह उपदेश किया कि–मेरी परमेश्वरता केवल भक्ति के द्वारा सुलभ है और उपाय से नहीं, अब इस अध्याय में अपना अचिंत्य ऐश्वर्य तथा भक्ति का असाधारण प्रभाव वर्णन करते हैं । अष्टम अध्याय में ब्रह्मोपदेश विशेषरूप से किया, व्यतिरेक और अन्वय का भी बोध कराया, तथा यह भी बताया कि इतने ही अनुभव से मुमुक्षु कृतार्थ होजाता है, परंतु अर्जुन तो भक्ति सुख का भूखा था, अतएव अब यह उपदेश करते हैं कि ज्ञानी सगुण भक्त सब से श्रेष्ठ है और उसके विशेष गुणों को भी वर्णन करते हैं ॥

श्रीभगवानुवाच ॥

इदंतुतेगुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानंविज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वामोक्ष्यसेऽशुभात्॥१॥

अर्थ–जिसके द्वारा विशेष ज्ञान हो उसे विज्ञान कहते हैं उस (विज्ञानसहितम्) विज्ञान सहित (ज्ञानम्) अर्थात् उपासना के सहित जो ईश्वर विषय है (इदंतु) यह विशेष करके (अनसूयवे) दोष दृष्टि से रहित (ते) तुझ से (प्रवक्ष्यामि) वर्णन करता हूं क्योंकि तू मुझे परम कारुणिक मानता है । और मुझे यह दोष नहीं देना कि आप बारंबार अपने ही माहात्म्य का उपदेश करते हो यह ज्ञान (गुह्यतमम्) अतिशय गूढ़ है धर्मज्ञान गुह्य है, देहादि से व्यतिरेक आत्मज्ञान उससे भी गुह्यतर है, और इस से भी अधिक गूढ़

रहस्य परमात्मज्ञान है, सोई गुह्यतम ज्ञान श्रीमहाराज अब कहते हैं कि मैं तुझको उपदेश करता हूं (यत्) जिसको (ज्ञात्वा) जान कर तू (अशुभात्) महान् अशुभ संसार के अविद्या वा अधमता से (मोक्ष्यसे) मुक्त हो जावेगा अर्थात् शीघ्र ही मोक्षको प्राप्त होगा ॥

(नोट) अमरकोश में लिखा है कि (मोक्षेधीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानंशिल्पशास्त्रयोः) इस के अनुसार ही ज्ञान विज्ञान का अर्थ यहां भी लेना है। विज्ञान का शिल्पार्थ छोड़ के शास्त्र विषयक विज्ञान लेना चाहिये। नाना प्रकार के नाम रूपों का कर्तव्याकर्तव्य विशेष ज्ञान ही शास्त्रों में विज्ञान है। अवतार, देव, ऋषि, पितर, मनुष्यादि विषयक सभी विचार विज्ञान है। इस सब विज्ञान के सहित ज्ञान यही है कि सभी नाम रूपात्मक सृष्टि में सत-चित-आनन्द रूप वा अस्ति-भाति-प्रिय रूप से एक अविनाशी आत्मतत्त्व का दीख पड़ना, जैसे सभी वस्त्रों में कपास रुई सूत का दीखना ज्ञान और वस्त्रों में भिन्न २ नाम रूप असत् दीख पड़ना विज्ञान सहित ज्ञान कहा जायगा ॥ (भां० श०)

टीका-सातवें अध्याय में ज्ञान और विज्ञान दोनों कह ही चुके हैं, तो अब उसी को दुबारा कहने की क्या आवश्यकता है ?। इस शंका का समाधान ऐसा है कि सातवें अध्याय पर्यन्त अर्जुन को केवल शब्द ज्ञान बताया है। और जब अष्टम अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन ने यह प्रश्न किया था कि "किंतद्ब्रह्म,, तब भगवान् ने उसे अपरोक्ष ज्ञान का उपदेश किया, अब इस अध्याय में इस अपरोक्ष ज्ञान के सहित विज्ञान का उपदेश करने कहते हैं। जिस ज्ञान के द्वारा यह जाना जावे कि सर्व त्रिगुण रचना भगवत्स्वरूप ही है, उसी को विज्ञान कहते हैं, अर्थात् वही विशिष्ट ज्ञान कहाता है। इसी से आत्मा अद्वैत जाना जाता है, अब आगे उस ज्ञान की प्रशंसा करते हैं ॥

राजविद्याराजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमंधर्म्यं सुसुखंकर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

अर्थ-(इदम्) यह ज्ञान (राजविद्या) संपूर्ण अठारह विद्याओं का राजा है (राजगुह्यम्) सर्व गोप्य पदार्थों का राजा अर्थात् सम्पूर्ण विद्याओं में और गोपनीय बातों में अतिश्रेष्ठ रहस्य है। और (उत्तमम्, पवित्रम्) अत्यन्त पवित्र है क्योंकि अनेक जन्मों के पाप तथा अनादि अविद्या का नाश करता है। इस का ज्ञानी लोगों को (प्रत्यक्षावगमम्) स्पष्ट बोध हो सकता, और उन को इस का फल तुरन्त हो दीख पड़ता है। यह ज्ञान (धर्म्यम्) धर्म से विरुद्ध नहीं अर्थात् वेदोक्त सर्व धर्मों का फल देने वाला है वा (कर्तुम्, सुसुखम्) इस का साधन सुख से अर्थात् विना कष्ट के हो सकता है और यह (अव्ययम्) अविनाशी है अर्थात् इस का फल कभी क्षय नहीं होता॥

टीका-निर्गुण अद्वैत जानने को विद्या कहते हैं, उसी का नाम व्यतिरेक भी है, जड़ के बीच में भी चैतन्य को देखना जिसे अन्वय कहते हैं सो भी विद्या है। इस विद्या से अनादि माया नष्ट होती है, यह विद्या सर्व विद्याओं से श्रेष्ठ है। सर्वशास्त्र द्वैत कहते हैं परन्तु वेदान्त शास्त्र अद्वैत कहता है, यही गुह्य है, इस से भी जो गुह्य है, वह राजगुह्य उत्तराद्धं में कहा है, प्रत्यक्ष दीखने वाला जो सर्व स्थावर जङ्गम विश्व है,उसको भगवत्स्वरूप देखने का बोध "अवगम" होना उस को " प्रत्यक्षावगम" कहते हैं। निर्गुणोपासक लोग सर्व त्रिगुणमय प्रपंच में निर्गुण ब्रह्म को देखते हैं, मायाभास को असत्य कहते हैं ऐसा कहने से ही वह भास मिथ्या नहीं हो सकता, क्योंकि वह कभी २ उनकी छाती पर सवार होता ही है। अतएव उस आकारभास को भी भगवत्स्वरूप जानना चाहिये। प्रत्यक्ष की जड़ता इन्द्रियों को जान पड़ती है,

चित्स्वरूप बुद्धि से जाना जाता है, तथापि जो इन्द्रियों को भासता है, उस को जानना भी बुद्धि का काम है। यह इन्द्रिय द्वारा भासमान मायाभास भी भगवत्स्वरूप है, यह बुद्धि से जानने को विज्ञान कहा है। यह मायाभास भगवत्स्वरूप है, इसका स्पष्ट वर्णन अध्याय ७ के टीका में हो चुका है॥

ज्ञान के विना विज्ञान नहीं हो सकता, अतएव विज्ञान के सहित ज्ञान को भगवान् कहते हैं। उसी से अविद्या नाश होती है॥

जड़ भाग का निषेधकरने से केवल निर्गुण ब्रह्म का बोध होता है यह निर्गुण सर्व धर्म रहित है तो उस का ज्ञान भी निर्धर्म होता है। इस ज्ञान में विज्ञान को मिलाने से वह सगुण धर्म्य ज्ञान होता है, माया विना धर्म नहीं, अतएव ईश्वर तथा विश्व सधर्म है, इनके ज्ञान को "धर्म्य ज्ञान" कहा है इसी ज्ञान को अध्याय १२ में "धर्म्यामृत" वाक्य से कहा है, और इसी ज्ञान को विज्ञान सहित जानने वाले को सगुण भक्त कहते हैं। जैसे बीज तथा अंकुर मिलनेसे वृक्ष होता है तैसे ही ब्रह्म और माया के मिलनेसे विश्व होता है, वह भगवत् रूप है। जैसे बीज तथा अंकुर अलहदा २ दीखते हैं, तैसे ही ब्रह्म और माया जुदे २ दीखते हैं। परंतु जैसे बीज और अंकुर की वृक्षरूप में एकता होजाती है, वैसेही ब्रह्म और माया की एकता विश्वरूप में होजाती है। अतएव सर्व विश्व भगवत्स्वरूप है यह सिद्ध हुआ। ऐसा जो भगवद्भक्तिरूप अत्यंत अद्वैत है, उसे "धर्म्य" शब्द से जनाया है। गीता में यही ज्ञान श्रेष्ठ कहा है अतएव अध्याय १८ में यह सब संवाद "धर्म्य संवाद" कहा है देखो अध्याय १८ श्लोक ७० ॥

ज्ञान के समान पवित्र और कुछ नहीं, है यह अध्याय ४ के श्लोक ३८ "नहि ज्ञानेनसदृशं पवित्र०" में कहा है, उससे यह विज्ञान और भी श्रेष्ठ है, अतएव "पवित्र" शब्द में यहां "उत्तम" शब्द और भी जोड़ दिया है॥

अध्याय ६ योग प्रकरण में "मनो निग्रह" अर्जुन को कठिन दीखा तब उसके साधन के उपाय "वैराग्य" तथा "अभ्यास" बताये, परंतु उस योग से यह ज्ञान तो अधिक श्रेष्ठ है, अतएव इसका साधन उन योग के साधनों से और भी कठिन होना चाहिये। परंतु यह शंका श्रीभगवान् जी "सुसुखं कर्तुम्" इस वाक्य से दूर करते हैं अर्थात् यह ज्ञान साधन बड़ा सुलभ है, क्योंकि "सर्वं वासुदेवः" इस भाव को रखने के वास्ते अष्टांग योग की आवश्यकता है बलिक यह सधगया तो "योग" अनायास सधजाता है॥

कोई यह शंका करे कि यह प्रत्यक्ष का ज्ञान है तो "अव्यय" यानी अविनाशी कैसे होसकता है? और वह जो नाश हुआ तो फिर कैसे उत्पन्न हो सकता है? ॥

इस का समाधान ऐसा है कि आज जो मृग तृष्णाका जल दीखता है वह नाहीं सा होकर कल फिर दीखता है। परंतु है वही, थोड़ी देर को नहीं दीखा तो ऐसा नहीं कह सकते कि वह बिलकुल नाश होगया। यही हाल इस ज्ञान का भी समझो देह के साथ उसका नाश नहीं होता। जैसे नाचने वाला लड़का स्त्री का वेष धर कर फिर पुरुष ही होजाता है, तो ऐसा नहीं कह सकते कि वह स्त्री मर गई, वा पुरुष उत्पन्न होगया। उसी प्रकार यह विश्व भगवत् का वेष है, वह वेष न भी रहा तो वेष धरनेवाला तो कायम ही रहता है।

जब यह श्रेष्ठ ज्ञान ऐसी सुलभ रीति से मिल सकता है तो फिर लोग उस का साधन क्यों नहीं करते? संसार समुद्र में क्यों गोता खाते हैं? इस शंका का समाधान आगे करते हैं॥

अश्रद्दधानाःपुरुषा धर्मस्यास्यपरन्तप !।
अप्राप्यमांनिवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

अर्थ--(परन्तप) हे अर्जुन! (अस्य धर्मस्य) इस भक्ति सहित ज्ञानरूपी धर्म के अर्थात् इस धर्म में (अश्रद्दधानाः पुरुषाः) श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष अर्थात जो लोग श्रद्धा पूर्वक

इसको स्वीकार नहीं करते वे मुझको और उपायों से प्राप्त करने का प्रयत्न करने पर भी (माम्) मुझको (अप्राप्य) प्राप्त न करके (मृत्युसंसारवर्त्मनि) इस मृत्यु युक्त संसार के मार्ग में (निवर्तन्ते) लौट आते हैं अर्थात् मुझको न पाकर वे इस मृत्युलोक में भ्रमते फिरते हैं ॥

(नोट) जिस वस्तु वा काम में जिसकी श्रद्धा वा विश्वास नहीं होता उसकी ओर से वह स्वयमेव उदासीन होजाता है यह सार्वत्रिक नियम है। यदि कोई शंका करे और श्रद्धा विश्वास न कर ले कि–मैं अंगरेजी पढ़ के पास होता जाऊंगा, वकालत कर सकूंगा तो अंगरेजी में एम.ए. बि.ए. तक पढ़ने में परिश्रम और खर्च कोई न करे। इस से प्रथम श्रद्धा विश्वास कर लेने पर ही प्रत्येक काम करना बनता है। इस परमार्थ साधक धर्म में श्रद्धा न होने का कारण श्रद्धा के विरोधी काम क्रोध लोभादि का हृदय में दखल होना है॥ (भी० शा०)

टीका–यह ज्ञान प्राप्त करने का मार्ग सुलभ है परन्तु उसमें श्रद्धा न रहने के कारण दुर्लभ होजाता है। भला जो वेद शास्त्र नहीं पढ़े, उनकी तो बात ही क्या है, परंतु वेद शास्त्र सम्पन्न लोग भी यह अव्यभिचारिणी भगवद्भक्ति नहीं करते, अतएव भगवन्त को नहीं पासकते। "राजविद्या,, वा "राजगुह्य ,, ये भगवन्त के स्वरूप हैं, और " प्रत्यक्षावगम,, रूप भी वही है तो इस ज्ञान को पाना वह ही भगवन्त का पाना है; जो लोग इस भागवत धर्म को जानते ही नहीं, उनको " अश्रद्दधान ,, नहीं कह सकते परंतु जो इसको जान कर भी उसमें श्रद्धा नहीं करते वे ही मृत्यु व्याप्त संसार मार्ग में लौटते हैं। सर्व स्थावर जंगम सृष्टि भगवत्स्वरूप ही है ऐसा " अवगम अर्थात् ज्ञान हो गया तो यह स्थावर जङ्गम ही प्रत्यक्ष मृत्यु संसार मार्ग हो गया, ऐसा जान पड़ता है तो फिर ये लोग मृत्युसंसार मार्ग में कैसे आ पड़ते हैं ?। वे संसार मार्ग में तो रहते ही हैं, इस का समाधान "अश्रद्दधान "

वाक्य से होता है। जैसे अमृत से भरे घर में लोग दरवाज़े तक ही जा कर संशय करने लगें कि इस के भीतर अमृत होगा या नहीं? और वहां से लौट आवें, इसीप्रकार वेदशास्त्रों में कहे हुए ज्ञान को जानने पर भी जो लोग यह शंका करते हैं कि उस से फायदा होगा या नहीं। और इसी कारण उस के आचरण नहीं करते वे मोक्ष मार्ग में न जा कर उस ओर से ही लौट आते, तथा काम्य कर्म करने लगते हैं। और अन्य देवतों को भजने लगते हैं॥

सर्व विहित निष्काम कर्मों का श्रीविष्णु जी के समर्पण कर देने को ही भागवद्धर्म कहते हैं, ऐसा अध्याय ४ में कह आये हैं। इस भागवत धर्म के आचरण किये विना ज्ञानप्राप्त नहीं होता, "धर्म" शब्द का अर्थ यहां पर भागवतधर्म ही है। इस प्रकार ज्ञान की स्तुति करके अब आगे के दो श्लोकों में विज्ञान सहित उसी ज्ञान का वर्णन करते हैं॥

मयाततमिदंसर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।
मत्स्थानिसर्वभूतानि नचाऽहंतेष्ववस्थितः॥४॥
नचमत्स्थानिभूतानि पश्यमेयोगमैश्वरम्।
भूतभृन्नचभूतस्थो ममात्माभूतभावनः॥५॥

अर्थ-(अव्यक्तमूर्त्तिना मया) मेरा जो अतीन्द्रिय स्वरूप है उस के द्वारा मैं सब का कारणभूत हो कर (सर्वं, इदं जगत) इस सर्व जगत् में (ततम्) व्याप्त हो रहा हूं। श्रुति का भी वाक्य है कि "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" अत एव (सर्वभूतानि) सर्व चराचर भूत (मत्स्थानि) मुझ कारण रूप में स्थित अर्थात् कल्पित हैं (च) परन्तु (तेषु) उन में (अहम्) मैं (अवस्थितः, न) स्थित नहीं हूं अर्थात् मैं असङ्ग हूं। मेरा किसी के साथ संबन्ध नहीं है। जैसे मिट्टी घटादि का कारण होकर अपने कार्य घटादि में व्याप्त रहती है वैसे ही

सब चराचरों का कारण होने पर भी उनसे आकाश के समान अलहदा रहता हूं। ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसमें मेरी सत्ता चैतन्यता और आनन्दता नहीं होती ॥ ४ ॥ (भूतानि) सर्व चराचर भूत (न च मत्स्थानि) मुझ में स्थित नहीं है, यह असंगत दीखता है क्योंकि पहले कह दिया है कि मैं सब में व्याप्त हूं, और सबका आश्रय हूं, इस विरुद्धता को मिटाने के वास्ते कहते हैं कि हे अर्जुन ! (मे) मेरी (ऐश्वरम्) असाधारण (योगम्) अचिंत्य शक्ति वा युक्ति को तो (पश्य) देख अर्थात यह मेरी अघटन घटना चातुर्य है। यदि तू मेरी योग माया के प्रभाव को ठीक२ समझे तो कोई विरुद्धता नहीं दीखेगी। और आश्रय को तो देख कि यद्यपि मैं (भूतभृत्) सर्व भूतों को धारण करनेवाला हूं (भूतभावनः) भूतों का पालन करनेवाला हूं तथापि (ममात्मा) मेरा परम स्वरूप (भूतस्थः च न) भूतों में स्थित नहीं होता अर्थात् जिस प्रकार इस देह को धारण पालन करके यह जीव अहंकार वश उसी में लिप्त रहता है उस प्रकार सर्वभूतों को धारण वा पालन करके मैं उनमें स्थित नाम लिप्त नहीं रहता, क्योंकि मुझे वैसा अहंकार नहीं, मेरी कल्पना ही से चराचर भूत उत्पन्न होते हैं। कर्त्ता कर्म तथा अधिकरण ये सब अविद्या ही हैं। जैसा कि इस श्लोक में कहा है " अविद्याया अविद्यात्वमिदमेवहि लक्षणम् ,, ॥

टीका-भगवन्त की अव्यक्त मूर्त्ति चित्स्वरूप है। और उसी से सब जगत् व्याप्त है इसी को पूर्वाध्याय में अपरोक्ष ब्रह्म कहा है। अध्याय ४ के श्लोक ३४, ३५ में भगवान् ने जो कहा है कि संतों से ज्ञान पाकर सर्व भूतों को भगवत्स्वरूप में और अपने बीच में भी तू देखेगा। उसी को अब यहां पर अर्जुन को प्रत्यक्ष करके दिखाते हैं। भगवान् ने यह कहा है कि मेरी अव्यक्त मूर्ति से यह जगत् व्याप्त होरहा है। इसके कहने का हेतु

यह है कि अगर "मैं व्याप रहा हूं„ ऐसा कहते तो अर्जुन भगवन्त की चतुर्भुज मूर्ति देखने की खोज करता और यदि केवल इतना ही कहते कि चित्स्वरूप से व्याप रहा है तो भगवान् गोपाल कृष्ण की और अर्जुन की एकता न पाई जाती। अतएव ऐसा कह दिया है कि मेरी जो अव्यक्त मूर्ति चित्स्वरूप है, उससे यह जगत् व्याप्त हो रहा है। वह तू देख अर्थात् जिस चित्स्वरूप से जगत् व्याप रहा है उसकी मूर्ति भगवंत बने हैं। यह सुनकर अर्जुन भगवान् की व्यापकता देखने लगा, तो उसे सर्व चराचर आत्मस्वरूप दीखने लगा, परंतु भगवन्त की अनन्तता पर उसका लक्ष्य नहीं गया, तब भगवान् बोले कि "मत्स्थानिसर्वभूतानि„ अर्थात् सर्व भूत मुझ में हैं॥

यह सुनकर अर्जुन को जान पड़ा कि जहां २ मन दौड़ता है उसी के परे चित्स्वरूप है ही, क्योंकि जो देखा वा सुना होगा उसके परे मन कैसे जासक्ता है? इस से यह सिद्ध किया है कि भगवन्त अनंत हैं। परंतु जैसे आकाश में सर्वभूत हैं, उसी प्रकार अपने स्वरूप में भी भूत होंगे। इस द्वैत भाव को मिटाने के वास्ते भगवान् फिर बोले कि "नचाहंतेष्ववस्थितः„ अर्थात् मैं उन भूतों में नहीं रहता, ये दोनों वाक्य एक दूसरे के विरुद्ध जान पड़ते हैं। इसी कारण फिर दूसरे श्लोक में भगवान् ने कह दिया है, कि "नच मत्स्थानि भूतानि„ अर्थात् भूत मुझ में नहीं हैं। यह तीसरी विरुद्धता हुई, इन तीनों विरोधों के परिहार के लिये वामन पंडित ने ऐसा अर्थ किया है कि जैसे समुद्र में तरंगें उठतीं हैं उसी प्रकार भगवत्स्वरूप में सर्व भूत वास करते हैं, परंतु तरंगों के उत्पन्न वा नष्ट होने के आकार में समुद्र नहीं रहता, क्योंकि समुद्र में पानी के सिवाय और कुछ नहीं है। आकार रूप से तरंगों का जो केवल भास मात्र होता है, उसे असल में नाहीं सा कहना चाहिये, अतएव जैसे समुद्र में तरंगें होतीं हैं, परंतु त-

रंगों में समुद्र नहीं रहता, उसी प्रकार भगवान् में भूत हैं, परंतु भूतों में भगवान् नहीं, क्योंकि वास्तविक में भूत हैं ही नहीं ॥

अब जो ऐसा ही कहा जावे कि भूत हैं ही नहीं तो "मुझ में भूत हैं„ इस वाक्य में विरोध पड़ता है अतएव वैसा कहकर श्रीमहाराज ने फिर यह कह दिया कि "न च मत्स्थानि भूतानि„ अर्थात् मुझ में भूत नहीं हैं । अब श्रीभगवान् जी ने प्रथम यह कहा है कि मुझ में भूत हैं परन्तु मैं उन में नहीं हूं, पीछे कहा कि वे मुझ में नहीं हैं, इस का क्या कारण है? यह उपदेश श्रीभगवान् गोपाल कृष्ण जी अर्जुन को कर रहे हैं। ज्ञान होने के पहिले अर्जुन को यह प्रतीति थी कि सब भूत सचमुच हैं और उसी प्रतीति के अनुसार श्रीभवान् जी बोले कि " भूत मुझ में हैं " फिर पीछे जो कहा है कि " भूतों में मैं नहीं हूं " यह स्वतः अपनी प्रतीति पर से कहा है इस पर से अर्जुन को यह विश्वास हो गया कि सब भूत मिथ्या हैं। उस को यह प्रतीति हो जाने पर श्रीभगवान् जी फिर बोले कि " नचमत्स्थानि भूतानि " अर्थात् भूत न होकर भी जो सब दीखता है, वह मेरा ही स्वरूप है । इस से अर्जुन को स्वतः अपनी प्रतीति दिखाई है जैसे एक मनुष्य रस्सी को रस्सी ही जानता है, दूसरे को वही रस्सी सर्पाकार दीखती है, तब पहिला मनुष्य दूसरे को बताता है कि वह सर्प नहीं है, बल्कि केवल रस्सी ही है, तुम्हें झूंठा सर्प का भास होता है। तब उस दूसरे मनुष्य को विश्वास होजाता है कि रस्सी में सचमुच सर्प नहीं है, बल्कि वह केवल रस्सी ही है। इस दृष्टान्त के अनुसार ही श्रीभगवान् ने अर्जुन को बोध कराया है " पश्य " शब्द का अर्थ देखना है, यह देखने का काम बुद्धि का है, यह जड़ जगत् मिथ्या है, ऐसा निश्चय बुद्धि को हो भी जाय, तो भी जबतक शरीर है तबतक इन्द्रियों के द्वारा बुद्धि को जड़ों का भास होवेहीगा। यह जड़ जगत् का पसारा जीन

सी दृष्टि से देखना चाहिये, यह " पश्यमेयोगमैश्वरम् " इस वाक्य से सुझाया है अर्थात् श्रीभगवान् जी कहते हैं कि जो वास्तविक में नहीं है, परन्तु जुदे २ विचित्र रूप दीखते हैं, यह जो अघटित घटना है, वही मेरा ऐश्वरयोग है, सो देख। जो दीखता है, वह सर्व चित्स्वरूप ही है। परन्तु उस में जड़रूप का भास होता है, यह भगवत्सामर्थ्य का ही प्रताप है। यह सामर्थ्य भगवन्त जी का ऐश्वर्य है, इसी भगवत्स्वरूप का वर्णन पुरुष सूक्त के " सहस्रशीर्षापुरुषः० " इस मन्त्र में किया है, यह अघटित घटना योग ही भगवन्त है, वा यह योग ईश्वर का रूप होने के कारण उस को " ऐश्वरयोग " कहते हैं तो "पश्यमेयोगमैश्वरम्" इस वाक्य से यह बताया है कि जो दीखता है वह सब श्रीभगवान् जी का रूप ही है, ऐसा देख सर्व चराचर भगवन्त जी का योग अर्थात् युक्ति चातुर्य है, और अवताररूप भी वही है, इस योग को ईश्वररूप से अर्थात् विश्वरूप से देखने को कहा है ॥

(नोट)—कमल का पत्ता जल में है और जल भी उस के सब ओर है, पर जैसे वस्त्रादि जल में भींग जाते अर्थात वस्त्रादि में जल लग जाता है वैसे वह नहीं भींगता जल उस में नहीं लगता। इसी के अनुसार श्रीभगवान् सब माया प्रपञ्च में हैं और श्रीभगवान् जी में सब माया प्रपञ्च है, पर वह माया प्रपञ्च से कदापि लिप्त नहीं होते। अथवा यों कहो कि शुद्ध निर्मल श्वेतस्फटिक मणि में जपा पुष्पादि की लाली ज्यों की त्यों दीखती है। इस से स्फटिक मणि में लाली होना व्यावहारिक विचार से कहा माना तो जायगा। परन्तु परमार्थ विचार से मणि में लालरंग नहीं है। वैसे ही श्रीभगवान् जी स्फटिक मणि के तुल्य शुद्ध निर्लेप हैं उन में सब प्रपञ्च स्पष्टतया दीखता है, परन्तु वे सब से पृथक् निर्लेप हैं और उन से सब प्रपञ्च अलग हैं। यही आशय ४।५ श्लोकों से दिखाया है ॥ (भां० भू०)

अध्याय ११ के श्लोक ८ में कहेंगे कि इस "योग ऐश्वर" काही नाम "विश्वरूप है" ॥

"व्यतिरेक" से आत्मा समझने पर "अन्वय" से यह ज्ञान होता है कि सब ब्रह्म ही है, उसके पीछे भक्त लोग "माया" को जड़ का भास न कहकर उसे भी भगवत् रूप देखते हैं, इसी का नाम विज्ञान है, इस विज्ञान से बुद्धि को जड़ जगत् में चिदात्मा का अनुभव होता है। इन्द्रियां भी उसे भगवत्‌रूप में देखतीं हैं, और जहां तहां भगवंत हीका अनुभव निर्गुण रूप से होता है ॥

अब यह सिद्ध हो गया कि चित्स्वरूप में ही भूतों का वास है परन्तु भूतों में वह नहीं क्योंकि भूत मिथ्या और माया मात्र हैं। यह माया भगवंत की कल्पना है, भगवंत की जो बुद्धि अर्थात् "चित् शक्ति" है वही कल्पना शक्ति है, इसी से भूतों की भावना होती है, अतएव उपरोक्त "योग ऐश्वर" भी भगवंत की कल्पना हुई ॥

इस उपदेश से अर्जुन को जिधर तिधर भगवत्स्वरूप ही दीखने लगा, वह उसी आनंद में निमग्न होकर शंका करने लगा कि जो देखा सुना होगा उस में से जिसका स्मरण होगा उतना ही भगवद्भाव प्रतीत होगा, परंतु भगवान् ने तो यह कहा है कि सर्व चराचर में अपनी और भगवंत की एकता देखो, विश्वतो अपरिमित है, भला श्रीभगवान् जी के उपदेश का कैसे आचरण कर सक्ता हूं? इस शंका का परिहार आगे के श्लोक में करते हैं वा ऊपर के दो श्लोकों में जो कहा है उसको दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं ॥

यथाकाशस्थितोनित्यं वायुःसर्वत्रगोमहान् ।
तथासर्वाणिभूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

अर्थ-(यथा) जैसे (सर्वत्रगः) सब ठौर व्यापने वाला तथा (महान्) बड़ा (वायुः) पवन (नित्यम्) सदैव (आ-

काशस्थितः) आकाश में स्थित रहता है परन्तु अवयव हीन होने के कारण उस आकाश में मिल नहीं सकता (तथा) उसी प्रकार (सर्वाणि भूतानि) सर्व चराचर भूत (मत्स्थानि) मुझ में स्थित हैं (इति) ऐसा (उपधारय) तू जान ॥

टीका–आकाश में वायु सदैव वा सब ठौर रहता है परंतु स्थिर रहा तो जान नहीं पड़ता और चंचल हुआ तो स्पर्श में आता है, बंद मकान में वायु का स्पर्श न होने के कारण वह जान नहीं पड़ता परंतु पंखा चलाने से वहां भी मालूम पड़ता है क्योंकि वह शून्य आकाश में सदा बना रहता है। वैसे ही यद्यपि सर्व भूत हमेशा दीखने में नहीं आते तथापि जिस प्रकार स्थिर वायु आकाश में वर्तमान होने पर भी जाना नहीं जाता, उसी प्रकार सर्व भूत प्रगट में न दीखने पर भी भगवत्स्वरूप में वर्तमान ही रहते हैं, ऐसा जानना चाहिये। जिस २ ठौर में बुद्धि वा इन्द्रियां जा सकतीं हैं उतना भर आत्मबोध होता है, परंतु सिद्धांत देखने वाले को यह देखना चाहिये कि उन के सिवाय और जो भूत हैं, वे भी आत्मा में स्थित हैं। अपने समीप चांवल से भरे हुए बर्तन मौजूद होने पर भी अपन एक ही शीत के देखने से सब भात का चुड़ना जान लेते हैं। और सब भात को नहीं देखते, उसी प्रकार सिद्धान्त दृष्टि से सर्व ब्रह्मांड का भी अनुभव हो जाना कठिन नहीं है ॥

यहां तक यह बताया है कि योग माया के द्वारा सृष्टि उत्पन्न होती है, तथा भगवत्स्वरूप में पहुंच जाने से पुनरावृत्ति नहीं होती, अब आगे यह कहते हैं कि उसी योग माया से प्रलय काल में सर्व चराचर संसार नाश होकर ब्रह्मा में लीन हो जाते हैं। फिर पुनरावृत्ति होती है, और भगवान् सृष्टि काल और स्थितिकाल तथा प्रलयकाल में असङ्ग रहते हैं ॥

सर्वभूतानिकौन्तेय ! प्रकृतिंयान्तिमामिकाम् ।
कल्पक्षयेपुनस्तानि कल्पादौविसृजाम्यहम् ॥७॥

अर्थ–(कौन्तेय) हे अर्जुन! (कल्पक्षये) प्रलय काल में (सर्वभूतानि) सब चराचर भूत (मामिकाम्) मेरी (प्रकृतिम्) प्रकृति को (यान्ति) प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् मेरी त्रिगुणात्मक माया में लीन हो जाते हैं (पुनः) फिर (कल्पादौ) सृष्टि काल में (तानि) उन सब को (अहम्) मैं (विसृजामि) विशेष करके उत्पन्न करता हूं अर्थात माया वा उनका कार्य और जीव रूप पराप्रकृति ये सब परतंत्र होकर ईश्वर के अधीन हैं अतएव ईश्वर ही का आराधन उचित है॥

टीका–यहां यह बताया कि सर्व भूत प्रकृति में मिल जाते हैं तो यही सिद्ध हुआ, कि ब्रह्म में लीन नहीं होते जीवों का अज्ञान नाश हुआ कि वे ब्रह्म में मिल जाते हैं और उन को पुनरावृत्ति नहीं होती, क्योंकि जिस ने आत्मा पहिचान लिया अथवा जड़ भाग को मिथ्या समझ लिया उस को प्रलयकाल का स्पर्श नहीं होता अतएव वे सृष्टिकाल में उपजते भी नहीं, परन्तु जिनका अज्ञान बना रहा वही प्रलय काल में ब्रह्म में मिलते हैं, और ब्रह्म प्रकृति में लीन होता है। फिर सृष्टि काल में प्रकृति उत्पन्न होती है उसी के साथ सब चराचर उपजते हैं॥

जीव की उपाधि बुद्धि है वह बुद्धि ब्रह्ममय होजाने पर उपाधि का नाश होजाता है अतएव जीव भाव नाहीं सा होजाता है अर्थात् "चिदंशप्रतिबिंब,, चैतन्य बिंब में मिल जाता है तो फिर उत्पत्ति किस की होगी ?॥

प्रकृति ब्रह्म की उपाधि है और उसी से सब उत्पत्ति होती है अतएव जिसकी बुद्धिरूप उपाधि कायम रहती है उसीका जीव भाव रहता है और वही प्रलय काल में प्रकृति में लीन होता है वा सृष्टि काल में प्रकृति के साथ उत्पन्न होता है॥

प्रकृति सृष्टि का बीज है और बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है। यदि वृक्ष तोड़ डालो और बीज बना रहे तो उस से फिर वृक्ष

उत्पन्न होजाता है उसी प्रकार भूतों का देह यदि नष्ट भी होगया तो भी बुद्धि रूप उपाधि कायम रहते तक वे देह फिर फिर उत्पन्न होते ही हैं, परंतु जिन की उपाधि नष्ट होगई वे भूत भी न रहे अतएव उनकी पुनरावृत्ति नहीं ॥

भगवान् ने कहा है कि प्रलय काल में सर्व भूत प्रकृति में लीन हो जाते हैं और सृष्टि काल में उन्हें मैं उत्पन्न करता हूं इसमें गूढ़ भाव है, ईश्वर की सत्ता बिना प्रकृति कुछ नहीं कर सकती क्योंकि वह सत्ता हीन है और जो कार्य वह करती है वह ईश्वरीय सत्ता से होता है अतएव भगवान् ने कहा है कि मैं उत्पन्न करता हूं यही बात आगे स्पष्ट करते हैं तथा बताते हैं कि यद्यपि मैं संग रहित निर्विकार हूं तथापि प्रकृति का अधिष्ठाता होकर मैं ही उत्पन्न करता हूं ॥

प्रकृतिंस्वामवष्टभ्य विसृजामिपुनःपुनः ।
भूतग्राममिमंकृत्स्न-मवशंप्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अर्थ-(स्वाम्) अपने अधीन की (प्रकृतिम्) प्रकृति का (अवष्टभ्य) अधिष्ठाता होकर यानी माया के साथ संबन्ध करके मैं प्रलय में लीन हुए चार प्रकार के (इमम्) ये (कृत्स्नम्) सब (भूतग्रामम्) भूत समूहों को जो (अवशम्) अपने कर्मों के वश हो रहे हैं (पुनः पुनः) फिर फिर के (विसृजामि) विशेष प्रकार अपनी सत्ता से उत्पन्न करता हूं और यह उत्पत्ति उनके (प्रकृतेर्वशात्) प्राचीन कर्मों के निमित्त वा स्वभावों के अनुसार होती है ॥

टीका-जिसप्रकार रस्सी का अधिष्ठाता भ्रम का सर्प होता है उसी प्रकार यह मिथ्या जगत् उत्पन्न होता है यह प्रकृति का कार्य है प्रलय काल के अंत में भगवंत योगनिद्रा में रहते हैं तब प्रकृति उन में लीन रहती है। जैसे प्रतिदिन मृगजल सूर्य किरणों से उत्पन्न होता है तैसे यह प्रकृति सृष्टि काल में आपोआप ब्रह्मासे उत्पन्न होती है। प्रकृति और पुरुष निराले न-

ही हैं सृष्टि काल में पहिले माया उत्पन्न होती है, और उसके यो-ग से निर्गुण ब्रह्म सगुण बनता है, इस सगुण भगवंत में द्रष्टा कार धर्म होता है और उसे सृष्टि रचने की इच्छा होती है तब वह प्रकृति में अपनी सत्ता जोडकर सृष्टि उत्पन्न करता है और अपन द्रष्टा बनकर बैठता है ॥

प्रकृति के साथ भूत क्यों उत्पन्न होते हैं इसका समाधान चौथे चरण में किया है कि भूत स्वतंत्र न होकर अपने कर्मों से बद्ध रहते हैं और प्रकृति में लीन रहने के कारण उसी के अधीन होते हैं और उसी के साथ उत्पन्न होते हैं ॥

यहां अर्जुन को यह शंका हुई कि जब आप चित्स्वरूप होकर इस प्रकार नाना तरह के यानी संसार रचना पालना इत्यादि कर्म करते हो तो चिदंश जीव के समान आप भी बद्ध क्यों नहीं होते इसका निवारण आगे करते हैं ॥

नचमांतानिकर्माणि निवध्नन्तिधनंजय!।
उदासीनवदासीन-मसक्तंतेषुकर्मसु ॥ ९ ॥

अर्थ हे (धनजंय) अर्जुन ! (तानि कर्माणि) वे विश्व की रचना आदि कर्म (माम्) मुझको (नच निवध्नन्ति) कुछ भी बंधन नहीं होते क्योंकि कर्म में आसक्ति ही बंधका हेतु है और मैं आप्तकाम होने के कारण मेरी कर्ममें आसक्ति नहीं है अतएव (तेषु कर्मसु) उन कर्मों में (असक्तम्) आसक्त न होकर (उदासीनवत्) मैं उदासीन के समान (आसीनम्) बैठा रहता हूं और उसी कारण कर्म के बंधन में नही पड़ता मैं अपने कोउनका कर्ताही नहीं समझता ॥

टीका-ईश्वर अपनी सत्तासे सब कर्मों का कर्ता बनता सही है परंतु उनमें आसक्ति न रखकर उदासीन रहता है अतएव नित्य मुक्त है, बंध और मोक्ष उपाधि से होते हैं और बुद्धि जीव की उपाधि है वह अपने ऊपर कर्त्ता का अभिमान लेती है अतएव जीव बद्ध होता है। अज्ञान के कारण मन वासना

युक्त होता है इसी हेतु विषय चिन्तन के सिवाय और कोई कर्म उस से नहीं होते ॥

वैराग्य बिना उदासीनता नहीं आती और जब जीव विषयासक्त हुए तो उन में वैराग्य कहां? इसी से वे बन्धन में रहते हैं (बडिश) बंशी में लगे हुए मांस के टुकड़े की आशा से मछली उसे निगलती है और बन्धन में पड़ जाती है इसी प्रकार यह जीव कर्मफल की आशा में हो कर उस फल से निलने वाले सुख की अपेक्षा सैकड़ों दुःख भोगता है ॥

श्रीभगवान् जी के अङ्ग में छः गुण हैं १ ऐश्वर्य २ श्री ३ यश ४ धर्म ५ ज्ञान ६ वैराग्य इन में केवल एक वैराग्य के प्रभाव से वह कर्मबन्धन से मुक्त रहता है अतएव इस वैराग्य की प्राप्ति के हेतु जीवों को ईश्वर की शरण जा कर उस का अखण्ड चिन्तवन करना चाहिये ॥

जगत् का उपादान कारण निर्गुण ब्रह्म है परन्तु वह निर्धर्म है अतएव जिस भगवन्त जी के अङ्ग में वैराग्य इत्यादि धर्म हैं उस को जगत का उपादान कारण कैसे कह सकते हैं? इस शङ्का का समाधान आगे के श्लोक में किया है ॥

मयाध्यक्षेणप्रकृतिः सूयतेसचराचरम् ।
हेतुनाऽनेनकौन्तेय ! जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

अर्थ–हे (कौन्तेय) अर्जुन ! (मयाध्यक्षेण) मुझ को अधिष्ठाता बनाकर यानी निमित्त कारण मान कर (प्रकृतिः) मेरी प्रकृति (सचराचरम्) सर्व चराचर विश्व को (सूयते) उत्पन्न करती है और इस मेरे ही अधिष्ठाता होने के (अनेन हेतुना) कारण से ही यह (जगत्) सब संसार (विपरिवर्त्तते) फिर २ से उत्पन्न होता है अर्थात् प्रकृति मेरे समीप ही रहती और मेरी अचिन्त्य शक्ति है इसी कारण में उस का निमित्त कारण और अधिष्ठाता हो कर उस के निमित्त कर्म करता हूं तथा उदासीन भी बना रहता हूं ॥

टीका–यह सत्य है कि पुत्र माता से उत्पन्न होता है परन्तु उस के उत्पत्ति का कारण भूत उस स्त्री का पुरुष होता है, विना स्त्री करने से पुरुष को पति यानी खाविन्द संज्ञा नहीं मिलती, उसी प्रकार पति बनाये विना स्त्री को भी पत्नी संज्ञा नहीं मिल सकती। इस से यह सिद्ध हुआ कि पुरुष को पतिभाव स्त्री करने से ही मिलता है, उसी प्रकार ईश्वर का ईश्वरत्व प्रकृति के ही कारण होता है और उसी ईश्वरत्व के द्वारा प्रकृति सचराचर को उत्पन्न करती है॥

ब्रह्म माया के योग से ईश्वर होता है और वह ईश्वर उसी माया के योग से प्रकृति को प्रवृत्त करता है, इस के कहने से यह भास होता है कि माया और प्रकृति जुदे २ पदार्थ हैं, परन्तु यह बात नहीं है क्योंकि माया और प्रकृति एक ही वस्तु हैं, माया को दूसरी स्थिति प्राप्त हुई कि उस का नाम प्रकृति हो जाता है, माया प्रथम शुद्ध रूपिणी रहती है परन्तु जब उस से त्रिगुण की उत्पत्ति हो जाती है। तो उन त्रिगुणों के सहित उस का नाम प्रकृति हो जाता है। जैसे अपने लड़की उत्पन्न हुई तो उस का नाम गङ्गा अथवा यमुना रखते हैं, परन्तु जब उस का विवाह कर देते हैं तब उस के पति के यहां उस का दूसरा नाम इन्द्राणी अथवा महारानी हो जाता है, तो यमुना तथा महारानी कोई दूसरी लड़की न हुई। वलिक उसी एक की स्थिति बदल जाने से दो नाम हो गये, इसीप्रकार माया गुणवती हुई कि उस की स्थिति उस पर कहना चाहिये, और उस ने पुरुष को पति बना लिया कि वही प्रकृति कहाने लगी। फिर उस पुरुष की सत्ता से वह प्रकृति चराचर उत्पन्न करने लगती है। यहां तक यह सिद्ध हो गया कि ईश्वर माया के योग से प्रकृति को प्रवृत्त करता है। परन्तु यह शङ्का रही कि उस के योग से उसी को कैसे प्रवृत्त करता है? इस का समाधान ऐसा है कि जैसे राजा प्रजा से

कर ले कर उसी धन से प्रजा का कारभार चलाता है, उसीप्रकार ईश्वर माया से उत्पन्न हुए त्रिगुणों के द्वारा उसी माया को जगत् उत्पन्न करने में लगाता है। अर्थात् जैसे धन प्रजा का है परन्तु सत्ता राजा की होती है और उसी सत्ता से प्रजा में के ही अधिकारी उस धन की व्यवस्था करते हैं। तद्वत् सत्ता ईश्वर की और कर्म चलाना प्रकृति का है, इसी सत्ता से अर्थात् ईश्वर के चालक तथा अध्यक्ष होने से प्रकृति चराचर को उत्पन्न करती है ॥

जगत् का कारण निर्गुण ब्रह्म ही है परन्तु जब वह ब्रह्म ऐसा कहता है कि मैं ब्रह्म हूं तब वही सगुण ब्रह्म ईश्वर हो जाता है, और जब ब्रह्म ऐसा कहता है कि मैं माया हूं तब वही प्रकृति कहाती है, अर्थात् माया का अधिपति ब्रह्म ही है और प्रकृति का अधिपति ईश्वर है तो सगुण भी जगत् का कारण हुआ। जैसे घट के भीतर वाहर माटी रहती है तैसे ही सर्व जगत्के भीतर वाहर ब्रह्म है और जब ईश्वरने ऐसा अनुभव किया कि वह ब्रह्म मैं ही हूं तब वही जगत् का उपादान कारण हुआ, घट माटी का है, परन्तु उसे रचने वाला निमित्त कारण कुम्हार है वैसे ही कर्मानुसार जीवों को उत्पन्न करने वाला सर्वज्ञ भगवंत जगत् का निमित्त कारण है ॥

ऐसा सर्वज्ञ सर्वेश्वर जगत् के उद्धार के हेतु अवतार धारण करता है परन्तु मूढ़ लोग उसे नहीं जानते वा निरादर करते हैं यह बात आगे के दो श्लोकों में कहते हैं ॥

अवजानन्तिमांमूढ़ा मानुषींतनुमाश्रितम् ।
परंभावमजानन्तो ममभूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

अर्थ—(भूत महेश्वरम्) सर्व भूतों का महान् ईश्वर रूप जो मैं हूं सो (मम) ऐसा मेरा (परं भावम्) परम अर्थात् उत्कृष्ट तत्त्व को (अजानन्तः) न जानने वाले (मूढ़ाः) मूर्ख लोग (माम्) मुझे (अव जानन्ति) भली भांति नहीं जानते

वा इसी कारण मेरा यथोचित आदर नहीं करते क्योंकि मैं भक्तों की इच्छा के वशीभूत होकर शुद्ध सत्त्व मय (मानुषीम्) मनुष्यों के समान (तनुम्) देह (आश्रितम्) धारण करता हूं वे लोग मेरे वाक्यों में श्रद्धा नहीं करते उन को आत्मा अनात्मा का विचार नहीं है ॥

टीका-श्रीकृष्ण जी कहते हैं कि और मनुष्यों के समान मेरे देह को देखकर जो मुझे मनुष्य ही समझते हैं और मेरा अपमान करते हैं वे बड़े मूर्ख हैं जैसे कोई बड़ा आदमी अपना बड़प्पन गुप्त रख के औरों के समान वर्तावा करने लगे तो अज्ञ लोगों को उसका बड़ापन जाना नहीं जाता, परन्तु सुज्ञ लोग उसे पहिचान लेते हैं। उसी प्रकार दुर्योधनादिक मूर्ख लोग मुझे जगत् का उपादान वा निमित्त कारण सगुण सर्वेश्वर न जानकर केवल मनुष्य ही मानते हैं। तो फिर यह सब जान कर भी लोग उलटी मार्ग क्यों चलते हैं इस का कारण आगे बताते हैं ॥

मोघाशामोघकर्माणो मोघज्ञानाविचेतसः ।
राक्षसीमासुरींचैव प्रकृतिंमोहिनींश्रिताः ॥ १२ ॥

अर्थ-ये लोग समझते हैं कि मेरे सिवाय और जो देवता हैं वे शीघ्र ही फल देवेंगे परन्तु (मोघाशा) उन की आशा निष्फल हो जाती है क्योंकि जो फल मिला भी तो वह अनित्य है अतएव मुझ से विमुख होने के कारण उन के (मोघकर्माणः) श्रेष्ठ कर्म भी निष्फल हो जाते हैं और नाना प्रकार की कुतर्कों के कारण उन का (मोघज्ञाना) शास्त्रों का ज्ञान भी निष्फल हो जाता है अतएव उन के चित्त भी (विचेतसः) विक्षिप्त हो जाते हैं इस सब का कारण यह है कि वे (राक्षसीम्) हिंसादि युक्त तामसी (चैव) और (आसुरीम्) बहु कामना युक्त राजसी (मोहिनीम्) बुद्धि को भ्रम करनेवाली (प्रकृतिम्) प्रकृति अर्थात् स्वभाव का (श्रिताः) आश्रय

लेते हैं अर्थात् उन के स्वभाव राक्षसी आसुरी वा मोहिनी हो जाते हैं अतएव वे (माम्, अवजानन्ति) मेरा अनादर करते हैं॥

टीका—अच्छे वा बुरे कर्म सब अपनी चित्तवृत्ति पर अवलंबन रहते हैं जो अर्थ प्राप्ति प्रारब्ध में नहीं वह प्राप्त होगई तो मनुष्य भगवद्भजन छोड़कर क्षुद्र देवतों के आराधन में प्रवृत्त होते हैं प्रारब्ध में जो फल होते हैं वही काम्य कर्म करने से यथा काल में मिलते हैं परन्तु काम्य कर्मों से वज्रलेप बंध मात्र उत्पन्न होता है यदि काम्य कर्म इस आशा से किये जावे कि अमुक फल इस जन्म में नहीं मिला परन्तु अगले जन्म में मिलेगा तो ऐसा सदैव नहीं होता क्योंकि जबरदस्त संचित कर्मों के कारण कितने मनुष्यों को वह फल यहां सैकड़ों जन्म पर्य्यन्त नहीं मिलते यानी पहिले सब संचित कर्मों के फल मिलते हैं बाद यहां के कर्मों के मिलेंगे एकाध फल मिलने के वास्ते कोई काम्य कर्म करने लगा तो विहित कर्म में बाधा आने के कारण उस का पाप लगता है यह पाप भोगे विना भी उस काम्य कर्म का फल नहीं मिलता जो २ फल मनुष्य को मिलते हैं वे सब प्रारब्ध रूप से पूर्व कर्मों के ही फल रहते हैं परन्तु यह बात अल्प विचार के लोगों को नहीं समझ पड़ती अतएव वे काम्य कर्मों के प्रवाह में पड़कर विना कारण अधिक बंधन कर बैठते हैं औरऐसे ही लोगों को "मोघाशा" कहते हैं। जो लोग अन्य देवतों की निष्काम उपासना करते हैं उन को "मोघकर्माणः" कहा है क्योंकि निष्काम कर्म केवल एक सगुण सर्वेश्वर के निमित्त करने से ही मोक्ष मिलता है परंतु वे भी यदि उस ईश्वर को समर्पण न किये तो बंधक हो जाते हैं॥ "मोघज्ञाना" दो प्रकार के हैं एक वे जिन को वेद में श्रद्धा नहीं और दूसरे जो वेदों का आश्रय लेते हैं; इन में बौद्ध इत्यादि पहिले प्रकार के लोग थे वा अद्वैत बोध होने पर भी जो इतर देवतों का भजन करते

हैं वे दूसरे प्रकार के हैं इन दूसरे प्रकार के लोगों का ही ज्ञान व्यर्थ होता है क्योंकि भगवत्प्रसाद के बिना अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं होता वा यह प्रसाद भगवद्भजन बिना मिलता नहीं ॥

जो लोग वेद शास्त्र जानने पर भी बुरे मार्ग में जाते हैं उसका कारण उनकी नैसर्गिक बुरी प्रकृति है क्योंकि यह नैसर्गिक अर्थात् जातीय प्रकृति अनंत जन्मों के दृढ़ संस्कार से बनती है उत्तम संस्कार की प्रकृति "दैवी प्रकृति कहाती है वा खराब संस्कार प्रकृति आसुरी प्रकृति ,,है इस आसुरी प्रकृति के तीन भेद हैं १ राक्षसी २ आसुरी ३ मोहिनी राक्षस लोग मनुष्य को खाते हैं अतएव जिनकी बुद्धि सर्वदा हिंसा की ओर झुकती है उनको राक्षसी प्रकृति के लोग कहते हैं और जिनकी बुद्धि केवल विषयासक्त होती है उनको आसुरी प्रकृति के लोग कहते हैं क्योंकि असु=इन्द्रियां वा र=रमना अर्थात् जो इन्द्रियों के द्वारा विषयों में रमते हैं वे असुर कहाते हैं देवता भी विषयासक्त होते हैं परंतु उनमें भगवद्भक्ति रहती है अतएव वे विरक्त होते हैं। जिनमें विवेक और ज्ञान की गंध भी नहीं रहती उनको मोहनी प्रकृति के लोग कहते हैं इन तीनों प्रकृति के लोगों की आशा कर्म वा ज्ञान व्यर्थ होते हैं क्योंकि वे असुरों के समान देहाभिमानी अज्ञानी वा अनात्मदर्शी होते हैं॥

इन आसुरी प्रकृति के लोगों का विस्तार पूर्वक वर्णन अध्याय १६ में होगा यहां पर आगे दैवी प्रकृति के स्वभक्तों का वर्णन श्रीमहाराज विस्तार पूर्वक करते हैं ॥

महात्मानस्तुमांपार्थ ! दैवींप्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वाभूतादिमव्ययम्॥१३॥

अर्थ-हे (पार्थ) अर्जुन! (तु) परंतु (महात्मानः) जिनके चित्त संसारिक कामादि के वशीभूत नहीं होते और इसी कारण जिनको अध्याय १६ के श्लोक १ २ ३ में २६ लक्षण युक्त दैवी संपत् वाले कहे हैं वे महात्मा (दैवींप्रकृतिम्) उक्त दैवी

स्वभाव का (आश्रिताः) आश्रय लेते हैं और उसी कारण (अनन्यमनसः) मेरे सिवाय किसी दूसरे में मन न लगा कर वा (माम्) मुझ ही को (भूतादिम्) जगत् का कारण अर्थात् चराचर भूतों का आदि (अव्ययम्) नित्य अविनाशी (ज्ञात्वा) जान कर मुझ ही को (भजन्ति) भजा करते हैं ॥

टीका–जिनके चित्त बड़े हैं उनको " महात्मानः „ कहते हैं, उनके मन में अखंड शांति का वास रहता है। अतएव वे दूसरों के अपराध सहते वा परपीड़ा से डरते हैं, उनके चित्त उदार होते हैं, और उन में विषयों की इच्छा नहीं रहती, वे लोग ज्ञान संपन्न होते हैं। अतएव मोह अर्थात् अविवेक की हवा उन्हें स्पर्श नहीं करती यानी उनकी प्रकृति मोहिनी नहीं होती, वे अनन्य भाव से सर्व भूतों के आदि वा अव्यय भगवान् का भजन करते हैं, इसी का नाम सगुण भक्ति है जो ज्ञानोत्तर काल में होती है ॥

इन ज्ञानी सगुण भक्तों के भजन प्रकार का आगे के दो श्लोकों में वर्णन करते हैं ॥

सततंकीर्तयन्तोमां यतन्तश्चदृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्चमांभक्त्या नित्ययुक्ताउपासते ॥१४॥

अर्थ–उनमें कोई लोग (सततम्) सर्वदा (कीर्तयन्तः) स्तोत्र मंत्रादि द्वारा मेरा कीर्तन करके (माम्) मुझको (उपासते) सेवन करते हैं और कोई २ (दृढव्रताः) दृढ़ व्रत ब्रह्मचर्यादि नियम करके (च) और (यतन्तः) ऐश्वर्य ज्ञानादि में प्रयत्न करके मेरा सेवन करते हैं (च) और कोई २ (भक्त्या) भक्ति से (नमस्यंतः) मुझे नमस्कार करके तथा अन्य कोई (नित्ययुक्ताः) नित्य मेरे ही बीच में युक्त होकर प्रेम लक्षणा भक्ति द्वारा मुझे सेवते हैं अर्थात् ये सर्व लोग भक्ति से नित्य युक्त होकर मेरा कीर्तन वा व्रतादि करके मेरी प्राप्ति के हेतु यत्न किया करते हैं ॥

टीका-श्लोक १३ में कही हुई भगवत्स्वरूप की स्थिति जान कर सगुण भक्त भगवंत का अखंड कीर्तन करते हैं। कीर्तन भगवत् के नाम का होता है परंतु भगवान् ने यह कहा कि मुझे कीर्तन करते हैं इस से यह दरसाया कि मुझे कीर्तन बड़ा प्यारा है। मुझ में तथा मेरे नाम में कोई भेद नहीं है बल्कि नाम की अधिक महिमा है जैसा कि श्री गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है ॥

॥ चौपाई ॥

कहं लगि करूं मैं नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुण गाई ॥

कीर्तन का कोई समय नियत वा वर्ज्य नहीं है। वह चलते बैठते सोते जागते हो सकता है। भक्त लोग समाधि में स्वरूप ध्यान करते समय भी भगवन्नाम कीर्तन करते रहते हैं। नवविधा भक्ति में कीर्तन हर एक प्रकार की भक्ति में होता है, अतएव कीर्तन में " सततम् ,, शब्द जोड़ा है, सहस्रनाम गीतादि का पाठ गायत्री वा गुरु मंत्र का जप इत्यादि ये सब भगवत् की उपासना है वैसा ही नामोच्चारण है ॥

इस के सिवाय और भी भजन की रीति हैं वे आगे कहीं हैं॥

ज्ञानयज्ञेनचाप्यन्ये यजन्तोमामुपासते ।
एकत्वेनपृथक्त्वेन बहुधाविश्वतोमुखम् ॥१५॥

अर्थ–(चापि) और (अन्ये) कोई २ भक्त (माम्) मुझको (ज्ञानयज्ञेन) ज्ञानयज्ञद्वारा (यजन्तः) पूजन करके (उपासते) मेरा सेवन करते हैं अर्थात् "वासुदेवः सर्वमिति" ऐसा सर्वोत्तम दर्शन रूपी जो ज्ञान है वही उन का यज्ञ है और उसी के द्वारा वे मेरा भजन पूजन करते हैं उन में से भी कोई २ भक्त (एकत्वेन) अभेदभाव से अर्थात् " सोऽहम् " सोई मैं हूं, भाव से तथा कोई २ (पृथक्त्वेन) "दासोऽहम्" मैं ईश्वर का दास हूं ऐसी भेदभावना से और कोई २ मुझे सर्वात्मक वा (विश्वतोमुखम्) सर्व विश्व का रूप समझ कर

(बहुधा) बहुत प्रकार ब्रह्मारुद्रादि रूप से मेरी उपासना करते हैं ॥

टीका-" ज्ञानयज्ञेन ,, इस वाक्य से यह बताया है कि वे लोग अपने आत्मा को अग्नि मान कर उन में चित्तवृत्ति रूप हविष् की आहुति देते हैं, जिस का स्पष्ट वर्णन अध्याय ४ में हो चुका है, ईश्वर को सच्चिदानन्द सर्वभूतों में व्याप्त जान कर साधु महात्मा का सेवन करना भी भगवत् की उपासना है, साधुओं का माहात्म्य श्रीमद्भागवत में कहा है ॥

नह्यम्मयानितीर्थानि नदेवामृच्छिलामयाः ।
तेपुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेवसाधवः ॥

ज्ञानयज्ञ में एकत्व तो रहता ही है फिर क्यों जुदा कहा? जो अद्वैत जानने के वास्ते दास्यभाव से उपासना करता है उस भक्त को " पृथक्त्वेन " वाक्य में कहा है, और इस पर से जिसे अपरोक्ष अद्वैत ज्ञान हो गया है, ऐसा ज्ञानयज्ञ करने वाला भक्त तथा दास्यभाव से उपासना करने वाला भक्त इन दोनों के बीच की कोटी का भक्त " एकत्वेन ,, वाक्य से जुनाया है, इस भक्त को समाधि सुख की स्थिति प्राप्त नहीं हुई, परन्तु केवल "आत्मतत्त्व" का ज्ञान हुआ है अतएव वह ऐक्यभाव की भावना करके सगुण भक्ति करता है ॥

अब आगे ४ श्लोकों में "विश्वतोमुख" यानी विराट् विश्वरूप सर्वात्मक उपासना का वर्णन करते हैं ॥

अहंक्रतुरहंयज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहंहुतम् ॥१६ ॥

अर्थ-(क्रतुः) श्रुति में कही हुई हं सरचना (अहम्) मैं हूं (यज्ञः) स्मार्त मत का पञ्चयज्ञादि (अहम्) मैं हूं (स्वधा) पितरों के निमित्त श्राद्धादि कर्म (अहम्) मैं हूं (औषधम्) सर्वप्रकार की धान्य व औषधी (अहम्) मैं हूं (मन्त्रः)

याज्यापुरोनुवाक्यादि (अहम्) मैं हूं (आज्यम्) होम का साधन घृत (अहम् एव) मैं ही हूं (अग्निः) जिस अग्नि में हवन किया जाय वह (अहम्) मैं हूं वा (हुतम्) आहुति भी (अहम्) मैं हूं अर्थात् ये सब चित्त शुद्धि के कारण तथा सर्वसृष्टि मैं हूं अथवा सर्व मेरी कल्पना से ही होता है। भगवत् कल्पना मनुष्य की कल्पना के वाहर है, जब मनुष्य स्वप्न में अपनी कल्पना से एक सृष्टि उत्पन्न कर सकता है तो सवश्वर अपनी कल्पना से क्या नहीं कर सकता ? ॥

पिताऽहमस्यजगतो मातधातापितामहः ।
वेद्यंपवित्रमोङ्कार ऋक्सामयजुरेवच ॥ १७ ॥

अर्थ-(अस्य जगतः) इस जगत् का (अहम्) मैं (पिता) बाप हूं तथा (माता) महतारी म हूं (धाता) धारण करता और कर्मफल विधाता और (पितामहः) वावा मैं हूं, (वेद्यम्) जानने योग्य वस्तु वा (पवित्रम्) प्रायश्चित्तात्मक और शोधक वस्तु मैं ही हूं (ओङ्कारः) प्रणव मैं हूं (च) और (ऋक्) ऋग्वेद, (साम) सामवेद तथा (यजुः) यजुर्वेद (एव) भी मैं हूं ॥

टीका-पिछले और इस श्लोक में श्रीभगवान् जी ने यह वतलाया है कि सर्व सृष्टि मैं ही हूं, तथा मेरी कल्पना से अर्थात् पद्मनाभरूप से ब्रह्मा और ब्रह्मा से मनु शतरूपा इत्यादि हुए। यह कल्पना करना माया का धर्म है, इस अविद्या निर्मित जड़भास में जानने योग्य चित्स्वरूप है और वह पवित्र है, उसके जानने के साधन वेद हैं उन में ऋग्वेद, सामवेद, और यजुर्वेद इन तीनों का रूप ओङ्कार है सो वह भी श्रीभगवान् जी का रूप है, यही " विश्वतो मुख „ उपासना है ॥

अब आगे श्रीभगवान् जी अपना ईश्वरत्व कहते हैं ॥

गतिर्भर्त्ताप्रभुःसाक्षी निवासःशरणंसुहृत् ।
प्रभवःप्रलयःस्थानं निधानंबीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

अर्थ–मैं सब संसार के कर्मों का (गतिः) फल हूं (भर्त्ता) पोषण करता हूं (प्रभुः) नियन्ता हूं (साक्षी) शुभाशुभ देखने वाला हूं (निवासः) वसति अर्थात् भोगस्थान हूं (शरणम्) रक्षक हूं (सुहृत्) हित करता हूं वा मैं ही (प्रभवः) सब का कर्ता हूं अर्थात् सृष्टि करने वाला हूं (प्रलयः) नाश करने वाला हूं (स्थानम्) आधार हूं (निधानम्) सब का लयस्थान हूं अर्थात् मुझ ही में सब लय होते हैं और मैं ही (अव्ययम्, बीजम्) सब का अविनाशी कारण हूं अर्थात् अन्यान्य बीजों के समान नश्वर नहीं हूं ॥

टीका–" गति " तीन प्रकार की है १ मुक्ति २ पुनर्जन्म न होना, ३ स्वर्गादि लोक, ये सब श्रीभगवान् जी ही हैं, ज्ञान से मुक्ति वा कर्म से गति मिलती है सो भी श्रीभगवान् जी ही हैं अर्थात् वह सब का भर्त्ता है ॥

जब श्रीभगवान् जी विश्व है, अथवा जीव भगवत् का अंश है और कर्म से गति मिलती है सो भी श्रीभगवान् जी हैं, तो फिर श्रीभगवान् जी के दिये विना जीवों को आप ही से गति क्यों न मिलना चाहिये ? इस का उत्तर यह है कि ईश्वर प्रभु नाम समर्थ है और अविद्या में बद्ध होने के कारण जीव असमर्थ है । ईश्वर सर्वसाक्षी है अतएव वह जीवों के सब कर्म जानता है और तदनुरूप फल देता है । भगवान् सब का निवासस्थान है अतएव उस को ढूंढने को कहीं दूर नहीं जाना पड़ता । साक्षी होना ईश्वर का सहज गुण है, वह गुण और फल देने की सामर्थ्य अनादि है इसी कारण गति का देने वाला वही है । जब कर्म के अनुसार ही फल देता है तो सर्व विवेकी लोग ईश्वर को क्यों भजते हैं ? इस का कारण यह है कि ईश्वर शरणागत का रक्षक है, तथा जो लोग अपनी रक्षा के हेतु उसकी शरण जाते हैं उन्हें वह निज गति देता है औरों को नहीं क्योंकि उस का स्वभाव कल्पतरु कासा है कि जो कोई जो कुछ मांगता है उसे वही देता है अन्य

नहीं परन्तु कल्पवृक्ष अज्ञ है और ईश्वर सर्वज्ञ है तो यदि वह लोगों को दया की राह उत्तम मार्ग न बतावेगा तो उसे सुहृद् कैसे कह सकते हैं? इस का समाधान ऐसा है कि ईश्वर ने वेद, शास्त्र, पुराण, वा अवतार इसी हेतु से प्रगट किये हैं कि उन को पठन श्रवण और दर्शन करके लोग उसकी शरण में जावें परन्तु यह भी लोग न करैं तो ईश्वर का क्या दोष है जैसे दुष्काल में राजा अन्न बांटै परन्तु कोई उसे खावे नहीं तो राजा का क्या दोष है। यदि यह कहा जावे कि ईश्वर लोगों के मन में वैसी प्रेरणा क्यों नहीं करता? परन्तु ऐसा करैगा तो फिर ईश्वर को सब को तारना पड़ैगा लेकिन ऐसा करने में उस के स्वरूप तथा वैभव का नाश होता है। जीवों से ही प्रपंच उपजता है और जब सब जीव ही तर गये तो प्रपंच कहां से वा किस के वास्ते उत्पन्न होगा? प्रपंच वृक्ष का बीज जो ब्रह्म है वह तो अविनाशी है तो फिर सृष्टि, स्थिति और प्रलय हमेशा होने ही वाले हैं॥

आगे के श्लोक में भी भगवान् अपनी दयालुता व सुहृदपन बताते हैं॥

तपाम्यहमहंवर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतंचैवमृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ १९॥

अर्थ—हे अर्जुन! सूर्य का रूप होकर (अहम्) मैं ही उष्ण काल में (तपामि) जगत् में गरमी प्रगट करता हूं वर्षा ऋतु में (अहं वर्षम्) मैं ही पानी बरसाता हूं मैं ही (निगृह्णामि) प्रजा के पाप करने पर जल को आकर्षण करता हूं (च) और मैं ही (उत्सृजामि) फिर बरषा छोड़ देता हूं (अहम्) मैं ही (अमृतम्) अमृत रूपी सब का जीवन हूं (चैव) और मैं (मृत्युश्च) सब का नाश भी हूं, मैं ही (सत्) स्थूल दृश्य हूं (च) और मैं ही (असत्) सूक्ष्म अदृश्य हूं ऐसा मुझे जानकर अनेक लोग मेरी उपासना करते हैं॥

टीका—सकाम तथा विषय भोग चाहने वाले लोगों का भी मैं सुहृत् हूं यह पूर्वार्द्ध में कहा है अर्थात् यथा काल तप कर जल को शोषता हूं, फिर उसी को यथासमय वर्षा देता हूं जिससे नाना प्रकार की धान्य वा औषधी उत्पन्न होकर लोगों का रक्षण होता है। यह दयालुता भक्त और विमुख सब पर ईश्वर दिखाता है। परंतु इन के सिवाय भक्तों को मुक्ति भी देता है तो यह उनमें विषमता होती है, इसका परिहार उत्तरार्द्ध में किया है कि भक्तों का मोक्ष अर्थात् जीवन वा अभक्तों की मृत्यु और बुरा वा भला यानी जैसे को तैसा सब मैं ही ईश्वर हूं जो जैसी अपेक्षा करता है उसको वैसा ही फल देता हूं जैसा कि पथ्य से आरोग्य कुपथ्य से मृत्यु होती है ॥ इस प्रकार श्लोक ११ वा १२ में वे अभक्त बताये जो क्षिप्र फल की आशा से अन्य देवताओं को पूजते तथा भगवान् का अनादर करते हैं और "महात्मानस्तु„ श्लोक १३ इत्यादि में निज भक्तों का वर्णन किया इन में से जो श्लोक १५ एकत्वेन पृथक्त्वेन „ के अनुसार कामना सहित वेदोक्त भी कर्म कर के परमेश्वर को नहीं भजते उनका जन्म मृत्यु रूपी प्रवाह नहीं रुक सकता यह आगे दो श्लोकों में कहते हैं ॥

त्रैविद्यामांसोमपाःपूतपापा यज्ञैरिष्ट्वास्वर्गतिंप्रार्थयन्ते। तेपुण्यमासाद्यसुरेन्द्रलोक–मश्नन्ति दिव्यान्दिविदेवभोगान् ॥ २०॥ तेतंभुक्त्वास्वर्गलोकंविशालंक्षीणेपुण्येमर्त्यलोकंविशन्ति । एवंत्रयीधर्ममनुप्रपन्ना, गतागतंकामकामालभन्ते२१

अर्थ–(त्रैविद्याः) जो लोग ऋग्वेद सामवेद व यजुर्वेद इन तीनों को जानते हैं और उनके अनुसार कर्म करते हैं वे इन तीनों वेदों में कहे हुये (यज्ञैः) यज्ञों के द्वारा (माम्) मुझको (इष्ट्वा) पूज कर यद्यपि सर्व देवता मेरा ही रूप हैं

तों के देव, अर्थात् आदित्यादि देवतों के प्रकाशक वा हे (जगत्पते) विश्वपालक ! (त्वम्) तुम (स्वयमेव) आप ही (आत्मना) अपनी आत्मा के द्वारा अर्थात् अन्य साधन से नहीं (आत्मानम्) अपने को (वेत्थ) जानते हो अर्थात् अन्य कोई नहीं जान सकता ॥

टीका–प्रभु जी की बुद्धि ही में माया की कल्पना होती है, और उसी माया के द्वारा श्रीभगवन्त जी अपने को जानते हैं यह माया कोई दूसरी निराली वस्तु नहीं है किन्तु वह ब्रह्म की ही शक्ति है, अतएव वह आप ही अपने को जानता है॥

अब अर्जुन आगे कहता है कि जब एक तू ही अपनी अभिव्यक्ति को जानता है और देवादि नहीं जानते तो तू ही अपनी विभूतियों को मुझ से कह ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्याह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वंव्याप्यतिष्ठसि१६॥

अर्थ–(याभिर्विभूतिभिः) जिन २ विभूतियों के द्वारा (त्वम्) तू (इमान्, लोकान्) इन सब लोकों में (व्याप्य) व्याप्त हो कर (तिष्ठसि) स्थित रहता है उन सब (दिव्याः) अद्भुत (आत्मविभूतयः) अपनी विभूतियों का वर्णन (अशेषेण) सम्पूर्ण प्रकार से (वक्तुमर्हसि) तू ही कहने के योग्य है और कोई नहीं ॥

(नोट)–विशेष भूति नाम ऐश्वर्य वा विलक्षण आश्चर्य जनक शक्ति का नाम विभूति है। इन विभूतियों के सहित ईश्वर सगुण वा साकार कहाता है। इन्हीं के द्वारा हम लोग श्रीभगवान् जी की महिमा को कुछ २ जान पाते हैं चाहें यों कहो वा मानो कि निर्गुण निराकार ब्रह्म को ईश्वर भगवान् आदि शब्दों से भी नहीं कह सकते। इसी से परम सगुण का नाम परमेश्वर है ॥ (भी० श०)

अब उन विभूतियों के कहने का प्रयोजन दरशाता हुआ अर्जुन आगे के २ श्लोकों में प्रार्थना करता है कि—

कथंविद्यामहंयोगिंस्त्वांसदापरिचिन्तयन् ।
केषुकेषुचभावेषु चिन्त्योऽसिभगवन्मया ॥१७॥

अर्थ-हे (योगिन्) ऐश्वर्य्ययोग वाले! (कथम्) कौन २ विभूति भेद के द्वारा अर्थात् कौन २ रूप से (सदा) सर्वदा (परिचिन्तयन्) तुम्हारा चिन्तवन करता हुआ (अहम्) मैं (त्वाम्) तुम को (विद्याम्) जान सकूंगा। (च) और हे (भगवन्) षडैश्वर्यसम्पन्न श्रीकृष्ण जी विभूति भेद करके (केषु केषु भावेषु) कौन २ भावों वा पदार्थों में तुम (मया) मेरे द्वारा (चिन्त्योऽसि) चिन्तवन करने के योग्य हो अर्थात् कौन २ पदार्थों का चिन्तवन करके अथवा अपना अन्तःकरण शुद्ध करके मैं तुमको यथार्थ रूप से जान सकता हूं इस से अर्जुन अपने अन्तःकरण की शुद्धि का उपाय पूछता है ॥

टीका-चित्स्वरूप सब ठौर एक समान रहता है उसको चिंतवन करने के सिवाय भगवान् का ध्यान विशेष करके विभूति रूप से करना चाहिये यह भाव है ॥

अब आगे अर्जुन कहता है कि चित्त बहिर्मुख हो जाने पर भी उसी २ ठौर पर जिस उपाय से विभूति भेद करके तुम्हारा चिन्तवन हो सके वह विस्तार पूर्वक कहो ॥

विस्तरेणात्मनोयोगं विभूतिंचजनार्दन ! ।
भूयःकथयतृप्तिर्हि शृण्वतोनास्तिमेऽमृतम् ॥ १८ ॥

अर्थ-हे (जनार्दन) श्रीकृष्ण! तुम (आत्मनः) अपना सर्वज्ञ वा शक्ति रूपी (योगम्) ऐश्वर योग (च) और अपनी (विभूतिम्) विभूतियों को भी (भूयः) फिर से (विस्तरेण) विस्तार पूर्वक (कथय) मुझ से कहो क्योंकि तुम्हारे (अमृतम्) अमृतरूपी वाक्य (शृण्वतः) सुनते हुए (मे) मेरी (तृप्तिर्हि) तृप्ति ही (नास्ति) नहीं होती ॥

यह वे जानते हैं परंतु, यह भाव रखते हैं कि इन्द्रादि देवताओं के रूप से हम भगवान् ही को पूजते हैं तथा यज्ञ का शेष (सोमपाः) सोम रस पीकर और उसी कारण (पूतपापाः) पाप रहित होकर उन में से जो (स्वर्गतिम्) स्वर्ग की गति (प्रार्थयन्ते) मागते हैं (ते) वे (पुण्यम्) पुण्य फल रूप (सुरेन्द्रलोकम्) देवतों का स्वर्ग लोक (आसाद्य) प्राप्त करके उसी (दिवि) स्वर्ग में (दिव्यान्) उत्तम (देवभोगान्) देवतों के भोगों को (अश्नन्ति) भोगते हैं चौथे अथर्वण वेद में ब्रह्म विद्या विशेष है उस को ये लोग नहीं जानते ॥ २० ॥ (ते) वे स्वर्ग की कामना वाले लोग अपने मांगे हुए (तम्) उस (विशालम्) विपुल (स्वर्गलोकम्) स्वर्ग लोक को अर्थात् स्वर्ग के सुख को (भुक्त्वा) भोग कर और ये सब भोगों का देने वाला (क्षीणे पुण्ये) पुण्य क्षीण हो जाने पर (मर्त्यलोकम्) मृत्यु लोक में (विशन्ति) प्रवेश करते हैं और यहां पर फिर के (एवम्) इसी प्रकार (त्रयीधर्मम्) तीनों वेदों में बताये हुए धर्म को (अनुप्रपन्नाः) पालन करके (कामकामाः) भोगों की इच्छा करते हुए (गतागतम्) आना जाना अर्थात् पुनर्जन्म (लभन्ते) पाते हैं ॥ २१ ॥

टीका—वैदिक मार्ग को आश्रय करने वाले लोग फल की इच्छा रखने के कारण इस प्रकार जन्म मरण पाते हैं, यद्यपि ये लोग भी दैवी प्रकृति के हैं क्योंकि वे यज्ञ करते समय यह विचार रखते हैं कि सर्व देवतों के रूप से ईश्वर ही यज्ञ का भोक्ता है परन्तु वे विषय कामना युक्त रहते हैं अतएव जन्म मृत्यु भोगते हैं किंतु जो ऐसा भाव न करके अन्य देवतों को स्वतंत्र ही मानकर उन का यजन करते हैं वे आसुरी स्वभाव वाले हैं जिन का स्पष्ट वर्णन अध्याय १६ में होगा। ये लोग कभी स्वर्ग में वा कभी नरक में वास किया करते हैं और कभी मनुष्य योनि में तथा कभी पशु योनियों में भटकते रहते हैं ॥

अब आगे कहते हैं कि मेरे निष्काम भक्त मेरे प्रसाद से कृतार्थ हो जाते हैं क्योंकि वे ज्ञाननिष्ठ अभेद भाव से केवल मेरी ही उपासना करते हैं अतएव मुझे इन की रक्षा करनी पड़ती है ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तोमां ये जनाःपर्य्युपासते ।
तेषांनित्याभियुक्तानां योगक्षेमंवहाम्यहम् ॥२२॥

अर्थ-(ये जनाः) जो लोग (अनन्याः) मेरे सिवाय और किसी को न चाह कर वा केवल (माम्) मुझकोही (चिन्तयन्तः) चिंतन करके (पर्य्युपासते) मेरा सेवन करते हैं (तेषाम्) उन (नित्याभियुक्तानाम्) सर्वथा मेरे वीच में निष्ठा करने वालों को (अहम्) मैं (योगक्षेमम्) धनादि लाभ तथा रक्षा उन के विना मांगे भी (वहामि) देता हूं अर्थात् उन को धन सम्पत्ति देकर उन का कल्याण वा पालन करता हूं उनको किसी भी प्रकार की प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं ॥

टीका—जो मोक्ष भी न चाहकर भगवत् के चरणों की सेवा में आसक्त रहते हैं उन भक्तों को " नित्याभियुक्त " कहा है, जैसे चिड़िया के गर्भ रहा कि वह होने वाले संतान के वास्ते कोमल घास की सेज तैयार कर रखती है, यद्यपि उससे अंडा कोई प्रार्थना नहीं करते उसी प्रकार भगवद्भक्ति करने लगने से भक्तों का सर्व भार भगवान् आपही अपने ऊपर ले लेते हैं ॥

जो वस्तु अपने पास नहीं उसके प्राप्त होने को " योग " कहते हैं और प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा करने को " क्षेम " कहा है भगवद्भक्तों को मोक्ष की इच्छा नहीं रहती तो भी गुरु रूप से प्रगट होकर भगवान् उन्हें ज्ञान देते हैं, तथा उस ज्ञान को उनके अंग में पहुंचाकर उसकी रक्षा करते हैं । ज्ञान होने पर भी पूर्व संस्कार के कारण ज्ञानी को आत्मस्वरूप भूल जाता है तब भगवान् उसकी बुद्धि को जागृत करते हैं प्रारब्धानुसार

धनादि सबको मिलते हैं और इनका प्रबंध वही ईश्वर जन्म: देने के पहिले कर रखता है। यहां अर्जुन को यह शंका हुई कि जब सब देवतों को भी भगवंत का रूप जान कर भजे तो फिर उस भक्त का भार क्या भगवान् न उठावेंगे? क्योंकि वह भी तो भगवद्भक्त हुआ, फिर क्यों जन्म मृत्यु के जाल में फंसा रहेगा। इसका समाधान आगे करते हैं और बताते हैं कि वह दिन रात अपने योग क्षेम में प्रयत्न करता है तो भी उसे संदेह बना रहता है और परमानन्द रूपी मुक्ति से तो विमुख ही रहता है॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्तेश्रद्धयान्विताः।
तेऽपिमामेवकौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥२३॥

अर्थ–(हे कौन्तेय) अर्जुन! (ये) जो लोग (श्रद्धयान्विताः) पूर्ण श्रद्धा सहित (अन्यदेवता भक्ताअपि) अन्य देवतों के भी भक्त होकर उन्हीं देवतों को (यजन्ते) पूजते हैं (ते-अपि) वे भी (माम्–एव) मुझ ही को (यजन्ति) पूजते हैं यह सत्य है परन्तु यह पूजा (अविधिपूर्वकम्) विधि पूर्वक नहीं कही जाती क्योंकि उसमें मोक्ष प्राप्त होने की विधि नहीं रहती अतएव ऐसे लोगों को जन्म मरण भोगना पड़ता है॥

(नोट) सब देवों के नाम रूपों में एक ही ईश्वर विद्यमान है सब नाम रूप उपाधि मात्र भिन्न हैं सो सब जल तरंगादि के तुल्य असत् हैं। सब में एक ही ईश्वर तत्तद् रूप से विद्यमान सत् है। इससे सब नाम रूपों द्वारा एक ही भगवान् का पूजन होता है। और भेद बुद्धि से एक की पूजा भक्ति करना यही अविधि पूर्वक कहने का मतलब है॥(भी०प्रा०)

टीका--नित्य फल प्राप्ति के निमित्त एक भगवान् की ही सेवा तथा भजन पूजन करना चाहिये, क्योंकि जिस प्रकार अपना देह एक है परंतु क्षुधा निवृत्ति के हेतु मुखके द्वारा अन्न पेटमें पहुंचना चाहिये, क्योंकि कान में कौर देने से क्षुधा नहीं जाती

उसी प्रकार भगवंत की तथा अन्य देवतों की चित्स्वरूप में एकता है परंतु उपाधि भेद से ऊंच नीच हैं। लोहे की वेड़ी उसी लोहे के शस्त्र से कटती है क्योंकि शस्त्र में छेदन करने की सामर्थ्य रहती है जो वेड़ी में नहीं। उसी तरह यद्यपि भगवंत वा अन्य देवता एक ही चित्स्वरूप से हुए हैं परंतु उपाधि भेद से भगवान् में बंध मुक्त करने की सामर्थ्य है जो अन्य देवतों में नहीं, वेड़ी तथा शस्त्र एक ही लोहे के बनते हैं परंतु वेड़ी काटने को उसी वेड़ी की प्रार्थना करो तो वह नहीं काट सकी अर्थात् वह प्रार्थना ही " अविधि पूर्वक है ,,

यद्यपि यह सत्य है कि श्रद्धा से फल की प्राप्ति होती है परंतु वह श्रद्धा उचित ठौर में होना चाहिये, नहीं तो उसका उपयोग नहीं, गाय दूध देती है ऐसी श्रद्धा करके जब उसका थन मरोड़ोगे तब ही दूध देगी पूंछ मरोड़ने से नहीं इसी प्रकार केवल भगवान् में ही श्रद्धा करने से मोक्ष मिल सकता है अन्यत्र नहीं अध्याय ७ के श्लोक १६, १८, २० में भी यही बात स्पष्ट हो चुकी है, इन लोगों को अद्वैत बराबर नहीं समझ पड़ता, अतएव वे सगुण ब्रह्म का तत्त्व नहीं जानते इस लिये अन्य देवतों को भजने लगते हैं, इसी श्लोक का उपदेश आगे और भी स्पष्ट करते हैं ॥

अहंहिसर्वयज्ञानां भोक्ताचप्रभुरेवच ।
नतुमामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्तिते॥२४॥

अर्थ-(सर्वयज्ञानाम्) सब यज्ञों का प्रत्येक देवता के रूप से (अहम्) मैं (हि) ही (भोक्ताच) भोग करनेवाला भी हूं (च) और मैं ही उनका (प्रभुःएव) स्वामी अर्थात् फल दाता भी हूं (तु) परंतु इस प्रकार (ते) वे लोग (तत्वेन) भली भांति (माम्) मुझको (न-अभिजानन्ति) नहीं जानते (अतः) अतएव (च्यवन्ति) पद भ्रष्ट होकर पुनर्जन्म लेते

हैं अर्थात् जो लोग सर्व देवतों में मुख्य अन्तर्यामी को देखकर यजन करते हैं उनका पुनर्जन्म नहीं होता ॥

टीका-दो "च" से यह सुझाया है कि सर्व यज्ञ भोक्ता और स्वामी एक सगुण भगवंत ही है दूसरा कोई नहीं इस "तत्व" को लोग नहीं जानते इसके जानने से स्वरूप में अद्वैत वा उपाधि में द्वैत स्पष्ट जान पड़ता है। क्योंकि यज्ञ में एक देवता मुख्य रहता है और बाकी सब देवता उसी के अंग भूत होते हैं एक देवता की आहुति दूसरा नहीं ले सकता, और जिस देवता का आवाहन न किया जावे वह उस यज्ञ को जानता भी नहीं, परंतु भगवंत के नाम की यद्यपि कोई आहुति नहीं देता तो भी उस यज्ञ का भोक्ता वही है क्योंकि सर्व देवता उनके ही अंश हैं, और यज्ञ भी उसी का रूप है, इसी भाव से श्लोक २३ में कहा है कि " तेऽपिमामेव यजन्ति "। सर्व अलङ्कार सुवर्ण के रूप हैं परन्तु सराफ से ठुसी मांगो तो वह कर दोरा नहीं देगा, उसी प्रकार सर्व देवता ईश्वर ही हैं और जिस को आवाहन करोगे वह आवेगा परन्तु सुवर्णरूपी ईश्वर के ही रूप से अन्य देवतों के समान ईश्वर का भी देह है, परन्तु उसे उन के समान देहात्मता बिलकुल नहीं है इस का कारण उपाधि भेद है, निर्गुण शुद्ध माया के योग से सगुण होता है और वही नित्यमुक्त सगुण ईश्वर यज्ञनारायण है, यह तत्व न जानकर जो अन्य देवतों की उपासना करते हैं वे उसी देवता को प्राप्त हो कर और कालान्तर में वहां से भ्रष्ट हो कर फिर गर्भवास पाते हैं क्योंकि अन्यदेवता मुक्ति नहीं दे सकते ॥

यहां यह शङ्का होती है कि उक्त तत्व न जानने से क्या ईश्वरभक्त भी पद भ्रष्ट होते हैं, इस का परिहार आगे करते हैं वा कहते हैं कि जो लोग सब देवतों को मेरा ही रूप जान कर सेवा करते हैं वे पुनर्जन्म नहीं पाते ॥

यान्तिदेवव्रतादेवान् पितॄन्यान्तिपितृव्रताः ।
भूतानियान्तिभूतेज्या यान्तिमद्याजिनोऽपिमाम्॥२५॥

अर्थ-(देवव्रताः) इन्द्रादि देवतों के व्रत वा उपासना करने वाले (देवान्) उन्हीं देवतों को (यान्ति) प्राप्त होते हैं अतएव पुनर्जन्म पाते हैं अथवा (पितृव्रताः) पितृश्राद्धादि में अनुरक्त लोग उन्हीं (पितॄन्) पितरों को वा उनके लोकों को (यान्ति) जाते हैं (भूतेज्याः) विनायक मातृगणों के भक्त (भूतानि) उन्हीं भूतगणों को (यान्ति) प्राप्त होते हैं (अपि) परन्तु निश्चय करके (मद्याजिनः) मेरा यजन भजन करने वाले (माम्) मुझ अक्षय तथा परमानन्द स्वरूप को (यान्ति) प्राप्त होते हैं ॥

टीका-भगवद्भक्त भगवत् जी का ही स्वरूप पा कर भगवत् रूप वैकुण्ठ पाते हैं, यहां पर रजस् तमस् नहीं हैं और इसी कारण श्रीभगवान् अपने भक्तों को पहिले गुरुरूप होकर ज्ञानोपदेश करके वैकुण्ठ को पहुंचाते हैं, अन्यदेवतों को यह ज्ञान देने की सामर्थ्य नहीं, अतएव भगवद्भजन ही एक मोक्ष का साधन है, और उसी से भक्तों को श्रीभगवान् जी उपरोक्त तत्त्व का उपदेश कर देते हैं ॥

अब आगे कहते हैं कि मेरा पूजन बड़ा सुगम भी है और मेरा दास बनकर जो श्रद्धा पूर्वक मेरी भक्ति करता है उस को सहज ही में ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति होती है ॥

पत्रंपुष्पंफलंतोयं योमेभक्त्याप्रयच्छति।
तदहंभक्त्युपहृत-मश्नामिप्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

(यः) जो कोई (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (मे) मुझे (पत्रम्) पत्ते (पुष्पम्) फूल (फलम्) फल वा (तोयम्) पानी (प्रयच्छति) अर्पण करता है उस (प्रयतात्मनः) शुद्ध चित्त और निष्काम भक्त के (भक्त्युपहृतम्) भक्ति पूर्वक समर्पण किये हुए (तत्) उन पत्र पुष्पादि को (अहम्) मैं (अश्नामि) प्रीति से ग्रहण और भोग करता हूं क्योंकि मैं महाविभूति पति परमेश्वर हूं और अन्यदेवतों के समान केवल बहुतसा धन

लगाये हुए यज्ञों से सन्तुष्ट नहीं होता, बल्कि केवल भक्ति मात्र से प्रसन्न होता हूं अतएव मेरा भक्त जो पत्रादि भी प्रीति से अर्पण करता है उसे उसी के अनुग्रह के हेतु मैं ग्रहण कर लेता हूं ॥

टीका—" अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति " इस श्रुति के अनुसार ईश्वर कुछ नहीं खाता, परन्तु यहां तो श्रीकृष्ण जी ने कहा है कि " अश्नामि " मैं खाता हूं, इस का परिहार ऐसा है कि ईश्वर भोजन नहीं करता, उसका आशय यह लेना चाहिये कि ईश्वर विषय सेवन नहीं करता, जिन इन्द्रिय का जो विषय है वही उन का भोजन है और जब ईश्वर अतीन्द्रिय है तो उसे विषय सेवन कहां ?। उस की दर्शन श्रवण इत्यादि इन्द्रियां हैं परन्तु वह स्वस्वरूप के सिवाय और कुछ नहीं देखता सुनता, जबतक विषय विषयरूप से नहीं दीखते तबतक ऐसा समझना चाहिये कि इन्द्रियां भी नहीं, अतएव ईश्वर को भोजन नहीं, है तथापि शुद्धान्तःकरण वाले भक्त ने यदि तुलसी जी का पत्र भी अर्पण किया तो वह उसे भक्षण करता है भक्षण का अर्थ यहां पर मुख से खाने का नहीं, बल्कि उपभोग करने का है ॥

श्रीकृष्ण जी कहते हैं कि फल पुष्पादि तथा यज्ञ में पशु सोमादि भी मुझे अर्पण करने की आवश्यकता नहीं है किन्तु मेरी आराधना तथा भजन की और भी सुलभरीति है वह आगे बताता हूं, यह स्वतन्त्र उपाय है और पुष्पादि अर्पण करना भी परतन्त्र है ॥

(नोट)-कोई यह शङ्का करे कि क्या चोरी जारी आदि जो कुछ करे वह भी ईश्वरार्पण कर सकता है ?। यदि ऐसा हो तब तो अनर्थ करने का अच्छा मौका मिलेगा। इसका संक्षेप समाधान यह है कि जैसे कोई क्रोड़पति मनुष्य हो जाय तो उस के लिये यह शङ्का नहीं हो सकती कि वह दश रु० का काम

आपड़े तो कहां से लावेगा ? । जिस का परिचय श्रीभगवान् जी के साथ हो गया ? क्या उस का चित्त चोरी जारी पर भी रह सकता है ? । अर्थात् कदापि नहीं, जलाशय में घुसते ही सब गर्मी भागती है, प्रज्वलित अग्नि के पास पहुंचते ही सब प्रबल शीत भी नष्ट हो जाता है । वैसे ही जब तक पापों में चित्त आसक्त है तबतक श्रीभगवत् जी के चरणों में प्रेम हो ही नहीं सकता । और श्रीभगवान् जी की ओर चित्त के चलते ही पाप की सब इच्छा वा वासना नष्ट हो जाती है । इसीलिये कहा है (येषामन्तगतं पापम्०) ॥ (भी० अ०)

यत्करोषियदश्नासि यज्जुहोषिददासियत् ।
यत्तपस्यसिकौन्तेय ! तत्कुरुष्वमदर्पणम् ॥२७॥

अर्थ–हे (कौन्तेय) अर्जुन ! स्वभाव से अथवा शास्त्र की आज्ञा से तू (यत्) जो कुछ (करोषि) करता है तथा (यत्) जो कुछ (अश्नासि) भोजन करता है तथा (यत्) जो कुछ (जुहोषि) होम करता है तथा (यत्) जो कुछ (ददासि) दान करता है और (यत्) जो कुछ (तपस्यसि) तप करता है (तत्) वह सब (मद्, अर्पणम्) मुझ को अर्पण (कुरुष्व) कर दे अर्थात् निष्काम हो कर कोई फल की इच्छा न कर ॥

टीका–भगवंत को अर्पण करने योग्य स्वयं क्या कर सकते हैं, क्योंकि वह स्वयं आप्तकाम है परन्तु उस की सेवा करना अपना कर्त्तव्य है, अपने शुभाशुभ सर्व कर्म उस के चरणों में अर्पण करना यही मुख्य भागवत धर्म है । ऐसा करने से सब कालमें उस की सेवा होती है और वही अपना श्रेयहै॥

इस प्रकार निष्काम होकर कर्म भगवत् को अर्पण कर देने से जो फल होता है वह आगे कहते हैं अर्थात् अविनाशी परमानंद रूप की प्राप्ति होती है ॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसेकर्मबन्धनैः ।

संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तोमामुपेष्यसि ॥२८॥

अर्थ-(एवम्) इस प्रकार कर्मार्पण करने से तू (शुभाशुभ फलैः कर्मबंधनैः) शुभ और अशुभ जो फल कर्म करने से होवेंगे वा बंधन में डालेंगे उस बंधन से (मोक्ष्यसे) जीवन्मुक्त हो जावेगा क्योंकि मुझ को समर्पण कर देने से उन कर्मों के फलों से तेरा फिर कोई संबंध नहीं रहा अर्थात् मैं उन का जवाबदार होगया, उन बन्धनों से (विमुक्तः) मुक्त होकर (संन्यासयोगयुक्तात्मा) मुझ में कर्मार्पण रूपी जो संन्यास योग है उस में अपने चित्त को युक्त करके तू (माम्) मुझे (उपेष्यसि) प्राप्त होगा ॥

टीका-भगवत् को कर्म समर्पण कर देने से पुण्य तथा पाप दोनों का नाश होता है और उसी योग से सर्व काल में भगवंत का दासत्व बन पड़ता है, ऐसे दास को कृपालु भगवंत त्याग नहीं सकते। जब से भक्त कर्मार्पण करता है तभी से भगवान् उसे मोक्ष देने का निश्चय कर लेते हैं परन्तु शंका यही है कि केवल कर्मार्पण से मोक्ष कैसे मिल सकता है क्योंकि शुभाशुभ संचित और क्रियमाण कर्मों का नाश ज्ञान विना होता नहीं और यह ज्ञान संन्यास तथा त्याग विना नहीं होता? इस का समाधान ऐसा है कि "सर्व कर्मार्पण" जो है वही त्याग वा संन्यास है और वह अर्पण करने वाला फिर काम्य कर्म भी क्यों करने चला, अतएव इसी कर्मार्पण को संन्यासयोग कहा है, निष्काम कर्मार्पण से भगवत् प्रसाद उस से ज्ञान और ज्ञान से सर्व प्रपंच असत्य होकर भी जो सत्य मानने की विपरीत भावना है वह नाश हो जाती है, तथा वह योगी भगवत्स्वरूप में मिल जाता है यही सब अनर्थों की निवृत्ति तथा परमानंद की प्राप्ति है इसी का नाम कैवल्य मुक्ति है ॥

जब भगवान् भक्तों को मोक्ष देता है और अभक्तों को नहीं

देता तो उस भगवान् में भी रागद्वेष जनित विषमता आता है परंतु ऐसा नहीं होता यह आगे कहते हैं क्योंकि ऐसा होने से भगवद्भक्ति का माहात्म्य ही कुछ नहीं रहता ॥

समोऽहंसर्वभूतेषु नमेद्वेष्योऽस्तिनप्रियः।
येभजन्तितुमांभक्त्या मयितेतेषुचाप्यहम् ॥२९॥

अर्थ-(अहम्) मैं (सर्वभूतेषु) सब भक्त अभक्त चराचर भूतों में (समः) सम हूं अतएव (मे) मेरा (न) नतो कोई (द्वेष्यः) कुप्यारा है और (न) न कोई (प्रियः) प्यारा है ऐसा होने पर भी (ये) जो लोग (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (माम्) मुझे (भजन्ति) भजते हैं (ते) वे (मयि) मुझ में (च) और (तेषु) उन में (अहम्-अपि) मैं भी बसता हूं अर्थात् मैं उनपर अनुग्रह रखता हूं उन के उद्धार करने का फिकर करता हूं और उन के हृदय में विराजमान रहता हूं ॥

(नोट) लोहे के साथ वा अन्य किसी भी वस्तु के साथ चुम्बक का प्रेम वा द्वेष कुछ नहीं है। परन्तु चुम्बक में स्वाभाविक गुण है कि पास आते ही लोहे में क्रिया पैदा कर देता है। इसी के अनुसार भक्तों पर कृपा करना उन को कृतार्थ कर देना भगवान् का स्वाभाविक गुण है। इस से समता में कुछ दोष नहीं आता, और विषमता भी उस में सिद्ध नहीं होती। अग्नि का शत्रु मित्र कोई नहीं, किन्तु सब के लिये वह सम है। परन्तु शीत से पीड़ित हुआ जो अग्नि के पास आयगा उसका शीत अग्नि अवश्य भगा देगा। जो न आयगा वह दुःख भोगा करो। यही दशा भगवान् के विषय में जानो ॥ (भी० श०)

टीका—जैसे अग्नि अपने सेवकों के अंधकार वा शीतादि दुःखों का निवारण करता है विषमता नहीं रखता, और जैसे कल्पवृक्ष में कोई विषमता नहीं है उसी प्रकार भगवंत भी अपने भक्तों का पक्षपात करने पर भी और लोगों में विष-

मता नहीं रखता, किंतु अपनी भक्तिकी महिमा बढ़ाता है॥

चित्स्वरूप भगवंत सर्व भूतों में एक समान है और उन में सर्वभूत वर्तमान हैं, परंतु अविद्या के कारण जीव यह तत्त्व नहीं जानता कि भगवंत सबमें व्याप्त हैं परंतु जो उसे भजते हैं वे उसे अत्यन्त प्रिय होते हैं, और उन से वह दूर नहीं रहता, भक्त लोग सदैव उसका स्मरण करते हैं और जो उसे भूलते हैं उनको वह भी भूल जाता है। जो पानी में डूबा हुआ भी प्यासा रहता है उसको ऐसा जानना चाहिये कि वह पानी में है ही नहीं। उसीप्रकार जो भगवंत को बिसर गये हैं वे भगवान् में नहीं और उन में भगवंत नहीं ऐसा समझना चाहिये॥

विषयवासना का नाश होने पर्यन्त काम्य का त्याग नहीं बनता और विषय भोग के त्याग बिना भक्ति योग नहीं सध सकता, अतएव अर्जुन को यह जान पड़ा कि यह योग सुगम नहीं किन्तु दुर्लभ है। इस का समाधान श्रीभगवान् अन्तर्यामी आगे करते हैं कि मेरी भक्ति का प्रभाव ऐसा है कि उससे दुराचारी भी साधु होजाते हैं और वह भक्ति मार्ग सुलभ भी है अजामिलादि बिना भक्ति के मुक्त हुए परंतु वे योग भ्रष्ट थे॥

अपिचेत्सुदुराचारो भजतेमामनन्यभाक्।
साधुरेवसमन्तव्यः सम्यग्व्यवसितोहिसः॥३०॥

अर्थ-(चेत्) किंतु (सुदुराचारः) कोई कोई अत्यन्तदुराचारी मनुष्य (अपि) भी जो (अनन्यभाक्) अन्य देवतों को भी वासुदेव मानकर परंतु उनकी भक्ति न करके अर्थात् अनन्य भाव से (माम्) मुझ ही को (भजते) भजता है (सः) वह भी (साधुः,एव) श्रेष्ठ ही (मन्तव्यः) मानने के योग्य है क्योंकि (सः) वह (हि) निश्चय करके (सम्यग्व्यवसितः) उत्तम निश्चय वाला है यानी उसका यत्न सम्यक् अर्थात् उत्तम है सदैव उस के चित्त में उत्तम निश्चय रहता है और वह सदा श्रीकृष्णादि का ध्यान वा स्मरण करने के कारण ज्ञानामृत को पान करता है॥

टीका-भगवान् कहते हैं कि अत्यन्त दुराचारी भी हो परंतु मेरी भक्ति अनन्य भाव से करता हो तो वह साधु ही है। इसी न्याय के अनुसार जो भक्त स्वधर्म पर चलता हुआ विषयासक्त होगा तो कैसे कह सकते हैं कि वह साधु नहीं है। जो रोगी कुपथ्य त्याग के उत्तम औषधि खाने लगता है तो उत्तम वैद्य यही समझता है कि यह रोगी अब आरोग्य हुआ। संसाररूपी रोग को नाश करने वाली भगवद्भक्ति रूपी औषधि जो कोई सेवन करता है और विषय रोग बढ़ानेवाले पदार्थों से पथ्य करता है वह आपही विषय वासना रूपी रोग से मुक्त होजाता है, क्योंकि जिस प्रकार औषधि बिना रोग नहीं हटता तद्वत् भगवद्भक्ति बिना चित्त शुद्ध नहीं होता, विषय वासना मूल रोग है और उसके नाश करने को भगवद्भक्ति रूप औषधि लेना ही चाहिये, वासना एक दम नाश नहीं होती परंतु जिस क्रम से वह कम होती जाती है उसी क्रम से विषय त्याग आपोआप होता है, उसके वास्ते जुदी खट पट करने की आवश्यकता नहीं, आचरण बुरा रहा तो मुक्ति नहीं मिलती ऐसा नियम नहीं है क्योंकि भगवद्भक्ति का जोर विलक्षण है, आचार विचार तभी तक हैं जब तक भगवच्चरणों में तथा आत्मस्वरूप में अनन्य मन नहीं लगा है ॥

केवल समीचीन अर्थात् श्रेष्ठ अध्यवसाय वा आचरण से मनुष्य किस प्रकार साधु कहा जा सक्ता है सोई आगे कहते हैं॥

क्षिप्रंभवतिधर्मात्मा शश्वच्छान्तिंनिगच्छति।
कौन्तेय!प्रतिजानीहि नमेभक्तःप्रणश्यति॥३१॥

अर्थ-अत्यन्त दुराचारी भी मुझको भजकर(क्षिप्रम्)शीघ्रही (धर्मात्मा) धर्म में चित्त देने वाला हो जाता है और तदनन्तर (शश्वत,शांतिम्) चित्त को उपराम रूपी नित्य शांति अर्थात परमेश्वर निष्ठा को (निगच्छति) प्राप्त होता है। यहां पर अर्जुन को यह शंका हुई कि कुतर्क और कर्कशवादी लोग

यह सत्य नहीं मानेंगे इस कारण भगवान् अर्जुन को उत्साह देकर कहते हैं कि हे (कौन्तेय) अर्जुन ! तू उन लोगों के सामने हाथ उठाकर ऐसी (प्रतिजानीहि) प्रतिज्ञा कर कि (मे) मुझ परमेश्वर को (भक्तः) भजने वाला मनुष्य सुदुराचारी होने पर भी (न प्रणश्यति) नाश नहीं होता किंतु कृतार्थ ही होता है कदापि अधोगति को प्राप्त नहीं होता, उपासना कांड का यह सूत्र है "अथातो भक्ति जिज्ञासा„ यानी धर्म के पीछे भक्ति की जिज्ञासा होती है। यह मनुष्य पिछले जन्म में धर्म कर चुका अतएव उसे धर्मात्मा कहा है ॥

टीका–भगवान् का यह वाक्य प्रतिज्ञा पूर्वक है कि सत्कुल में उत्पन्न परंतु अत्यन्त दुराचारी का भी मेरी भक्ति से मोक्ष हो जाता है और अब आगे कहते हैं कि ये लोग यदि नीच कुल में भी हों तो भी भक्ति के जोर से तर जाते हैं, नीचकुल में जन्म पाने से वे लोगों में भक्ति के अधिकारी नहीं गिने जाते, परन्तु वे संसार से मोक्ष हो ही जाते हैं तो केवल आचार भ्रष्ट लोग भक्ति से पवित्र हो जावें इस में क्या आश्चर्य है ॥

मांहिपार्थ! व्यपाश्रित्य येऽपिस्युःपापयोनयः।
स्त्रियोवैश्यास्तथाशूद्रास्तेपियान्तिपरांगतिम् ॥३२॥

अर्थ–हे (पार्थ) अर्जुन ! (ये) जो लोग (पापयोनयः) निकृष्ट कुल में जन्म पाये हुए अर्थात् अन्त्यजादि (अपि) भी (स्युः) होंगे और जो (वैश्याः) कृषि वाणिज्य करने वाले होंगे और जो (स्त्रियः) स्त्री जाति (तथा) और (शूद्राः) अध्ययनादि रहित शूद्र वर्ण के होंगे (तेपि) वे भी (माम्) मुझ को (व्यपाश्रित्य) अपना आश्रय बनाकर अर्थात् मेरा सेवन करके (परांगतिम्) परमगति यानी मोक्ष को (यांति) प्राप्त होते हैं ॥

टीका–स्त्रियां स्वभाव से ही कुत्रिम स्वभाव की होतीं हैं अतएव उन को भी नीच कहा है वैश्यों को धन का लोभ

अधिक होता है और शूद्र अत्यंत तमोगुणी होते हैं, परन्तु भगवद्भक्ति से ये लोग भी तर जाते हैं मैत्रेयी, मीरा, कर्मैती इत्यादि हजारों स्त्रियां परमपद को प्राप्त हुई हैं और वर्तमान काल में भी कई उदार, दाता, तपस्वी तथा ज्ञानी भक्त स्त्रियां प्रसिद्ध हैं। श्री वृन्दावन निवासी बीबी बीरा, वा बीबी जानकी ने सर्वस्व दान किया जिस से वे भी जीवन्मुक्त हुईं, इस सर्वस्व दान का महात्म नीचे लिखे इतिहास से प्रगट होता है॥

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य महाराज एक स्त्री के घर भिक्षा के लिये गये, उस समय उस स्त्री के घर में कुछ नहीं था, स्त्री बहुत पछताई तब श्रीमहाराज को करुणा आई और कहा कि तेरे घर में जो अन्न का दाना था उसमें का कोई फल सूखा पड़ा हो तो ढूंढ कर ला, उसे एक आंवला मिला सो संकोच के साथ महाराज के भिक्षा पात्र में डाल दिया जो कि उस आंवले के सिवाय उस स्त्री के घर में और कुछ न था अतएव श्री महाराज ने सर्वस्वदान की कल्पना करके लक्ष्मी जी का आवाहन किया और उन से कहा कि इस स्त्री को विशेष द्रव्य दो, लक्ष्मी जी बोलीं कि हम को देने में कोई इनकार नहीं है परन्तु इस स्त्री के कर्म ऐसे हैं कि यह सातजन्म तक दरिद्री रहेगी, और यह मर्यादा भी आप की बनाई है श्रीमहाराज बोले कि इस ने इस समय सर्वस्व दान किया सो उस का फल इसको शीघ्र होना चाहिये, देवी जी बोलीं सत्य है और महाराज के कहने के अनुसार उस का घर सुवर्ण के आंवलों से बरसाकर भर दिया। देखना चाहिये कि भक्ति मार्ग में तर्क का अवसर नहीं जब ऐसे २ लोग तर जाते हैं तो कुलीन तथा सदाचारी ईश्वर भक्तों के तर जाने में क्या संदेह है यह बात आगे कहते हैं

किंपुनर्ब्राह्मणाःपुण्या भक्ताराजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखंलोक-मिमंप्राप्यभजस्वमाम् ॥३३॥

अर्थ-तो (पुनः) फिर (पुण्याः) सुकृती (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण लोग (तथा) और (राजर्षयः) राज ऋषि लोग भी जो मेरे (भक्ताः) भक्त होंगे उन का (किम्) क्या कहना

है अर्थात् वे अवश्य ही तरेंगे अतएव हे अर्जुन तू (इमम्) इस (अनित्यम्) नाशवान् वा (असुखम्) सुख रहित (लोकम्) मर्त्य लोक को (प्राप्य) पाकर अर्थात् मृत्युलोक में जन्म लेकर अथवा इस राज ऋषि रूपी देह को प्राप्त करके (माम्) मुझ को (भजस्व) भज अर्थात् यह देह अनित्य है अतएव विलंब न कर और असुख है अतएव सुख के हेतु उद्यम छोड़कर मुझ ही को भज क्योंकि मेरे भजनही में सच्चा सुख है। अब आगे भक्ति करने की बिधि बताते हैं॥

मन्मनाभवमद्भक्तो मद्याजीमांनमस्कुरु।
मामेवैष्यसियुक्त्वैव मात्मानंमत्परायणः॥ ३४॥

अर्थ-(मन्मनाभव) मुझ ही में मन लगानेवाला होजा वा (मद्भक्तः) मेरा ही सेवक तथा भजन करनेवाला हो वा (मद्याजी) मेरा ही पूजनेवाला हो और (माम्एव) मुझ को ही (नमस्कुरु) नमस्कार कर (एवम्) इन प्रकारों से (मत्परायणः) मुझ में परायण होकर वा (आत्मानम्) अपने आत्मा अर्थात् मनको मुझ में (युक्त्वा) लगाकर वा स्थिर करके (माम्,एव) मुझ परमानन्द स्वरूप ही को (एष्यसि) प्राप्त होजावेगा॥

टीका-वासुदेव सर्व देवों का देव है और वही तारक है ऐसा जिसका दृढ़ निश्चय रहता है उसको " मत्परायण " कहा है सो भगवान् कहते हैं कि ऐसा मत्परायण होकर अनन्य भाव से मेरा भजन कर

निजमैश्वर्यमाश्चर्यं भक्तेश्चाद्भुतवैभवम्।
नवमेराजगुह्याख्ये कृपयाऽवोचदच्युतः॥

यह नवमाध्याय की टीका अनन्यभाव से श्रीयुगल चरणारविन्दों के अर्पण है॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्या राजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः समाप्तः॥

॥ दशमोऽध्यायः ॥

॥ ओ३म् नमो भगवते वासुदेवाय ॥

उक्ता:संक्षेपत:पूर्वं सप्रमादौविभूतयः ।
दशमेताविततन्वन्ते सर्वत्रेश्वरदृष्टये ॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण जी ने अध्याय ७ से लेकर अध्याय ९ पर्यन्त तीनों अध्यायों में भजनीय परमेश्वर तत्त्व का निरूपण किया और उस परमेश्वर की विभूतियां भी संक्षेप से अध्याय ७ के श्लोक ७ " रसोऽहमप्सु कौन्तेय " इत्यादि में बताईं फिर अध्याय ८ के श्लोक ४ " अधियज्ञोऽहमेवात्र " इत्यादि में तथा अध्याय ९ के श्लोक १६ " अहंक्रतुरहंयज्ञः " इत्यादि में भी विभूतियों को सूचित किया है । अब इस अध्याय में उन्ही विभूतियों का विशेष रूप से वर्णन करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रजी यह दरशाते हैं कि मेरी भक्ति अवश्य करना चाहिये ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

भूयएवमहावाहो ! शृणुमेपरमंवचः ।
यत्तेऽहंप्रीयमाणाय वक्ष्यामिहितकाम्यया ॥ १ ॥

अर्थ-हे (महावाहो) बड़ी भुजाओंवाले अर्जुन ! (प्रीयमाणाय) मेरे वचनामृत में प्रीति करनेवाले (ते) तुझको (यत्) जो बात (अहम्) मैं (हितकाम्यया) तेरे हित की चाहना करके (वक्ष्यामि) बोलता हूं वह (परमम्) परमार्थ वा परमात्मा में निष्ठा बढ़ानेवाला (मे) मेरा (वचः) बचन (भूयः) फिर (एव) भी (शृणु) सुन ॥

टीका-श्रीमहाराज कहते हैं कि तू मेरे बचन में श्रद्धा रखता है, और मैं तेरा भला चाहता हूं इसी कारण तुझ से बारंबार कहता हूं । स्वधर्म युद्धादि में वा महत्परिचर्या में जिस के बाहु कुशल हैं उसे " महावाहु " कहते हैं । अब जो बचन मैं तुझ से कहता हूं वह समझने में बड़ा कठिन है क्योंकि सिवाय मेरे और कोई मेरे प्रभाव को नहीं जान सकता है ॥

नमेविदुःसुरगणाः प्रभवंनमहर्षयः ।
अहमादिर्हिदेवानां महर्षीणांचसर्वशः ॥ २ ॥

अर्थ–(सुरगणाः) देवता लोग और (महर्षयः) भृगु आदि बड़े २ ऋषि लोग भी (मे) मेरा (प्रभवम्) जन्म रहित होने पर भी नानाप्रकार की विभूतियों के द्वारा प्रगट होने का प्रभाव (न विदुः) नहीं जानते, क्योंकि (अहम्) मैं (सर्वशः) सबप्रकार से उत्पन्न करने वाला तथा बुद्धि का प्रवर्त्तक हो कर (देवानाम्) सब देवतों का (च) और (महर्षीणाम्) संपूर्ण बड़े २ ऋषियों का (आदिः) आदि हूं अर्थात् सब के प्रथम उत्पन्न हुआ हूं और मेरे अनुग्रह के विना मुझे कोई नहीं जान सकते ॥

टीका–परमेश्वर की अचिन्त्य शक्ति को या आत्मा से पृथक् सच्चिदानन्द स्वरूप को उन की कृपा के विना कोई नहीं जान सकता, प्रथम निर्गुण ब्रह्म है उस से माया उत्पन्न हुई कि वही सगुण हो जाता है उस के पीछे देवता और महर्षि लोग उत्पन्न होते हैं । तो ये लोग सगुण ब्रह्म की " प्रभवम्" अर्थात् प्रकर्ष करके उत्पत्ति कैसे जान सकते हैं ॥

इसप्रकार मेरे आत्मरूप का ज्ञान जिसे हो जावे वही मुझे जानता है । और उस ज्ञान हो जाने का फल मैं आगे कहता हूं ॥

योमामजमनादिञ्च वेत्तिलोकमहेश्वरम् ।
असंमूढःसमर्त्येषु सर्वपापैःप्रमुच्यते ॥ ३ ॥

अर्थ–(यः) जो मनुष्य (माम्) मुझ को (अनादिम्) सब का कारण होने पर भी आदि अर्थात् कारण रहित (च) अतएव (अजम्) जन्म रहित (लोकमहेश्वरम्) सब लोकों का बड़ा स्वामी (वेत्ति) जानता है (सः) वह (मर्त्येषु) म्रियमाण अर्थात् मरने वाले मनुष्यों में (असंमूढः) मोह

रहित हो कर चतुर कहाजाता है और वही मनुष्य (सर्वपापैः) सब पापों से अर्थात् अगले पिछले कर्मों के फलों से (प्रमुच्यते) विशेष करके मुक्त हो जाता है ॥

टीका—श्लोक २ में श्रीभगवान् ने यह कहा है कि मेरा " प्रभवम् "कोई नहीं जानता, इस श्लोक में बोले हैं कि मेरा जन्म ही नहीं, इन दोनों बचनों की एकता ऐसी है कि प्रथम ब्रह्म से माया प्रकट होती है, तदनन्तर ईश्वर प्रकट होता है, यदि इसको ईश्वर का जन्म कहें तो प्रतिसृष्टि के आदि में ऐसा ही होता है । अतएव इसको अनादि ईश्वर की उपाधि का प्रादुर्भाव समझना चाहिये, । इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर अनादि है अतएव " प्रभवम् " शब्द से ईश्वर का जन्म सिद्ध नहीं होता, महाप्रलय के पीछे ईश्वर की उपाधि जो माया है, वह ब्रह्म में लीन होजाती है, और उस स्थिति को भगवंत की योगनिद्रा कहते हैं । यह निद्रा अपनी निद्रा के समान नहीं है, क्योंकि जीवोपाधि निद्रा के समय तमोगुण में लीन होजाती है । परंतु शुद्धसत्व ईश्वरोपाधि शुद्धसत्व ही में लय होती और उसी से फिर उत्पन्न होती है । जैसे ब्रह्म अनादि है, वैसे ईश्वरोपाधि भी अनादि है, अतएव ऐसा नहीं कह सकते कि ईश्वर का जन्म होता है । इसी कारण " प्रभव " शब्द का अर्थ प्रादुर्भाव समझना चाहिये,यह तत्व जो जानता है वही विवेकी मनुष्यों में श्रेष्ठ है॥ "मूढ़" शब्द का अर्थ " अज्ञ है" " सम्मूढ़ „ का अर्थ अत्यन्त विवेक हीन है तो "असंमूढ़" का अर्थ अत्यन्त विवेकी हुआ, जो अविद्या युक्त है, वह मूढ़ ही है । परंतु जो भगवंत को सब से श्रेष्ठ जानकर भजता है, वह संमूढ़ नहीं है, क्योंकि इस भजन से उसकी अविद्या रूपी ग्रन्थि छूट जाती है । जिस को ईश्वरके विषय में ऐसी भावना नहीं, उस की वेदान्त के श्रवण वा ज्ञान से कुछ उपयोग नहीं होता, यह बात अध्याय ३ के श्लोक २९ "श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्" में कह आये हैं ॥

यहां तक भगवान् ने सृष्टि के आदिकाल में अपनी श्रेष्ठता बतलाई अब आगे ३ श्लोकों से स्थितिकाल में अपनी लोकमहेश्वरता बताते हैं ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमासत्यंदमःशमः ।
सुखंदुःखंभवोऽभावो भयंचाभयमेवच ॥ ४ ॥
अहिंसासमतातुष्टिस्तपोदानंयशोऽयशः ।
भवन्तिभावाभूतानां मत्तएवपृथग्विधाः ॥ ५ ॥

अर्थ–(बुद्धिः) सारासार विवेक की निपुणता (ज्ञानम्) आत्मविषयक ज्ञान (असंमोहः) विवेक पूर्वक किसी कार्य में प्रवृत्त होकर उस में व्याकुलता न होना (क्षमा) पृथिवी के समान सहनशीलता (सत्यम्) यथार्थभाषण (दमः) बाहरी इन्द्रियों का संयम (शमः) अन्तःकरण का संयम (सुखम्) अनुकूल प्राप्ति में अन्तःकरण की वृत्ति (दुःखम्) प्रतिकूल प्राप्ति में अन्तःकरण की वृत्ति (भवः) उद्भव अर्थात् जन्म (अभावः) नाश (भयम्) त्रास (च) और (अभयम्) निर्भयता (एव च) और भी (अहिंसा) परपीड़ा निवृत्ति (समता) राग द्वेष रहित होना (तुष्टिः) जो दैव ने दिया उसी में सन्तोष (तपः) शरीर संबन्धी तप जो अध्याय १७ के श्लोक १४, १५, १६, में कहा है (दानम्) न्याय सहित धनादि सत्पात्र को देना (यशः) सत्कीर्ति (अयशः) दुष्कीर्ति ये सब (पृथग्विधाः) नाना प्रकार के (भावाः) भाव अर्थात् प्रवृत्तियां (भूतानाम्) सर्वप्राणियों में (मत्तः, एव) मेरे ही द्वारा (भवन्ति) उत्पन्न होते हैं ॥

टीका–अपना हित अनहित विचारने वाली बुद्धि भगवत्कृपा से मिलती है, ज्ञान भी उसी की कृपा से होता है। जड़ चैतन्य के विभाग से आत्मज्ञान होता है और उस ज्ञान से "मैं देह हूं" यह मोह नाश होता है, तथा अपन कौन हैं यह समझ पड़ता है । "जड़द्वैत" को संमोह कहते हैं सो

भी भगवत्कृपा से नाश होता है, एवं क्षमा इत्यादि भी भगवत्कृपा से प्राप्त होते हैं। "भव" अर्थात् जन्म और "अभाव" अर्थात् मरण ये भी भगवन्त देता है। इन सब में से जो उत्तम भाव हैं वे भक्तों को और बुरे भाव अभक्तों को श्रीभगवान्जी देते हैं। कहा भी है कि " हानि लाभ जीवन मरण, यश अपयश विधि हाथ " ॥

यहां तक अपनी सर्वेश्वरता वर्णन करके अब आगे कहते हैं कि मैं सब का सेव्य अर्थात् सेवा करने योग्य हूं ॥

महर्षयःसप्तपूर्वे चत्वारोमनवस्तथा ।
मद्भावामानसाजाता येषांलोकमिमाःप्रजाः ॥६॥

अर्थ–पुराणों में प्रसिद्ध जो भृगु आदि (सप्तमहर्षयः) सात ब्राह्मण महामहर्षि थे उन के भी (पूर्वे) पहिले जो सनकादि (चत्वारः) चार महर्षि हुए तथा स्वायंभुवादिक (मनवः) जो मनु उत्पन्न हुए उन सब में (मद्भावाः) मेरा ही प्रभाव था और वे सब मेरे ही हिरण्यगर्भात्मकरूपी (मानसाः) मन के संकल्प से (जाताः) उत्पन्न हुए तथा मेरे उसी प्रभाव के कारण (येषाम्) जिन की अर्थात् भृगु आदि की और सनकादिक की (इमाः) ये सब (प्रजाः) सन्तति (लोकम्) इस लोक में उत्पन्न हो रही है अर्थात् ये सब ब्राह्मणादि उन्हीं के पुत्र पौत्र रूप और शिष्यरूप से इस लोक में वर्तमान हैं। सो सब मेरे ही प्रभाव के कारण समझना चाहिये, अर्थात् सृष्टिमात्र सब मेरे हीमन के सङ्कल्प से उत्पन्न होती है ॥

टीका–श्रीभगवान् जी की पद्मनाभ मूर्त्ति के नाभि कमल से ब्रह्मदेव उत्पन्न हुए उन के मन से भृगुऋषि और सनकादिक तथा चौदह मनु हुए । इन सब से सकल विश्वरूपी सन्तान हुई ये सब श्रीभगवत् के परमभक्त थे। प्रथम श्रीभगवन्त जी ने ब्रह्मदेव जी को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया यही विद्या परम्परा से अबतक चली आती है । इस प्रकार

यह सृष्टि एक तो श्रीभगवान् जी की सन्तानरूप है तथा दूसरे शिष्यरूप है। अतएव वह जगत्पिता है वा जगद्गुरू भी है। प्रजा दो प्रकार की है १ निवृत्ति मार्ग वाले जिन के आचार्य सनकादिक हैं, २ प्रवृत्ति मार्गवाले जिनके आचार्य भृगु आदि हैं, ये दोनों मार्ग अनादि हैं, निवृत्ति मार्ग का फल मोक्ष कहाजाता है॥

जीवन्मुक्त सब भगवत्स्वरूप हो जाते हैं, अतएव इन्हें श्रीभगवन्त जी की विभूति कहा है, इन लोगों में ज्ञान होने के कारण श्रीभगवत् जी की विशेष ईश्वरता होती है। ज्ञान दो प्रकार का है। १ निर्गुण, २ सगुण, ऐश्वरयोग का धर्मज्ञान निर्गुण ज्ञान से श्रेष्ठ है क्योंकि इस ऐश्वरयोग में भगवद्विभूति विशेष करके है। इस विभूति वा इस योग के ज्ञान को ही सगुण भक्ति कहते हैं॥

उक्त विभूति इत्यादि के तत्त्वज्ञान से जो फल होता है वह आगे कहते हैं॥

एतांविभूतिंयोगंच ममयोवेत्तितत्त्वतः।
सोऽविकम्पेनयोगेन युज्यतेनात्रसंशयः॥ ७॥

अर्थ-(एताम्) ये सनकादि वा भृग्वादि लक्षण अर्थात् उन की चलाई हुई (मम) मेरी (विभूतिम्) विभूतियां (च) और ऐश्वर्य लक्षण मेरे (योगम्) ऐश्वरयोग को (यः) जो कोई (तत्त्वतः) भलीभांति (वेत्ति) जानता है (सः) वह (अविकम्पेन) निःसन्देहरूपी (योगेन) सम्यक् दर्शन के द्वारा (युज्यते) मुझ में युक्त हो जाता है अर्थात् उसी को ज्ञानामृत प्राप्त होता है। (अत्र) इस में कोई (संशयः) सन्देह (न) नहीं है॥

टीका-श्लोक ६ में कहेहुए भक्त भगवद्विभूति हैं, अध्याय ९ में कहाहुआ ऐश्वरयोग श्रीभगवन्त जी का योग है। जो कोई ऐसे अनुभव से जान लेता है कि यह विभूति वा यह योग सगुण सर्वेश्वर की मूर्त्ति है उसी का योग साधना हो सकता है। " मम " शब्द से यह सुझाया है कि ये विभूतियां

तथा यह योग मेरा ही है, अन्य देवता का नहीं इस का पूरा ज्ञान आत्मज्ञान हुए बिना नहीं होता अतएव " तत्त्वतः" शब्द की योजना की है ॥

भगवद्भक्ति न करने वाले योगी लोग अपने चित्त को स्व स्वरूप में लगाना चाहते हैं, परन्तु चित्तवृत्तियों की चञ्चलता के कारण उन का योग सधता नहीं, जिन के चित्त स्वरूप को जानते हैं, परन्तु वे " सकम्प" अर्थात् संशय युक्त रहते हैं। इस योग तथा विभूति का ज्ञान हो जाने से वही चित्त " अविकम्प " अर्थात् स्थिर हो जाता है। जहां जो पदार्थ उत्तम है वह ईश्वर सामर्थ्य का लक्षण है, यह बात जान लेने को भक्तियोग कहते हैं। श्रीभगवन्त जी अपने भक्त को ज्ञान देते हैं वही उस का योग बताना है। अपना योगेश्वर तत्त्व रूप से उन्हें दिखा कर उन के अङ्ग में अविकम्प योग प्रकाश करता है वही भक्तों का क्षेम करता है इस प्रकार वह अपने भक्तों को योग क्षेम बताता है जैसा कि अध्याय ९ के श्लोक २२ " तेषांनित्याभियुक्तानां योगक्षेमंवहाम्यहम्,, में कहा है ॥

अब आगे ४ श्लोकों में यह बताते हैं कि मेरी विभूति तथा योग के द्वारा सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होती है।

अहंसर्वस्यप्रभवो मत्तःसर्वंप्रवर्तते ।
इतिमत्वाभजन्तेमां बुधाभावसमन्विताः ॥८॥

अर्थ-(अहम्) मैं (सर्वस्य) सब जगत् का (प्रभवः) भृग्वादि और मन्वादि रूपी विभूतियों के द्वारा उत्पत्ति का हेतु हूं और (मत्तः) मुझ ही से " बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः ,, इत्यादि (सर्वम्) सब (प्रवर्तते) उत्पन्न होते वा चेष्टा करते हैं (इति मत्वा) ऐसा जान कर (बुधाः) विवेकी लोग (भावसमन्विताः) प्रीतियुक्त होकर (माम्) मुझे (भजन्ते) भजते हैं अर्थात् वे यह समझते हैं कि सबका प्रेरक एक अन्तर्यामी मैं ही हूं ॥

टीका-भगवन्त सब जगत् का उपादान कारण वा निमित्त कारण भी है, सुवर्ण अलंकार न्याय से वह अपने निर्गुण स्वरूप से संसार का उपादान कारण है। माया सहित वह जगत् की कल्पना करता है, अतएव साक्षिरूप से निमित्त कारण है। जो कोई इस तत्त्व को जान कर भगवद्भजन करता है वही बुध अर्थात् विवेकी है॥

अब आगे प्रीतिपूर्वक भजन करने का प्रकार बताते हैं॥

मच्चित्तामद्गतप्राणा बोधयन्तःपरस्परम्।
कथयन्तश्चमांनित्यं तुष्यन्तिचरमन्तिच ॥९॥

अर्थ-वे विवेकी लोग (मच्चित्ताः) मुझ सच्चिदानन्द ही में अपने चित्त को लगाते हैं (मद्गतप्राणाः) मुझ ही में अपनी इन्द्रियां तथा जीवन तक लगाये रहते हैं और इस प्रकार होकर वे (परस्परम्) एक दूसरे को यथान्याय श्रुत्यादि का प्रमाण दे कर (बोधयन्तः) मेरा बोध करते रहते हैं (च) और जब श्रुतियों का तथा युक्तियों का एक मत हो जाता है तब उसी के अनुसार आप खुद मुझे खूब जान कर (माम्) मुझको अर्थात मेरा ही (कथयन्तः) कीर्तन भजन करते हैं अर्थात् भक्तों को भगवत्स्वरूप का उपदेश करते रहते हैं। इसी भांति (नित्यम्) सर्वदा (तुष्यन्ति) अपना अनुमोदन कर के संतुष्ट होते हैं (च) और (रमन्ति) निवृत्ति को प्राप्त होते हैं वह निरतिशय आनंद है उस आनंद के परे विषयानन्द को तुच्छ समझते हैं॥

टीका-सब देहों में चैतन्य रहता है, और बिना चित्त के देह को सचेतनता नहीं आती, यही चित्त विवेकी लोग भगवंत में लगाते हैं अर्थात् वे यह समझते हैं कि भगवद्भजन बिना जीवन व्यर्थ है। जिस देह में चैतन्य होता है परंतु उपरोक्त चित्त नहीं रहता उसी का नाम प्रेत है॥

देह में प्राण है तब तक उसे प्रेत नहीं कह सकते अतएव विवेकियों को जिनका जीवन सार है " मद्गतप्राणाः,, कहा है, अर्थात् उनकी प्रत्येक श्वास उच्छ्वास भगवत्प्रीति युक्त रहती है, और ऐसा करने से उनका एक क्षण भी भजन बिना नहीं जाता जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है–

॥ चौपाई ॥

राम राम कह जे जमुहांहीं । तिनहिं न पाप पुण्य समुहांहीं ॥

सत्संग के विना ऐसा भजन बनता नहीं, क्योंकि सत्संग रहने से यदि एक भूलता है तो दूसरा स्मरण करा देता है, वा एक दूसरे को भजन का माहात्म्य बोधित कराके उसीमें संतोष मानते और रमें रहते हैं ॥

इस प्रकार के भजन का फल आगे कहते हैं

तेषांसततयुक्तानां भजतांप्रीतिपूर्वकम् ।
ददामिबुद्धियोगंतं येनमामुपयान्तिते ॥ १० ॥

अर्थ–इस प्रकार (तेषांसततयुक्तानाम्) मुझ में निरंतर चित्तवालों और (प्रीतिपूर्वकंभजताम्) प्रीति सहित मेरा भजन करनेवालों को मैं (तम्) वह (बुद्धियोगम्) बुद्धि रूपी उपाय यानी ज्ञान योग (ददामि) देता हूं अर्थात् उनकी बुद्धि को ऐसी प्रेरणा करता हूं (येन) जिस उपाय से (ते) वे मेरे भक्त (माम्) मुझको (उपयान्ति) प्राप्त कर लेते हैं॥

(नोट) विदुर जी ने कहा है कि–

नदेवादण्डमादाय रक्षन्तिपशुपालवत् ।
यंतुरक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्यासंविभजन्तितम्॥

अर्थात् देवता लोग हाथ में लकड़ी लेकर मनुष्यों की रक्षा नहीं करते किन्तु जिसकी रक्षा करना चाहते हैं उसको अच्छी बुद्धि देते ह जिससे उत्तम शुभाचरण करने से स्वयं उसकी रक्षा यथावत् होती है । सब देवता एक भगवान् के ही

रूपान्तर है, इस से सिद्ध हुआ कि जो लोग ईश्वर भक्ति में नित्य २ तत्पर रहते हैं उन्हीं को भगवान् उत्तम बुद्धि देते हैं जिसके द्वारा उनके सब काम सिद्ध होते जाते हैं। इस लिये सर्व कार्य सिद्धियों की उत्तम रीति भगवद्भक्ति ही है॥ (भी०शा०)

टीका–"प्रीतिपूर्वकम् ,, अर्थात् भगवान् उन भक्तों को अपने भजन में नहीं लगाता किन्तु वे आप ही से भजते हैं। उस भजन से उनका यही उद्देश रहता है कि भगवत् में प्रीति उत्पन्न होवे और यह प्रीति भगवंत उन्हें देता भी है क्योंकि वे उसी को मांगते हैं, भगवंत का स्वभाव कल्पवृक्ष रूपी है कि जो कोई जो कुछ मांगता है उसे वही देता है। कोई भक्त काम्य पदार्थ कोई मोक्ष मांगते हैं, परंतु इस श्लोक में कहे हुए भक्त केवल भगवत्प्रीति को ही मागते हैं, अतएव भगवंत उन्हें वैसा ही बुद्धियोग देता है॥

बुद्धियोग अर्थात् बुद्धि का तथा चैतन्य का संयोग, यह संयोग बना ही रहता है, परंतु अनादि अविद्या संस्कार के कारण उनका वियोग हो जाता है। सो भगवान् मिटा देता है, आत्मज्ञान देकर फिर भक्तियोग देता है। यह भक्ति योग अध्याय ९ के श्लोक ४।५ में कहा है॥

भगवान् को पाने का आशय यह है कि उसके ऐश्वर योग को तत्व से जान लेवे॥

श्लोक ७ "एतांविभूतिंयोगंच" इत्यादि में कहा है कि विभूति और योग दोनों को जानना आवश्यक है क्योंकि शास्त्रादि के श्रवण से तो विभूति को कोई जान भी सकता है परन्तु ऐश्वरयोग अर्थात् बुद्धियोग आत्मज्ञान विना कोई नहीं जान सकता है, और ऐश्वरयोग के तत्व को जान लेना वही श्रीभगवत् जी को प्राप्त कर लेना है॥

अब आगे कहते हैं कि मैं बुद्धियोग तो देता हूं परन्तु उस के अनुभव होने पर्यन्त जो अविद्याकृत संसार उसे ढांपे रहता है उस का भी नाश करता हूं॥

तेषामेवाऽनुकम्पार्थ—महमज्ञानजंतमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेनभास्वता ॥११॥

अर्थ—मैं उन भक्तों की (आत्मभावस्थः) बुद्धि की वृत्ति में स्थित हो कर (भास्वता) प्रकाशवान् (ज्ञानदीपेन) ज्ञान-रूपी दीपक के द्वारा (तेषाम्) उन के (अनुकम्पार्थम्, एव) अनुग्रह ही के हेतु (अज्ञानजम्) अज्ञान से उत्पन्न जो (तमः) संसाररूपी अन्धकार है उस को (अहम्) मैं (नाशयामि) नाश कर देता हूं अर्थात् उन की बुद्धि में प्रवेश करके उन को ज्ञान दे कर अज्ञान के उत्पन्न को उठा देता हूं और श्रीसूर्यना-रायण जी के समान विज्ञान दे कर उन का अज्ञानजनित जड़ द्वैत का नाश कर देता हूं यह केवल उन के ऊपर अनुग्रह की राय से करता हूं और इस से उन को संसार मिथ्या प्र-तीत होने लगता है ॥

(नोट) ईश्वर भगवान् ज्ञान स्वरूप है कि जैसे अग्नि स्व-भाव से ही गर्म स्वरूप है, वैसे ही ईश्वर स्वाभाविक ज्ञान-स्वरूप है। जैसे अग्नि के पास बैठनेवालों को शीतादि वि-कार नहीं सताते वैसे ही ईश्वर की ओर जिनका चित्त ल-गता है उनके हृदय का अज्ञानान्धकार नष्ट होता और संसार के सब दुःखों से वे लोग बच जाते हैं। जैसे जलाशय के भी-तर घुसने से गर्मी भागती है वैसे ही अनन्त आनन्द स्वरूप भगवान् की उपासना से सब दुःख हट जाते हैं ॥ (भी० शा०)

टीका—मोक्षार्थी भक्ति वा प्रीति मांगनेवाले इन दोनों को भगवत्कृपा से ही ज्ञान मिलता है परंतु ज्ञान पाने पर मोक्षार्थी अव्यक्त के उपासक बन कर सगुण भक्ति छोड़ देते हैं, अतएव योग के निमित्त अतिकष्ट पाते हैं और प्रीति पू-र्वक भजनेवालों पर सगुण भगवान् की विशेष कृपा रहती है और इसी कारण उनका "अविकम्पयोग" विना प्रयास स-ध जाता है। इन को श्री भगवान् दो प्रकार का ज्ञान देते हैं

अर्थात् एक व्यतिरेक ज्ञान देकर अनादि अविद्या का आवरण यानी तम दूर कर देते हैं कि जिसके कारण जीव अपना सच्चा स्वरूप जानने लगता है और जिस अनादि अविद्या रूपी पूर्व संस्कार के कारण जड़ द्वैत का भ्रम होकर चित्त चिन्मय नहीं होता उस अज्ञानजनिततम का नाश अन्वय ज्ञान देकर कर देते हैं ॥

इस श्लोक से अर्जुन को खातिरी हो गई कि श्रीकृष्ण जी सब देवतों के देव हैं अतएव उनकी स्तुति करके उनकी विभूतियों का विस्तार पूर्वक वर्णन आगे ७ श्लोकों में पूछता है क्योंकि अभी तक भगवान् ने उनको संक्षेप से कहा है ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

परंब्रह्मपरंधाम पवित्रंपरमंभवान् ।
पुरुषंशाश्वतंदिव्य–मादिदेवमजंविभुम् ॥१२॥
आहुस्त्वामृषयःसर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितोदेवलोव्यासः स्वयंचैवब्रवीषिमे ॥१३॥

अर्थ–(भवान्) आप प्रकृति और पुरुष के परे (परंब्रह्म) जो परं ब्रह्म है वही हो तथा (परंधाम) परम श्रेष्ठआश्रय हो और आप (परमम् पवित्रम्) परम पवित्र भी हो क्योंकि आप (शाश्वतम्) नित्य वा (दिव्यम्) स्वयं प्रकाशवान् (पुरुषम्) आदि पुरुष हो तथा (आदिदेवम्) सब देवतों के आदि अर्थात् कारण भूत हो (अजम्) अजन्मा और (विभुम्) सर्व व्यापक सब के धनी हो ॥ १२ ॥ भृग्वादि (सर्वे ऋषयः) संपूर्ण ऋषि लोग तथा (देवर्षिर्नारदः) नारद देव ऋषि और असित वा देवल तथा व्यास ये सब (त्वाम्) तुमको (आहुः) ऐसा ही कहते हैं कि तुम परंब्रह्म परंधाम इत्यादि हो (चैव) और (स्वयम्) साक्षात् तुम भी (मे) मुझ से वैसा ही (ब्रवीषि) कहते हो ॥

टीका-" परंब्रह्म " इस वाक्य से यह बताया है कि प्रकृति पुरुष के परे जो निर्गुण ब्रह्म है, वह श्रीकृष्ण ही हैं अतएव निर्गुण मोक्ष भी वही हैं, " परंधाम " अर्थात् वैकुण्ठ जो सब से पवित्र और श्रेष्ठ है वह भी सगुण श्रीभगवन्त जी का रूप है, क्योंकि निर्गुणब्रह्म न तो पवित्र और न अपवित्र हो सकता है, रजस् तमस् जहां नहीं वही शुद्धसत्वरूप वैकुण्ठ है॥

अब आगे अर्जुन श्रीभगवान् जी से कहते हैं कि तुम्हारी ऐश्वर्यता के विषय में मेरी भी शङ्का दूर हो गई ॥

सर्वमेतदृतंमन्ये यन्मांवदसिकेशव !।
नहितेभगवन्व्यक्तिं विदुर्देवानदानवाः ॥१४॥

अर्थ-हे (केशव) श्रीकृष्ण ! (यत) जो " नमेविदुःसुरगणाः " श्लोक २ इत्यादि में तुमने (माम्) मुझ से (वदसि) कहते हो (एतत) यह (सर्वम्) सब अर्थात् तुम्हीं परंब्रह्म परंधाम हो सो मैं (ऋतम्) सत्य (मन्ये) मानता हूं हे (भगवन्) कृष्ण ! (ते) तुम्हारे (व्यक्तिम्) इस रूप से प्रगट होने को तथा भाव को (देवाः) देवता लोग (नहिविदुः) नहीं जानते और (न दानवाः) न राक्षस जानते हैं अर्थात् देवता लोग यह नहीं जान सकते कि हमारे अनुग्रह के हेतु आपकी यह अभिव्यक्ति है और राक्षस लोग यह नहीं जान सकते कि हमारे निग्रह के हेतु श्रीभगवान् जी प्रगट हुए हैं यानी दैवी संपत्ति वाले और आसुरी संपत्ति वाले भी आप के असल तत्व को नहीं जान सकते तो फिर कौन जान सकता है सो आगे कहते हैं ॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थत्वंपुरुषोत्तम !।
भूतभावनभूतेश देवदेवजगत्पते ! ॥ १५ ॥

अर्थ-अतिआदर से अर्जुन कहते हैं कि हे (पुरुषोत्तम) उत्तम पुरुष ! हे (भूतभावन) भूतों को उत्पन्न करने वाले, हे (भूतेश) भूतों के स्वामी अर्थात् नियन्ता, हे (देव देव) देव-

टीका—दुष्टों को दुःख और भक्तों को सुख देनेवाले को जनार्दन कहते हैं। अध्याय ७ में संक्षेप से विभूतियां कही हैं और अब योग सहित उन्हीं विभूतियों का वर्णन विस्तार पूर्वक अर्जुन सुनना चाहता है क्योंकि पहिले थोड़ा सा विभूति रूप अमृत पीने से उसे सन्तोष नहीं हुआ था जैसे राजा हाथी घोड़ा सेनादि ऐश्वर्य से जाना जाता है वैसे ईश्वर अपनी विभूतियों से जाना जाता है और जैसे मंत्रियों का आश्रय लेने से अपने को राजा की भेंट मिल जाती है वैसे ही विभूतियों का आश्रय लेने से शुद्ध सच्चिदानन्द ईश्वर मिल जाता है॥

अर्जुन की ऐसी प्रार्थना सुन कर अब आगे श्रीकृष्ण जी उसके प्रश्नों का उत्तर देते हैं॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

हंततेकथयिष्यामि दिव्याह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतःकुरुश्रेष्ठ! नास्त्यन्तोविस्तरस्यमे॥१९॥

अर्थ—"हंत" शब्द अनुकम्पा का संबोधन है (हंत) हां अर्जुन! जो तू ने पूंछा सो ठीक है हे (कुरुश्रेष्ठ) अर्जुन! (दिव्याः) अलौकिक (आत्मविभूतयः) मेरी जो विभूतियां हैं वे (प्राधान्यतः) मुख्य मुख्य करके (हि) निश्चय रूप ही से (ते) तुझको (कथयिष्यामि) कहूंगा क्योंकि वैसे तो (मे) मेरे (विस्तरस्य) विस्तार का अर्थात् मेरी विभूतियों के विस्तार का (अन्तः) अन्त (नास्ति) नहीं है अर्थात् मेरी विभूतियां अनन्त हैं अतएव उनमें जो प्रधान प्रधान हैं उन्हीं का वर्णन तुझ से करूंगा॥

टीका—अर्जुन का यह प्रश्न था कि भगवंत के ऐश्वर योग का चिंतन करते हुए विभूति रूप से उसका विशेष चिंतन कैसे करना चाहिये अतएव यद्यपि इस श्लोक में केवल विभूति

शब्द आया है तथापि उसका अर्थ योग सहित विभूतियां कहूंगा ऐसा लेना चाहिये बल्कि "आत्मविभूतयः" इस वाक्य से यह अर्थ सूचित भी होता है। आत्मा का अर्थ देह ही लिया जावे तो सर्व विश्व रचना यानी अघटित घटना योग ईश्वर का देह हुआ अतएव उस योग के सहित विभूतियां कहने का आप ही बोध होता है ॥

अब आगे प्रथम अपना ऐश्वररूप ही कहते हैं ॥

अहमात्मागुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्चमध्यञ्च भूतानामन्तएवच ॥२०॥

अर्थ—हे (गुडाकेश) अर्जुन ! (सर्वभूताशयस्थितः) सब भूतों के बीच में स्थित होकर अर्थात् सर्वज्ञ वा सबका नियंता (अहम्) मैं (आत्मा) सबका परम आत्मा हूं (च) और (भूतानाम्) सब भूतों का (अहम्) मैं (आदिः) जन्म कारण (च) और (मध्यम्) स्थिति (एव च) और (अन्तः) मरण कारण भी हूं अर्थात् सर्व चराचर की उत्पत्ति, स्थिति वा संहार का कारण मैं ही हूं यह ईश्वर की सब से श्रेष्ठ विभूति है इसी का चिंतन करना परमेश्वर की मुख्य उपासना है ॥

(नोट) वेदान्त का परम सिद्धान्त है कि—आदावन्ते चयन्नास्ति वर्त्तमानेऽपितत्तथा। जो वस्तु आदि अन्त में नहीं केवल बीच ही में दीखता है वह वास्तव में मध्य में भी कुछ नहीं है, किन्तु जो आदि अन्त में है वही बीच में है। जैसे प्रथम जल है बीच में बुदबुद नाम रूप विकार प्रतीत हुआ, पीछे अन्त में वही जल है तो मध्य में भी बुद बुद फेन तरंगादि वास्तव में कुछ नहीं, तब भी केवल ही है। वैसे सृष्टि से पहिले केवल ईश्वर है प्रलय होने पर अन्त में भी भगवान् ही है बीच में संसार प्रपंच दीखता है वह जल तरंगों के तुल्य कल्पना मात्र असत् नाम मिथ्या है। यही आशय श्लोक २० में भगवान् ने दिखाया है कि आदि मध्य अन्त में मैं ही हूं (भी०प्र०)

टीका—सर्व प्राणियों का यही आशय रहता है कि हमारा भला होवे और उस आशय में जो प्रिय रूप आत्मा रहता है वही भगवंत है, यह आत्मा स्वतः सिद्ध निर्मल रहता है परन्तु अहं बुद्धि उसे ढांपकर उसका प्रकाश कम कर देती है उसी अहं बुद्धि अर्थात् अहंपन में यह आशय रहता है कि मुझे सुख होवे और उस आशय में सर्वव्यापक चित्स्वरूप मौजूद ही है अतएव जीवों की कोई भी इच्छा तृप्त हुई कि उससे समझो कि भगवंत ही तृप्त हुआ, क्योंकि जीव चिदंश है और सब भोग वही चिदंश भोगता है। सर्व जीव भगवदंश हैं तो जो सुख किंवा दुःख उसको होता है वह समझो कि भगवंत को होता है। इस उपदेश पर विशेष ध्यान दिलाने के कारण ही भगवान् ने अर्जुन को "गुड़ाकेश" कहा है जिस ने निद्रा जीत ली हो अर्थात् जो अपने हित में जागृत हो उसका नाम गुड़ाकेश है॥

पूर्वार्द्ध में भगवान् ने यह बताया है कि जड़ को चैतन्य से अलहदा करने से जो निर्मल चैतन्य है वही मैं हूं और उत्तरार्द्ध में यह सुझाया है कि सर्वविश्व मेरा ही रूप है, सुवर्ण में अलंकार रहता है परन्तु वह स्थितिकाल ही में दीखता है आदि वा अंत में नहीं, उसी प्रकार भगवंत में सब सृष्टि है परंतु यह सृष्टि केवल स्थितिकाल में ही दीखती है क्योंकि आदि वा अंत में वह भगवत् के रूपही में गुप्त रहतीहै मध्य में इस सृष्टि का भास माया के योग से होता है और वही भगवंत का ऐश्वर योग है॥

इस श्लोक में भगवान् ने कहा है कि वह ऐश्वर योग मैं ही हूं उत्तरार्द्ध में यह योग दिखाकर उस योग में जो विभूतियां हैं वे पूर्वार्द्ध में बताई हैं इससे यह सिद्ध है कि आगे भी योग सहित विभूतियां बताई हैं॥

आदित्यानामहंविष्णुर्ज्योतिषांरविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहंशशी॥ २१॥

अर्थ-(आदित्यानाम्) बारह आदित्यों में (विष्णुः) विष्णु नाम का आदित्य (अहम्) मैं हूं वा (ज्योतिषाम्) प्रकाशवान् पदार्थों में (अंशुमान्) विश्वव्यापी किरणों युक्त (रविः) सूर्य मैं ही हूं (मरुताम्) वायु अर्थात् सप्तमरुद्गणों के मध्य में (मरीचिः) मरीचि नाम का वायु (अस्मि) मैं हूं और (नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों के मध्य में (शशी) चन्द्रमा (अहम्) मैं हूं ॥

टीका-सर्व इन्द्रियों के जुदे २ देवता हैं उनमें पांव का देवता वामनरूपी विष्णु है, यह पांव ही सब इन्द्रियों को उनके विषयों के पास पहुंचाते हैं अतएव भगवान् कहते हैं कि पादाभिमानी देवता भी मेरी विभूति हैं इसी प्रकार और २ इन्द्रियों को भी समझो ॥

वेदानांसामवेदोऽस्मि देवानामस्मिवासवः ।
इन्द्रियाणांमनश्चास्मि भूतानामस्मिचेतना॥२२॥

अर्थ-(वेदानाम्) वेदों के बीच में (सामवेदः) सामवेद (अस्मि) मैं हूं और (देवानाम्) देवतों के बीच में (वासवः) इन्द्र (अस्मि) मैं हूं (च) और (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों में (मनः) मन (अस्मि) मैं हूं वा (भूतानाम्) सब चराचर भूतों में (चेतना) जीवन तथा ज्ञान शक्ति (अस्मि) मैं हूं-

(नोट) सामवेद सब वेदों में इस लिये अधिक श्रेष्ठ है कि उस में गानविद्या की प्रधानता है । इसी सामवेद का उपवेद गान्धर्व वेद है वेद के तत्त्वज्ञानी सामवेदी का गाना बड़ा प्रभावोत्पादक होता है। यजमान के इष्ट फल की सिद्धि सामगान के द्वारा ही मानी गयी है। आनन्द मीमांसा में चक्रवर्ती मनुष्य के आनन्द से सौगुणा आनन्द मनुष्य गन्धर्वों को माना और उन से भी सौगुणा देव गन्धर्वों को, माना है यह सामगान की ही महिमा है ॥ (भी० श०)

रुद्राणांशङ्करश्चास्मि वित्तेशोयक्षरक्षसाम् ।
वसूनांपावकश्चास्मि मेरुःशिखरिणामहम्॥२३॥

अर्थ–(रुद्राणाम्) रुद्रों के बीच में (शङ्करः) शङ्कर (च भी (अस्मि) मैं हूं तथा (यक्षरक्षसाम्) जो क्रूर यक्ष वा राक्षस हैं उनके बीच में (वित्तेशः) कुबेर मैं हूं (च) और (वसूनाम्) वसुओं के बीच में (पावकः) अग्नि (अस्मि) मैं हूं और (शिखरिणाम्) ऊंचे शिखरवाले पदार्थों में (मेरुः) सुमेरु पर्वत (अहम्) मैं हूं अर्थात् जो अपने २ वर्गों में उत्तम पदार्थ हैं वे सब मेरी विभूति हैं ॥

(नोट) गीता पुस्तक सब सम्प्रदायवालों का ही मान्य नहीं किन्तु अमेरिकादि के थियोसोफिस्टादि ईसाई तथा अनेक मुसलमानों का भी मान्य है। तब हमारे वैष्णव संप्रदाय वालों को गीता विशेष मान्य विष्णु भगवान् की महिमा प्रकाशक होने से अवश्य ही होगा। उसी गीता में भगवान् शङ्कर को अपना ही रूप बताते हैं। तो जो वैष्णव सम्प्रदायी महाशय शङ्कर नाम रूप भगवान् की पूजोपासना से विरोध करते हैं वे भगवान् की आज्ञा के विरोधी क्यों नहीं हुए? (भी०श०)

पुरोधसांचमुख्यंमां विद्धिपार्थबृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहंस्कंदः सरसामस्मिसागरः ॥ २४ ॥

अर्थ–हे (पार्थ) अर्जुन ! (पुरोधसाम्) देवतों के पुरोहितों के बीच में (मुख्यम्) सब से श्रेष्ठ जो (बृहस्पतिम्) बृहस्पति हैं वह (माम्) मुझको अर्थात् मेरा ही रूप (विद्धि) जानो और (सेनानीनाम्) देवतों के सेनापतियों के मध्य में (स्कन्दः) स्कन्द (अहम्) मैं हूं तथा (सरसाम्) स्थिर जलाशयों के बीच में (सागरः) समुद्र (अस्मि) मैं हूं—

महर्षीणांभृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानांजपयज्ञोऽस्मि स्थावराणांहिमालयः॥२५॥

अर्थ–(महर्षीणाम्) महान् ऋषियों के मध्य में (भृगुः) भृगुाचार्य (अहम्) मैं हूं वा (गिराम्) वाणी के बीच में

(एकम्, अक्षरम्) एक अक्षर का जो ओंकारपद है वह (अस्मि) मैं हूं। (यज्ञानाम्) सब यज्ञों के बीच में (जपयज्ञः) जपरूपी यज्ञ (अस्मि) मैं हूं तथा (स्थावराणाम्) स्थावर पदार्थों में (हिमालयः) हिमालय पर्वत मेरा ही रूप है ॥

(नोट) जो हिमालय भगवान् का रूप है उसी की पुत्री पार्वती देवी जगन्माता जगत् पूज्य हुई हैं ॥ (भी० अ०)

टीका—१ परा २ पश्यन्ती ३ मध्यमा ४ वैखरी ये चार प्रकार की वाणी जीवों की शब्दरूपी उपाधियां हैं, अमुक मेरा है और अमुक मुझे चाहिये, ऐसी कल्पना "पश्यन्ती" नाम की वाणी करती है और वह एक घड़ी भी स्थिर नहीं रहती, जप करने के समय वह मन्त्र पर उड़ान भरती है। संसार का मूल कल्पना ही है और उसी के कारण यह जीव चिदंश कहा जाता है। जब "पश्यन्ती" नाम की वाणी से नारायण का मन्त्र उच्चारण होता है तभी चिदंश की संसारी कल्पना से विश्राम मिलता है, क्योंकि जप करते २ वह कल्पना मन्त्र रूप हो जाती है उस कल्पना को मन्त्ररूपी अग्नि में होम दिया कि जप यज्ञ करने वाले यजमान को कैवल्य पद ही फल मिलता है। वैखरी में भगवत् नाम आया कि वह पवित्र हो जाती है, और मन्त्र का जप बन्द हुआ कि बुद्धि आत्मस्वरूप ही को देखती है, सामान्य मनुष्य को भी यह अनुभव क्षणभर होता है परन्तु अविद्या के कारण वह उस को पहिचान नहीं सकता किन्तु ऐसा बारम्बार होने से आत्मस्वरूप की पहिचान हो जाती है यह सब जप की महिमा है, अतएव सर्वयज्ञों में जपयज्ञ श्रेष्ठ है और वही श्रीभगवन्त जी की विभूति है ॥

अश्वत्थःसर्ववृक्षाणां देवर्षीणांचनारदः।
गन्धर्वाणांचित्ररथः सिद्धानांकपिलोमुनिः ॥२६॥

अर्थ—(सर्ववृक्षाणाम्) सब वृक्षों के बीच में (अश्वत्थः) पीपल का वृक्ष मैं हूं और (देवर्षीणां च) जो देवता हो कर

मन्त्र दर्शन द्वारा ऋषि हो गये हैं उन के बीच में (नारदः) नारद ऋषि मैं हूं (गन्धर्वाणाम्) गन्धर्वों के बीच में (चित्ररथः) चित्ररथ नाम का गन्धर्व मैं हूं और (सिद्धानाम्) जो उत्पत्ति ही से परमार्थ के तत्त्व को जानने लगते हैं उन के मध्य में (कपिलोमुनिः) कपिल नाम का मुनि मैं हूं ॥

(नोट) सनातनधर्मी हिन्दुओं में इसी प्रमाण के अनुसार श्रीभगवान् जी की एक विभूति वा मूर्त्ति मानकर पीपल की पूजा की जाती है किन्तु वृक्ष वनस्पति मान के पूजा नहीं की जाती है। यह पीपल वनस्पति सब से अधिक सुहावना और गुणवान् है इस में कई ऐसे विलक्षण गुण हैं जो अधिक विचार से ज्ञात होते हैं ॥ (मी० श०)

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धिमाममृतोद्भवम्।
ऐरावतंगजेन्द्राणां नराणांचनराधिपम् ॥२७॥

अर्थ–(अमृतोद्भवम्) क्षीर सागर मंथन करते समय अमृत के साथ उत्पन्न हुआ जो (उच्चैःश्रवसम्) उच्चैःश्रवस नाम का घोड़ा निकला उसको (अश्वानाम्) सब घोड़ों के बीच में (माम्) मुझ को अर्थात् मेरी विभूति (विद्धि) जानो (गजेन्द्राणाम्) हाथियों के मध्य में (ऐरावतम्) जो ऐरावत नाम का हाथी समुद्र मंथन समय में निकला वह मेरी विभूति है (च) और (नराणाम्) मनुष्यों के बीच में (नराधिपम्) राजा को भी मेरी विभूति जानो ॥

आयुधानामहंवज्रं धेनूनामस्मिकामधुक्।
प्रजनश्चास्मिकंदर्पः सर्पाणामस्मिवासुकिः ॥२८॥

अर्थ–(आयुधानाम्) हथियारों के बीच में (अहम्) मैं (वज्रम्) वज्र हूं तथा (धेनूनाम्) गायों के बीच में (कामधुक्) मैं सर्व कामना को पूर्ण करने वाली कामधेनु गाय (अस्मि, मैं हूं (च) और (प्रजनः) प्रजा उत्पन्न करने वालों में (कंदर्पः)

कामदेव (अस्मि , मैं हूं और (सर्पाणाम्) विषवाले जंतुओं का राजा (वासुकिः) वासुकि नामवाला सर्प (अस्मि) मैं हूं ॥

(नोट) आयुधों में दैवी वज्र सर्वोपरि विध्वंस करने वाला है। और वह आग्नेय है। इसी कारण प्रलयरूप नाश का हेतु होने से वज्र भगवान् का विभूति रूप अंश है। सृष्टि कर्त्ता भी एक भगवान् ही हैं। जिस कामदेव से मनुष्यादि रूप सृष्टि होती है वह कामदेव भी सृष्टि कर्त्ता होने से भगवान् का विभूति रूप अंश है (भी० शा०)

टीका—शास्त्र के अनुसार श्रीभगवंत जी प्रजोत्पत्ति के हेतु हैं और वही उस की विभूति है न कि केवल संभोगमात्र प्रधान कामदेव है ॥

अनन्तश्चास्मिनागानां वरुणोयादसामहम् ।
पितृणामर्यमाचास्मि यमःसंयमतामहम् ॥२९॥

अर्थ—(नागानाम्) विना विष के जंतुओं का राजा (अनंतः) शेषनाग (च) भी (अस्मि) मैं हूं और (यादसाम्) जलचरों के मध्य में उन का राजा (वरुणः) वरुण देवता भी मैं हूं (च) और (पितॄणाम्) पितरों के मध्य में उन का राजा (अर्यमा)अर्यमा नाम का पितर (अस्मि) मैं हूं और (संयमताम्) इन्द्रियों तथा मन का संयम करने वालों में से (यमः) यम (अहम्) मैं हूं अथवा दंड देने वालों में से यम राज मैं ही हूं ॥

प्रल्हादश्चास्मिदैत्यानां कालःकलयतामहम् ।
मृगाणांचमृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्चपक्षिणाम् ॥ ३० ॥

अर्थ—(दैत्यानाम्) दैत्यों के बीच में (प्रल्हादः) उन का राजा प्रल्हाद (अस्मि च) भी मैं हूं तथा (कलयताम्) गणना करने वालों या वशीकरण करने वालों में (कालः) काल (अहम्) मैं हूं (च) और (मृगाणाम्) वन जंतुओं में उन का राजा (मृगेन्द्रः) सिंह (अहम्) मैं हूं (च) और (पक्षिणाम्) पक्षियों के बीच में उनका राजा (वैनतेयः) गरुड़ पक्षी भी मैं हूं॥

टीका-काल का अर्थ वशमें करने वाला या गिनने वाला अथवा चालक है जैसे ग्राम का चालक ग्राम देवता और देश का चालक राजा होता है वैसे ही सब सृष्टि का चालक काल है अतएव वह श्रीभगवंत जी की विभूति है ॥

पवनःपवतामस्मि रामःशस्त्रभृतामहम् ।
झषाणांमकरश्चास्मि स्रोतसामस्मिजान्हवी॥३१॥

अर्थ-(पवताम्) पवित्र करने वालों वा वेग वालों के बीच में (पवनः) पवन अर्थात् वायु (अस्मि) मैं हूं और (शस्त्रभृताम्) शस्त्र धारण करने वालों में श्रेष्ठ (रामः) दशरथनन्दन राम (अहम्) मैं हूं (च) और (झषाणाम्) मछलियों के बीच में (मकरः) मकर नाम की मछली (अस्मि) मैं हूं (स्रोतसाम्) जल प्रवाह अर्थात् नदियों में (जान्हवी) भागीरथी श्रीगंगा जी (अस्मि) मैं हूं ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यंचैवाहमर्जुन ! ।
अध्यात्मविद्याविद्यानां वादःप्रवदतामहम् ३२

अर्थ-हे (अर्जुन) अर्जुन ! (सर्गाणाम्) आकाशादि सर्व सृष्टि का (आदिः) प्रारम्भ (च) और (अन्तः) आखिर (चैव) और (मध्यम्) मध्य अर्थात् स्थितिकाल भी (अहम्) मैं हूं और (विद्यानाम्) सब विद्याओं में (अध्यात्मविद्या) अध्ययन करने योग्य आत्मविद्या मैं हूं और (प्रवदताम्) वाद विवादों में (वादः) वाद (अहम्) मैं हूं ॥

टीका-सृष्टि का आदि मध्य तथा अंत मैं हूं ऐसा कहकर अपना पारमैश्वर्य बताया है और कहा है कि सृष्टि की रचना पालना वा प्रलय ये तीनों मेरी विभूतियां हैं क्योंकि इन तीनों कालों में अद्वितीय ब्रह्म ही रहता है और सृष्टिकाल में भगवंत की अघटित घटना चातुरी दीखती है वही उसका ऐश्वर योग है इस का सच्चा ज्ञान अध्यात्मविद्या के विना नहीं होता अध्यात्म का अर्थ अपना भाव है अर्थात् सर्वसृष्टि

में तथा सर्व अपनी ही हैं ऐसा समझने को अध्यात्मविद्या कहते हैं यह विद्या सीखने के वास्ते शिष्य और गुरु के बीच में जो प्रश्नोत्तर हुआ करते हैं उसी को यहां पर "वाद" कहा है यह "वाद" तीन प्रकार का होता है १ वाद २ जल्प ३ वितण्डा इनमें "वाद" भगवंत की विभूति है क्योंकि जल्प और वितण्डा में दोनों पक्षवाले अपने २ पक्ष को स्थापन करके एक दूसरे को दूषण देते हैं और उनके संभाषणों से जो तत्व निरूपण होता है वही "वाद" अर्थात् फल है अतएव वह सब से श्रेष्ठ होने के कारण भगवंत की विभूति है॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वःसामासिकस्यच ।
अहमेवाक्षयःकालो धाताऽहंविश्वतोमुखः॥३३॥

अर्थ–(अक्षराणाम्) सब वर्णमाला के अक्षरों में (अकारः) "अ" अक्षर (अस्मि) मैं हूं क्योंकि यह सब अक्षरों का मूल तथा सब में श्रेष्ठ है, श्रुति का भी वाक्य है कि "अकारोवैसर्वावाक्सैषास्पर्शोष्मभिर्व्यंज्यमानावन्ह्वीनानारूपाभवतिइतिस्तूयते" (च) और (सामासिकस्य) समास समूह में (द्वंद्वः) द्वंद्वनामक समास मैं हूं क्योंकि "रामकृष्णौ" इत्यादि द्वंद्व समासों में उभय पद प्रधान होने के कारण वह श्रेष्ठ है (अक्षयः) नाश नहीं होनेवाला प्रवाहरूप (कालः) काल (अहम्) मैं (एव) ही हूं और कर्म फल विधाताओं में से (विश्वतोमुखः) सृष्टी का धारण करने वाला (धाता) विधाता (अहम्) मैं हूं अर्थात् सर्व कर्म फल विधाता मैं ही हूं ॥

(नोट) द्वन्द्व नाम दो के संयोग का है। अनेकों के संयोग का मूल भी दो का ही संयोग है। यही संयोग सृष्टि रचना का हेतु है। अक्षर पद और वाक्यों का संयोग वेदादि शास्त्र रचना का मूल है इसी अभिप्राय से समासों में द्वन्द्व समास भगवान् की विभूति है, क्योंकि सृष्टि कर्त्ता एक भगवान् ही हैं। अथवा यों भी कह सकते हैं कि अन्य अवयवी-

भावादि समासों में पूर्व पदार्थ, उत्तर पदार्थ वा अन्य पदार्थ प्रधान रहता है। परन्तु एक द्वन्द्व समास में ही दोनों वा सब पदों का अर्थ प्रधान रहता है। लक्ष्मीनारायण, प्रकृति पुरुष, माता पिता, इत्यादि दोनों की प्रधानता में ही संसार की स्थिति है इसी से द्वन्द्व स्थिति कर्त्री भगवद् विभूति है॥ (भी०शा०)

टीका—"रामकृष्ण" और "जीवेश्वर" में द्वंद्व समास के उदाहरण हैं, वास्तविक में यह एक२ ही शब्द हैं परंतु व्यवहार में दो समझे जाते हैं। व्यवहार में जीवेश्वर अर्थात् जीव वा ईश्वर ये दो शब्द हैं परन्तु परम पद निर्गुण ब्रह्म जिसके ये दोनों अंश हैं वह एक ही है इस से यह सिद्ध हुआ कि जिस दृष्टान्त से परमार्थ सिद्ध होता है वह भगवंत की विभूति है—

श्लोक ३० में जो "कालःकलयतामहम्" काल शब्द कहा है संवत्सरादि गणना के हेतु सृष्टि स्थिति संहार रूपी काल है वह आयुष क्षीण होने पर नाश हो जाता है अतएव वह "क्षर" अर्थात् नाशवान् है क्योंकि प्रलय के पीछे तीनों कालों को मिलकर एक ही "महाकाल" रह जाता है वही प्रवाहात्मककाल इस श्लोक में कहा है और श्रीभगवन्त जी का रूप है, यह महाकाल स्वतः सिद्ध होता है अतएव योग वा विभूति से उस का सम्बन्ध नहीं रहता। यह विश्व त्रिकालरूप है और उस का धारण करने वाला ब्रह्म है जो प्रलय में शेष बचता है॥

मृत्युःसर्वहरश्चाह—मुद्भवश्चभविष्यताम्।
कीर्तिःश्रीर्वाक्चनारीणां स्मृतिर्मेधाधृतिःक्षमा ३४

अर्थ—संहार करने वालों में से (सर्वहरः) सब को हरण करने वाला (मृत्युः) मृत्यु (च) भी (अहम्) मैं हूं (च) और (भविष्यताम्) बड़ाई होने योग्य आगे उत्पन्न होने वाले प्राणियों का (उद्भवः) उत्पत्ति कारण भी मैं हूं (च) तथा (नारीणाम्) नारियों के बीच में (कीर्त्तिः) कीर्त्ति आदि

मात देवतारूपी स्त्रियां मैं हूं अर्थात् जिन के आभास मात्र योग से प्राणियों की स्तुति होती है वे कीर्ति आदि मेरी विभूतियां हैं यानी कीर्ति, श्री, वाक्, (स्मृतिः) स्मरणशक्ति, (मेधा) ग्रन्थधारण शक्ति (धृतिः) (क्षुत्पिपासादि के समय चित्त में क्षोभ न होना, (क्षमा) अपमानादि के समय क्षोभ न होना, ये जो स्त्रीवाचक सात शब्द हैं वे सब गुण मेरी ही विभूतियां हैं और इन्हीं के आभास मात्र से स्त्री तथा पुरुष श्रेष्ठ गिने जाते हैं ॥

(नोट) मृत्यु और प्रलय का एक ही अर्थ है। मृत्यु छोटा प्रलय वा प्रलय का बच्चा है। प्रलय करने वाले एक श्रीभगवान् जी ही हैं। जिस नाम रूप से प्रलय करता है वही माहेश्वर है। अथवा यों कहो कि मृत्यु प्रलय होते २ जो दशा अन्त में रह जाती हैं वही मृत्यु प्रलय का हेतु है । उसी दशा से फिर २ उत्पत्ति होती है । वही अविनाशिनी दशा श्रीभगवान् जी का रूप ही कीर्त्ति आदि शब्दों का मूल भगवत्स्वरूप है ॥ (भी० श०)

टीका—कीर्ति अर्थात् उत्तम कीर्त्ति, श्री अर्थात् धन धान्यादि सौन्दर्य समृद्धि, वाचा— उत्तम वाणी; मेधा—तीव्रबुद्धि, धृतिः—ग्रहण करने की शक्ति, क्षमा अर्थात् दण्ड करने की शक्ति हो कर भी दूसरे का अपराध सहन कर लेना ॥

बृहत्सामतथासाम्नां गायत्रीछन्दसामहम् ।
मासानांमार्गशीर्षोऽह-मृतूनांकुसुमाकरः ॥३५॥

अर्थ—(तथा) उसी प्रकार (साम्नाम्) सर्व सामवेद में (बृहत्साम) बड़ी उत्तम ऋचा अर्थात् गीत मैं हूं और (छन्दसाम्) विशेष छन्दों में कहे हुए मंत्रों में से (गायत्री) गायत्री मंत्र (अहम्) मैं हूं क्योंकि उस से द्विजत्व प्राप्त होता है और (मासानाम्) महिनों के बीच में (मार्गशीर्षः) अगहन का महिना (अहम्) मैं हूं तथा (ऋतूनाम्) छहों ऋतुओं में

(कुसुमाकरः) वसंत ऋतु मैं हूं क्योंकि इसी ऋतु में सब वृक्षों में नवीन २ पत्र होकर वह अतिशय मनोहर होती है ॥

(नोट) छान्दोग्योपनिषद् में भी गायत्री को ब्रह्म का ही नाम रूप कहा है। गायत्री मन्त्र शब्दात्मक भगवान् का सगुण रूप है वह गायत्री भगवान् की विभूति होने से ही विशेष मान्य वा पूज्य है। इसी से गायत्री के उपासक भी भेद भाव छोड़ने पर भगवदुपासक तथा सच्चे वैष्णव माने जावेंगे। सनातन वैदिक सिद्धान्त के अनुसार संवत्सर का पहिला महिना मार्गशीर्ष ही है। इसी लिये "हायनस्याग्रे आदौ भव आग्रहायणः" हायन नाम संवत्सर के आदि में होने वाला मास आग्रहायण कहाया, वही भाषा में अगहन कहाता है। इसी को वर्षारम्भ का मास मानते हुए भारतवर्षीय सेठ साहूकार लोग दिवाली पर वर्ष भर का हिसाब समाप्त करते और लक्ष्मी जी का पूजन करते हैं। इसी मास से सृष्टि का आरम्भ भी जानो इसी लिये मार्गशीर्ष कालात्मक भगवान् का प्रधानांश है (भी० श०)

टीका–"त्वां इन्द्रहवामहे" इत्यादि सामवेद की ऋचा गाये जाने से इन्द्र की श्रेष्ठता पाई जाती है, और उसी से इन्द्र की सर्वेश्वरता की सूचना होती है, अतएव वह वृहत्साम अर्थात् बड़ी स्तुति का गीत भगवन्त ही हैं ॥

मार्गशीर्ष में गोपियों ने कात्यायनी व्रत किया था उस से उन्हें श्रीकृष्ण मिले अर्थात् इस महिना में किये हुए सब कर्म सफल होते हैं अतएव वह महिना सब से श्रेष्ठ है इसी कारण भगवंत की विभूति है ॥

द्यूतंछलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मिव्यवसायोऽस्मि सत्त्वंसत्त्ववतामहम् ३६

अर्थ–जो जो रीतियां परस्पर (छलयताम्) छल करने की हैं उन सब में (द्यूतम्) जुआ का खेल (अस्मि) मैं हूं

(तेजस्विनाम्) तेज और प्रभाव वालों का (तेजः) तेज तथा प्रभाव (अहम्) मैं हूं, जीतने वालों का (जयः) जय (अस्मि) मैं हूं और उद्यम करने वालों का (व्यवसायः) उद्यम (अस्मि) मैं हूं तथा (सत्त्ववताम्) सात्त्विकी लोगों का (सत्त्वम्) सत्त्वो गुण (अहम्) मैं हूं ॥

(नोट) सब छलों में जुआ एक बड़ा छल है। जब भगवान् की इच्छा जुआ के द्वारा किसी को हरा के वा जिता के कुछ काम कराने की होती है तभी वैसी मति उन २ को दे देते हैं। दुर्योधनादि को जुआ की मति दी, वे लोग जीते पाण्डव हार गये चीर हरणादि द्वारा बहुत तंग किये गये और जिस प्रबल अनुचित व्यवहार से दुर्योधनादि के नाश का बीज पाण्डवों के मन में प्रकट हुआ जिस से महाभारत संग्राम भयंकर हुआ। यह सब भगवान् की मर्जी से ही होना माना जायगा। छल से अन्य का धनादि ले लेने में बड़ा पाप है इससे जीतने वाला बड़ा पापी और हारने वाला कम पापी है। द्यून स्वयं पाप पुण्य रूप कुछ नहीं, पर उसका खेलना पापहै॥ (भी०श०)

टीका—विना ईश्वर की विशेष सत्ता वा कृपा के कोई छल से भी नहीं जीत सकता, न तेजस्वी हो सकता न जय पा सकता, न उद्यम कर सकता, न सत्त्वोगुणी हो सकता, अतएव इन सब को भगवंत ने अपनी विभूतियां कही हैं ॥

वृष्णीनांवासुदेवोऽस्मि पाण्डवानांधनंजयः ।
मुनीनामप्यहंव्यासः कवीनामुशनाकविः ॥३७॥

अर्थ—(वृष्णीनाम्) सब यदुवंशियों में जो श्रेष्ठ (वासुदेवः) वासुदेव अर्थात् शुद्ध सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म मूर्त्तिमान् श्रीकृष्णचन्द्र जी वसुदेव जी के पुत्र हैं वह (अस्मि) मैं ही हूं और तुझे उपदेश कर रहा हूं (पाण्डवानाम्) सर्व पाण्डवों में (धनञ्जयः) जो धनञ्जय तू है सो भी मेरी विभूति है और (मुनीनाम्)

वेदार्थ मनन करने वालों में (अपि) भी (व्यासः) वेदव्यास (अहम्) मैं हूं वा (कवीनाम्) सर्वशास्त्र दर्शी कवियों में (उशनाकविः) शुक्रकवि मैं ही हूं ॥

टीका-यहां भी श्रीकृष्ण जी ने सब यदुवंशियों में और पराक्रमी अर्जुन में वा मुनियों में और कवियों में अपनी सत्ता दिखलाई है कि जिस से उक्त लोग विशेष करके श्रेष्ठ गिनेगये ॥

दण्डोदमयतामस्मि नीतिरस्मिजिगीषताम् ।
मौनंचैवास्मिगुह्यानां ज्ञानंज्ञानवतामहम् ॥३८॥

अर्थ-(दमयताम्) दमन वा दण्ड करने वालों में (दण्डः) जो दण्ड करने की विधि है वह (अस्मि) मैं हूं अर्थात् जिस दण्ड से दमन न करने वाले भी दमन करने वाले हो जाते हैं वह दण्ड मेरी विभूति है वा (जिगीषताम्) जय की इच्छा करने वालों में जो साम, दाम, दण्ड, भेदरूपी (नीतिः) राजनीति है वह (अस्मि) मैं हूं अर्थात् वह मेरी विभूति है (च) और (गुह्यानाम्) जो गोप्य अर्थात् गुप्त रखने योग्य बातें हैं उन का हेतु (मौनम्) मौन वचन (अस्मि) मैं हूं क्योंकि जो चुप बैठता है उस का अभिप्राय कोई नहीं जान सकता और (ज्ञानवताम्) तत्त्वज्ञानियों का जो ज्ञान है वह (ज्ञानम्) ज्ञान (अहम्) मैं हूं॥

(नोट)-जैसे विष वास्तव में बुरा नहीं है किन्तु उसका अनुचित प्रयोग बुरा है । वैसे ही दण्ड, नीति, जुआ आदि भी बुरे नहीं पर उनका अनुचित प्रयोग करना बुरा है इसी से कर्त्ता को पाप लगता है । श्रीभगवान् जी जब अपने दण्ड और नीतिरूप से दीन दुःखित धर्मविरुद्ध प्रजा को धर्म पर आरूढ़ करना चाहते हैं तब दण्ड तथा नीति रूप अपने अंशों का प्रयोग धर्मनिष्ठ राजा से कराते हैं जिस से प्रजा का भला हो जाता है और जब अधर्मी असुर राक्षस स्वभाव वाले राजा

को अधोगति में गिराना चाहते हैं तब उसी राजा को अनुचित दण्ड और नीति चलाने की मति दे देते हैं। तब वह अपने ही अनुचित कर्मोंसे अधोगति का भागी बनता है। दण्ड और नीति दोनों स्वयं पाप पुण्यरूप से पृथक् रहते हैं॥ (भी० श०)

यच्चापिसर्वभूतानां बीजंतदहमर्जुन ! ।
नतदस्तिविनायत्स्या-न्मयाभूतंचराचरम् ३९॥

अर्थ (अर्जुन)हे अर्जुन ! (च) और (यत्) जो कुछ (अपि) भी (सर्वभूतानाम्) सब भूतों का (बीजम्) उत्पत्ति कारण है (तत्) वह सब (अहम्) मैं हूं क्योंकि (मया विना) मेरे विना (यत्) जो (चराचरम्) चर और अचर (भूतम्) भूतमात्र (स्यात्) होवें (तत्) वह (न-अस्ति) नहीं से हैं, अर्थात् सर्व स्थावर जङ्गम भूत समूह मेरे अंश बिना हो नहीं सकते। और उसमें कोई ऐसा नहीं कि जिसमें सत् चित् तथा आनन्द ये तीनों अंश भगवन्त के न हों अब इस विभूति प्रकरण को समाप्त करके आगे कहते हैं कि-

नान्तोऽस्तिममदिव्यानां विभूतीनांपरन्तप! ।
एषतूद्देशतःप्रोक्तो विभूतेर्विस्तरोमया ॥ ४० ॥

अर्थ-हे(परंतप) अर्जुन ! (मम) मेरी (दिव्यानाम्) अलौकिक (विभूतीनाम्) विभूतियों का (अन्तः) अंत (न-अस्ति) नहीं है अर्थात् मेरी विभूतियां इतनीं बहुत सी हैं कि उन का संपूर्ण वर्णन नहीं हो सकता और (एषः) यह (विभूतेः) विभूतियों का (विस्तरः) विस्तार जो (मया प्रोक्तः) मैं ने तुझ से कहा है सो (तु) तो केवल (उद्देशतः) संक्षेप रूपसे कहा गया है अर्थात् मैंने उन अनन्त विभूतियों की केवल दशा दिखाई है तथापि आगे उनकी बाहुल्यता बताता हूं क्योंकि तू उनके सुनने का बहुत काङ्क्षी है॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥

अर्थ–(यत् यत) जो जो (विभूतिमत्) ऐश्वर्य युक्त तथा देखने में सुंदर (सत्त्वम्) सत्स्वरूप तथा (श्रीमत्) शोभा संपत्ति युक्त (वा) अथवा (ऊर्जितम्–एव) कोई भी प्रभाव, बल, वा गुण इत्यादि करके संपूर्ण रूप से युक्त है (तत,तत्, एव) वह सबही (मम) मेरे (तेजोंऽशसंभवम्) तेज के अंश से उत्पन्न हुए हैं ऐसा (त्वम्) तू (अवगच्छ) जान अर्थात जिस जिस पदार्थ में अतिशय ऐश्वर्य शोभा प्रभाव बल और गुण इत्यादि दीख पड़ें वे सब मेरे ही तेज विशेष अंश से उत्पन्न हुए हैं ऐसा जानना चाहिये । जो गुण जिस में श्रेष्ठ है वह भगवान् की ही विभूति है और "आनन्दो ब्रह्म" इस श्रुति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जो २ पदार्थ विशेष आनंद जनक हैं वे सब भगवंत की विभूति हैं ऐसे तो सर्व चराचर भगवदंश है परंतु ये पदार्थ विशेष भगवद्विभूति युक्त हैं ॥

(नोट) जैसे संसार भर में शीतलता सब जल की ही है। वैसे सभी ऐश्वर्य ईश्वर का ही है। वही विभूति रूप ऐश्वर्य जिस में जैसा और जितना है उस में उतनी ही ईश्वरता जानो । यद्यपि ईश्वर सर्वत्र है तथापि अग्नि जलादि के तुल्य सब में छिपा होने से दीखता नहीं है । जिन २ पदार्थों में कुछ न कुछ विलक्षण तथा आश्चर्य जनक गुण वा शक्ति है वहां भी जब उस का देखना कठिन है तो पूर्ण ज्ञान हुए विना सब में दीखना कठिन है इस से विभूतियों के द्वारा उस के ज्ञान का अभ्यास करना विशेष सुगम है । इसी विचार से विभूतियां दिखायी गयीं हैं ॥ (भी० श०)

अब आगे कहते हैं कि इस प्रकार जुदी २ विभूतियां दिखाने से भी क्या लाभ है वास्तव में सब ठौर सम दृष्टि से देखो तो मैं सब संसार में व्याप्त हो रहा हूं ॥

अथवाबहुनैतेन किंज्ञानेनतवार्जुन ! ।
विष्टभ्याहमिदंकृत्स्न–मेकांशेनस्थितोजगत् ॥४२॥

अर्थ-(अर्जुन) हे अर्जुन! (अथवा) जो मैंने अब तक कहा है उस के अतिरिक्त मेरा यह कहना है कि (एतेन) इस (बहुना) बहुत से (ज्ञानेन) पृथक् २ ज्ञान जो मैंने जुदी २ विभूतियों के रूप में कहा है उससे (तव) तेरा (किम्) क्या प्रयोजन है अर्थात् ये सब जुदी २ विभूतियां बहुत सी तूने जान भी लीं तो उस से तुझ क्या विशेष लाभ होना है, तू केवल इस बात ही का ध्यान रख कि (इदम्) इस (कृत्स्नम्) सारे (जगत्) संसार को (अहम्) मैं (एक, अंशेन) अपने एक अंश मात्र ही से (विष्टभ्य) धारण करके (स्थितः) वर्तमान हूं अर्थात् इस सब जगत् में अपने एक ही अंश मात्र से व्याप्त हो रहा हूं मेरे सिवाय और कुछ नहीं है जैसा कि श्रुति कहती है कि "पादोऽस्यविश्वाभूतानि" इत्यादि ॥

(नोट) वेद मन्त्र में लिखा है कि (पादोऽस्य विश्वाभूतानि०) परमात्मा के एक चतुर्थांश में सब संसार है उसी में सब विभूतियां हैं। और वह अपने तीन भाग रूप से पृथक् अविनाशी है। इसी मन्त्र का आशय यहां कहा जानो। जो पुरुष ज्ञान की सीढ़ी पर चढ़ता हुआ सत चित् आनन्द रूप से विद्यमान वा अस्ति–भाति प्रिय रूप से सब में विद्यमान भगवान् को सर्वत्र देखे उस के लिये केवल विभूतियों में देखना आना ही नहीं है ॥ (भी० श०)

इन्द्रियद्वारतश्चित्ते बहिर्धावतिसत्यपि ।
ईशदृष्टिविधानाय विभूतेर्दशमेऽब्रवीत् ॥

इस प्रकार की अनन्त कोटि ब्रह्मा हैं जिस ईश्वर का ऐश्वर्य योग है उस जगदेकव्यापी अनंत श्रीकृष्ण वा श्रीराधा

को अनन्त वंदना करके यह दशम अध्याय की टीका उन्हीं के चरणारविंदों को सविनय अर्पण करता हूं ॥ इति ॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे विभूतियोगो नामदशमोऽध्यायः समाप्तः ॥

॥ श्रीगणेशायनमः ॥
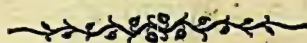
अथैकादशोऽध्यायः ॥

विभूतिवैभवंप्रोच्य कृपयापरयाहरिः ।
दिदृक्षोरर्जुनस्याथ विश्वरूपमदर्शयत् ॥

अध्याय ९ में भगवान् श्री कृष्णचन्द्र ने राजविद्या राज गुह्य का वर्णन करके अर्जुन को यह समझा दिया कि जो प्रत्यक्ष सृष्टि दीखती है वह भगवत् की अवतार मूर्ति के समान है। उस का अनुभव भी करा दिया, अतएव जहां २ अर्जुन की बुद्धि जाती थी वहां २ उस को यही अनुभव होने लगा, परन्तु अब अर्जुन को यह इच्छा हुई कि जहां बुद्धि नहीं जा सकती, वहां का अनुभव भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। यह इच्छा प्रगट करने का उसे अब तक अवसर नहीं मिला था, सिवाय इस के भगवान् ने अध्याय १० में अपनी थोड़ी सी विभूतियां बताईं और उनकी पहिचान करने का तत्त्व संक्षेप से कहकर यह विषय भी पूरा करदिया परन्तु अर्जुन को यह इच्छा फिर भी बनी रही कि ये विभूतियां पूर्ण रूप से जानना वा देखना चाहिये। उस ने विचारा कि ये दोनों इच्छायें भगवान् के उस सर्व ऐश्वर योग के दिखा देने से पूर्ण हो जावेंगी जो उन्हों ने अध्याय १० के अन्त के श्लोक में कहा है कि–

"विष्टभ्याहमिदंकृत्स्नमेकांशेनस्थितोजगत् ॥

यही भगवान् का विश्वात्मक पारमेश्वर रूप है। उसेही दिखाने के हेतु अब अर्जुन भगवान् से प्रार्थना चार श्लोकों में करता है ॥

अर्जुन उवाच ॥

मदनुग्रहायपरमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तंवचस्तेन मोहोऽयंविगतोमम ॥ १ ॥

अर्थ—हे कृष्ण ! (मत्) मेरे ऊपर (अनुग्रहाय) अनुग्रह करके शोक निवृत्ति के हेतु (परमम्) परमात्मनिष्ठ तथा (गुह्यम्) गोप्य भी (अध्यात्मसंज्ञितम्) आत्मा वा अनात्मारूप विवेक के विषय से पूरित (यत्) जो (वचः) वचन " अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्" इत्यादि अध्याय ६ पर्य्यन्त (त्वया—उक्तम्) तुमने मुझ से कहे (तेन) उस से (मम) मेरा (अयम्) यह (मोहः) मोह अर्थात् यह भ्रांति कि मैं मारता हूं वा ये मारे जाते हैं (विगतः) नष्ट हो गया है अर्थात् मैं अब समझ गया कि आत्मा नित्य है ॥

टीका—जड़ के बीच में चैतन्य देखने के ज्ञान को परम ज्ञान कहते हैं उसी को आत्मभाव से देखने के ज्ञान को " अध्यात्म „ कहते हैं । इन दोनों विषयों का स्पष्ट वर्णन अध्याय ८ के श्लोक ३ "अक्षरं ब्रह्म परमम्" के टीका में हो चुका है ये दोनों मिलकर "अन्वयज्ञान" होता है परन्तु स्पष्ट समझने के लिये उस के ये दो प्रकार कहे हैं " परम „ शब्द का समावेश "अध्यात्म„ में होता ही है अतएव "परम„ यह "अध्यात्म„ का विशेषण है । प्रथम व्यतिरेक ज्ञान होना चाहिये तब अन्वय ज्ञान होता है और इस अन्वय ज्ञान से अपना आत्मा ही सब जगत् दीखता है इन दोनों ज्ञानों से जड़ भ्रांति नष्ट होती है सो अर्जुन कहता है कि ये दोनों ज्ञान मुझे होगये अतएव मैं कृतार्थ हुआ इसके सिवाय और जो कुछ उपदेश सुन चुका सो भी आगे कहता है ॥

भवाप्ययौहिभूतानां श्रुतौविस्तरशोमया ।
त्वत्तःकमलपत्राक्ष ! माहात्म्यमपिचाव्ययम् ॥२॥

अर्थ—हे (कमलपत्राक्ष) कमललोचन कृष्ण ! (भूतानाम्) सब सृष्टि की (भवाप्ययौ) उत्पत्ति वा नाश ये दोनों (हि) भी (मया) मैंने (विस्तरशः) विस्तार पूर्वक (त्वत्तः) तुम से (श्रुतौ) सुन लिये क्योंकि तुम ने कहा है कि " अहं कृत्स्नस्यजगतः प्रभवःप्रलयस्तथा ,, अध्याय ७ श्लोक ६ और " अहं सर्वस्य प्रभवो० ,, अध्याय १० श्लोक ८ अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय मुझ से ही होते हैं यह तुमने बारंबार कहा है (च) और (माहात्म्यम्) तुम्हारा महात्म्य (अपि) भी (अव्ययम्) अक्षय है यह भी मैं ने तुम से सुन लिया क्योंकि तुम कह चुके हो कि विश्व की सृष्टि इत्यादि मैं ही करता हूं शुभाशुभ कर्म मैं ही कराता हूं बंध मोक्षादि विचित्र फल मैं ही देता हूं मैं निर्विकार हूं ममहूं वा उदासीन हूं इत्यादि लक्षणों से तुम्हारा अपरिमितमहत्त्व प्रकाशित होता है और वाक्य भी तुम्हारे ये हैं "अव्यक्तंव्यक्तिमापन्नम् ,, अध्याय ७ श्लोक २४ " मयाततमिदंसर्वम् ,, अध्याय ९ श्लोक ४ "न चमांतानिकर्माणि ,, अध्याय ६ श्लोक ९ "समोहंसर्वभूतेषु,, "शुभाशुभ फलैरेवम्,, अध्याय ९ श्लोक २८ इत्यादि यह सब सत्य हैं॥

एवमेतद्यथात्थत्वमात्मानंपरमेश्वर ! ।
द्रष्टुमिच्छामितेरूपमैश्वरंपुरुषोत्तम !॥ ३ ॥

अर्थ—हे परमेश्वर ! " भवाप्ययौहि भूतानाम् ,, इत्यादि यह मैंने सुना और अब जो तुम ने कहा कि " विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेनस्थितोजगत् ,, (यथा) इस प्रकार (आत्मानम्) अपने को (त्वम्) तुम (आत्थ) कहते हो सो (एतत्) यह सब (एवम्) ऐसा ही अर्थात् यह तुम्हारा कहना यथार्थ है और यह न समझना कि इस पर मेरा विश्वास नहीं है तथापि हे (पुरुषोत्तम !)कौतूहल के कारण मैं (ते) तुम्हारे (ऐश्वरंरूपम्) ज्ञान ऐश्वर्य शक्ति वीर्यादि संपन्न

रूप को (द्रष्टुम्) देखने की (इच्छामि) इच्छा कर रहा हूं मेरे ऐसा कहने से यह मत समझो कि मेरी अभिलाषा उस रूप के देखने की है अतएव मुझे दिखाना ही चाहिये किंतु-

मन्यसेयदितच्छक्यं मयाद्रष्टुमितिप्रभो !।
योगेश्वरततोमेत्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

अर्थ-हे (प्रभो) प्रभुतावाले श्रीकृष्ण जी ! (यदि) अगर तुम (इति) ऐसा (मन्यसे) समझते हो कि (तत्) वह रूप (मया) अर्जुन के द्वारा (द्रष्टुम्) देखने के (शक्यम्) योग्य है अर्थात् मैं उसे देख सकता हूं (ततः) तो हे (योगेश्वर) योगियों के योग के ईश्वर ! (त्वम्) तुम (मे) मुझे (आत्मानम्) अपना वह (अव्ययम्) नित्य रूप (दर्शय) दिखा दो ॥

टीका-सगुण भगवंत चित्स्वरूप है अतएव वह अरूप है उसी प्रकार उस का साक्षात्कार होना भी अरूप है परन्तु जगत् की कल्पना करके वह आप ही उस का रूप हो गया है अतएव सर्व विश्व उसी का रूप समझना चाहिये इसी कारण उस रूप को "अव्यय" कहा है ॥
योगेश्वर वाक्य से यह सुझाया है कि यह जो अघटित घटना "योग है वह स्वतः भगवंत ही है ।

अर्जुन की यह प्रार्थना सुनकर परम कारुणिक श्री भगवान् कृष्णचन्द्र ने उसे अपना अति अद्भुत रूप दिखाने की इच्छा की और उस को देखने के हेतु अर्जुन को सावधान करते हुए आगे ४ श्लोकों में उत्तर देते हैं ॥

श्री भगवानुवाच ॥

पश्यमेपार्थ ! रूपाणि शतशोऽथसहस्रशः ।
नानाविधानिदिव्यानि नानावर्णाकृतीनिच ॥५॥

अर्थ-हे (पार्थ) अर्जुन ! यद्यपि अभी तू मेरा एकही रूप देखता है तथापि मेरा एक ही रूप होने पर भी अब (मे)

मेरे (नानाविधानि) अनेक प्रकार के (दिव्यानि) अलौकिक वा (नानावर्णाकृतीनि च) कृष्ण शुक्ल इत्यादि अनेक वर्णों के और अनेक आकृति के (शतशः) सैकड़ों (अथ) वा (सहस्रशः) हजारों (रूपाणि) रूपों को (पश्य) देख ॥

अब उन अनेक प्रकार के और अनेक वर्णों के तथा अनेक आकृतियों के रूपों के नाम आगे कहते हैं ॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौमरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणिभारत !॥ ६ ॥

अर्थ–हे (भारत) अर्जुन ! (आदित्यान्) संपूर्ण बारहों सूर्य (वसून्) सब आठों वसु (रुद्रान्) सब ग्यारहों रुद्र (अश्विनौ) दोनों अश्विनीकुमार देव (तथा) और (मरुतः) ४९ पवने ये सब विशेष देवता गण मेरे देह में (पश्य) देख (अदृष्टपूर्वाणि) जो पदार्थ पहिले कभी नहीं देखे थे ऐसे (बहूनि) बहुत से (आश्चर्याणि) आश्चर्य कारक पदार्थ भी इसी मेरे देह में (पश्य) देख और जिन पदार्थों वा रूपों को तूने अथवा और किसी ने पहिले कभी नहीं देखा वे सब मेरे देह में देख ॥

इहैकस्थंजगत्कृत्स्नं पश्याद्यसचराचरम्
ममदेहेगुडाकेश! यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

अर्थ–जो बातें कोटान् कोटि वर्ष इधर उधर भ्रमण करने से दीखने में नहीं आसक्तीं वे सब (सचराचरम्) चराचर सहित (कृत्स्नम्) सारा (जगत्) संसारभी (इह) इस (मम) मेरे (देहे) देहमें (एकस्थम्) अवयव रूप से एक ही ठौर में वर्तमान (अद्य) इसी समय (पश्य) देख और हे (गुडाकेश) अर्जुन ! (यत्) जो (अन्यत्) और कुछ (च) भी (द्रष्टुम्) देखने को (इच्छसि) तू इच्छा करता है सो भी इसी देह में देख ॥

टीका–भगवान् कहते हैं कि सर्व चराचर जगत् के चि-

वायु और भी जो इस जगत् के आश्रयभूत, कारणस्वरूप, जगत् के विशेष अवस्थादिक वा जय पराजयादिक हैं वे भी अभी देख ले ॥

श्लोक ४ में अर्जुन ने जो कहा था कि "मन्यसे यदि तच्छक्यम्," के उत्तर में आगे कहते हैं ॥

नतुमांशक्यसेद्रष्टुमनेनैवस्वचक्षुषा ।
दिव्यंददामितेचक्षुः पश्यमेयोगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

अर्थ—(तु) परन्तु (अनेनैवस्वचक्षुषा) अपने इन चर्म चक्षुओं के द्वारा तू (माम्) मुझ को (न) नहीं (द्रष्टुम्) देख (शक्यसे) सकता अतएव मैं (ते) तुझ को (दिव्यम्) ज्ञानात्मक तथा अलौकिक (चक्षुः) नेत्र (ददामि) देता हूं उन के द्वारा तू (मे) मेरा (ऐश्वरम्) असाधारण (योगम्) अघटित घटना सामर्थ्य को (पश्य) देख, ईश्वर के साधारण लक्षण जीवों में भी पाये जाते हैं परन्तु विश्वरूप दिखाना असाधारण है ॥

(नोट) यद्यपि दुर्बीन आदि भी अलौकिक हैं तथापि वह दिव्य चक्षु नहीं है। जिस में दृष्टि रुक न सके देखने की अव्याहत शक्ति हो उसे दिव्य चक्षु कहते हैं। सो ईश्वर देवता महर्षि आदि के वरदान से वा योग शक्ति से ही ऐसी दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। जो काम दिव्य दृष्टि से होता है वह कभी इन चर्म चक्षुओं से हो ही नहीं सकता। इसी कारण दिव्य दृष्टि सब को प्राप्त नहीं हो सकती किन्तु जिनपर ईश्वर की कृपा हो उन को वा योगिराजों को ही प्राप्त होती है॥ (भी०शा०)

ऐसा कहकर भगवान् ने अर्जुन को अपना स्वरूप दिखाया और अर्जुन ने वह स्वरूप देखकर श्री कृष्ण को परमेश्वर समझा यह सब वृत्तान्त संजय ने आगे के छः मंत्रों में धृतराष्ट्र से वर्णन किया है ॥

संजय उवाच ॥

एवमुक्त्वाततोराजन् ! महायोगेश्वरोहरिः ।
दर्शयामासपार्थाय परमंरूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

अर्थ-हे (राजन्) धृतराष्ट्र ! (एवम्) इस प्रकार (उक्त्वा) कह कर (ततः) तब (महायोगेश्वरः) सर्व योगों के बड़े ईश्वर (हरिः) श्रीकृष्ण ने (पार्थाय) अर्जुन को अपना (परमम्) बड़ा अद्भुत (ऐश्वरं रूपम्) ऐश्वर्य युक्त रूप (दर्शयामास) दिखाया उस रूप का वर्णन आगे करते हैं ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

अर्थ-उस स्वरूप में अनेक (वक्त्रनयनम्) मुख वा अनेक नेत्र थे और अनेक (अद्भुत) चमत्कारिक (दर्शनम्) दर्शन करने योग्य वस्तुयें थीं और (अनेकदिव्याभरणम्) अनेक अलौकिक तथा दिव्य आभूषण थे तथा (दिव्यानेकोद्यतायुधम्) दिव्य और नाना प्रकार के शस्त्र धारण किये हुए थे ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयंदेवमनंतं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

अर्थ-वह स्वरूप (दिव्यमाल्य बरं धरम्) दिव्य पुष्प माला वा वस्त्र धारण किये था वा (दिव्यगंधानुलेपनम्) दिव्य सुवासवाला लेप किये हुए था वह (सर्वाश्चर्यमयम्) अनेक आश्चर्य जनक पदार्थों से युक्त था वा (देवम्) प्रकाशवान् था और (अनंतम्) अंत रहित तथा (विश्वतोमुखम्) उसके सब ओर को मुख थे । आगे कहते हैं कि उस विश्वरूप की ऐसी शोभा वा कांति थी कि कोई उपमा नहीं दी जासक्ती थी ॥

दिविसूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदिभाःसदृशीसास्याद्भासस्तस्यमहात्मनः ॥१२॥

अर्थ–(यदि) अगर (दिवि) आकाश में (सूर्यसहस्रस्य) हजार सूर्यों का (युगपद्–उत्थिता) एक ही बार उदय (भवेत्) होवे और उनकी एकत्र (भाः) प्रभा होवे तो (सा) वह सब प्रभा (तस्य महात्मनः) उस महान् विश्वरूप की (भासः) प्रभा के (सदृशी) समान प्रभा कदाचित् (स्यात्) होजावे अन्य कोई उपमा नहीं हो सकती ॥

इस प्रकार का रूप भगवान् ने अर्जुन को दिखाया और उसके देखने के पीछे अर्जुन की जो गति हुई सो आगे कहते हैं ॥

तत्रैकस्थंजगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरेपाण्डवस्तथा ॥

अर्थ–(तथा) तब (देवदेवस्य) सब देवतों के देव श्रीकृष्ण भगवान् के (शरीरे) शरीरमें (अनेकधा प्रविभक्तम्) नाना विभागों में बंटा हुआ (कृत्स्नं जगत्) सब जगत् उस के अवयव रूप से (तत्रैकस्थम्) उस ठौर एकत्र स्थित (पाण्डवः) अर्जुन ने (अपश्यत्) देखा अर्थात् अर्जुन को सब संसार उस समय विश्वरूप के अंगों में एकत्र दीख पड़ा । यह चमत्कार देखके अर्जुन चकित हो गया और उस ने जो उस दशा में कहा सो आगे कहते हैं ॥

ततःसविस्मयाविष्टो हृष्टरोमाधनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसादेवं कृतांजलिरभाषत ॥ १४ ॥

अर्थ–(ततः) तब दर्शन करने के पश्चात् (सः) वह (धनञ्जयः) अर्जुन (विस्मयाविष्टः) विस्मय युक्त होकर वा (हृष्टरोमा) शरीर में आनंद से रोमांचित होकर (देवम्) उस विश्वरूप देवता को (शिरसा) अपना मस्तक नवाय के और (प्रणम्य) प्रणाम करके (कृतांजलिः) दोनों हाथ जोर के यह (अभाषत) बोला जो आगे के १७ श्लोकों में कहते हैं ॥

पश्यामिदेवांस्तवदेवदेहे,
सर्वांस्तथाभूतविशेषसंघान् ॥
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्चसर्वानुरगांश्चदिव्यान् ॥ १५ ॥

अर्थ-हे (देव) श्रीकृष्ण ! (तव देहे) तुम्हारे देह में (देवान्) आदित्यादि सब देवतों को (पश्यामि) मैं देखता हूं (तथा) और उसी प्रकार (सर्वान्) सब (भूतविशेषसंघान्) जरायुज अंडजादि सब प्रकार के प्राणियों के समूहों को भी देखता हूं तथा (कमलासनस्थम्) कमल के आसन पर बैठे हुए अर्थात् पृथिवी पद्मदल के बीच में मेरुशिखर पर अथवा तुम्हारे नाभि कमल पर बैठे हुए (ब्रह्माणम्) ब्रह्म देव को तथा (ईशम्) महादेव को देखता हूं तथा (सर्वान्) सब (दिव्यान्) दिव्य (ऋषीन्) ऋषि लोग (च) और (उरगान्) तक्षकादि सर्प देखता हूं ॥

टीका-(ब्रह्माणमीशम्) वाक्य का अर्थ सर्वदेवतों के स्वामी ब्रह्मा भी हो सकता है, सातों द्वीपों के अखीर का द्वीप पुष्कर द्वीप है वहां ब्रह्मा का निवास है, शंकर कैलाश में और उरग पाताल में रहते हैं अर्थात् अर्जुन ने चौदहों भुवन श्रीभगवान् जी के विश्वरूप शरीर में देखे ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्,
पश्यामित्वांसर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तंनमध्यंनपुनस्तवादिं,
पश्यामिविश्वेश्वर ! विश्वरूपम् ॥ १६ ॥

अर्थ-हे (विश्वेश्वर) विश्व के स्वामी ! (अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्) अनेक भुजा अनेक पेट, अनेक मुख, वा अनेक आखों सहित (अनन्तरूपम्) असंख्यरूप धारण किये

हुए (सर्वतः) सब तरफ से (त्वाम्) तुम को (पश्यामि) मैं देख रहा हूं (पुनः) फिर (तव) तुम्हारा (अन्तम् अन्त (न) नहीं है (न मध्यम्) न मध्य है और (न आदिम्) न आदि है क्योंकि तुम सर्वगत दीख रहे हो ऐसे तुम्हारे (विश्वरूपम्) विश्वरूप को (पश्यामि) मैं देख रहा हूं॥

टीका-श्रीभगवान् जी के रूप में अर्जुन ने अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों को देखा और एक२ ब्रह्माण्ड श्रीभगवन्त जी का शरीर दीख पड़ा, जैसे सूर्य उस की आंखें इत्यादि, अनेक ब्रह्माण्डरूप श्रीभगवान् जी के अनेक शरीर थे और उन शरीरों के अवयव भी अनेक थे जो सब अर्जुन को दीख पड़े॥

किरीटिनंगदिनंचक्रिणंच।
तेजोराशिंसर्वतोदीप्तिमन्तम्॥
पश्यामित्वांदुर्निरीक्ष्यंसमन्ताद्‌।
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ १७॥

अर्थ-आप का यह रूप (किरीटिनम्) मस्तक पर मुकुट धारे हुए (गदिनम्) हाथ में गदा लिये हुए (तेजोराशिम्) तेज की राशि अर्थात् समूह है वा (सर्वतः) सब ओर (दीप्तिमन्तम्) अपनी कान्ति फैलाये हुए (त्वाम्) आप को (पश्यामि) देख रहा हूं यह आप की प्रभा (दीप्तानलार्कद्युतिम्) जलते हुए अग्नि वा सूर्य की कान्ति के समान होने के कारण (समन्तात्) सब तरफ फैलीहुई है अतएव (दुर्निरीक्ष्यम्) मुझ से देखी नहीं जाती अर्थात् उस का देखना बड़ा कठिन प्रतीत होता है ऐसे आप के (अप्रमेयम्) अपरिमित कान्ति युक्त रूप सहित चारो तरफ से (त्वाम्) आप को देख रहा हूं॥

टीका-इस विश्वरूप का प्रकाशक चित्स्वरूप है यह बात "अप्रमेय" शब्द से सुझाई है और वही चित्स्वरूप कीट गदा

चक्र युक्त भगवान् श्रीकृष्ण हैं यह प्रथम चरण में बताया है। सगुण भगवन्त के भजन से ही यह चित्स्वरूप जाना जाता है और उसका ऐश्वर्य तर्क में नहीं आता यह समझ कर अर्जुन भगवान् की स्तुति आगे करता है ॥

त्वमक्षरंपरमंवेदितव्यं,
त्वमस्यविश्वस्यपरंनिधानम् ।
त्वमव्ययःशाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वंपुरुषोमतोमे ॥ १८ ॥

अर्थ—हे विश्वरूप कृष्ण! (त्वम्) आप (अक्षरम्) अविनाशी हो वा (परमम्) परम प्रकाशक ब्रह्म हो वा मुमुक्षुओं के द्वारा (वेदितव्यम्) जानने के योग्य हो और (त्वम्) आप ही (अस्य विश्वस्य) इस विश्व का (परम्) प्रकृष्ट अर्थात् सर्वोत्तम (निधानम्) आश्रय वा आधार हो अतएव (त्वम्) आप (अव्ययः) नित्य हो वा अवतार धारण करके (शाश्वतधर्मगोप्ता) नित्य वा सनातन धर्म के रक्षक हो तथा (त्वम्) आप ही (सनातनः) सदैव रहनेवाले (पुरुषः) परम पुरुष हो ऐसा (मे) मेरा (मतः) संमत है अर्थात् आपको मैं ऐसा ही समझता हूं जैसा कि ऊपर कहा है ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुंशशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामित्वांदीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसाविश्वमिदंतपन्तम् ॥ १९ ॥

अर्थ—आप (अनादिमध्यांतम्) उत्पत्ति स्थिति और प्रलय रहित हो तथा (अनंतवीर्यम्) अपरिमित प्रभाव वाले हो तथा (अनन्तबाहुम्) अनेक बाहुवाले हो तथा (शशिसूर्यनेत्रम्) चन्द्र वा सूर्य आपके नेत्र हैं ऐसा मैं (त्वाम्) आपको (पश्यामि) देख रहा हूं (दीप्तहुताशवक्त्रम्) आपके मुख में अग्नि प्रज्वलित है

और मैं देखता हूं कि आप (स्वतेजसा) अपने तेज से (इदं-विश्वम्) इस सब जगत् को (तपन्तम्) तपाय रहे हो अर्थात् संताप दे रहे हो ॥

टीका–"चन्द्रमा मनसो जातः,, इस श्रुति के अनुसार चन्द्रमा भगवान् का मन है परंतु यहां नेत्र कहा है इसका समाधान ऐसा है कि नेत्र का अर्थ नियंता है और नेत्र ही इस शरीर को उसी प्रकार प्रवृत्त करते हैं जैसे कि मन करता है अतएव चन्द्रमा को नेत्र कहा है ॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरंहि,
व्याप्तंत्वयैकेनदिशश्चसर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतंरूपमुग्रंतवेदं,
लोकत्रयंप्रव्यथितंमहात्मन् ! ॥ २० ॥

अर्थ- हे (महात्मन्) महाविश्वरूप श्रीकृष्ण ! (द्यावा पृथिव्योः) आकाश और पृथिवी के बीच में (इदम्) यह (अन्तरम्) अंतरिक्ष (हि) भी (च) और (सर्वाः-दिशः) सब दिशा भी (त्वया-एकेन) एक आपके ही द्वारा (व्याप्तम्) व्याप्त हो रहीं हैं अर्थात् जहां देखता हूं तहां आप ही वर्तमान दीखते हो और तब तुम्हारा (इदम्) यह (अद्भुतम्) पूर्व में कभी न देखा हुआ (उग्रम्) घोर भयानक (रूपम्) रूप (दृष्ट्वा) देखकर (लोकत्रयम्) तीनों लोक (प्रव्यथितम्) अतिशय भय भीत अर्थात् पीड़ित हो रहे हैं ऐसा मुझे दीखता है॥

अमीहित्वां सुरसंघाविशन्ति ।
केचिद्भीताः प्राञ्जलयोगृणन्ति ॥
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः ।
स्तुवंतित्वांस्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥

अर्थ–(अमी) ये (सुरसंघाः) देवतों के समूह (हि)भी भय भीत होकर (त्वाम्) तुममें (विशन्ति) प्रवेश होते हैं

अर्थात् आपकी शरण में आते हैं और उन में से (केचित्) कोई २ (भीताः) बहुत डरके दूर ही खड़े होकर (प्राञ्जलयः) दोनों हाथ जोड़कर (गृणन्ति) आपकी जय होय हमारी रक्षा-करो ऐसी प्रार्थना करते हैं पुनः (महर्षिसिद्धसंघाः) सब बड़े२ ऋषि और सिद्धों के समूह (स्वस्ति) जगत् का कल्याण होवे (इति) ऐसे २ शब्द (उक्त्वा) उच्चारण करके (पुष्कलाभिः) बहुत प्रकार की (स्तुतिभिः) स्तुतियों के द्वारा (त्वाम्) आपको यानी आप की (स्तुवन्ति) स्तुति कर रहे हैं ॥

टीका-इस श्लोक के शब्दार्थ से ऐसा स्पष्ट दीखता है कि देवता, महर्षि वा सिद्ध ये सब भगवंत का विश्वरूप देखते हैं और उसी कारण उन में जुदे २ भाव उत्पन्न होकर वे वैसा ही वर्ताव करते हैं परंतु इसी अध्याय में भगवान् ऐसा कहते हैं कि अर्जुन ने दिव्य नेत्रों से जैसा विश्वरूप देखा वैसा और कोई प्रत्यक्ष नहीं देख सकता, इन दोनों वचनों में विरोध पड़ता है इस से जान पड़ता है कि इस श्लोक का भावार्थ दूसरा ही है, इस भावार्थ की कुंजी " कालोस्मिलोकक्षयकृत् " श्लोक ३२ में मिलेगी उस श्लोक में भगवान् ने यह कहा है कि जगत् का क्षय करने वाला काल मेराही रूप है और इस काल का भय मान कर देव अर्थात् दैवी संपत्ति के लोग भगवद्भजन करते हैं और उस भजन से स्वस्वरूप में प्रवेश होते हैं अर्थात् चिद्रूप में मिल-जाते हैं इस से प्रथम चरण का यह भाव प्रकट होता है कि ज्ञान निष्ठ लोग दैवी संपत्ति वाले भक्तस्वरूप पाते हैं यह बात अ-र्जुन को दीख पड़ी दूसरे चरण में काल से डरे हुए मुमुक्षु लोग बताये हैं और अंत के दो चरणों में व्यासादिक ऋषीश्वर बताये हैं जो इस भय से मुक्त होकर पुराणादिक से वा अन्य प्रकार से भगवत् चरित्र इस हेतु से वर्णन करते हैं कि जिससे उन्हें पढ़ और सुनकर अन्य लोग भी इसी भय से मुक्त हो जावें जैसा श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अध्याय २ श्लोक ३१ में कहा है ॥

स्वयंसमुत्तीर्यसुदुस्तरंद्युमन्,
भवार्णवंभीममदभ्रसौहृदाः ॥
भवत्पदांभोरुहनावमत्रते,
निधाययाताःसदनुग्रहोभवान् ॥
रुद्रादित्यावसवो येचसाध्या,
विश्वेश्विनौमरुतश्चोष्मपाश्च ॥
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा,
वीक्षन्तेत्वांविस्मिताश्चैवसर्वे ॥ २२ ॥

अर्थ—संपूर्ण (रुद्रादित्याः) ११ रुद्र, १२ आदित्य (वसवः) ८ वसु (च) और (ये) जो (साध्याः) साध्यनामी ४ देवता हैं तथा (विश्वे) विश्वेदेवा तथा (अश्विनौ) अश्विनीकुमार (च) और (मरुतः) ४९ वायुगण (च) और (उष्मपाः) पितर तथा (गंधर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घाः) हू हू हाहादि गंधर्व कुबेरादि यक्षगण विरोचनादि सर्वराक्षस और सिद्धों के समूह ये (सर्वे) सब (चैव) ही (विस्मिताः) चकित होकर (त्वाम्) तुम को (वीक्षन्ते) देख रहे हैं ॥

टीका ॥ " उष्मभागाहि पितरः " इति श्रुतिः । यावदन्नं भवेदुष्णं तावदश्नन्तिवाग्यताः । तावदश्नन्तिपितरो यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ॥ इतिस्मृतिः । पितर लोग गरम अन्न के भागी हैं इस लिये उन का नाम "उष्मपा" है । जैसा विश्वरूप अर्जुन को दीखता था वैसा ही सब को दीख सक्ता था तो अर्जुन को दिव्य दृष्टि देने की क्या आवश्यकता थी इसका कारण आगे कहते हैं कि सब के समान अर्जुन भी देखता वा डरता था ॥

रूपंमहत्तेबहुवक्त्रनेत्रं,
महाबाहो ! बहुबाहूरुपादम् ॥

बहूदरंबहुदंष्ट्राकरालं,

दृष्ट्वालोकाःप्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥२३॥

अर्थ—हे (महाबाहो) विशाल भुजावाले कृष्ण ! (बहुवक्त्रनेत्रम्) बहुत से मुख और नेत्र वाले (बहुबाहूरुपादम्) बहुत से भुजा वाले बहुत सी जंघा वाले तथा बहुत से पांव वाले (बहूदरम्) बहुत से पेट वाले (बहुदंष्ट्रा) बहुत से डाढ़ों वाले और (करालम्) विकृत वा भयंकर और (महत्) अति ऊर्जित (ते) तुम्हारा यह (रूपम्) रूप (दृष्ट्वा) देखकर (लोकाः) सब लोक (प्रव्यथिताः) अतिभयभीत हो रहे हैं (तथा) उसीप्रकार (अहम्) मैं भी भयभीत हो रहा हूं ॥

अब अर्जुन आगे कहता है कि मैं केवल भयभीत ही नहीं हूं बल्कि अधीर वा अशान्त भी हो रहा हूं ॥

नभःस्पृशंदीप्तमनेकवर्णं,

व्यात्ताननंदीप्तविशालनेत्रम् ॥

दृष्ट्वाहित्वांप्रव्यथितान्तरात्मा,

धृतिंनविन्दामिशमंचविष्णो ! ॥२४॥

अर्थ—हे (विष्णो) भगवान् श्रीकृष्ण ! (नभस्पृशम्) आकाश पर्यन्त फैला हुआ (दीप्तम्) प्रकाशवान् वा (अनेकवर्णम्) अनेक वर्ण वा रंग का (व्यात्ताननम्) मुख पसारे हुआ और चमकते हुए (दीप्तविशालनेत्रम्) बड़े २ नेत्र वाला ऐसा (त्वाम्) तुम को (दृष्ट्वाहि) देख कर (प्रव्यथितान्तरात्मा) मेरा मन अतिशय पीड़ित वा भयभीत हो रहा है अतएव मुझे न तो (धृतिम्) धीरज होता है (च) और न मुझे (शमम्) शान्ति (विन्दामि) प्राप्त होती है ॥

दंष्ट्राकरालानिचतेमुखानि,

दृष्ट्वैवकालानलसन्निभानि ॥

दिशोनजानेनलभेचशर्म,

प्रसीददेवेश ! जगन्निवास ! ॥ २५ ॥

अर्थ-हे (देवेश) देवतों के स्वामी (ते) तुम्हारे (दंष्ट्रा करालानि) भयङ्कर दाढ़ों युक्त (च) और (कालानलसन्निभानि) प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रज्वलित (मुखानि) मुखों को (दृष्ट्वा-एव) देखते ही मैं अति सभीत हो कर (दिशः-न जाने) दिशा भूल गया हूं अर्थात् कुछ दीखता ही नहीं है (च) और मुझे (शर्म) सुख शान्ति (न लभे) नहीं प्राप्त होती अतएव हे (जगन्निवास) जगत् के आधार ! (प्रसीद) मेरे ऊपर प्रसन्न हो जावो ॥

टीका-श्लोक ७ में जो भगवान् ने कहा था कि "यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि" अर्थात् इस संग्राम में होनेवाला जय पराजय इत्यादि मेरे ही शरीर में देख लो अब यह सब देख कर अर्जुन आगे के ५ श्लोकों में कहता है ॥

अमीचत्वांधृतराष्ट्रस्यपुत्राः ।

सर्वेसहैवावनिपालसङ्घैः ॥

भीष्मोद्रोणःसूतपुत्रस्तथाऽसौ ।

सहास्मदीयैरपियोधमुख्यैः ॥ २६ ॥

वक्त्राणितेत्वरमाणाविशन्ति ।

दंष्ट्राकरालानिभयानकानि ॥

केचिद्विलग्नादशनान्तरेषु ।

संदृश्यंतेचूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

अर्थ-(च) और (सर्वे) जयद्रथादि सब (अवनिपालसंघैः) राजाओं के समूहों के (सह-एव) सहित भी (अमी) ये (धृतराष्ट्रस्यपुत्राः) सब धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि तथा (भीष्मः) भीष्माचार्य (द्रोणः) द्रोणाचार्य और (असौ) यह

(सूतपुत्रः) कर्ण और (अस्मदीयैः) हमारी ओर के (योधमुख्यैः) मुख्य योधा शिखंडि धृष्टद्युम्नादि (सह) सहित (अपि) भी अर्थात् उभय पक्ष के ये सब लोग ॥ २६ ॥ (त्वरमाणाः) शीघ्र २ दौड़ २ कर (दंष्ट्रा) बड़ी २ दाढ़ें युक्त (करालानि) विकराल वा (भयानकानि) भयंकर जो (ते) तुम्हारे (वक्त्राणि) बहुत से मुख हैं उन मुखों में (विशन्ति) प्रवेश हो रहे हैं और इनमें से (केचित्) कोई कोई के (उत्तमाङ्गैः) शिरों के (चूर्णितैः) चूरा २ होकर (दशनान्तरेषु) तुम्हारे दांतों के बीच २ में (विलग्नाः) लटके हुए (संदृश्यन्ते) दीख रहे हैं ॥

ये सब लोग विश्वरूप मुखों में किस प्रकार प्रवेश हो रहे हैं उस का दृष्टान्त अर्जुन आगे देता है।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः,
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा,
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

अर्थ-(यथा) जिस प्रकार अनेक मार्गों में बहती हुई (नदीनाम्) नदियों के (बहवः) बहुत से (अम्बुवेगाः) जलों के प्रवाह (समुद्रम्) समुद्र के (अभिमुखाः) सन्मुख हो कर उसी समुद्र में (एव) ही (द्रवन्ति) प्रवेश हो जाते हैं (तथा)उसीप्रकार (अमी) ये सब (नरलोकवीराः) मृत्युलोक के योधा (तव) तुम्हारे (अभि) सबओर से (विज्वलन्ति) प्रज्वलित (वक्त्राणि) मुखों में (विशन्ति) प्रवेश कर रहे हैं। वेवश हो कर प्रवेश होने का दृष्टान्त नदियों के वेग का दिया है ॥

अब आगे अर्जुन बुद्धिपूर्वक अर्थात् जानबूझ कर प्रवेश होने का दृष्टान्त देता है ॥

यथाप्रदीप्तंज्वलनंपतङ्गा ।
विशन्तिनाशायसमृद्धवेगाः ॥
तथैवनाशाय विशन्तिलोका-
स्तवापिवक्त्राणिसमृद्धवेगाः ॥२९॥

अर्थ-(यथा) जिस प्रकार से (पतङ्गाः) पतंग कीड़े जान बूझकर (प्रदीप्तम्) जलते हुए (ज्वलनम्) आग में (नाशाय) मरने के वास्ते (समृद्धवेगाः) बड़े ज़ोर से बढ़कर (विशन्ति) गिर पड़ते हैं (तथा-एव) उसी प्रकार से (लोकाः) ये सब लोग (नाशाय) अपने नाश के लिये (समृद्धवेगाः) बड़े वेग के सहित (तव) तुम्हारे (अपि) भी (वक्त्राणि) मुखों में (विशन्ति) प्रवेश कर रहे हैं ॥

ऐसे प्रवेश होने, का जो परिणाम होता है सो अर्जुन आगे कहता है ॥

लेलिह्यसेग्रसमानःसमंता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्यजगत्समग्रं ।
भासस्तवोग्राःप्रतपन्तिविष्णो ! ॥ ३० ॥

अर्थ-(समग्रान् लोकान्) इन सर्व लोकों को तथा वीरों को आप अपने (ज्वलद्भिः) प्रज्वलित (वदनैः) मुखों के द्वारा (ग्रसमानः) अन्न के कौर के समान दबाकर लीलते हुए (समन्तात्) सब तरफ से जीभ से (लेलिह्यसे) चाटकर चबाय रहे हो । हे (विष्णो) भगवान् श्रीकृष्ण ! (तव) तुम्हारी यह (भासः) कांति अपने (तेजोभिः) तेज से (समग्रम्) सब (जगत्) संसार में (आपूर्य) व्याप्त होकर तथा (उग्राः) अतिशय तीक्ष्ण होने के कारण उस सब जगत् को (प्रतपन्ति) तपाकर संताप दे रही है अतएव हे महाराज !-

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो ।
नमोऽस्तुतेदेववर ! प्रसीद ॥
विज्ञातुमिच्छामिभवन्तमाद्यं ।
नहिप्रजानामितवप्रवृत्तिम् ॥३१॥

अर्थ-(उग्ररूपः) ऐसा उग्र रूप धारण किये हुए (भवान्) आप (कः) कौन हो सो (मे) मुझ को (आख्याहि) बताओ हे (देववर) देवाधिदेव ! (ते) आप को (नमोऽस्तु) मेरा नमस्कार है आप मेरे ऊपर प्रसन्न हो, सब का (आद्यम्) आदि जो (भवंतम्) आप हैं सो मैं आप को (विज्ञातुम्) जानने की (इच्छामि) इच्छा करता हूं क्योंकि (तव) आपकी (प्रवृत्तिम्) चेष्टा अर्थात् किस कारण आप ने यह रूप धारण किया है वह (नहिप्रजानामि) मुझे समझ नहीं पड़ता है ॥

टीका—अर्जुन ने विश्वरूप दिखाने की प्रार्थना की थी परन्तु यह उग्ररूप दीख पड़ा जिसको देखने की उस ने इच्छा न की थी अतएव वह पूछता है कि आप उग्र रूप वाले कौन हैं सो मुझे बताइये ॥

यह सुनकर भगवान् आगे के तीन श्लोकों में उत्तर देते हैं ॥

श्रीभगवानुवाच ॥

कालोऽस्मिलोकक्षयकृत्प्रवृद्धो,
लोकान्समाहर्तुमिहप्रवृत्तः ।
ऋतेऽपित्वांनभविष्यन्तिसर्वे,
येऽवस्थिताःप्रत्यनीकेषुयोधाः ॥ ३२ ॥

अर्थ—(लोकक्षयकृत्) सब लोकों का नाश करने वाला मैं (प्रवृद्धः) अति उत्कट वा उग्र (कालः) काल (अस्मि) हूं अर्थात् मैं स्वयं काल हूं और इस समय बढ़ा हुआ हूं और (लोकान्) सर्व प्राणियों को (समाहर्तुम्) क्षय करने के हेतु (इह) इस

स्थान पर (प्रवृत्तः) उद्यत हुआ हूं अतएव यद्यपि तू युद्ध भी न करेगा (अपि) तो भी (त्वाम्) तेरे (ऋते) सिवाय (ये) जो (प्रति) हरेक (अनीकेषु) सेना में यहां पर भीष्मद्रोणादि (योधाः) युद्ध करनेवाले वीर (अवस्थिताः) उपस्थित हैं वे (सर्वे) सब (न भविष्यन्ति) नहीं रहेंगे अर्थात् एक तू इन सबका मारनेवाला है सो तू बचेगा बाकी सब मारे जावेंगे अतएव-

(नोट) काल भी एक भगवान् का ही नाम रूप है। जिसके नाश का काल आजाता है उस के विचार और काम भी दैवेच्छानुसार काल को बुलानेवाले ही होजाते हैं। यह कथन उन्हीं लोगों के लिये है कि जिनको अकृतार्थ दशा में राज्यैश्वर्यादि छीन कर काल उनकी छाती पर चढ़के मार डालता है। जैसे दुर्योधनादि की दशा हुई। और पाण्डवादि की कृतार्थ दशा में भी काल ने नहीं दबाया किन्तु दैव ने सूचना मात्र करदी थी कि जो स्वर्गारोहणिक पर्व में दिखादी है॥ (भी० प्र०)

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठयशोलभस्व,
जित्वाशत्रून्भुंक्ष्वराज्यंसमृद्धम्।
मयैवैतेनिहताःपूर्वमेव,
निमित्तमात्रंभवसव्यसाचिन्॥ ३३॥

अर्थ-(तस्मात्) तिस कारण से हे अर्जुन (त्वम्) तुम युद्ध के वास्ते (उत्तिष्ठ) उठकर खड़े होवो और ऐसी (यशः) कीर्त्ति (लभस्व) प्राप्त करो कि जिन भीष्मादि वीरों को देवता भी नहीं जीत सके उनको एक अर्जुन ने ही पराजय किया, फिर बिना प्रयास (शत्रून्) इन सब शत्रुओं को (जित्वा) जीत कर (समृद्धम्) निर्विघ्न (राज्यम्) राज सुख (भुंक्ष्व) भोगो (एते) ये सब तेरे शत्रु तुमसे युद्ध करने के (पूर्वम्) पहिले (एव) ही (मया) मेरे द्वारा (निहताः)

मारे गये (एव) ही हैं अर्थात् मैं कालात्मा इनको मार सा ही चुका हूं तथापि हे (सव्यसाचिन्) वाम हाथ से शर चलाने वाले तुम (निमित्तमात्रम्) इन के मारने का एक निमित्त मात्र ही (भव) होजावो अर्थात् इनको तेरे हाथों से मारना केवल निमित्तमात्र ही होगा क्योंकि मैं कालरूप सब को प्रायः अभी मार ही चुका हूं परंतु तू मेरा भक्त है सो तुझे यश देना चाहता हूं ॥

(नोट) जिस राजादि की बुद्धि को दैव नष्ट कर देता है जिसको अन्याय ही न्याय दीखता है उसके नाश का समय दैवेच्छा से ही जानो आ चुका है। इस लिये उस अन्यायी राजादि के विरोधी लोगों को मान लेना चाहिये कि हम केवल निमित्त मात्र हैं इससे यश कीर्त्ति हमारी होजायगी। इसका नाश तो दैव ही करेगा ॥ (भी० प्र०)

टीका–सव्य=वाम हाथ जो वाम हाथ से बाण छोड़े उसे सव्यसाची कहते हैं। भगवान् कहते हैं कि ये सब योधा मुझ काल का कलेवा ही हो चुके हैं तुझे केवल मारने का निमित्त होने के वास्ते उन पर बाण चला देना है और जो शंका तूने अध्याय २ के श्लोक ६ में की थी सो भी अब सत्कार क्योंकि——

द्रोणंचभीष्मंचजयद्रथंच,
कर्णंतथान्यानपियोधवीरान्।
मयाहतास्त्वंजहिमाव्यथिष्ठाः,
युद्धयस्वजेतासि रणे सपत्नान् ॥३४ ॥

अर्थ–जिनसे तू डरता है उन (द्रोणम्) द्रोणाचार्य को (च) और (भीष्मम्) भीष्म को (च) और (जयद्रथम्) जयद्रथ को (च) तथा (कर्णम्) कर्ण को (तथा) और (अन्यान्) दूसरे सब (अपि) ही (योधवीरान्) युद्ध करनेवाले शूर

वीरों को (मया) मैंने जिन को पहिले ही (हताः) मारडाला है अब (त्वम्) तू (जहि) मारदे और (मा व्यथिष्ठाः) कुछ मत डर क्योंकि तू (रणे) संग्राम में (सपत्नान्) शत्रुओं को अवश्य ही (जेतासि) जीतेगा अतएव (युद्धस्व) युद्ध कर ॥

यह जो अर्जुन के और श्रीकृष्ण के बीच में बातचीत हुई वही संजय धृतराष्ट्र से आगे कहता है ॥

संजय उवाच ॥

एतच्छ्रुत्वावचनंकेशवस्य,
कृताञ्जलिर्वेपमानःकिरीटी ।
नमस्कृत्वाभूयएवाहकृष्णं,
सगद्गदंभीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

अर्थ-पूर्वोक्त तीन श्लोकों में (एतत्) ऐसे (केशवस्य) श्री कृष्ण के (वचनम्) वचनों को (श्रुत्वा) सुनकर (वेपमानः) कांपता हुआ (किरीटी) अर्जुन (कृताञ्जलिः) दोनों हाथों का संपुट बांधकर अर्थात् दोनों हाथ जोड़कर (कृष्णम्) श्री कृष्ण को (नमस्कृत्वा) नमस्कार करके भय वा हर्ष युक्त (सगद्गदम्) कम्पायमान हो कर (भीतभीतः) भयभीत से भी अधिक भीत अर्थात् अतिशय डरता हुआ (प्रणम्य) शिर झुकाकर (भूयः) फिर (एव) भी बोला जो आगे के ११ श्लोकों में कहते हैं ॥

स्थानेहृषीकेश ! तवप्रकीर्त्या,
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यतेच ।
रक्षांसिभीतानिदिशोद्रवन्ति,
सर्वेनमस्यन्तिचसिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

अर्थ-हे (हृषीकेश) इन्द्रियों के स्वामी वा प्रेरक अंतर्यामी श्रीकृष्ण ! तुम ने जो इस प्रकार अपना अद्भुत प्रभाव तथा भक्तवत्सलता दिखाई सो सब (स्थाने) बहुत ठीक है और

यह सब बात ऐसी ही है क्योंकि (तव) तुम्हारी (प्रकीर्त्या) महिमा को संकीर्तन करने से केवल मैं ही नहीं वलिक सब (जगत्) संसार (प्रहृष्यति) अतिशय आनन्द पाता है (च) और सब जगत् को (अनुरज्यते) अनुराग भी प्राप्त होता है पुनः आप का माहात्म्य सुनकर (रक्षांसि) राक्षस गण (भीतानि) भय भीत होकर (दिशः) आठो दिशाओं में (द्रवन्ति) भागे फिरते हैं यह भी ठीक है (च) और (सर्वे) सब (सिद्धसंघाः) योगी, तपस्वी तथा मंत्रादि सिद्ध करने वालों के समूह (नमस्यन्ति) आप को प्रणाम करते हैं यह भी योग्य ही है अर्थात् इन बातों में कोई आश्चर्य नहीं है ॥

टीका—भगवान् का संहारकाल का रूप देखकर अर्जुन घबड़ा गया था तब स्थिति काल का रूप दिखाकर श्री महाराज ने उसके मन को स्थिर किया उसी रूप का वर्णन अर्जुन ने इस श्लोक में किया है क्योंकि स्थिति काल ही में भगवान् का अवतार होता है और उसी अवतार के कीर्तन से जगत् का उद्धार होता है दैवी संपत्ति के लोग विषय त्याग के भगवद्भजन के हर्ष तथा प्रीति के सुख को भोगते हैं और आसुरी संपत्ति के लोग विषयासक्त होकर भगवद्भजन से डरते वा दूर भागते हैं, बड़े २ सिद्ध भी भगवत् की शरण जाते हैं जैसा कि अर्जुन पहिले देख चुका है ॥

अब आगे इस का कारण कहते हैं कि भगवान् की वंदना सब देवतादिक क्यों करते हैं इस के ९ हेतु हैं ॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् !,
गरीयसेब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश ! जगन्निवास !,
त्वमक्षरंसदसत्तत्परंयत् ॥ ३७॥

अर्थ-(च) और हे (महात्मन्) आत्माओं में श्रेष्ठ !(ब्रह्मणः-अपि) सब के विधाता ब्रह्मदेव का भी (आदिकर्त्रे) आदि कर्ता अर्थात् ब्रह्मा का भी पिता तथा (गरीयसे) ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ जो आप हैं सो (ते) आपको (कस्मात्) किस कारण से (न नमेरन्) सब लोग नमस्कार न करें अर्थात् उन को नमस्कार करना योग्य ही है हे (अनन्त !) अंतरहित, हे (देवेश) देवतों के स्वामी, हे (जगन्निवास) जगत् के आधार मूल ! उन सब को वंदना करने का कारण भी तो यह है कि (सत्) व्यक्त और (असत्) अव्यक्त इन दोनों के (यत्) जो (परम्) परे है अर्थात् इन दोनों का मूल कारण जो (अक्षरम्) अक्षर यानी अविनाशीब्रह्म है (तत्) वह (त्वम्) आप ही हैं इन ९ कारणों से वे सब आप को नमस्कार करते हैं तो इस में क्या आश्चर्य है अर्थात् उन्हें करना ही चाहिये बल्कि आपको नमस्कार करने के और भी कारण हैं जो आगे कहते हैं ॥

टीका-निर्गुण ब्रह्म में कर्तृत्व नहीं रहता परन्तु माया के योग से उसमें कर्तृत्व आता है तब वह सगुण हो जाता है यह पूर्वार्द्ध में बताया है। इन्द्रियों के गोचर जो पंचभूत हैं वे "सत्" शब्द से जनाये हैं और जो मन, बुद्धि वा चित्त इन्द्रियों के अगोचर हैं उन की "असत्" शब्द से सूचना की है इन दोनों के परलेपार जो केवल निर्गुण ब्रह्म है सो भी अर्जुन उत्तरार्द्ध में कहता है कि श्रीकृष्ण ही हैं ॥

त्वमादिदेवःपुरुषःपुराण-
स्त्वमस्यविश्वस्यपरंनिधानम् ।
वेत्तासिवेद्यंचपरंचधाम,
त्वयाततंविश्वमनन्तरूप ! ॥ ३८ ॥

अर्थ-हे (अनन्तरूप) अनन्तरूप वाले (त्वम्) तुम (आदिदेवः) सब देवतों के आदिदेव हो क्योंकि तुम (पु-

शशाङ्कः) अनादि (पुरुषः) परम पुरुष हो अतएव (त्वम्) तुम (अस्य विश्वस्य) इस संसार के (परं निधानम्) लय स्थान हो यानी आप ही में यह विश्व लय होता है तथा आप इस विश्व के (वेत्ता) ज्ञाता (असि) हो (च) और (वेद्यम्) जो वस्तु जानने योग्य है सो तुम्हीं हो और (परंधाम) परम विश्राम पद अर्थात् वैकुण्ठ (च) भी तुम्हीं हो अतएव यह (विश्वम्) जगत् (त्वया) तुम्हारे द्वारा (ततम्) विस्तृत हुआ है अर्थात् इस विश्व में तुम्हीं व्याप रहे हो, इन सारी हेतुओं से तुम्हीं नमस्कार के योग्य हो अतएव मैं वारंवार तुम्हें नमस्कार करता हूं ॥

यहां तक श्रीकृष्ण को सर्व देवात्मक रूप होने के कारण सब के नमस्कार योग्य कहकर अब आगे अर्जुन आप भी भगवान् को नमस्कार करता है ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ॥ नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

अर्थ—सर्व देवात्मक होने के कारण तुम (वायुः) पवन (यमः) यमराज (अग्निः) अग्निदेव (वरुणः) वरुण देवता और (शशांकः) चन्द्रमा (च) तथा (प्रजापतिः) ब्रह्मा को भी उत्पन्न करने वाले होने के कारण (त्वम्) तुम इस जग के (प्रपितामहः) परदादा हो अतएव (ते) तुम को (सहस्र कृत्वः) हजारों बार (नमोनमः) मेरे नमस्कार (अस्तु) पहुंचे (पुनश्च) और फिर भी (भूयः अपि) फिर फिर (ते) तुम को हजारों (नमो नमः) नमस्कार हैं ॥

(नोट) सब नाम रूप मात्र सृष्टि कल्पित है । वायु आदि नाम रूपों में एक ही भगवत् की शक्ति उस २ वायु आदि में उसी २ के रूप से विद्यमान रहती हुई मान कर

रही है । इसी लिये वह अद्वैत है। इसी लिये सब में भगवान् को देखो (भी० श्रु०)

टीका–भगवान् सब देव रूप हैं, तथा सब दिशा इत्यादि सृष्टि भगवत् रूप है ऐसा अनंत रूप जानकर अर्जुन नमस्कार करता है फिर अपने सामने खड़ा हुवा जो भगवत् का अवतार रूप है, उसको नमन करता है और भगवंत के अनंत रूप मानकर अनंत नमस्कार करता है ॥

इस प्रकार भक्ति, श्रद्धा तथा अतिशय आदर इत्यादि से नमस्कार करने पर भी अर्जुन को संतोष नहीं हुवा अतएव फिर भी आगे बहुत प्रकार से नमस्कार कर स्तुति करता है॥

नमःपुरस्तादथपृष्ठतस्ते, नमोस्तुतेसर्वतएवसर्व । अनंतवीर्यामितविक्रमस्त्वं, सर्वंसमाप्नोऽषिततोऽसिसर्वः ॥ ४० ॥

अर्थ–हे (सर्व) सर्वात्मन् ! तुम को सर्व दिशा में नमस्कार है क्योंकि तुम (अनंतवीर्य) अनंत सामर्थ्य वाले हो (त्वम्) तुम (अमितविक्रमः) अमित पराक्रम वाले हो अतएव (सर्वं समाप्नोऽषि) तुम सर्व विश्व में भीतर बाहिर व्याप्त हो रहे हो अर्थात् जैसे सुवर्ण कारण रूप होकर अपने कार्य कुण्डलादि में व्याप्त रहता है तैसे तुम सर्व जग का कारण भूत हो और (ततः असि) सब में व्याप रहे हो यानी सर्व स्वरूप हो ऐसे (ते) तुम सर्वात्मा को (पुरस्तात्) सामने से (नमः) नमस्कार है (अथ) और (पृष्ठतः) पीछे से नमस्कार और (सर्वतः) सब ओर से (एव) भी तुम को (नमः) नमस्कार (अस्तु) प्राप्त होवै ॥

टीका–सब वीर्यवान् अर्थात् बलवान् पराक्रम वाले नहीं होते परन्तु श्री कृष्णचन्द्र जी अनंत वीर्यवान् तथा अमित पराक्रम वाले भी थे ॥

अब आगे के दो श्लोकों में अर्जुन भगवान् से क्षमा मांगता है क्योंकि अब तक उन की ऐसी महिमा न जानने के पहिले वह उन को अपना सखा मानकर हंसी और चुहलों में जो चाहे सो कह डालता था ॥

सखेतिमत्वाप्रसभंयदुक्तं,हेकृष्णहेयादवहेसखेति। अजानतामहिमानंतवेदं, मयाप्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥

अर्थ-तुम मेरे (सखा) प्राकृत सखा हो (इति) ऐसा (मत्वा) मानकर अपने हठ से तथा (प्रसभम्)तिरस्कार रूप से (यत्) जो कुछ मैंने (उक्तम्) कहा है सो क्षमा करो अर्थात् मैं तुमको (हे कृष्ण) हे कृष्ण हे यादव, हे सखा (इति) ऐसे २ वाक्य जो बोल चुका हूं उस का कारण यह है कि (तव) तुम्हारी (इदम्) इस विश्व रूप की (महिमानम्) महिमा (मया अजानता) मैं नहीं जानता था और इसी कारण जो कुछ मैं ने कहा सो (प्रमादात्) अहंकार तथा अज्ञान से (वापि) अथवा (प्रणयेन) स्नेह से कहा है यह सब अपराध मेरा क्षमा करो ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोसि, विहारशय्यासनभोजनेषु । एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं, तत्क्षामयेत्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

अर्थ-(च) और हे (अच्युत) भगवन् ! (विहार) खेलने में (शय्या) सोने में (आसन) बैठने में तथा (भोजनेषु) भोजन करते समय में (अवहासार्थम्) हंसी ठट्टा के हेतु (एकः) अकेले में अर्थात् और सखों के सूने में (अथवा) (तत्समक्षम्) उन सब सखों के सामने (अपि) भी (यत्) जो कुछ मैं ने हंसी से (असत्कृतः असि) तुम्हारा अपमान वा तिर-

स्कार किया है (तत्) वह सब अपराध (अहम्) मैं (त्वाम्) तुम (अप्रमेयम्) अचिन्त्य प्रभाव वाले से (क्षामये) क्षमा कराता हूं अर्थात् क्षमा करने की प्रार्थना करता हूं ॥

टीका—श्रीकृष्ण जी को अपना सखा जानकर खेलने में, आसन पै बैठने में, पलंग पर पौढ़ते समय तथा खाते पीते समय अर्जुन उन से जो हंसी ठट्ठा किया करता था उसकी माफी मांगता है और अब आगे भगवत का अप्रमेय अर्थात् अचिंत्य प्रभाव वर्णन करता है ॥

पिताऽसिलोकस्यचराचरस्य, त्वमस्यपूज्य-
श्चगुरुर्गरीयान् । नत्वत्समोस्त्यभ्यधिकः कुतो-
न्यो, लोकत्रयेप्यप्रतिमप्रभाव ! ॥ ४३ ॥

अर्थ—"प्रतिमा" अर्थ उपमा और "अप्रतिम" अर्थ जिन की उपमा न हो इस प्रकार का जिन का प्रभाव है अर्थात् हे (अप्रतिमप्रभाव) उपमा रहित प्रभाव वाले तुम (अस्य चराचरस्य लोकस्य) इस चराचर विश्व के (पिता) जनक (असि) हो अतएव (त्वम्) तुम (अस्य) इस संसार को (पूज्यः) पूजने योग्य (च) भी हो तथा (गरीयान् गुरुः) सब गुरु लोगों से भी श्रेष्ठ गुरु हो अतएव (लोकत्रये) तीनों लोकों में (अपि) भी (त्वत्समः) तुम्हारे समान कोई (न अस्ति) नहीं है क्योंकि तुम परमेश्वर के सिवाय अन्य कुछ नहीं हो तो फिर तुमसे (अभ्यधिकः) और अधिक बड़ा (अन्यः) दूसरा (कुतः) कहां से हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता॥ गुरु ऐसा चाहिये ॥

॥ श्लोक ॥ गुरवोबहवःसन्ति शिष्यवित्तापहारकाः ।
दुर्लभःसद्गुरुर्देवि शिष्यसन्तापहारकः ॥
किन्तु ऐसे गुरु एक तुम ही हो ॥

तस्मात्प्रणम्यप्रणिधायकायं, प्रसादयेत्वा-

महमीशमीड्यम् । पितेवपुत्रस्य सखेव सख्युः,
प्रियःप्रियायार्हसिदेवसोढुम् ॥ ४४ ॥

अर्थ-(तस्मात्) जिस कारण से (ईड्यं, त्वाम्, ईशम्) स्तुति करने योग्य तुम परमेश्वर को (कायंप्रणिधाय) मैं अपनी काया अर्थात् देह को दण्डवत् झुका कर (प्रणम्य) नमस्कार करके (प्रसादये) प्रसन्न करता हूं क्योंकि हे (देव) स्वामिन्! तुम मेरे अपराध उसी प्रकार (सोढुम्) क्षमा करने के (अर्हसि) योग्य हो (इव) जिस प्रकार (पुत्रस्य) पुत्र के अपराध क्षमा करके (पिता) पिता सहन करता है तथा (सख्युः) मित्र के अपराध (सखा) मित्र ही क्षमा करता है और (प्रियाय) अपने प्यारे मित्र का अपराध (प्रियः) प्यारा मित्र क्षमा करता है ॥

टीका-"इव" शब्द तीनों को लागू होता है अर्थात् पिता के समान वा सखा के समान वा प्रिय के समान, भगवान् से सब सृष्टि की उत्पत्ति है यह तत्व "पितेवपुत्रस्य,, पद से बताया है "द्वासुपर्णा,, श्रुति में जो बताया है कि ईश्वर सब जीवों का सखा है यह तत्व "सखेव सख्युः,, पद से जनाया है और जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपने पति से अव्यभिचारिणी प्रीति करती है उसी प्रकार भक्त लोग ईश्वर की भक्ति करते हैं यह तत्व " प्रियःप्रियाय " वाक्य से दरशाया है ॥

इस प्रकार अपना अपराध क्षमा कराके अब आगे दो श्लोकों में अर्जुन भगवान् की प्रार्थना करता है ॥

अदृष्टपूर्वंहृषितोऽस्मिदृष्ट्वाभयेनचप्रव्यथितंमनोमे ।
तदेवमेदर्शयदेवरूपं प्रसीददेवेशजगन्निवास ॥४५॥

अर्थ-जो इसके (पूर्वम्) कभी पहिले (अदृष्टम्) नहीं देखा था सो तुम्हारा विश्वरूप अब (दृष्ट्वा) देख कर (हृषितोस्मि) मुझे बड़ा हर्ष हुआ (च) तथापि (भयेन) भय से (मे) मेरा

(मनः) मन (प्रव्यथितम्) दुःखी और चञ्चल हो रहा है अतएव हे (देव) ईश्वर ! मेरी व्यथा निवृत्त करने के हेतु (तदेव) वही सदैव काल का (रूपम्) स्वरूप (मे) मुझे (दर्शय) दिखाइये। हे (देवेश) सर्वदेवतों के स्वामी तथा हे (जगत् निवास !) जगत् के आधार ! मेरे ऊपर (प्रसीद) प्रसन्न होवो और कृपा करो ॥

श्रीभगवान् जी के जिस रूप को अर्जुन फिर देखना चाहता है उसी का विशेष वर्णन आगे करता है ॥

किरीटिनंगदिनंचक्रहस्त मिच्छामित्वांद्र-ष्टुमहंतथैव । तेनैवरूपेणचतुर्भुजेन सहस्रबाहो ! भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

अर्थ-हे (सहस्रबाहो) हजार भुजा वाले (विश्वमूर्ते) संसार की प्रतिमा! यह अपना विश्वरूप अन्तर्द्धान करो और मुझे (तथैव) वही (किरीटिनम्) किरीट धारण कियेहुए, (गदिनम्) गदा धारण कियेहुए और (चक्रहस्तम्) हाथ में चक्र धारण किये हुए अपना सदैव का रूप दिखावो जिस रूप में (अहम्) मैं (त्वाम्) तुम को (द्रष्टुम्) देखना (इच्छामि) चाहता हूं अतएव (तेनैव) उसी (चतुर्भुजेनरूपेण) चतुर्भुज रूप में (भव) होजाओ अर्थात् मेरा पूर्व का देखाहुआ वही किरीटादि धारण किये हुए अपना चतुर्भुजरूप मुझे दिखाओ ॥

टीका-अर्जुन श्रीकृष्ण जी का श्यामसुन्दर चतुर्भुजी रूप देखा करता था और वह उसी रूप का उपासक था, पहिले भी वह श्रीकृष्ण जी को किरीटादि युक्त देखता रहा है और जो श्लोक १७ में विश्वरूप दर्शन के समय " किरीटिनं; गदिनं, तेजोराशिम् " इत्यादि कहा है वह बहुत से किरीटादि देखने के अभिप्राय से कहा है, अथवा अर्जुन का श्लोक

१७ से यह अभिप्राय था कि अबतक तुम को किरीटादि धारण कियेहुए सुप्रसन्न मुख देखा करता था सो वही किरीटादि धारण किये हुए अब तुम तेजोराशि वा दुर्निरीक्ष्य दीख रहे हो अर्थात् यह तेज देख कर तुम्हारी ओर देखना ही कठिन हो रहा है, इस से अर्जुन के श्लोक १७ के और इस श्लोक के वाक्यों में विरोध नहीं पड़ता ॥

ऐसी प्रार्थना सुनकर अर्जुन को धैर्य देते हुए श्रीकृष्ण जी आगे के ३ श्लोकों में उत्तर देते हैं ॥

श्रीभगवानुवाच ॥

मयाप्रसन्नेनतवार्जुनेदं,रूपंपरंदर्शितमात्मयोगात्॥ तेजोमयंविश्वमनन्तमाद्यं, यन्मेत्वदन्येननदृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! तू इस प्रकार क्यों डरता है क्योंकि (मया) मैंने (प्रसन्नेन) अतिप्रसन्न हो कर वा कृपा करके (आत्मयोगात्) अपनी अचिन्त्य योगमाया के सामर्थ्य से (इदम्) यह (परम्) उत्तम (तेजोमयम्) तेजयुक्त (विश्वम्) विश्वात्मक यानी सर्वविश्व युक्त (अनन्तम्) अन्तरहित वा (आद्यम्) सब का आदि (रूपम्) स्वरूप (तव) तुम को (दर्शितम्) दिखाया है (यत्) जो (मे) मेरा रूप (त्वदन्येन) तेरे समान भक्तों के सिवाय अन्य किसी ने (पूर्वम्) इस के पहिले कभी (न दृष्टम्) नहीं देखा था, केवल मैं ही अपनी अचिन्त्य तथा अनन्त शक्तियों से ऐसा रूप धारण कर सकता हूं ॥

नवेदयज्ञाध्ययनैर्नदानै र्नचक्रियाभिर्नतपोभिरुग्रैः ॥ एवंरूपःशक्यअहंनृलोके, द्रष्टुंत्वदन्येनकुरुप्रवीर ! ॥ ४८ ॥

अर्थ-श्रीभगवान् जी कहते हैं कि यह मेरे विश्वरूप का दर्शन अतिदुर्लभ है वह तुम को मिल गया सो तुम कृतार्थ हो गये क्योंकि हे (कुरुप्रवीर!) कौरवों में श्रेष्ठ अर्जुन! (एवंरूपः) इसप्रकार का रूप धरके (अहम्) मैं (नृलोके) इस मृत्युलोक में (त्वत् अन्येन) तेरे सिवाय और किसी दूसरे के द्वारा (न वेदयज्ञाध्ययनैः) न तो वेद के अध्ययन से न यज्ञ करने से न विद्या के पढ़ने से (न दानैः) न दान करने से (च) और (न क्रियाभिः) न अग्निहोत्रादि क्रियाओं से तथा (न उग्रैः तपोभिः) न बड़े २ कठिन तपों से अर्थात् चान्द्रायणादि व्रतों से (द्रष्टुं शक्यः) देखने के योग्य हूं अर्थात् उक्त उपायों से भी कोई मेरा यह रूप नहीं देख सकता किन्तु केवल तूने ही मेरे प्रसाद से उसे देखा है क्योंकि तू मेरा एकान्त भक्त है॥

अब आगे श्रीभगवान् जी कहते हैं कि हे अर्जुन! यदि ऐसा होने पर भी तू मेरा घोररूप देखकर डरता है तो मैं तुझे अपना पूर्व हो का मनुष्य और श्यामसुन्दर सौम्यरूप दिखाता हूं, यह कहकर श्रीमहाराज श्यामसुन्दररूप हो गये॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो, दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्॥ व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं, तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ ४९॥

अर्थ-(मम) मेरा (इदम्) यह (ईदृक्) इस प्रकार का (घोरम्) भयानक (रूपम्) रूप (दृष्ट्वा) देखकर (ते) तुम को (व्यथा) दुःख का भय (मा) न होना चाहिये (च) और (विमूढभावः) घबराहट भी (मा) न होना चाहिये किन्तु यदि ऐसा हो भी गया हो तो (व्यपेतभीः) भय त्याग के और (प्रीतमनाः) प्रसन्न चित्त हो कर (पुनः) फिर भी (त्वम्) तू (मे) मेरा (तदेव) वही पूर्व का जो (इदम्) यह (रूपम्) रूप है सो (प्रपश्य) भलीभांति देख॥

यह कह कर श्रीभगवान् जी ने अपना प्राक्तनरूप अर्जुन को दिखाया यही बात सञ्जय धृतराष्ट्र से आगे कहते हैं ॥

सञ्जयउवाच ॥

इत्यर्जुनंवासुदेवस्तथोक्त्वास्वकंरूपं दर्शयामास-भूयः ॥ आश्वासयामासचभीतमेनं; भूत्वापुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

अर्थ-(वासुदेवः) श्रीकृष्ण जी (अर्जुनम्) अर्जुन को (इति) ऐसा (उक्त्वा) कहकर जैसा रूप कि पहिले था (तथा) वही (स्वकम्) अपना किरीट गदा चक्रादि युक्त चतुर्भुज (रूपम्) रूप (भूयः) फिर से उसे (दर्शयामास) दिखाया (च) और इस प्रकार (पुनः) फिरके (महात्मा) महा विश्वरूप कृपालु भगवान् ने (सौम्यवपुः) प्रसन्न रूप (भूत्वा) होकर (भीतम्) भयभीत (एनम्) इस अर्जुन को (आश्वासयामास) धीरज दिलाया ॥

इस सौम्य रूप को देख अर्जुन भय त्याग के और प्रसन्न हो के आगे बोला ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

दृष्ट्वेदंमानुषंरूपं तवसौम्यंजनार्दन ।
इदानीमस्मिसंवृत्तः सचेताःप्रकृतिंगतः ॥१॥

अर्थ-हे (जनार्दन) श्रीकृष्ण (तव) तुम्हारा (इदम्) यह (सौम्यम्) प्रसन्न (मानुषम्) मनुष्य जैसा (रूपम्) स्वरूप (दृष्ट्वा) देखकर (इदानीम्) अब (संवृत्तः, अस्मि) मैं सावधान वा शांत हो गया और (सचेताः) प्रसन्न चित्त होकर (प्रकृतिंगतः) स्वस्थ हुआ तथा अपनी पूर्व प्रकृति को प्राप्त हुआ अर्थात् समाधान होकर अब मेरा घबराहट और भय दूर होगया और मैं पहिले के समान धैर्यवान् होगया ॥

(नोट)—मनुष्य अपनी प्रकृति से विरुद्ध दशा में तब तक नहीं रह सकता कि जब तक दैवी शक्तियों के साथ वा दैवी घटनाओं के साथ योग करने का योगाभ्यासादि द्वारा अभ्यास न बढ़ाले। यद्यपि अर्जुन देवराज इन्द्र के यहां नि-

वास कर आया था पर तोभी भगवान् का यह विलक्षण आश्चर्यरूप लोकक्षयकारी साक्षात् कालकी मूर्त्ति था इसी से अर्जुन घबड़ा गया था (भी० अ०)

यह सुनकर श्रीकृष्ण आगे कहते हैं कि जो अनुग्रह मैंने तेरे ऊपर किया है वह औरों को अति दुर्लभ है ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

सुदुर्दर्शमिदंरूपंदृष्टवानसियन्मम ।
देवाअप्यस्यरूपस्य नित्यंदर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

अर्थ—हे अर्जुन ! (यत्) जो (मम) मेरा विश्वरूप (दृष्टवानसि) तूने देखा है (इदम् रूपम्) यह रूप (सुदुर्दर्शम्) अत्यन्त कठिनाई से देखने में आता है अर्थात् कितनाही कष्ट करने पर भी नहीं दीखसक्ता क्योंकि (देवाः) देवता लोग भी (अस्यरूपस्य) इस रूप के (नित्यम्) सर्वदा (दर्शनकाङ्क्षिणः) दर्शनों की इच्छा करते रहते हैं परन्तु उनको भी दीखने में नहीं आता इसका कारण यह है कि—

नाहंवेदैर्नतपसा नदानेननचेज्यया ।
शक्यएवंविधोद्रष्टुं दृष्टवानसिमांयथा ॥५३

अर्थ—हे अर्जुन (यथा) जिस प्रकार (माम्) मुझको अर्थात् मेरे विश्वरूप को (दृष्टवान्असि) तूने देखा है (एवंविधः) उस प्रकार (न वेदैः) न वेद पढ़ने से (न तपसा) न तप करने से (न दानेन) न दान देने से (च) और (न इज्यया) न यज्ञ पूजन इत्यादि करने से भी (अहम्) मैं (द्रष्टुं शक्यः) दीखने के योग्य हूं अर्थात् वेदादि तपादि दानादि और यज्ञादि करने से कोई मेरा यह रूप नहीं देखसक्ता क्योंकि—मेरे दर्शन का एक भक्ति मुख्य साधन है तथा तप दानादि गौण साधन हैं॥

(नोट)—संसार में भी जब यही नियम दीखता है कि अन्य उपायों से मनुष्य वैसा वशीभूत नहीं होता कि जैसा प्रबल सेवा शुश्रूषा से हो जाता है । अथवा यों कहो कि संसार में जो काम अन्य उपायों से नहीं होते वे सेवा और

भक्ति से सिद्ध हो सकते हैं। सो यह सार्वत्रिक नियम ईश्वरीय कानून का ही एक दफा है ॥ (भी० गा०)

टीका-श्लोक ४८ में यही बात भगवान् कह चुके हैं तो अब फिर क्यों कही उसका कारण यह है कि जब श्लोक ४८ कहा तब अर्जुन का मन भय से अस्वस्थ था और अब वह भय तथा अस्वस्थता जाती रही अतएव परम कारुणिक श्रीकृष्ण जी ने फिर उसी बात को दुहराया है ॥

अब ऐसा है तो कौन उपाय से अन्य लोग भगवत् का रूप देख सक्ते हैं वह उपाय आगे कहते हैं ॥

भक्त्यात्वनन्ययाशक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ! ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ! ॥५४॥

अर्थ-हे (परंतप) अर्जुन ! (अनन्यया भक्त्या तु) केवल एक मेरी ही निष्ठारूपी भक्ति से (अहम्) मैं (एवंविधः) इस प्रकार का विश्वरूप अर्थात् मेरा यह विश्वरूप (तत्वेन ज्ञातुम्) तत्व या परमार्थ दृष्टि से जाना (शक्यः) जा सक्ता है और (द्रष्टुम्) शास्त्रानुसार प्रत्यक्ष दीख सक्ता है (च) तथा (प्रवेष्टुम्) कोई भी मेरे आत्मा में प्रवेश कर सक्ता है अर्थात् तदाकार होसक्ता है अन्य किसी उपाय से नहीं ॥

टीका-अनन्य भक्ति के लक्षण अध्याय ७ के श्लोक १९ "वासुदेवः सर्वमिति" इस चरण में कहे हैं और वैसी भक्ति करने वाले को सबसे श्रेष्ठ कहा है। मूंड मुड़ाने व भगवां वस्त्र पहिरने की आवश्यकता नहीं ॥ प्रथम अद्वैत तत्व जानकर उसी अनुसार सर्वत्र देखने का अभ्यास करने से वह दृष्टि स्थिर हो जाती है तदनंतर भक्त भगवत् स्वरूप में प्रवेश करता है ऐसा क्रम है और इसी क्रम से अर्जुन को उपदेश किया है। अष्टम अध्याय में प्रथम अक्षर ब्रह्म रूप का बोध कराया और जड़ में चैतन्य का भी अनुभव बताया तदनंतर अध्याय ९ में फिर से यही ज्ञान कहकर यह अनुभव दिखाया कि दृश्य मायाभास भी भगवन्त का रूप है इस प्रकार स्पष्ट सिद्ध हो जाने

पर भी कोई २ ज्ञानाभिमानी लोग गीता का यह अर्थ करते हैं कि ज्ञान हो जाने के पीछे सगुण भक्ति की आवश्यकता नहीं उनका कहना ठीक नहीं क्योंकि जो सोया हुआ है उसको हिलाकर या चिल्लाकर जगाना पड़ता है परन्तु जो जागता हुआ है उसको जगाने का यत्न करो तो वह व्यर्थ है ॥

अब आगे भगवान् सगुण भक्ति के लक्षण बताकर यह सूचना करते हैं कि यह सर्व शास्त्रार्थ का सार वा परम रहस्य है ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

अर्थ–हे (पांडव) अर्जुन ! (यः) जो (मत्कर्मकृत्) मेरे ही प्रीत्यर्थ कर्म करता है वा जिसका (मत्परमः) मैं ही परम पुरुषार्थ तथा परमगति हूं जो (मद्भक्तः) मेरा ही भजन करके मेरा आश्रय लेता है वा जो (संगवर्जितः) धन पुत्रादि की संसारी वासना त्याग देता है और जो (सर्वभूतेषु) सर्व भूतों में (निर्वैरः) वैर तथा द्वेष रहित हो जाता है (सः) वही (माम्) मुझको (एति) प्राप्त करता है और कोई नहीं ॥

टीका–इस श्लोक में जो कही वही जीवन्मुक्त दशा है वासना रहित हो जाने से लिंग देह का नाश हो जाता है और वासना गई कि रागद्वेष दूर हुए और सम दृष्टि हुई " संगवर्जितः " पद से मुक्त दशा बताई है ऐसी स्थिति हो जाने पर जो भगवत् प्रीत्यर्थ कर्म करता है और उसी को परम गति समझता है वही सच्चा सगुण भक्त है ॥

यह एकादशवें अध्याय की टीका श्रीविश्वरूप भगवन्त जी के चरणारविंदों में अर्पण करता हूं ॥

सुदुरापं सुदुर्दर्शं तपोयज्ञादिकामिनः ।
भक्ताय भगवानेवं विश्वरूपमदर्शयत् ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनं नाम एकादशोऽध्यायः ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः ॥

ओम् नमो भगवते वासुदेवाय ॥

निर्गुणोपासनस्यैवं सगुणोपासनस्यच ।
श्रेयःकतरदित्येतन्निर्णेतुं द्वादशोऽश्रमः ॥

पूर्व अध्याय के अन्त में "मत्कर्मकृन्मत्परमः" इत्यादि वाक्यों से भक्तिनिष्ठ की श्रेष्ठता दिखाई तथा कौन्तेय प्रतिजानीहि इत्यादि अध्याय ९ श्लोक ३१ से भी उसी को श्रेष्ठ कहा है तथा "तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते" अध्याय ७ श्लोक १७ इत्यादि में और "सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि" अध्याय ४ श्लोक ३६ इत्यादि से ज्ञाननिष्ठा अर्थात् निर्गुणोपासक ज्ञानी को श्रेष्ठ कहा है । और भगवान् ने यह भी कहा है कि ज्ञानहीन भक्त से ज्ञानवान् भक्त श्रेष्ठ है परन्तु अर्जुन को यह न समझ पड़ा कि सगुणोपासक भक्तिनिष्ठ तथा निर्गुणोपासक ज्ञाननिष्ठ इन दोनों में कौन विशेष करके श्रेष्ठ है अतएव इस अध्याय में यही प्रश्न करता है ॥

अर्जुन उवाच ॥

एवंसततयुक्ता ये भक्तास्त्वांपर्युपासते ।
येचाप्यक्षरमव्यक्तं तेषांकेयोगवित्तमाः ॥ १ ॥

अर्थ-(एवम्) इस प्रकार सर्व कर्मार्पणादि द्वारा (सततयुक्ताः) सदैव तुम में ही युक्त अर्थात् निष्ठा करने वाले (ये) जो (भक्ताः) भक्त लोग (त्वाम्) तुम विश्वरूप सर्वज्ञ और सर्वशक्ति वाले की (पर्युपासते) उपासना करते हैं (च) और (ये) जो लोग केवल (अक्षरम्) अक्षर ब्रह्म की और (अव्यक्तम्) अव्यक्त अर्थात् निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते हैं (तेषाम्) उन दोनों में से (के) कौन से (योगवित्तमाः) अधिक योगवेत्ता अर्थात् श्रेष्ठ हैं ॥

टीका—जो सगुण चरणों में अनुरक्त रहते हैं उन्हीं को अर्जुन ने भक्त तथा सततयुक्त कहा है। जो भक्त हैं वे योग युक्त होते ही हैं यह "एवम्" शब्द से सूचित किया है॥

योग दो प्रकार के हैं एक "निर्विकल्प' तथा दूसरा सविकल्प। पूर्वार्द्ध में कहे हुए सगुणोपासक और उत्तरार्द्ध में कहे हुए अव्यक्तोपासक ये दोनों भी इन दोनों प्रकार के योगों को जानते हैं तथापि अर्जुन का यह प्रश्न है कि इन दोनों में से कौन श्रेष्ठ है। अक्षरम्, शब्द से निर्विकल्प योग तथा अव्यक्त शब्द से 'सविकल्प' योग दरसाया है॥ क्षर भाव से अलहदा जो बाकी का ब्रह्म बुद्धि से जाना जाता है वही अक्षर है इस "अक्षर" का अनुभव होते समय सविकल्प जो क्षर है उस का बिलकुल बोध नहीं होता क्योंकि उस समय चित्त तदाकार रहता है, यही अक्षर उपासना है और इसी को निर्गुणोपासना अथवा "निर्विकल्पयोग" कहते हैं॥ निर्गुणोपासक केवल निर्गुण की उपासना करता है परन्तु भगवद्भक्त इस योग को जानकर भी सगुण भक्ति करता है॥

जिस की व्यक्ति दीखकर भी वास्तव में व्यक्ति नहीं उसे अव्यक्त कहते हैं। व्यक्ति का अर्थ आकार या रूप है व्यक्त दीखने वाला सर्वप्रपञ्च अव्यक्त ब्रह्म ही है। जैसे अलङ्कारकी स्वतः स्थिति नहीं, बल्कि जो आकार दीखता है वह सब सुवर्ण ही है। उसी प्रकार सर्वप्रपञ्च इन्द्रियों को व्यक्त होने पर भी बुद्धि से ऐसा देखना कि यह अव्यक्त ब्रह्म ही है। उस का नाम अव्यक्तोपासना अथवा "सविकल्पयोग„ है॥

केवल "भक्त" ही "सततयुक्त" अर्थात् नित्य युक्त हो सकते हैं परन्तु निर्गुणोपासक सततयुक्त नहीं हो सकता इस विषय का स्पष्ट वर्णन अध्याय ७ के श्लोक १७ " तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः„ के टीका में हो चुका है॥

अर्जुन के इन प्रश्न के उत्तर में भगवान् आगे कहते हैं कि दोनों में प्रथम अर्थात् सगुण भक्त श्रेष्ठ है ॥

श्रीभगवानुवाच ॥

मय्यावेश्यमनोयेमां नित्ययुक्ताउपासते ।
श्रद्धयापरयोपेता–स्तेमेयुक्ततमामताः ॥२॥

अर्थ–(ये) जो लोग (मयि) सर्वज्ञत्वादि गुणयुक्त मुझ परमेश्वर में (मनः) अपने मन को (आवेश्य) एकाग्र स्थिर करके (नित्ययुक्ताः) मेरे ही अर्थ कर्मानुष्ठानादि द्वारा मुझ में निष्ठा रखकर तथा (परया श्रद्धया) अति उत्तम तथा श्रेष्ठ श्रद्धा से (उपेताः) युक्त होकर (माम्) मुझ को (उपासते) आराधन करते हैं (ते) वे लोग (मे) मेरे (मताः) मतसे (युक्ततमाः) अधिक योग जानने वाले हैं और मुझे प्यारे भी हैं ॥

टीका–(नित्ययुक्ताः) तथा "सततयुक्ताः„ का एक ही अर्थ है ऐसे ही भक्त लोग अक्षर और अव्यक्त के उपासकों से श्रेष्ठ हैं "योगवित्तम„ तथा "युक्ततम„ का भी एक ही अर्थ है सगुण भक्तों को श्रेष्ठ कहने के कारण श्लोक ५ और श्लोक ७ इत्यादि में दिये हैं। जैसे भीख मांग के धन जमा करने वाला तथा राजसभा में बैठ कर धन कमाने वाला दोनों धनी कहाते हैं परन्तु पहिले धनी का धन बड़े क्लेश से जमा होता है और दूसरे का विना प्रयास के होता है उसी प्रकार अक्षर तथा अव्यक्त उपासकों का योग बड़े क्लेश से परिपक्व होता है। और सगुण भक्तों का थोड़े श्रम से परिपक्व हो जाता है अतएव ये भक्त श्रेष्ठ हैं। सगुण भगवंत के प्रसाद बिना अद्वैत बोध नहीं होता, परंतु यह हो जाने पर कोई २ सगुण भजन त्यागदेते हैं उस से उन की भक्ति खण्डित हो जाती है। ज्ञानी सगुण भक्तों को ऐसा नहीं होता इसी से उन को नि-

त्पर्युक्त कहा है ज्ञान होने के पहिले सब ही सगुण भजन करते हैं परंतु ज्ञान हो जाने पर कोई २ सगुण भजन क्यों छोड़ देते हैं तथा कोई २ क्यों करते रहते हैं । इसका कारण "श्रद्धयापरयोपेताः" वाक्य में कहा है अर्थात् जिन को ऐसी श्रद्धा रहती है कि सगुण भजन से जैसा लाभ प्राप्त हुआ है वैसी योग सिद्धि भी होगी वे सगुण भक्ति नहीं छोड़ते । दूसरे छोड़ देते हैं सगुण भक्त चिंवटी हो कर शक्कर खाते हैं । तथा निर्गुणोपासक हाथी हो कर लकड़ी तोड़ते हैं, सगुण भक्तों को ईश्वर सदैव सहायता देकर उनको मुकाम पर पहुंचा देता है । तथा निर्गुणोपासकों के मार्ग में कई प्रकार की बाधा आपड़ती हैं ये दोनों ज्ञानी हैं सही परंतु ज्ञानी सगुण भक्त केवल ज्ञानी से श्रेष्ठ है ॥

ये निर्गुणोपासक क्यों श्रेष्ठ नहीं तथा उन में कौन सी न्यूनता होने से वे कनिष्ठ हैं यह आगे के दो श्लोकों में कहते हैं॥

येत्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तंपर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिंत्यंच कूटस्थमचलंध्रुवम् ॥३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
तेप्राप्नुवन्तिमामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

अर्थ-(तु) परंतु (ये) जो लोग (अक्षरम्) अक्षर को जिसका (अनिर्देश्यम्) निर्देश नहीं हो सकता क्योंकि वह (अव्यक्तम्) रूपादि हीन होता है (च) और जो (सर्वत्रगम्) सर्वव्यापी है वा अव्यक्त होने के कारण (अचिंत्यम्) चिन्तन में नहीं आ सकता और (कूटस्थम्) माया प्रपंच में अधिष्ठाता होकर स्थित है तथा (अचलम्) चलायमान नहीं होता इसी कारण (ध्रुवम्) नित्य तथा वृद्धयादि रहित है इस प्रकार के निर्गुण को (इन्द्रियग्रामम्) सब इन्द्रियों के समूह को (संनियम्य) सब ओर से भली भांति रोककर (सर्वत्र) सब ठौर

(समबुद्धयः) समबुद्धि रखकर (पर्युपासते) उपासना करते हैं और (सर्वभूतहिते) सब प्राणियों के कल्याण करने में (रताः) उद्यत होते वा प्रीति रखते हैं (ते) वे भी (माम्-एव) मुझ ही को (प्राप्नुवन्ति) प्राप्त होते हैं ॥

टीका—केवल "अक्षर" शब्द का उच्चारण करने से उपासना नहीं बन सकती जब तक कि वह साक्षात्कार न हो जावे इसी कारण उस अक्षर को "अनिर्देश्य" कहा है अर्थात् जो शब्द से कहा नहीं जा सकता। जो ऐसे अक्षर ब्रह्म की उपासना मानो शब्द के परे की स्थिति हुई और उसी स्थिति का नाम "आत्मसाक्षात्कार" है इसी उपासना को "निर्विकल्प" योग कहते हैं। आत्मसाक्षात्कार होने पर भी पूर्व संस्कार के कारण मन स्वरूप में स्थिर नहीं रहता। अतएव उसे स्थिर रखने का प्रयत्न करना पड़ता है। इसी का नाम "योग" है निर्गुणोपासना वालों को सगुणभक्ति की सहायता न होने के कारण इस योग के साधने में बड़ा क्लेश उठाना पड़ता है, इसी कारण सगुणोपासना वालों को "योगवित्तमाः" कहा है "आत्मसाक्षात्कार" के बिना "निर्विकल्प" योग हो नहीं सकता, उसी प्रकार निर्विकल्प योग के बिना सविकल्प योग भी नहीं सध सकता, यह बात "अव्यक्त" शब्द से सुझाई है। श्लोक १ के टीका में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि अव्यक्तोपासना का ही नाम "सविकल्प योग" है और इसी उपासना का विशदरूप "अचिंत्य" शब्द से जनाया है। चिन्त्य साकार को जड़ में अचिन्त्य रूप देखने को ही सविकल्प योग कहते हैं और यह अचिंत्य चितसत्ता सर्व व्यापक है। इसी का अंशभूत जीव है, जिसको भोग होता है। क्योंकि सर्व व्यापक चैतन्य को भोग नहीं होता और वह सर्वव्यापक चैतन्य अपने चिदंश जीव से निराला रहता है, इसी से उस को "कूटस्थ" कहा है। इस चिदंश का स्पष्ट वर्णन अध्याय १५

में होगा। चैतन्य को भोग नहीं, अतएव उसे "अचल" तथा "ध्रुव" कहा है। इस उपासना से समबुद्धि भी होती है और जब समबुद्धि हुई तब सर्व प्राणियों का एकसा हित करना बनता है।

जब ये उपासक भी भगवत् को प्राप्त कर लेते हैं तो फिर दूसरे लोग जो सगुण भक्ति करते हैं "युक्ततम,, कैसे रहे? इसका समाधान आगे के तीन श्लोकों में करते हैं॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषा-मव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ताहि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

अर्थ (अव्यक्तासक्तचेतसाम्) निर्विशेष अक्षर में जिन के चित्त आसक्त हो जाते हैं (तेषाम्) उनको (अधिकतरः) बहुत बड़ा (क्लेशः) दुःख होता है (हि) क्योंकि (देहवद्भिः) देहाभिमानियों को (अव्यक्ता) अव्यक्त विषय में (गतिः) निष्ठा (दुःखम्) बड़े दुःख से (अवाप्यते) प्राप्त होती है॥

(नोट)-यद्यपि अन्त में उच्चकोटि की जीवन्मुक्ति दशा प्राप्ति के समय निर्गुण निराकार व्यापक श्रीभगवान् को देखना ही विशेष उपकारी है तभी विदेह मोक्ष प्राप्त हो सकता है। तथापि उस दशा तक पहुंचने के लिये सगुणोपासना ही साधन वा क्रम प्राप्त है इस से सगुणोपासना ही मुख्य है। क्योंकि क्रम का उल्लंघन कर सकना असंभव है। गीता के इसी सिद्धान्तानुसार प्रथम कर्मकाण्ड की आवश्यकता है। तभी तो वेदोक्त कर्मकाण्ड प्रथम सीढी विशेष सार्थक होगी॥ (भी०श०)

टीका-निर्गुणोपासकों को क्यों तथा कितने कष्ट होते हैं सो कई जगह पहिले कह चुके हैं। ये लोग भगवान् के अव्यक्त रूप की उपासना करते हैं, अतएव उनको वही रूप प्राप्त होता है। परंतु निर्गुण निर्धर्म है और इसी कारण उस में कृपालुता नहीं। अतएव उसके उपासकों को ईश्वर कृपा का लेश भी नहीं मिलता तो फिर ये अवश्य कष्ट भोगते हैं॥ रात में चलने वालों को तथा दिन में अंधों को जिस प्रकार

सूर्य की मित्रता का कोई उपयोग नहीं होता, उसी प्रकार अव्यक्तोपासकों को ईश्वर की कृपालुता का उपयोग नहीं होता। पानी में आधार शक्ति नहीं और पाषाण में तरने की शक्ति नहीं। इन दोनों के संयोग से जो तमाशा होता है, वही देहधारी तथा अव्यक्तोपासना के एकत्र होने से होता है। जो कोई त्रिगुणात्मक देह का आश्रय लेकर निर्गुण की उपासना करता है उसे क्लेश बनाही हुआ है। क्योंकि त्रिगुण सदैव विषयों की ओर दौड़ते हैं और उन की गति उलटाने से क्लेश होवेहीगा। यह क्लेश भगवत् के सगुण भक्तों को नहीं होता, क्योंकि उनका सहायक भगवान् आप रहता है। जब यह सहायता हो गई कि निर्गुणोपासना भी आपही सिद्ध हो जाती है॥ यही बात भगवान् आगे के दो श्लोकों में कहते हैं कि मेरे भक्तों को मेरा प्रसाद होने के कारण उनकी सिद्धि अनायास ही हो जाती है॥

येतुसर्वाणिकर्माणि मयिसंन्यस्यमत्पराः।
अनन्येनैवयोगेन मांध्यायन्तउपासते॥ ६
तेषामहंसमुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामिनचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥७

अर्थ-(तु) परंतु (ये) जो लोग (सर्वकर्माणि) सब कर्मों को (मयि) मुझ परमेश्वर में (संन्यस्य) समर्पण करके (मत्पराः) मुझ ही में परायण होकर (अनन्येन योगेन एव) जिन के भजन करने योग्य अन्य नहीं है, अर्थात् एकांत भक्ति योग के ही द्वारा (माम्) मुझ ही को (ध्यायन्तः) ध्यान में धरते हुए (उपासते) मेरी ही उपासना करते हैं हे (पार्थ) अर्जुन! इस प्रकार (मयि) मुझ में (आवेशितचेतसाम्) चित्त स्थिर करने वाले (तेषाम्) उन लोगों का (अहम्) मैं (न चिरात्) बहुत शीघ्र ही (मृत्युसंसारसागरात्) इस मृत्युरूपी संसार सागर से (समुद्धर्त्ता) सम्यक् प्रकार से उद्धार करने वाला (भवामि) हो जाता हूं॥

(नोट)—उपनाम समीप में आसना नाम स्थिति उपासना कहाती है। सो सगुण साकार के समीप तो मन बुद्धि वा चित्त की स्थिति कहना बन सकता है। किन्तु निर्गुण निराकार के समीप वा दूर स्थिति कहना बनता ही नहीं, इस से उपासना सगुण की ही बन सकती है किन्तु निर्गुण की उपासना कहना मानना असम्भव अर्थात् हो ही नहीं सकती। इसी लिये असम्भव होने से निष्फल व्यर्थ शिर पच्ची करना ही है। इसी लिये सगुणोपासना की आवश्यकता दिखायी गयी है॥ (भी० भा०)

टीका—सब कर्म भगवत् के चरणों में अर्पण करना यह प्रथम भागवत धर्म है। इस आचरण से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान हो जाने पर भी भक्त लोग कर्म समर्पण करते रहते हैं। उन को एक भगवान् ही का आश्रय रहता है इसी कारण उन का भगवत् ही में लय होता है। यहां उपदेश अध्याय ४ के श्लोक २३ "गतसंगस्यमुक्तस्य" इत्यादि में कर चुके हैं और यहां पर उसी का विस्तार है॥ "मांध्यायंत उपासते" इस वाक्य से सगुण ध्यान तथा सगुण उपासना दोनों जुदी २ बातें बताई हैं और भक्त लोग ये दोनों करते हैं॥

निर्गुणोपासकों को सिवाय निर्गुण के और उपासना नहीं होती जैसा कि सगुणोपासकों को भगवान् के सब अवतार रूपों की होती है अतएव उनका योग ही उपासना है॥

"मत्पराः" शब्द से यह बताया है कि मेरे भक्त सब भार मेरे ही ऊपर डाले रहते हैं अतएव मुझे उन का उद्धार करना पड़ता है॥

नश्वर प्रपंच ही संसार सागर है और उसी में जीवगण वासना रूपी पत्थर अपनी कमर में बांधकर डूबते हैं। उन को भगवान् ही बचाता है। यह सहायता निर्गुण निर्धर्म होने से अपने उपासकों को नहीं दे सकता, अतएव उन्हें क्लेश होता है। इसी कारण सगुणोपासक श्रेष्ठ हैं और सगुण भजन करने का उपदेश भगवान् आगे करते हैं॥

मय्येवमनआधत्स्व मयिबुद्धिंनिवेशय ।
निवसिष्यसिमय्येव अतऊर्ध्वंनसंशयः ॥८॥

अर्थ–संकल्प विकल्पात्मक (मनः) मन को (मयि) मुझ में (एव) ही (आधत्स्व) स्थिर कर और (बुद्धिम्) व्यवसायात्मिका बुद्धि को भी (मयि) मुझ में (निवेशय) प्रवेश कर. ऐसा करने से मेरे प्रसाद से ज्ञान प्राप्त होगा तथा उस के द्वारा (अतऊर्ध्वम्) इस के आगे यानी देहान्त होने पर तू (मयि) मुझ में (एव) ही (निवसिष्यसि) निवास करेगा अर्थात् मेरे ही आत्मा में मिलकर रहेगा इस में कोई (संशयः) सन्देह (न) नहीं है ॥

टीका–श्रुति का वाक्य भी है कि " देहान्ते देवःपरंब्रह्म-व्याचष्टे " मन आकार की कल्पना करता है, बुद्धि उस का निश्चय करती है, जैसे सुवर्ण का हाथी देखते ही मन तो उस के आकार का चिन्तन करने लगता है, और बुद्धि यह निश्चय करती है कि वह हाथी है। यह सामान्य बुद्धि का लक्षण है, परन्तु विचारवती बुद्धि यह कहेगी कि उस हाथी का आकार सब सुवर्ण ही है, आकार का भास केवल नश्वर है, इसी आशय से श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि मुझ में मन स्थिर कर अर्थात् चराचर का आकार सर्व भगवत् रूप है, ऐसा चिन्तन कर तथा इस चराचर का प्रकाशक जो आत्मस्वरूप है, उस में बुद्धि का निश्चय होना इसी का नाम भक्तियोग है॥

अध्याय ८ में श्रीभगवान् ने अर्जुन को ब्रह्म का अनुभव कराया तथा अध्याय ९ में सगुण भक्ति का अनुभव कराया, अब जड़ भ्रम मिटाने के हेतु यह भक्तियोग करने का उपदेश करते हैं। इसप्रकार का योग सधजाने से देहपात होने पर वह बुद्धि भगवत्स्वरूप में मिल जाती है और फिर लौटती नहीं ॥

यह बात कोई न कर सके तो और भी सुगम उपाय आगे बताते हैं ॥

अथचित्तंसमाधातुं नशक्नोषिमयिस्थिरम् ।
अभ्यासयोगेनततो मामिच्छाप्तुंधनञ्जय ! ॥९॥

अर्थ-(अथ) यदि तू उक्त प्रकार से अपने (चित्तम्) चित्त को (स्थिरम्) स्थिर करके (मयि) मुझ में (समाधातुम्) समाधान (न शक्नोषि) नहीं कर सकता, अर्थात् समाधान करके अपने चित्त को मुझ में स्थिर नहीं कर सकता (ततः) तो हे (धनञ्जय) अर्जुन ! ऐसे विक्षिप्त चित्त को वारं वार वश में ला कर मेरा स्मरणरूपी जो अभ्यास योग है उस (अभ्यासयोगेन) अभ्यासयोग के द्वारा (माम्) मुझ को (इच्छाप्तुम्) प्राप्त होने की इच्छा करने का प्रयत्न कर इस अभ्यास को नहीं छोड़ना चाहिये ॥

टीका-पूर्व श्लोक में कहे अनुसार यदि चित्त की स्थिरता नहीं होती हो तो चित्त को पुनः पुनः मुझ आत्मस्वरूप में लगाने को अभ्यास करे या इस अभ्यास से सगुण में निष्ठा करलेवे नहीं तो निर्गुणोपासकों की श्रेणी में पड़कर भगवत्कृपा से दूर हो जावेगा यह अभ्यास योग सगुण प्राप्ति की इच्छा से करे और विचारता रहे कि भगवंत जी का ऐश्वर योग ही सगुण रूप है ॥

यदि यह अभ्यास योग भी नहीं सध सकता है तो और भी सुगम उपाय आगे कहते हैं ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमोभव ।
मदर्थमपिकर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥२०॥

अर्थ-यदि तू (अभ्यासे) ऐसा अभ्यास करने में (अपि) भी (असमर्थः असि) समर्थ नहीं है अर्थात् उक्त प्रकार अभ्यास भी नहीं कर सकता तो (मत्कर्मपरमः) मेरे प्रीत्यर्थ जो कर्म हैं अर्थात् एकादशी व्रत पूजा परिचर्या नामसंकीर्तनादि इन को उत्तम जानने वाला (भव) हो अर्थात् इन्हीं को परम लाभ समझ क्योंकि (मदर्थम्) मेरे प्रीत्यर्थ ऐसे २

(कर्माणि) कर्मों को (कुर्वन्) करता हुआ (अपि) भी तू मनोवांछित (सिद्धिम्) सिद्धि को (अवाप्स्यसि) सहज में पावेगा ॥

टीका-"मत्कर्म" वाक्य से जुदी २ श्रवण कीर्तनादि प्रकार की भक्ति बताई है, ऐसा करने से धीरे २ चित्त चित्स्वरूप में लीन हो जाता है, कर्मार्पण से भी यही परिणाम होता है यह हुआ कि अभ्यास योग करना चाहिये और वह हुआ कि ज्ञानयुक्त सगुण भक्ति करे तो वह सिद्ध हो जायेगी । भगवद्भजन वा साधु और भगवान् की सेवा से अंतःकरण जल्दी शुद्ध हो जाता है ॥ यदि इस प्रकार अत्यंत भगवद्धर्म में निष्ठा करने को भी असमर्थ हो तो और भी सहज उपाय आगे बताते हैं और कहते हैं कि अध्याय १० के श्लोक ७ "एतां विभूतिं योगंच" इत्यादि में जो उपदेश किया है उससे भी यह सहज उपाय है॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुंमद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततःकुरुयतात्मवान् ॥११॥

अर्थ-(अथ) और यदि तुझमें (एतत्) यह (अपि) भी (कर्तुम्) करने की (अशक्तः-असि) शक्ति नहीं है तो (मद्योगम्) मेरे ही शरण रूपी योग का (आश्रितः) आश्रय करके और (यतात्मवान्) चित्त को वश में करके दृष्ट अदृष्ट अर्थों का या आवश्यक अग्निहोत्रादि (सर्वकर्मफलत्यागम्) सब कर्मों के फल को त्याग (कुरु) करदे ॥

टीका-भगवान् कहते हैं कि तुम ईश्वर की आज्ञा से यथाशक्ति कर्म करके उसका फल ईश्वर के अधीन करदे इस प्रकार फल की आसक्ति त्यागने से मेरे प्रसाद से कृतार्थ हो जावेगा, इस के पहिले ही भगवान् अर्जुन को उपदेश कर चुके हैं कि कर्मफल त्याग वा निष्काम कर्म करके ईश्वर को अर्पण कर देना चाहिये । उस के पीछे ज्ञान का भी उपदेश किया, और उन्हीं बातों को स्पष्ट करने के हेतु यहांपर उसका उपाय बताते हैं कि यह कर्म फल त्याग यहां पर बु-

द्धि को ध्यान में स्थिर करने के वास्ते कहा है। पहिले भी इसी अध्याय के श्लोक ८ में कहा है कि "मयि बुद्धिं निवेशय" यह न हो सके तो अभ्यास योग करना, वह भी न हो सके तो "मत्कर्मपरमः" हो वह भी न हो सके तो इस श्लोक में कहा हुआ उपाय करना चाहिये, यानी तन मन धन से भगवान् के शरण होकर यही कहे कि जैसा शुभा शुभ कर्म चाहैं वैसा मुझ से करावें, व्यवहार का भार परमेश्वर को सौंप कर परमार्थ मोक्ष मार्ग में प्रयत्न करता रहे क्योंकि मोक्ष मार्ग में पुरुषार्थ मुख्य है और व्यवहार में प्रारब्ध मुख्य है॥

"सर्व कर्मफल त्याग" का यहां पर यह अर्थ है कि सर्व कर्मत्याग तथा फल त्याग करे। अब ध्यान निष्ठा में कर्मत्यागयोग ही है परंतु फल त्याग का अर्थ विषय सुख त्याग लैना पड़ैगा क्योंकि ध्यान निष्ठ होने पर विषय वासना का त्याग करना युक्त ही है सर्वात्मध्यान के वास्ते प्रथम फल त्याग करना ही पड़ता है। अध्याय ९ में कहा है कि सकल सृष्टि भगवंत का योग है और यहां उसी योग का आश्रय लेने को कहा है उस के पीछे सर्व कर्म फल त्याग कहा है तो इस श्लोक का यह भाव हुआ कि सर्वसृष्टि भगवत् रूप है ऐसा योग सिद्ध करने के हेतु सर्व कर्म वा विषय सुख त्याग करे। फल का अर्थ यहां सुख लिया है क्योंकि मोक्ष सुख के हेतु विषय सुख त्यागना अवश्य ही है और यही विषय सुख का त्याग यहां कहा भी है। विषय सुख का त्याग केवल विषय सुख के भोग को त्यागने से नहीं होता बल्कि उसकी इच्छा त्यागना चाहिये, यहां पर मुख्य उपदेश यही है कि "वासुदेवः सर्वमिति" यही अभ्यास करना चाहिये॥

अब आगे इस फल त्याग की स्तुति करते हैं और कहते हैं कि निर्गुण स्वरूप में स्थिर होने पर भी सगुण भजन करना ही चाहिये॥

श्रेयोहिज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानंविशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥१२॥

अर्थ—सम्यक् ज्ञान सहित (अभ्यासात्) अभ्यास से युक्ति सहित उपदेश पूर्वक (ज्ञानम्) ज्ञान (हि) निश्चय करके (श्रेयः) श्रेष्ठ है और इस (ज्ञानात्) ज्ञान से उसके पहिले का (ध्यानम्) ध्यान (विशिष्यते) विशेष श्रेष्ठ है जैसा कि श्रुति कहती है "ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" इस (ध्यानात्) ध्यान से भी पूर्वोक्त (कर्मफलत्यागः) कर्म फलों का त्याग श्रेष्ठ है और इस (त्यागात्) त्याग से (अनंतरम्) पश्चात (शांतिः) शांति प्राप्त होती है अर्थात् कृतकर्म के फल में आसक्ति निवृत्त हो जाने से मेरे प्रसाद से सदैव के वास्ते संसार के विषयों में शांति हो जाती है ॥

टीका—जब चित्त की वृत्ति बहिर्मुख होकर विषयों की ओर झुकती है तब उसे "पराक्वृत्ति" कहते हैं और जब वही वृत्ति वहां से हटकर अंतर्मुख हो जाती है तथा आत्म स्वरूपमें लग जाती है तब उसे प्रत्यग्वृत्ति कहते हैं। इस प्रत्यग्वृत्ति के अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है जड़ जगत् को चिन्मय देखने को ज्ञान कहते हैं और वही सच्चा अद्वैत ज्ञान है ॥

अविद्या के दो रूप हैं १ आवरण २ विक्षेप, व्यतिरेक ज्ञान से आवरण का नाश होता है और अन्वयज्ञान से विक्षेप का, इस श्लोक में अन्वय ज्ञान को ही ज्ञान कहा है, व्यतिरेक ज्ञान होने पर अंतःकरण को वारंवार आत्मस्वरूप में लगाने को अभ्यास कहा है। अन्वय से ही द्वैत का नाश होता है, और यही सर्वात्मक सगुण ज्ञान है श्रीमद्भागवत तथा योगवासिष्ठ में भी यही कहा है और इसी गीता के अध्याय ४ श्लोक ३४ "तद्विद्धिप्रणिपातेन" तथा श्लोक ३५ "येन भूतान्यशेषेण" इत्यादि में भी इसी ज्ञान से अभिप्राय है और वही सगुण ब्रह्म है॥

सर्वात्मक ज्ञान हो गया परंतु उस का ध्यान न किया तो वह भूल जावैगा, और मनुष्य पदच्युत हो जावेगा, अतएव ज्ञान को परिपाक करने के हेतु ध्यान की आवश्यकता है, इसी कारण ध्यान को ज्ञान से श्रेष्ठ कहा है क्योंकि ध्या-

न से विहित कर्म का त्याग हो सकता है और प्रत्यवाय दोष भी नहीं लगता, विषय सुख की इच्छा भी नहीं रहती अशेष वासना का नाश हुआ कि लिंग देह का नाश होकर अक्षय्य शांति सुख मिलता है और वही जीवन्मुक्त की स्थिति है, इसकी प्राप्ति का कारणीभूत ध्यान ही है ॥

शांति के ३ भेद हैं १ अज्ञान दशा में २ जिज्ञासु दशा में अर्थात् साधक अवस्था में तथा ३ ज्ञान परिपाक होकर सिद्ध दशा में, जैसे अपने प्यारे छोटे लड़के ने प्रेम में आके लात मारी, अपने को शांति रही वह पहिली शांति है। अपक्क ज्ञानी और जिज्ञासु जो यत्न करने में शांति रखते हैं। दूसरी शान्ति वह है जिस में पक्कज्ञानी को वासना वायु भी नहीं लगता, और उसे सहज ही शांति रहती है, तीसरे प्रकार की शान्ति वह है जो असीम सहज शांति प्राप्त हुई कि जीवन्मुक्त हुआ ऐसे पुरुष को कर्म का तथा विषय सुखेच्छा का त्याग आपही से हो जाता है। अपक्क ज्ञानी को उसके लिये यत्न करना पड़ता है, इसी कारण श्लोक ११ में कहा है कि "सर्व कर्मफल त्यागं ततःकुरु यतात्मवान्" ॥

जिसको उक्त प्रकार पूर्ण शांति आगई हो उस पक्कगुण भक्त के लक्षण तथा उसपर शीघ्र ही भगवत्प्रसाद के हेतु आगे के ८ श्लोकों में वर्णन करते हैं ॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टःसततंयोगी यतात्मादृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्योमेभक्तःसमेप्रियः ॥१४॥

अर्थ- (सर्वभूतानाम्) सब चराचर भूतमात्रों से (अद्वेष्टा) द्वेषन करने वाला (च) और (मैत्रः) सबका मित्र (करुणएव) करुणा दिखाने वाला अर्थात् जो उत्तम से द्वेष न रक्खे, बराबरी वालों से मित्रता रक्खे, हीन के ऊपर कृपालु रहै (निर्ममः) ममता रहित (निरहंकारः) अहंकार रहित (समदुः-

खसुखः) दुःखसुख में एक समान (क्षमी) क्षमा करने वाला (सततम्) सदैव निरन्तर (संतुष्टः) लाभहानि में एकसा प्रसन्न चित्त (योगी) अप्रमत्त तथा स्थिरचित्त (यतात्मा) मनका संयम करने वाला (दृढ़निश्चयः) मुझमें दृढ़ निश्चय रखने वाला (मयि) मुझ में (अर्पितमनोबुद्धिः) मन और बुद्धि को अर्पण करने वाला ऐसा (यः) जो (मद्भक्तः) मेरा भक्त है (सः) सो (मे) मेरा (प्रियः) प्यारा है ॥

टीका—जो सर्वत्र भगवद्भाव मानता है उस से किसी का द्वेष नहीं हो सक्ता, जो सर्वत्र सम हुआ तो ऐसा कहने में आवेगा कि यह किसी उपयोग का नहीं, अतएव उसको मैत्र और करुणा कहा है, अर्थात् वह किसी से द्वेष नहीं रखता और बराबर वालों से मित्रता तथा अन्य लोगों पर कृपा रखता है। वह निर्मम, निरहंकार होता है, अर्थात् सर्वत्र समभाव रखने के कारण उसमें अपना पराया भाव और अहंपन नहीं रहता, देहधरे पर्यंत ऐसे पक्कज्ञानी को भी प्रारब्ध भोग करना पड़ता है। परंतु उस भोग समय तकही उसमें अहंपन रहता है, और सुख होनेपर वह उसे फिर नहीं चाहता, दुःख होनेपर यह चाहता है कि मुझे दुःख न हो, अर्थात् सुख दुःख में सम बुद्धि रखता है ॥

दुःख दो प्रकार का है, " अदृष्टकृत " जो कोई भी सहलेता है, २ " परापराधकृत " जिस में क्रोध आ ही जाता है, तथापि ज्ञानीभक्त इस को भी सहज में सह लेता है। क्योंकि वह क्षमाशील रहता है और सर्वत्र आत्मवत् देखता है, वह निज लाभ में सन्तोष मानता है और अपने चित्तको सदैव चिदात्मसंयोग में स्थिर रखता है अतएव उसे योगी वा यतात्मा कहा है ॥

ये सब लक्षण निर्गुणोपासकों में भी रहते हैं अतएव श्रीकृष्ण जी ने निज भक्तों की प्रीति दरशाने को कहा है कि " मय्यर्पितमनोबुद्धिर्योमेभक्तः समेप्रियः " अर्थात् सगुण में

मन वा निर्गुण में बुद्धि रखने से ही सगुण भक्ति होती है और वही सगुणभक्त मुझ को प्रिय है ॥

यस्मान्नोद्विजतेलोको लोकान्नोद्विजतेचयः।
हर्षामर्षभयोद्वेगै–र्मुक्तोयःसचमेप्रियः ॥ १५ ॥

अर्थ–(यस्मात्) जिस से (लोकः) किसी मनुष्य को (न उद्विजते) भय की शंका होने द्वारा क्षोभ नहीं होता (च) (यः) जो (लोकात्) अन्य लोगों से (न उद्विजते) भय शंका नहीं करता और (यः) जो स्वाभाविक हर्षादिक से मुक्त रहता है अर्थात् जिसे अपने इष्ट लाभ में (हर्ष) उत्साह नहीं होता, (अमर्ष) दूसरे का लाभ देख के मलिन नहीं होता, (भय) डर और (उद्वेगैः, भयादि के निमित्त चित्त क्षोभ इन सब बातों से (मुक्तः) मुक्त रहता है अर्थात् इन में नहीं पड़ता (स च) वह भक्त भी (मे) मुझे (प्रियः) प्यारा है ॥

टीका–जो किसी का द्वेष नहीं करता किन्तु सब के ऊपर एकसी दया रखता है, उस से भला लोग क्यों डरेंगे, वे किसी से कुछ मागते भी नहीं इस से भी उन का डर किसी को नहीं होता, वह मान अपमान को भी नहीं विचारता ॥

ये सब लक्षण उन पक्कज्ञानी भक्तों के हैं जिन को ध्यान योग सधने पर अटलशान्ति प्राप्त होती है । अब आगे उन भक्तों के लक्षण वर्णन करते हैं जो उर्व कर्म वा फल त्याग के केवल भगवत् योग का आश्रय करे रहते हैं ॥

अनपेक्षःशुचिर्दक्ष उदासीनोगतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी योमद्भक्तःसमेप्रियः ॥१६॥

अर्थ–(अनपेक्षः) आपो आप प्राप्त हुए अर्थ में जो निस्पृह रहता है, बाहर भीतर (शुचिः) पवित्र रहता है और (दक्षः) आलस रहित होता है तथा (उदासीनः) पक्षपात रहित होता है (गतव्यथः) व्याधि खेद रहित होता है और जो (सर्वारम्भपरित्यागी) संपूर्ण दृष्ट अदृष्ट अर्थों के उद्यमों को त्याग देता है ऐसा हो कर (यः) जो (मद्भक्तः) मेरा भक्त होता है (सः) वह (मे) मुझे (प्रियः) प्यारा लगता है ॥

टीका—सर्व वेदोक्त कर्म वाहिरी सुख मिलने के वास्ते यत्न करने के आरम्भ को जिस ने त्याग दिया है, उसे "सर्वारम्भपरित्यागी" कहते हैं। यह त्याग वह अपक्व योगी करता है, जिस का चित्त ध्यान में स्थिर नहीं होता, और जो सर्वात्मभाव से प्रभु के शरण जा कर उन्हीं की निष्ठा में लगना चाहता है, वह भी श्रीभगवान् जी को प्रिय होता है। क्योंकि वह अन्वय तथा व्यतिरेक जानने वाला होता है। पक्वज्ञानी की अपेक्षा श्रीभगवान् जी को इस की बड़ी फिकिर करनी पड़ती है क्योंकि उस का योगक्षेम करने का भार भगवन्त ही पर रहता है। यह बात भगवान् जी ने पहिले ही अध्याय ९ श्लोक २२ "अनन्याश्चिन्तयन्तोमाम्" इत्यादि में कही है, ऐसे भक्त को किसी की भी अपेक्षा नहीं रहती, अतएव वह शुचि और दक्ष होता है। अर्थात् प्रारब्धभोग करता हुआ भी वह उस में लिप्त नहीं होता। इन के सिवाय वह "उदासीन" भी होता है, अर्थात् उसे स्त्री पुत्रादि की ममता तथा अहंकार नहीं होता, अतएव भोग भोगते हुए भी वह उदासीन रहता है। इसी कारण उस के मन को कोई व्यथा नहीं होती क्योंकि सर्व व्यथा आशा से होती है परन्तु वह आशा उस से दूर रहती है। ऐसा कर्मत्यागी अनायास ही पक्वयोगी हो जाता है। उस के और लक्षण आगे कहते हैं॥

योनहृष्यतिनद्वेष्टि नशोचतिनकांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः समेप्रियः॥१७॥

अर्थ—(यः) जो कोई प्रिय पदार्थ पा कर (न हृष्यति) हर्ष नहीं मानता तथा अप्रिय पाने पर (न द्वेष्टि) विषाद नहीं करता और इष्ट वस्तु के नाश हो जाने से (न शोचति) शोक नहीं करता जो प्राप्त नहीं होता उस की (न कांक्षति) इच्छा नहीं करता और जिस ने (शुभाशुभपरित्यागी) शुभ अशुभ अर्थात् पुण्य पाप का त्याग कर दिया है, यानी उनको

अनित्य मान लिया है, इस प्रकार हो कर (यः) जो भक्तिमान्) मेरी भक्ति करने वाला है (सः) वह (मे) मुझे (प्रियः) प्यारा है ॥

टीका-पक्कज्ञानी के जो लक्षण इस श्लोक में तथा आगे के श्लोक में कहे हैं, वे श्लोक १३ १४ १५ में भी कहे हैं, इस से पुनरुक्ति पाई जाती है, परन्तु यह बात नहीं है, क्योंकि ये दोनों जुदे२ प्रसंगहैं। पिछले श्लोक में जो "सर्वकर्मपरित्यागी" अपक्क योगी कहा है, उसकी पक्कदशा यहां से वर्णन की है, ज्ञानपक्ष होने के जुदे २ मार्ग हैं अर्थात् कोई अभ्यास ही से सिद्ध होता है, कोई भागवत धर्म के द्वारा भक्तियोग करके सिद्धिपाता है, और कोई सर्वकर्म छोड़ के केवल सर्वात्मभाव से प्रभु के शरण जाकर मुक्त हो जाते हैं। इन सब के लक्षण बहुत करके एकही से होते हैं। श्लोक १६ में जिसको "सर्वारंभ परित्यागी" कहा है उसी को इस श्लोक में "शुभाशुभपरित्यागी" कहा है और उसी की पक्कदशा सिद्धावस्था इस श्लोक में बताई है ॥

समःशत्रौचमित्रेच तथामानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समःसंगविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टोयेनकेनचित् ।
अनिकेतःस्थिरमतिर्भक्तिमान्मेप्रियोनरः ॥१९॥

अर्थ-(शत्रौ) शत्रुमें (च) और (मित्रे च) मित्र में भी (समः) एकरूप तथा (मानापमानयोः) मान अपमान में भी सम अर्थात् हर्षविषाद शून्य (शीत, उष्ण, सुख, दुःखेषु,) सरदी में गरमी में सुख और दुःख में भी (समः) एकरूप (संगविवर्जितः) किसी पदार्थ में भी आसक्त नहीं, उसे (तुल्यनिंदास्तुतिः) निंदा स्तुति एक बराबर हैं (मौनी) संयतवाक् अर्थात् जितना आवश्यक हो उतना ही बोलने वाला (येनकेनचित्) जितना कुछ लाभ हो उसी में (संतुष्टः) संतोष मानने वाला (अनिकेतः) नियत वास स्थानरहित (स्थिरमतिः)

व्यवस्थित अर्थात् स्थिर चित्त वाला इस प्रकार का जो (भक्तिमान्) मेरी भक्ति करने वाला है वही (नरः) मनुष्य (मे) मुझे (प्रियः) प्यारा है ॥

टीका—इस ज्ञानी को सर्वत्र भगवद्भाव होने के कारण वह शत्रु, मित्र, मान, अपमान, बराबर समझता है। और जानता है कि सुखदुःख प्रारब्ध से होते हैं, जिस कर्म से ये मिलते हैं, उसका नाश इनके भोगने से ही होता है। अतएव दोनों प्रसंगों में उसका समभाव रहता है, विषयसंग रहा तो ऐसा समभाव नहीं रहता, इसी कारण उसे "संगविवर्जितः" कहा है कि उसे किसी विषय में आसक्ति नहीं होती। देहाभिमान छूटा कि निंदा स्तुति एक समान लगती हैं। अध्यात्मचिन्ता किंवा भगवत्कथा में लगा, प्रयोजन विना जीभ न चलावे तो वह मौनी ही कहा जावेगा। उसे किसी स्थान की ममता नहीं, अतएव कहीं भी रहै तो एक बराबर समझता है। उसे विषयवासना नहीं, अतएव उसकी बुद्धि कभी भी चंचल नहीं होती ॥

ये सब जो धर्म तथा लक्षण ऊपर कहे हैं उनको आगे समाप्त करके उनका विशेषफल बताते हैं ॥

येतुधर्म्यामृतमिदं यथोक्तंपर्य्युपासते ।
श्रद्दधानामत्परमा भक्तास्तेऽतीवमेप्रियाः ॥ २०॥

अर्थ—(यथोक्तम्) उक्त प्रकार का (इदम्) इस (धर्म्यामृतम्) अमृतरूपी धर्म का (येतु) जो कोई भी (श्रद्दधानाः) श्रद्धा पूर्वक (मत्परमाः) मुझ में परायण होकर उपासना वा आचरण करते हैं (ते) वे (भक्ताः) भक्त लोग (मे) मुझको (अतीव) अत्यंत (प्रियाः) प्यारे होते हैं ॥

टीका—"धर्म्यामृत" वा "धर्मामृत" केवल पाठ भेद है, परंतु अर्थ दोनों का एकही है, "मृत" का अर्थ मरने वाला वही नश्वर जड़भाग है, अध्याय ९ में भगवान् ने कहा है कि यह नश्वर चराचर चित्स्वरूप में नहीं है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि "अमृत" शब्द उसी चित्स्वरूप अर्थात् चैतन्य का

सूचक है। चैतन्य ही अमृत है परंतु वह निर्गुण निर्धर्म है, अतएव जिस चैतन्य में चराचर भूत दीखते हुये भी वास्तव में नहीं से रहते हैं, उसीका नाम धर्म्यामृत हुआ। चराचर रूप से भासमान इसी चैतन्य ही को ऐश्वर योग कहते हैं। और वही विश्वरूप जगदीश्वर है ॥

अध्याय ९ के श्लोक २ "प्रत्यक्षावगमंधर्म्यम्" में भगवान् ने ऐसा कहा है कि "धर्म्मज्ञान" कहता हूं और अपने ही में सर्वभूत दिखाये और यह भी सिद्ध किया कि ये वास्तव में नहीं भी हैं। मृत जड़ जगत् वास्तव में नहीं है, परंतु जिन प्रकार रस्सी में भ्रम से मिथ्या सर्प दीखता है, उसी प्रकार यह जड़ जगत् चित्स्वरूप में दीखता है। यह दिखाव माया गुण धर्मयुक्त चैतन्य ही कहा है। अतएव उसको धर्म्यामृत कहा है, वह सगुण भगवंत का रूप है और भगवान् यहांपर यही कहते हैं कि जो भक्त ऐसे सगुण भगवंत की उपासना करते हैं वे मुझे अतिशय प्रिय होते हैं ॥

अर्जुन के प्रश्न के अनुसार इस अध्याय में सब ठौर सगुण ही का वर्णन किया है, अतएव "धर्मामृतमिदम्" कहा है। बीच २ में अव्यक्तोपासकों का वर्णन किया है, परन्तु भक्तों की श्रेष्ठता दिखाने के हेतु उस की आवश्यक्ता भी थी,

यह द्वादशाध्याय की टीका श्रीयुगल सरकार के प्रसाद से निर्विघ्न समाप्त हुई अतएव उन्हीं के चरणारविन्दों में सविनय अर्पण करता हूं ॥

दुःखमव्यक्तवर्त्मैतद्बहुविघ्नमतोबुधः ।
सुखंकृष्णपदाम्भोजं भक्तिसत्पथवान्भजेत् ॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नामद्वादशोऽध्यायः ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः ॥

॥ ओम्‌नमोभगवते वासुदेवाय ॥

भक्तानामहमुद्धर्ता संसारादित्यवादियत्‌ ।
त्रयोदशोऽथततिसद्धौ तत्त्वज्ञानमुदीर्यते ॥

अध्याय ९ में धर्मामृत रूपी ऐश्वर योग अर्जुन को ज्ञान दृष्टि से बताया और वही अध्याय ११ में दिव्यदृष्टि द्वारा दिखाया । अध्याय १२ में उसी की उपासना के भिन्न भिन्न प्रकार वर्णन किये और अध्याय १२ के श्लोक ७ "तेषामहंसमुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्‌ । भवामि न चिरात्पार्थ" में कहा कि उन भक्तों का उद्धार मैं ही शीघ्र कर देता हूं परंतु आत्मज्ञान के विना संसार से उद्धार नहीं हो सक्ता । अतएव इस अध्याय १३ में तत्त्वज्ञान के उपदेश के हेतु अमृत अर्थात्‌ पुरुष और धर्मरूपिणी प्रकृति इन दोनों की पृथक्ता तथा एकता का वर्णन करते हैं ॥

अध्याय ७ के श्लोक ४, ५, ६ में अपरा तथा परा ऐसी दो प्रकार की प्रकृति कही है, इन्हीं के अविवेक से चिदंश जीव भाव को प्राप्त होकर इस संसार में प्रगट होता है। और उन्हीं से जीवों के उपभोग के अर्थ ईश्वर की सृष्टि आदि में प्रवृत होती है। परस्पर विभक्त उन्हीं दोनों प्रकार की प्रकृतियों का तत्त्व "क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ" नाम से वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण जी इस अध्याय को प्रारंभ करते हैं ॥

किसी २ पाठ में अर्जुन का प्रश्न पहिले लिखा है, परंतु भाष्यों में वह श्लोक नहीं लिया गया, इस से वह किसी दूसरे का बनाया हुआ है, और भगवान्‌ के कहे ७०० मंत्र से बाहर है ॥

भगवानुवाच—इदंशरीरंकौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते
एतद्योवेत्तितंप्राहुः क्षेत्रज्ञइतितद्विदः ॥ १ ॥

अर्थ-हे (कौन्तेय) अर्जुन ! (इदम्) यह भोगायतन (शरीरम्) शरीर (क्षेत्रम्) क्षेत्र (इति) इस नाम से (अभिधीयते) कहा जाता है। क्योंकि यह संसार की उत्पत्तिकी भूमि है (एतत्) इस को (यः) जो वेत्ति) जानता है अर्थात् मैं तथा मेरा मानता है (तम्) उस को (तद्विदः) क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का तत्त्व जानने वाले (क्षेत्रज्ञः) क्षेत्र जानने वाला (इति) ऐसा (प्राहुः) कहते हैं क्योंकि खेत का फल भोगने वाले किसानों के समान वे तत्त्ववेत्ता इस शरीर रूपी खेत का फलभोक्ता कहते हैं। अतएव वे उसे खूब जानतेहैं॥

टीका-जैसे खेत में जो बोया है वही उगता है, उसी प्रकार यह नरदेह कर्मों का फल उत्पन्न करने वाला खेत है। इस नरदेह से जो कर्म होते हैं उन्हें क्रियमाण कहते हैं, और देहपात होने पर वही कर्म संचित कहाते हैं, तथा उन्हीं से प्रारब्ध बनता है। इस देह को जन्म का खजाना कहते हैं, तात्पर्य अहंकार का आश्रय लेकर यही देह ऐसा मानता है कि अपन हैं। वही क्षेत्रज्ञ है, तथा उसी का नाम चिदंश जीव है, इस जीव में सत्व का प्रतिबिम्ब पड़ने से उसे चैतन्य कहते, और वही भोग भोगता है, इस विषय का स्पष्ट वर्णन अध्याय १५ में होगा। बिंबरूप चैतन्य का ज्ञान हुए बिना इस बिंबरूप क्षेत्रज्ञ का ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे पानी में सूर्य का प्रतिबिंब दीखता है, परंतु वास्तविक में वह सूर्य नहीं है। जैसे आरसी में अपना प्रतिबिंब स्वयं ही देखते हैं, परंतु अपनी नाक को हाथ से पकड़े बिना उस प्रतिबिंब की नाक हाथ से पकड़ी नहीं दीखती। उसी प्रकार बिंबरूप चैतन्य का ज्ञान हुए बिना प्रतिबिंब रूप क्षेत्रज्ञ का ज्ञान नहीं होता। पानी में दिया का प्रतिबिंब पड़ने से वह केवल पानी को ही प्रकाशित करता है, परंतु दिया का उजेला घर में सब घर को प्रकाशित करता है। उसी

प्रकार प्रतिबिंब रूप जीव जिस चैतन्य का प्रतिबिंब है, वह चैतन्य सर्वगत है ॥

इस सर्वगत चैतन्य का ज्ञान होना आवश्यक है, और यही सच्चा ज्ञान है। यही बात आगे के श्लोक में कहते हैं, और बताते हैं, कि श्लोक १ में संसारी का स्वरूप बताया है और उसी का परमार्थ असंसारी स्वरूप श्लोक २ में कहा है ॥

क्षेत्रज्ञंचापिमांविद्धि सर्वक्षेत्रेषुभारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानंमतंमम ॥ २ ॥

अर्थ–हे (भारत) अर्जुन! (सर्वक्षेत्रेषु) सब शरीर रूपी क्षेत्रों में वर्त्तमान (क्षेत्रज्ञम्) संसारी जीव (माम्) मुझ को (चापि) ही (विद्धि) जान, क्योंकि "तत्त्वमसि" श्रुति के अनुसार चिद्रूप जीव मेरा ही स्वरूप है (यत्) जो (क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः) क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का जुदा २ ज्ञान है (तत्) वह (ज्ञानम्) मोक्ष ज्ञान का हेतु होने के कारण (मम) मेरा (मतम्) मत है, और जो ज्ञान है वह बंधन होने के कारण वृथा पांडित्य है ॥ कहा भी है॥

तत्कर्मयन्नबन्धाय साविद्यायाविमुक्तये।
आयासायापरंकर्म विद्यान्याशिल्पनैपुणम् ॥

टीका–"चापि" शब्द ने क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ दोनों का बोध कराया है। श्लोक १ में इन दोनों की भिन्नता बताई है, और इस श्लोक में एकता बताई है। सर्व सृष्टि में व्यापक चित् स्वरूप को ईश्वर, और देह में वर्त्तमान सर्व गत चैतन्य को कूटस्थ कहते हैं। ये दोनों चैतन्य एक ही हैं, अतएव "असि" पद को महावाक्य में जोड़ा है ॥

जो तत्त्व शरीर पिंड में हैं वही ब्रह्मांड में हैं, और यह ब्रह्माण्ड ईश्वर का विराट् देह है। इस ब्रह्माण्ड में जो कारण रूपी ज्ञान, ज्ञान दृष्टि से देखने में आता है, उस का ज्ञान अर्थात् अन्वय ज्ञान तथा क्षेत्रज्ञ का ज्ञान अर्थात् व्यतिरेक

ज्ञान ये दोनों प्रकार के ज्ञान संमत हैं, अर्थात् सच्चे हैं यही उत्तरार्द्ध का भाव है ॥

यद्यपि चौवीश भेद भिन्न रूपी प्रकृति को क्षेत्र कहा है, तथापि देह रूप से विचारने में उसमें अहंभाव रूपी अविवेक भरा हुआ है, इस अविवेक के मिटाने के हेतु इस शरीर को क्षेत्र कहा है, उसी को आगे स्पष्ट करते हैं, इस शरीर में जो सच्चिदानंद क्षेत्रज्ञ है वही वासुदेव है।

तत्क्षेत्रंयच्चयादृक्च यद्विकारियतश्चयत् ।
सचयोयत्प्रभावश्च तत्समासेनमेशृणु ॥३॥

अर्थ–(यत् च) और जो मैंने कहा है (तत्) वही स्थूल शरीर (क्षेत्रम्) क्षेत्र है, उसका स्वरूप जड़ दृश्यादि भावयुक्त है (च) और वह (यादृक्) जिस प्रकार का है अर्थात् उसमें इच्छादि धर्म हैं (यद्विकारि) जिन इन्द्रियादि के विकार युक्त है (च) और (यतः) जो प्रकृति पुरुष के संयोग से होता है। और (यत्) जिस प्रकार से वह स्थावर जंगमादि के भेद से भिन्न होता है और (सः) वह क्षेत्रज्ञ (च) भी (यः) जिस स्वरूप का है (च) तथा अचिंत्य ऐश्वर्य योग के कारण उसका (यत्प्रभावः) जो प्रभाव है अर्थात् उसके जो २ प्रभाव हैं (तत्) वे सब (समासेन) संक्षेप से मुझ से (शृणु) सुन ॥

टीका–जो क्षेत्र है वह कारणरूपिणी प्रकृति का कार्य है, वह प्रकृति अनादि है, और बारंबार चित्स्वरूप से उत्पन्न होती है, इस से स्पष्ट है कि क्षेत्र भी चैतन्य से उत्पन्न हुआ है। परंतु प्रकृति के गुणों के कारण वह जड़ हो गया है, इस जड़ में कारणरूप ज्ञान गुप्त रहता है। इन सब बातों का विवेचन करने को भगवान् कहते हैं, और चिदंश होने के कारण क्षेत्रज्ञ में जो प्रभाव रहता है, उसका विवेचन आगे करने को कहते हैं। परंतु यह भी कहते हैं कि मैं संक्षेप में कहता हूं तो फिर विस्तार पूर्वक किसने कहा है सो आगे कहते हैं ॥

ऋषिभिर्बहुधागीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

अर्थ–यह विषय (ऋषिभिः) वसिष्ठादि ऋषियों ने अपने २ योगशास्त्रों में ध्यान धारणादि विषय करके तथा वैराग्यादि स्वरूप से (बहुधा) बहुत प्रकार से (गीतम्) निरूपण किया है और नित्य नैमित्तिक काम्य कर्मादि विषयों को प्रतिपादन करते हुए (विविधैः) विचित्र वा नाना प्रकार के (छन्दोभिः) वेदों से भी (पृथक्) नाना प्रकार के पूजनीय देवता रूप से निरूपण किया है। जिस से ब्रह्म की सूचना हो जावे उसे "ब्रह्मसूत्र" कहते हैं, जैसे "यतोवाइमानि भूतानिजायन्ते" इत्यादि तटस्थ लक्षण युक्त (ब्रह्मसूत्रैः) उपनिषद् वाक्यों के द्वारो (चैव) तथा (पदैः) जिस से साक्षात् ब्रह्म जाना जावे "जैसे सत्यंज्ञानमनंतंब्रह्म" इत्यादि स्वरूप लक्षण पर पदों के द्वारा भी निरूपण किया है और "सदेवसोम्येदमग्रआसीतकथमसतःसज्जायेत्"तथा"कोह्येवान्यात्कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, एषह्येवानन्दयति" इत्यादि (हेतुमद्भिः) युक्तियुक्त वाक्यों से निरूपण किया है ॥ "अन्यात, अपानचेष्टां कः कुर्यात् । प्राणव्यापारं वा कः कुर्यात्"। ये श्रुति के पदों के अर्थ हैं, इन्हीं के एक समान वाक्यों के द्वारा अर्थ में जो सन्देह हो वह दूर होजाता है। सो ऐसे २ (विनिश्चितैः) निश्चय कराने वाले वाक्यार्थों से भी निरूपण किया है भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार विस्तार पूर्वक जिस विषय का वर्णन हो चुका है, वही कठिन विषय मैं तुझ को संक्षेप में कहता हूं सो सुन। श्रीमन्नारायण का अवतार जो व्यास थे उन्हों ने "ब्रह्मसूत्र" बनाये हैं और उन में इस विषय का विवेचन किया है। इन सूत्रों में प्रभु का यथार्थ स्वरूप, ब्रह्म तटस्थ लक्षण तथा स्वरूप लक्षण करके जाना जाता है ॥ अब उसी क्षेत्र का स्वरूप दो श्लोकों में आगे कहते हैं ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेंद्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

अर्थ-(महाभूतानि) भूम्यादि पांच महाभूत तथा उन का कारण मूल (अहंकारः) अहंकार (बुद्धिः) ज्ञानात्मक महत्तत्त्व (एव च) और (अव्यक्तम्) मूल प्रकृति (दश, इन्द्रियाणि) बाहरी पांच कर्मेन्द्रिया तथा भीतरी पांच ज्ञानेन्द्रियां ऐसी दश इन्द्रियां (च) और (एकम्) एक मन (च) और (इन्द्रियगोचराः पंच) शब्दादि पांच इन्द्रियों के विषय अर्थात् जो आकाशादि विशेष गुणों से दीखने में आते हैं ये सब २४ चौबीस तत्त्व हुए ॥ ५ ॥

(इच्छा) इच्छा (द्वेषः) दूसरों से द्वेष रखना (सुखम्) सुख (दुःखम्) दुःख (संघातः) शरीर (चेतना) ज्ञानात्मिका मन की वृत्ति (धृति) धैर्य ये सब दीखने में आते हैं अतएव आत्मा के धर्म नहीं किन्तु मन के धर्म हैं । और यही सब क्षेत्र हैं, इन के अंतर्वर्ती उपलक्षण संकल्पादि हैं, जैसे कि श्रुति का वाक्य है " कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव इति"

श्लोक ३ में जो " यादृक् " पद से भगवान् ने प्रतिज्ञा की थी कि जो २ क्षेत्र के धर्म हैं वे कहूंगा सो वे सब यही हैं जो ऊपर बताये । भगवान् अंत में कहते हैं कि (एतत् क्षेत्रं) यही क्षेत्र (सविकारम्) इन्द्रियादि विकार सहित मैंने तुझे (समासेन) संक्षेप से (उदाहृतम्) कहा है अर्थात् उस का वर्णन संक्षेप में किया है ॥

टीका-क्षेत्र का नाम देह है, इस देह में २४ तत्त्व हैं, पंच तत्त्व अर्थात पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, ये तत्त्व तामस अहंकार से उत्पन्न होते हैं । अहंकार महत्तत्त्व से

उत्पन्न होता, यही "महान्" शब्द से दरसाया है। इसके अनन्तर महत्तत्व रूपिणी बुद्धि कही है ॥

यही महत्तत्व ब्रह्मदेव का रूप है और यही बुद्धि का अधिष्ठातृ देवता है। अव्यक्त माया से महत्तत्व उत्पन्न होता, और इसी अव्यक्त तत्व का अंश चित् है। चित् के देवता वासुदेव हैं, अहंकार का देवता रुद्र है। भूत पांच, उन के विषय पांच इन्द्रियां दश, बुद्धि, अहंकार, मन और अव्यक्त तत्व का अंश चित्त, ऐसे २४ तत्वों का यह शरीर बना है ॥

५ तत्व और उन के ५ विषय तामस अहंकार से उत्पन्न हुए हैं, १० इन्द्रियां राजस अहंकार से, तथा मन, चित्त, बुद्धि सात्विक अहंकार से ॥ ५ ॥

मन और इन्द्रियों का संयोग हो कर पंच विषयों की जो अपेक्षा होती है, उसी का नाम इच्छा है। इन्द्रियों को विषय प्यारे लगे कि सुख होता है, और बुरे लगे कि द्वेष उत्पन्न होता है ॥

वास्तविक में सुख आत्मा को ही होता है, परन्तु वह सुख विषयभोग से होता है। अतएव दोनों का वर्णन क्षेत्र-विचार में किया है, क्योंकि तत्ववेत्ता क्षेत्र को कुछ भी नहीं समझते तथा सर्वसुख आत्मा ही का समझते हैं। जैसे सुगंधित पुष्पों का हार भी भ्रम से सर्पाकार दीखता है, उस से भय उत्पन्न होता है, परन्तु जब यह समझ पड़ता है कि यह सर्प नहीं किन्तु हार ही है, तब भय का नाश हो जाता है, भ्रम के कारण उस का भय होने पर भी पुष्प का सुगन्ध आता ही है। उसी प्रकार सुख दुःख दोनों आत्मा के ही हैं, परन्तु सुख सच्चा है और दुःख भ्रान्ति से उत्पन्न होता है। यद्यपि जैसे सुगन्ध पुष्प का है, भय मिथ्या सर्प का है, परन्तु व्यवहार दृष्टि में ये दोनों गुण सर्प को ही लागू होते हैं। उसी प्रकार व्यवहार दृष्टि से सुख वा दुःख दोनों गुण क्षेत्र ही के विकार समझे जाते हैं। इन्द्रियों की गोलकें, अन्तःकरण, मन,

चित्त, अहंकार का संयोग हुए विना विकार उत्पन्न नहीं होता है। अतएव इन सब के समुदाय की गणना विकार में की गई है। इस समुदाय को चेतनावृत्ति ही सचेतन करती है, यह चेतनावृत्ति अर्थात् सत्त्ववृत्ति शरीर के समान जड़ है, परन्तु चित्त आत्मा के समीप होने के कारण प्रथम आप सचेतन हो जाता है, फिर सर्व समुदाय को चेताता है। अतएव यह चित्त की इस चेतना को विकार में शामिल किया है, चित्त में विषयों का स्मरण हुए विना विकार उत्पन्न नहीं होता, और यह स्मरण सूक्ष्मरूप से अन्तःकरण में बना रहता है उसी को धारणा कहते हैं। यहां तक क्षेत्र का वर्णन हुआ इस क्षेत्र में ज्ञान और अज्ञान भी रहते हैं, अतएव मनुष्यदेह को मुक्ति का तथा नाश का साधन कहा है। इस देह में रहकर जो कर्म, भोगे जाते हैं, वे अन्यदेह में भी भोगे जाते हैं, जैसे अपने खेत में उत्पन्न हुआ धान देशान्तर में जा कर अपना खाते हैं। वैसे ही मनुष्यदेह में किये हुए कर्म अन्य योनि में रह कर भी भोगे जाते हैं। यहां यह शंका होती है कि सब योनियों में ज्ञान रहता ही है तो फिर अन्य योनि में रहकर मुक्ति क्यों नहीं मिल सकती। इस का समाधान यह है कि जहां दिन उगता है, वहां अन्धकार को रात कहते हैं, पर जहां दिन उगता ही नहीं तहां सर्वत्र अंधकार मय होता है। इसीप्रकार मैं कौन हूं, यह समझनेका विचार मनुष्य देह के विना नहीं होता, अतएव अन्य योनि में जो ज्ञान होता है उसे अज्ञान ही समझना चाहिये॥

अब आगे श्रीकृष्ण जी क्षेत्रज्ञ प्रतिबिंब का बिंब जो शुद्ध चैतन्य है और जिसे "ज्ञेय" कहते हैं उस का विवेचन करने वाले हैं, अतएव उस से पहिले आगे के पांच श्लोकों में तत्त्वज्ञान के वीस साधन कहते हैं। जिस में ये साधन होंगे वह क्षेत्रज्ञ का स्वरूप समझेगा, इन लक्षणों के जो विरुद्ध हैं वे अज्ञान के लक्षण हैं, यह "श्लोक" के अन्त के चरण में कहा है "अज्ञानंयदतोऽन्यथा"

अमानित्वमदम्भित्व—महिंसाक्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनंशौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

अर्थ-(अमानित्वम्) अपने गुण की स्तुति तथा अभिमान न रखना (अदम्भित्वम्) दंभ वा पाखंड न रखना (अहिंसा) परपीड़ा रहित (क्षान्तिः) सहनशीलता (आर्जवम्) सीधापन (आचार्योपासनम्) सद्गुरु सेवन (शौचम्) बाहर भीतर शुद्धता अर्थात् मृत्तिका वा जल आदि से बाहिरी शरीर को शुद्ध करना और अन्तःकरण से रागादि मल को दूर करना (स्थैर्यम्) स्थिरता अर्थात् संसार प्रवृत्ति में एकनिष्ठ होना (आत्मविनिग्रहः) शरीर का संयम, ये सब ज्ञान के लक्षण हैं॥

शुद्धता दो प्रकार की नीचे लिखी श्रुति में कही है ॥

शौचंचद्विविधंप्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरन्तथा ॥
मृज्जलाभ्यांस्मृतंबाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम्॥

टीका—अपने ज्ञान और गुण का गर्व न करने को अमानित्व कहा है उसके विपरीत जो मानित्व है वह अज्ञान है॥

ज्ञान न होकर भगवद्भजन करके लोगों को यह झूठा दरशाना कि हम में ज्ञान है, इसे दंभ कहते हैं, यही अज्ञान का लक्षण है, तथा उस के न होने को अदंभित्व कहा है, जो ज्ञान का लक्षण है। परपीड़ा करने को हिंसा कहते हैं, यह अज्ञान का लक्षण है, अहिंसा ज्ञान का लक्षण है, और ज्ञान का साधन भी है, क्योंकि जीवात्मा ईश्वर का अंश है, ऐसा समझकर जो परपीडा नहीं करता उस पर परमेश्वर के प्रसन्न होने से उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है ॥

क्षान्ति का अर्थ क्षमा है और यह भी ज्ञान का लक्षण है, अपना पराया भाव नहीं मा होने के सिवाय यह लक्षण प्राप्त नहीं होता, इस का महत्व दिखाने के वास्ते भगवान् ने भृगुलता का चिन्ह अपने हृदय में धारण किया है। "आर्जवम्" अर्थ सरल भाव अर्थात् काया, वाचा, मन, इन्द्रियों

से किसी को दुःख न हो ऐसी रीति से वर्त्ताव करना ज्ञान का लक्षण है। ईश्वर ही को अपना गुरू मानकर उस की सेवा करने को आचार्योपासन कहा है सर्व चित्स्वरूप है, ऐसा उपदेश गुरु करता है, तो चित्स्वरूप रहने को ही गुरु की सेवा कही है। केवल चित्स्वरूप में चित्त लगाने को निर्विकल्प समाधि कहते हैं, और सर्व जड़ जगत् को चित्स्वरूप देखने को सविकल्प समाधि कहते हैं। इन दोनों समाधियों का अभ्यास करना भी गुरू की सेवा करना है। शौच दो प्रकार के कहे हो हैं, उन में मन की शुद्धता को ज्ञान कहते हैं, और कहा भी है कि–

आत्मानदीसंयमपुण्यतीर्था
शीलोदकाधर्मतटाढ्योर्मिः।
अत्राभिषेकंकुरुपाण्डुपुत्र !
नवारिणाशुध्यतिचान्तरात्मा ॥

चित्स्वरूप में बुद्धि को स्थिर करने को स्थैर्य कहा है, यह भी ज्ञान का लक्षण है, भगवद्भजन में स्थिर होना साधकों का साधन है। आत्मा का अर्थ मन है, इस मन का निग्रह करके विषयों का चिन्तन छोड़ के स्वरूप में स्थिरता रखने को "आत्मविनिग्रह" कहा है, वही ज्ञान का लक्षण है ॥

इन्द्रियार्थेषुवैराग्य–मनहंकारएवच ।
जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

अर्थ–(इन्द्रियार्थेषु) इन्द्रियों के विषयों में (वैराग्यम्) प्रीति नहीं करना (एवच) और (अनहंकारम्) अहंकार न रखना जन्म, मृत्यु, जरा, बुढ़ापा व्याधि पीड़ा ये सब (दुःखदोष) दुःख देने वाले पदार्थ हैं ऐसा दोष उन को (अनुदर्शनम्) वारंवार लगाना अर्थात् यह विचार करना कि जन्म मृत्यु इत्यादि दुःख ही देने वाले हैं। ये सब ज्ञान के लक्षण हैं ॥

टीका–रजोगुणात्मक पांचो इन्द्रियों के जो तमोगुणात्मक पांच विषय हैं, उन में विराग रखना यही ज्ञान है। देह मैं हूं ऐसा समझना तामस अहंकार है इन्द्रियां हम हैं, ऐसा समझना यह राजस अहंकार, तथा अन्तःकरण में केवल अहंपन की उत्पत्ति होना सात्विक अहंकार है, ये तीनों अहंकार न रखना ज्ञान का लक्षण है। जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, शरीर पीड़ा, ये सब अपने कर्म ही से भोगने पड़ते हैं, और यह अपना ही दोष है, ऐसा समझना ज्ञान का लक्षण है। इस दुःख का दर्शन दोषरूप से देखना ही अज्ञान का लक्षण है।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्व-मिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

अर्थ–(पुत्रदारगृहादिषु) पुत्र स्त्री धन गृह इत्यादि में (असक्तिः) प्रीति का त्यागना (अनभिष्वङ्गः) पुत्रादि के सुख में तथा दुःख में अपने को सुख दुःख न मानना और (इष्टानिष्टोपपत्तिषु) इष्ट अनिष्ट के भोग में (नित्यम्) सर्वदा (समचित्तत्वम्) एकसा चित्त रखना ये सब ज्ञान के लक्षण हैं॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्व-मरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

अर्थ–(मयि) मुझ परमेश्वर में (च) ही (अनन्ययोगेन) सर्वात्मदृष्टि से (अव्यभिचारिणी) एकान्त (भक्तिः) भक्ति रखना, (जनसंसदि) प्राकृत जनों की सभा वा संघट्ट मेलादि में (अरतिः) प्रीति न रख कर (विविक्तदेशसेवित्वम्) एकान्त देश वा स्थल का सेवन करना अर्थात् एकान्त ठौर में रहना जहां चित्त शुद्ध और प्रसन्न रहे ये सब ज्ञान के लक्षण हैं॥

टीका–सर्वजगत् श्रीभगवान् जी का रूप है, ऐसा समझने को "अनन्ययोग" कहते हैं, श्रीभगवान् जी के सिवाय और किसी देवता की भक्ति न करना यही अव्यभिचारिणी भक्ति है। "जनसभा" का भाव सामान्यजनसभा है, इस में हरिकीर्त्तन की सभा नहीं आती॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमितिप्रोक्त-मज्ञानंयदतोऽन्यथा ॥११॥

अर्थ-(अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्) अपने आत्मा को अधिकारी जान कर यह विचार करना कि हम कौन हैं, इसी ज्ञान का नित्यभाव रखना (तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्) पदार्थ शुद्धि की निष्ठा, उस का प्रयोजन मोक्ष, उस के विचार अर्थात् मोक्ष को सब से उत्कृष्ट विचारते रहना (एतत्) यह सब जो श्लोक सात ७ से लगाकर श्लोक ११ के पूर्वार्द्ध तक बीस लक्षण कहे हैं वे ही (ज्ञानम्) सच्चा ज्ञान है (इतिप्रोक्तम्) ऐसा वसिष्ठादि ने भी ज्ञान साधन कहा है । (अतः) इस से और (यत्) जो (अन्यथा) विपरीत है अर्थात् "मानित्वम्, दंभित्वम्" इत्यादि सो सब (अज्ञानम्) अज्ञान है क्योंकि वह ज्ञान से विरुद्ध है, क्योंकि उस से सच्चिदानन्दस्वरूप नहीं जानाजाता, अतएव सर्वथा त्याज्य है ॥

टीका—अध्याय ८ के श्लोक ३ में श्रीभगवान् जी ने कहा है कि (स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते) स्वभाव का अर्थ अपना भाव अर्थात् अपना चित्स्वरूप आत्मा हैं ऐसा ज्ञान है, परन्तु अज्ञान के कारण ऐसा अन्यथाभाव उत्पन्न होता है कि देहेन्द्रियादि अपन हैं । अपना भाव अर्थात् चिदात्मभाव नित्य है, अन्य सब भाव नश्वर है, यह समझना ज्ञान है ॥

इस पर से प्रथम चरण में व्यतिरेक ज्ञान समझाया है, आत्मा को जड़ से जुदा समझ कर उसी जड़ में आत्मस्वरूप देखने को अन्वयज्ञान कहते हैं, सो दूसरे चरण में बताया है ॥

क्षेत्रज्ञ का ज्ञान प्रथम चरण में और क्षेत्र का ज्ञान दूसरे चरण में कहा है और यही दोनों कहने का वचन श्रीभगवान् जी ने इस अध्याय के श्लोक २ में दिया था ॥

जड़ तत्त्व में ज्ञानरूप अर्थ देखना यह दूसरे चरण का भाव है ॥

जब इस प्रकार साक्षात्कार हो जावेगा, तभी सच्चा ज्ञान कहा जावेगा, यही ज्ञान के लक्षण अध्याय १८ में कहेंगे, और इन्हीं के स्पष्टीकरण के वास्ते व्यास जी ने १८ पुराण कहे हैं।

इन लक्षणों के साधन से जो वस्तु जानने योग्य है अर्थात् जिस जिस का अंश यह क्षेत्रज्ञ है, वह ज्ञेयतत्त्व आगे के श्लोकों में कहते हैं ॥

ज्ञेयंयत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परंब्रह्म नसत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

अर्थ–(यत्) जो (ज्ञेयम्) जानने योग्य है (तत्) वह तुझ से (प्रवक्ष्यामि) कहता हूं (यत्) जिस को (ज्ञात्वा) जान कर (अमृतम्) अमृतरूपी मोक्ष (अश्नुते) भोगने में आता है अर्थात् प्राप्त होता है वह ज्ञेय क्या है सो आगे कहते हैं यानी वह (अनादिमत्) आदि रहित (परं ब्रह्म) निरतिशय ब्रह्म है और (सः) वह (न सत्) न तो सत् और (न असत्) न असत् (उच्यते) कहा जाता है अर्थात् वह मुझ विष्णु का निर्विशेष रूप ब्रह्म है और वह ऐसा अचिन्त्य शक्तिमान् है कि वास्तव में मन वाणी का विषय नहीं, परन्तु भक्त लोग उस को निरूपण कहते ही हैं ॥

टीका–"अमृत" अर्थात् शाश्वत आत्मा तथा "मृत" अर्थात् नश्वर जड़ भाग, देहात्मता नाश हो कर आत्मसुख की प्राप्ति होने को ही मोक्ष कहते हैं। माया को अलहदा करने से जो शेष रहता है, वही अक्षर ब्रह्म ज्ञेय वस्तु है, और वह ऐसा विलक्षण है कि न तो सत् और न असत् है। जो विषय विधिमुख से प्रमाण कहा गया हो, अर्थात् जो क्षेत्रज्ञ है वही चिदंश सत् है। और जो विधिमुख से निषेध किया गया हो, अर्थात् जड़ भाग वही असत् है। इन दोनों से निराला जो चित्स्वरूप है, वही ज्ञेय है, चिदंश क्षेत्रज्ञ को भोग होता है और सर्वगत चैतन्य को भोग नहीं ॥

जब इस प्रकार सत् असत् से विलक्षण ब्रह्म हुआ तो इन श्रुतियों के वाक्यों में विरोध पड़ता है "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" इत्यादि, इस शंका के निवारणार्थ श्रीभगवान् आगे ५ श्लोकों में निम्न लिखित श्रुति प्रसिद्ध अचिंत्यशक्ति के द्वारा उस परब्रह्म की सर्वात्मता दिखाते हैं ॥

श्रुतिः"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाच" इत्यादि ।

सर्वतःपाणिपादंतत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्यतिष्ठति ॥१३॥

अर्थ-जिसके (सर्वतःपाणिपादम्) हाथ पांव सर्वत्र हैं, जिस के (सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्) आंखें, शिर और मुख सब ओर हैं वह (सर्वतःश्रुतिमत्) सब ठौर श्रवणेन्द्रिय युक्त होकर (लोके) इस संसार में (सर्वमावृत्य) सब में व्याप्त होकर (तिष्ठति) सब व्यवहार कराता हुआ रहता है अर्थात् सब प्राणियों की अंतःकरण की वृत्ति में तथा प्राणादि क्रिया में नख से शिख पर्यंत व्याप्त है। उसे कूटस्थ कहते हैं, सब क्रियायें उसी की सत्ता हैं, यानी हाथ पांव इत्यादि की क्रिया-उसी की सत्ता से होती है ॥

टीका-पूर्वार्द्ध में जो यह कहा कि हाथ पांव वगैरह वही है इस से "अन्वय" का बोध कराया है, उत्तरार्द्ध में इसी अन्वय के बीच में "व्यतिरेक" बताया है। वह ज्ञेय श्रवणेन्द्रिय युक्त है, हाथ पांव युक्त भी है, अर्थात् श्रवणेन्द्रिय पाणि पादादि वही है। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक बताकर उनका उपादान कारण बताया है। इस उपादान कारण रहने के बिना उसकी एकता तथा भिन्नता नहीं जान पड़ती, जैसे अलंकार का उपादान कारण सुवर्ण है, परंतु विलक्षण होने के कारण उस में भिन्नता है, और व्याप्य व्यापक लक्षण से उन की एकता है। उसी प्रकार प्रथम अन्वय से उसकी और जड़ की एकता दिखाई, तथा व्यतिरेक से दोनों की एकता दिखाई।

इस प्रसंग में व्याप्य व्यापकता दिखाना अवश्य पड़ा और वह चतुर्थ चरण में बताया उसी का स्पष्टी करण आगे करते हैं ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तंसर्वभृच्चैव निर्गुणंगुणभोक्तृ च ॥१४॥

अर्थ–वह (सर्वेन्द्रियगुणाभासम्) चक्षु आदि इन्द्रियों के गुणों से अर्थात् रूपादि व्यापारों के रूप में भासमान होता है । अथवा इन्द्रियों को और उन के विषयों को प्रकाश करता है, और वह (सर्वेन्द्रियविवर्जितम्) सब इन्द्रियों से निराला रहता है, जैसा कि श्रुति में कहा है "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः सशृणोत्यकर्णः" इत्यादि । वह (असक्तम्) संग रहित है (चैव) तथापि (सर्वभृत्) सब का आधार भूत है और वह (निर्गुणम्) सत्वादि गुण रहित है (च) तथापि (गुणभोक्तृ) सत्वादि गुणों का भोक्ता और पालक है ॥

टीका–"अन्वय" से यह जनाया कि सब उसी का रूप है, "व्यतिरेक" से बताया कि वह सब से निराला है, यह अन्वय तथा व्यतिरेक पूर्वार्द्ध में बताया है, वह निर्गुण होकर प्रतिबिंब रूप से विषयों का भोग करता है ॥

बहिरन्तश्चभूतानामचरं चरमेवच ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थंचान्तिकेचतत् ॥१५॥

अर्थ–(भूतानाम्) वही सब चराचरों के (बहिः) बाहर (च) तथा (अन्तः) भीतर है क्योंकि ये सब उसी के कार्य) हैं (च) वही (अचरम्) स्थावर (चरम्) जंगम (एवच) भूत रूप भी है अर्थात् जैसे कुंडलादि के भीतर बाहर सुवर्ण होता है तथा जल तरंगों में जल रहता है उसी प्रकार वह अन्तर्यामी ईश्वर सब के भीतर बाहर व्याप रहा है । वह सब कार्यों का कारण रूप होने से और (सूक्ष्मत्वात्) अति सूक्ष्म होने से रूपादि हीन होने के कारण (तत्, अविज्ञेयम्)

ऐसा नहीं जाना जा सकता है कि यह वही है। विकारयुक्त प्रकृति से परे होने के कारण वह मूखों को (दूरस्थम्) लक्ष योजन दूर दीखता है (च) और (तत्) वही ज्ञानियों को प्रत्यगात्मदृष्टि होने के कारण (अन्तिके) नित्य निकट रहता है ॥

टीका–जल तरङ्गों के समान ब्रह्म सब भूतों के भीतर बाहर होने से वे भूत भी उसी का रूप हैं, तो फिर सब को दीखता क्यों नहीं ? इस के समाधान के लिये उत्तरार्द्ध में कह दिया है कि वह दूर भी है, और निकट भी है, परन्तु देखने वाला सावधान चाहिये। निर्गुण ब्रह्म इन्द्रियों के गोचर नहीं अतएव वह सूक्ष्म कहा जाता है, इन्द्रियों का संयोग होते ही बुद्धिदृष्टि स्थूल हो जाती है, इसी से निर्गुण ब्रह्म नहीं दीखता। बुद्धिदृष्टि नेत्र है, तथा इन्द्रियां उस के उपनेत्र हैं, इन्द्रियों के भावानुरूप सृष्टि भासती है और जब बुद्धि में इन्द्रियों का संयोग नहीं रहता तब उस दृष्टि को सर्व सृष्टि चिद्रूप दीखती है । ऐसी सूक्ष्म दृष्टि होना कठिन है, परन्तु यह ऐसी दृष्टि हुई कि ब्रह्म का अनुभव होने लगता और दूरस्थ वा पास का सर्वचराचर संसार ब्रह्मरूप दीखने लगता है ॥

यहां यह शंका होती है कि यदि चराचर के साथ ब्रह्म की एकता मानी जावे तो उन में व्याप्य व्यापक भाव नहीं रहता, और व्याप्य व्यापकभाव मानो तो दोनों की एकता बिगड़ती है। इस के परिहारार्थ श्रीभगवान् जी आगे कहते हैं कि वास्तव में वे दोनों एक ही हैं, उन में भिन्नता का केवल भासमात्र ही है॥

अविभक्तंचभूतेषु विभक्तमिवचस्थितम्।
भूतभर्तृचतज्ज्ञेयं ग्रसिष्णुप्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

अर्थ–(भूतेषु) सब स्थावर जङ्गमात्मक भूतों में उन का कारणरूप हो कर (च) भी (अविभक्तम्) उन से भिन्न नहीं

रहता (च) और कार्यात्मक होने के कारण (विभक्तम्, इव) उन से भिन्न के समान (स्थितम्) व्याप्त हो रहा है जैसे समुद्र से उत्पन्न फेनादि समुद्र से भिन्न न हो कर उसी के रूप कहे जाते हैं (च) और स्थितिकाल में (तत्) उस को (भूतभर्तृ) भूतों का पोषण करने वाला (ज्ञेयम्) जानना चाहिये तथा प्रलयकाल में उसे (ग्रसिष्णु) भूतों का ग्रसनेवाला (च) और सृष्टिकाल में नानाकार्यात्मक होने के कारण उसे (प्रभविष्णु) उत्पन्न करने वाला जानना चाहिये ॥

टीका- जैसे मेघ की धारा के संग जो ओले पानी की दहार में पड़ते हैं वे वास्तविक में पानी का ही रूप हुआ करते हैं, परन्तु आकार से भिन्न होने के कारण उस दहार के पानी से भिन्न दीखते हैं। उसी प्रकार सर्व चराचर का उपादान कारण ब्रह्म ही है। वह चराचर से भिन्न नहीं रहता, परन्तु चराचर के भिन्न भिन्न उपाधि भेद के कारण भिन्न सा दीखता है, इसरीति से एकता होने पर भी भिन्नता दीखती है, अतएव वेदों ने उसकी व्याप्य व्यापकता बताई है। वही ज्ञेय स्थितिकाल में भूतों के आकार में भासता है, अतएव वही भूतों को धारण करता है, संहारकाल में भूतों को आप में मिला लेता है, सृष्टिकाल में वही नानारूप से प्रगट होता है। जैसे सोना अलंकारों को धारण करता है, और उन्हें प्रकाशित करता है, अतएव वह अलंकार कार्यों का उपादान कारण कहाता है। इसी प्रकार ब्रह्म सर्व चराचर कार्यों का उपादान कारण है। अतएव वह उन्हें धारण करता है, प्रकाशित करता है, और उसी में चराचर लय हो जाते हैं, फिर उसी से प्रगट होते हैं। इस प्रकार वह ज्ञेय तीनों काल में एकसा वर्त्तमान रहता है, परन्तु स्थितिकाल मात्र में भिन्न न होने पर भी भिन्नता का भास होता है, वास्तव में वह निर्विकार है ॥

ज्योतिषामपितज्ज्योतिस्तमसःपरमुच्यते ।
ज्ञानंज्ञेयंज्ञानगम्यं हृदिसर्वस्य धिष्ठितम् ॥१७॥

अर्थ–चंद्र सूर्यादि (ज्योतिषाम्) प्रकाशवान् पदार्थों में जो ज्योति है वह (अपि) भी (तत्) उसी ज्ञेय का (ज्योतिः) प्रकाश है, अतएव उसे (तमसः) अंधकार रूपी अज्ञान से (परम्) परे (उच्यते) कहते हैं, "आदित्यवर्णं तमसःपर-स्तात्" इत्यादि श्रुतेः ॥ (ज्ञानम्) बुद्धिवृत्ति का प्रकाशक होने के कारण ज्ञान वही है, रूपादि आकार के द्वारा (ज्ञेयम्) जानने योग्य वही है और पूर्वोक्त अमानित्वादि ज्ञान साधन के लक्षणों से (ज्ञानगम्यम्) ज्ञान के द्वारा प्राप्त होने के योग्य भी वही है। क्योंकि (सर्वस्य) सब प्राणिमात्रों के (हृदि) हृदय में नियंता रूप होकर (धिष्ठितम्) स्थित है अर्थात् सब का अधिष्ठाता होकर हृदय में विराजमान है ॥

टीका–"अपि" शब्द से यह सुझाया है कि सब ज्योतियों में जैसी ज्योति रहती है, वैसी अंधकार में भी रहती है, जैसे सुख दुःखादि विलक्षण द्वन्द्व हैं, तैसे अंधकार का द्वन्द्व ज्योति है। जहां सुख देना कहा है वहां उसे दुःख भी मिलने वाला है। उसी प्रकार जब ऐसा कहा है कि चंद्रसूर्य की ज्योति में भी वह ज्योति है, तो ऐसा सिद्ध होता है कि वह अंधकार से परे है। इस से यह भी सिद्ध होता है कि वह ज्योति चंद्र सूर्यादि की ज्योति से परे है और अंधकार में है तथा अंधकार के परे भी है। इस अर्थ से यह नहीं समझना चाहिये कि ब्रह्म ज्योति के समान है, यह ज्ञेय ज्योति सर्व जगत् को प्रकाशित करती है, ऐसा दि-खाने के हेतु "अपि" शब्द से यह सूचना की है कि अंधकार में भी वह ज्योति है। इस ज्ञेय ज्योति के लक्षण उत्तरार्द्ध में कहे हैं कि वह ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानगम्य है, अर्थात् गुरु कृपा से उसका बोध होता है। इंद्रियों को गोचर होने वाली सर्व वस्तु जड़ है, अतएव चंद्र सूर्य की ज्योति भी जड़ हुई, परन्तु यह "ज्ञा-नज्ञेयम्" "ज्ञानगम्यम्" इंद्रियों को गोचर नहीं, और वह हृदय अर्थात् चित्त में वास करता है। वास्तविक में वह सर्वत्र है, परन्तु प्रथम चित्त को प्रकाशित करता है, और फिर चित्त

सब को प्रकाशित करता है, अतएव ऐसा कहा है कि वह हृदय में स्थित रहता है ॥

अब आगे क्षेत्रादि तथा ज्ञेय वस्तु जान लेने से जो फल मिलता है सो कहते हैं ॥

इतिक्षेत्रंतथाज्ञानं ज्ञेयंचोक्तंसमासतः ।
मद्भक्तएतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

अर्थ–(इति) इस प्रकार मैंने महाभूतादि श्लोक ५ तक (क्षेत्रम्) क्षेत्र का तथा अमानित्वादि श्लोक ७ से "तत्वज्ञानार्थदर्शनम्" श्लोक तक (ज्ञानम्) ज्ञानका (च) और "अनादिमत्परंब्रह्म" श्लोक १२ से "हृदिसर्वस्य धिष्ठितम्" श्लोक १७ तक "ज्ञेयम्" ज्ञेय का जो वसिष्ठादि ने विस्तार पूर्वक कहा है वह मैंने तुझ से (समासतः) संक्षेप से (उक्तम्) वर्णन किया है। पूर्वाध्याय यानी १२ में कहे हुए लक्षणों युक्त (मद्भक्तः) मेरा भक्त (एतत्) इसको (विज्ञाय) जानकर (मद्भावाय) मेरे भाव अर्थात् ब्रह्मत्व को जो मेरा स्वरूप है (उपपद्यते) प्राप्त करने के योग्य हो जाताहै ॥

टीका–अध्याय १२ में जो धर्म्यामृत कहा है उसी का विचार इस अध्याय में किया है। धर्म सब प्रकृति के होते हैं और क्षेत्र उसी की आकृति है। पुरुष चिन्मात्र अमृत है, उसकी न आकृति है और न विकृति है, यह पुरुष क्षेत्र में बिम्ब प्रतिबिम्ब दोनों रूप से होता है। इसी प्रकार प्रकृति के भी दो भेद हैं, १ शुद्ध प्रकृति २ त्रिगुणात्मिका प्रकृति इसी त्रिगुणात्मिका प्रकृति का नाम विद्या है । विद्या से अविद्या का नाश होता है, अतएव विद्या अमृत और अविद्या धर्मरूप है, ये दोनों प्रकार की प्रकृति क्षेत्र में वर्तमान रहती हैं, अतएव उसको धर्मामृत कहा है। इन दोनों प्रकृतियों से चिद्रूप पुरुष निराला है। जैसे रस्सी सर्प से निराली रहती है, तैसे पुरुष धर्म से निराला रहता है, परन्तु ऐसा नहीं कह-

सकते कि सर्प रस्सी से जुदा है, क्योंकि रस्सी ही सर्पाकार दीखती है, उसी प्रकार पुरुष भी प्रकृति धर्मरूप से दीखता है। ऐसा जानकर ज्ञानीभक्त लोग सकल विश्व को भगवान् का रूप देखते हैं। इसी ज्ञान को धर्मामृत कहना चाहिये, इस का सेवन ज्ञानी भक्त करते और निर्गुणोपासक केवल अमृत का सेवन करते हैं। अतएव ज्ञानी भक्त भगवत्स्वरूप को बहुत जल्दी प्राप्त होते हैं। श्लोक ३ में जो कहा था कि "तत् क्षेत्रं यच्च यादृक्च" उस का तथा क्षेत्र का निरूपण यहां तक हुआ, अब आगे क्षेत्रज्ञ का भोक्तापन अर्थात् "यद्विकारि यतश्चयत्"। "सचयोयत्प्रभावश्च" इस का निरूपण करते हुए पांच श्लोकों में यह समझाते हैं कि प्रकृति पुरुष ही संसार के हेतु हैं॥

प्रकृतिंपुरुषंचैव विद्ध्यनादीउभावपि।
विकारांश्चगुणांश्चैव विद्धिप्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

अर्थ-(प्रकृतिम्) प्रकृति को (चैव) तथा (पुरुषम्) पुरुष को अर्थात् (उभौ) दोनों को (अपि) भी (अनादी) आदि रहित (विद्धि) जानो, क्योंकि अनादि ईश्वर की अचिंत्य शक्ति होने के कारण प्रकृति यानी माया अनादि है। और पुरुष भी उसी ईश्वर का अंश होने के कारण अनादि है (च) और (विकारान्) देहेन्द्रियादि (चैव) और (गुणान्) गुणों के परिणाम सुख दुःख मोहादि को (प्रकृतिसंभवान्) प्रकृति से उत्पन्न हुए (विद्धि) जानो॥

टीका-प्रकृति तथा पुरुष अनादि ब्रह्म से उपजते हैं, उसी में रहते और उसी में लय पाते हैं। जिस प्रकार थोड़े बहुत पानी में सूर्य के निराले २ प्रतिबिंब पड़ते हैं, उसी प्रकार ईश्वर से अनंत जीवोपाधि प्रगट होती है। यह अनादि प्रवाह है, इस से भगवंत को विषमता नहीं लगती, यह आगे के श्लोक में कहते हैं, और यह भी दरशाते हैं कि विकारों की उत्पत्ति प्रकृति से है और संसार का हेतु पुरुषहै॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुःप्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषःसुखदुःखानां भोक्तृत्वेहेतुरुच्यते ॥२०॥

अर्थ-(कार्यकारणकर्तृत्वे) शरीर और उसके कारण सुख दुःख की साधन इन्द्रियां इन दोनों के कर्तापन का (हेतुः) हेतु (प्रकृतिरुच्यते) प्रकृति कही है और (पुरुषः) पुरुष (सुखदुःखानाम्) सुख दुःखों के (भोक्तृत्वे) भोगने का (हेतुरुच्यते) हेतु कहा गया है अर्थात् सुख दुःखों का भोगने वाला वही है ॥

टीका-यद्यपि अचेतन प्रकृति स्वतः कर्त्ता नहीं होसक्ती और अधिकारी पुरुष भोक्ता नहीं हो सकता, तथापि अचेतन के समीप वा आश्रय में रहने से क्रिया का कर्त्ता हो सक्ता है। जैसे अग्नि का जलना, वायु की वक्रगति, बच्छा के न दीखने पर भी दूध भरे स्तन का झरना इत्यादि क्रिया अचेतन के द्वारा हुआ करती है। तैसे ही पुरुष के समीप रहने से प्रकृति का भी कर्त्तापन हो सकता है, सुख दुःख का भोगना भी चेतन धर्म है सो प्रकृति के समीप रहने से पुरुष भोक्ता हो सकता है ॥

कार्य का अर्थ प्रयोजन है, जो वासना संकल्प से होती है, उस के कारण बुद्धि, इन्द्रियां मन हैं । कर्त्तापन अहं बुद्धि का है,
इन सब का निमित्त मात्र प्रकृति है। और प्रकृति में विना पुरुष के स्फुरण नहीं होता, अतएव प्रकृति पुरुष दोनों को हेतु कहा है। जैसे स्फटिक मणि स्वतः शुद्ध होती है, उस पर कोई रंग नहीं रहता, परन्तु जो रंग उस पर चढ़ाया जावे, तो वह उसी रंग को दीखने लगती है। उसीप्रकार पुरुष स्वतः कुछ नहीं करता, परन्तु कार्यादिक की उत्पत्ति अनादि प्रकृति से होती है, और यह कार्य कारण और कर्त्तापन कर्म से उत्पन्न होते हैं, और कर्म ही के योग से सुख दुःखरूप फल उत्पन्न

होते हैं। ये सुख दुःख देह भोगता है, और यह देह प्रकृति का बना है, परन्तु वह जड़ होने के कारण उस को भोग नहीं हो सकता। अतएव इस जड़ की संगति के कारण पुरुष को भोग होता है, इस विषय का स्पष्ट वर्णन अध्याय १५ में होगा। देह को जबतक पुरुष का योग रहता है, तब तक उस देह को भोग होता है, अतएव भोग का हेतु पुरुष को कहा है, क्योंकि वास्तविक में पुरुष को ही भोग होता है॥

यहां यह शंका होती है कि अविकारि जन्मरहित पुरुष को भोग कैसे हो सकता है? इसका समाधान आगे करते हैं॥

पुरुषःप्रकृतिस्थोहि भुङ्क्तेप्रकृतिजान्गुणान्।
कारणंगुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

अर्थ—(हि) जिस कारण (प्रकृतिस्थः) अपने कार्यरूपी देहादि में आत्मस्वरूप से स्थित हो कर यह (पुरुषः) पुरुष (प्रकृतिजान्) उस प्रकृति से उत्पन्न हुए सुख दुःखादि (गुणान्) गुणों को (भुङ्क्ते) भोगता है, अतएव (अस्य पुरुषस्य) इस पुरुष का जो (सत्) अच्छा (असत्) बुरा तिर्यगादि (योनिजन्मसु) योनियों में जन्म होता है उस में (गुणसंगः) शुभाशुभ कर्म कराने वाले इन्द्रियों का संग ही (कारणम्) मुख्य कारण है अर्थात् इन गुणों के संग के कारण ही से उस को अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने पड़ता है॥

टीका— सत्व, रजस् तमस् ये तीन गुण हैं, इन में सत्वात्मक मन है, रजोगुणात्मक इन्द्रियां हैं। तमोगुणात्मक विषय हैं, यह मन बुद्धि के योग से अहंपन रखता है, इन्द्रियों के द्वारा विषयों को जानता है, यही उस का इन दोनों गुणों का भोगना है, और विषयों का भोग तो बना ही है। इस प्रकार यह पुरुष प्रकृति में रह कर तीनों गुणों का उपभोग लेता है, इस से यह सिद्ध होता है कि जितने भोग हैं, उन

नी ही प्रकृति होती हैं । पांव से शिर तक जो यह शरीर है, वही सुख दुःख भोगता है, अतएव वही शरीर उस पुरुष की प्रकृति है, और उसी में रह कर वह सुख दुःख भोगता है। जब गुण तथा अहंकार का संयोग होता है, तब अहंपन उत्पन्न होता है, चित्प्रतिबिम्ब को यह गुणसंग नहीं हो सकता, अतएव सत्य के योग से वह पुरुष जिस जीव भाव को पाता है उसी को यह गुण संग होता है। अहंकार के योग से सत्वप्रवृत्ति होती है, और आत्मप्रत्यय में निवृत्ति का अवलंबन करता है। इन दोनों का भोक्ता पुरुष है, चित्त पराप्रकृति है, ऐसा अध्याय ७ के श्लोक ५ " अपरेयमितस्त्वन्याम् " में कहा है, वही जीव भाव को पाता है। जैसे पानी में सूर्य का प्रतिबिंब पड़ने से वह पानी ही सूर्य का रूप दिखाता है। परन्तु यह सूर्य बिंब से होता है, तैसे ही जीव को पुरुष का अंश कहा है। अहंकार से सत्व में कर्म स्फुरण होता है, उसी कर्म से पुरुष को नाना योनियां भोगनी पड़तीं हैं ॥

इस प्रकार प्रकृति के अविवेक से ही पुरुष को संसार है, उसके स्वरूप से नहीं, इस आशय से आगे उसका रूप वर्णन करते और जीव ब्रह्म की एकता दिखाते हैं ॥

उपद्रष्टानुमन्ताच भर्त्ताभोक्तामहेश्वरः।
परमात्मेतिचाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषःपरः ॥२२॥

अर्थ—प्रकृति के कार्य रूपी (अस्मिन् देहे) इस देह में वर्त्तमान होने पर भी वह (पुरुषः) पुरुष (परः) भिन्न ही रहता है, प्रकृति के गुणों में युक्त नहीं होता क्योंकि वह (उपद्रष्टा) पृथक् रहने पर भी समीप हो कर सब देखने वाला साक्षी है (च) और समीप होने से (अनुमन्ता) कर्मानुरूप फल देने वाला है तथा ऐश्वर रूप से (भर्ता) पालने वाला (भोक्ता) भोग करने वाला है और (महेश्वरः) महान्

ईश्वर अर्थात् ब्रह्मादि का पति है (च) उसी को श्रुति ने (परमात्मा) अन्तर्यामी उत्तम आत्मा (अपि) भी (इति-उक्तः) ऐसा कहा है ॥

टीका-इस देह में पुरुष जीव तथा ईश्वर रूप से रहता है, वह सर्व साक्षी अनुमंता है, जैसा कि श्रुति कहती है "साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च" वह कर्मानुरूप फल देने वाला तथा कर्मानुरूप पालन करने वाला है, सब का धनी अतएव भोक्ता ऐसा महेश्वर इस देह में रहता है। उसी को परमात्मा कहा है, "एष सर्वेश्वरः एष भूताधिपतिरेष लोकपालः" इत्यादि श्रुतिः "च" "अपि" शब्दों से यह सुझाया है कि परमात्मस्वरूप से रहकर इसी देह में वह भोक्ता रूप से रहता है "तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः" इति श्रुतिः, इससे यह सिद्ध हुआ कि भर्ता तथा भोक्ता दोनों इस देह में रहते हैं, इसी से "द्वासुपर्णा" यह श्रुति भी यहां बताई है। इस श्रुति में यह कहा है कि एक पीपल के वृक्षपर दो पक्षी रहते हैं, उन में से एक कुछ नहीं खाता, दूसरा उस वृक्ष के फल खाता है। यह पीपल का वृक्ष संसार प्रपंच है, व्यष्टिरूप से यह देह है, समष्टि रूप से वह चराचर प्रपंच है। एक देह को व्यष्टि कहते हैं, सब देह समूह को समष्टि कहते हैं। कुछ न खाने वाला अर्थात् विषय सेवन न करने वाला ईश्वर है, वृक्ष फल खाने वाला अर्थात् विषय सेवन करने वाला जीव है, ये दोनों इस देह में रहते हैं, ऐसा भाव इस श्रुति का है। माया रूपी अविद्या के संबंध से शुद्ध सच्चिदानंद को ईश्वर कहते हैं, जब ब्रह्मज्ञान से दोनों उपाधि नाश हो जाती हैं तब केवल शुद्ध सच्चिदानन्द एक ही रह जाता है ॥

इस प्रकृति पुरुष के विवेक का ज्ञानी अर्थात् जो इस पुरुष को इन दोनों रूपों से जानता है वह प्रवृत्ति मार्ग में भी रहकर निवृत्ति मार्ग धारण करता है, उसी की प्रशंसा भगवान् आगे करते हैं ॥

यएवंवेत्तिपुरुषं प्रकृतिंचगुणैःसह ।
सर्वथावर्त्तमानोऽपि नसभूयोऽभिजायते ॥२३॥

अर्थ-जैसा कि श्लोक २२ में "उपद्रष्टाऽनुमन्ता च" इत्यादि कहा है (एवम्) उसी प्रकार (यः) जो कोई इस (पुरुषम्) पुरुष को (च) और (गुणैः) सुख दुःखादि गुणों के परिणामों के (सह) सहित (प्रकृतिम्) प्रकृति को भी (वेत्ति) जानता है (सः) वह मनुष्य (सर्वथा वर्त्तमानः) विधि विपरीति सर्व आचरण करता हुआ (अपि) भी (भूयः) फिर से वारंवार (न, अभिजायते) जन्म नहीं लेता अर्थात् मुक्त हो जाता है॥

इस पर से यह नहीं समझना चाहिये कि केवल शब्द ज्ञान से मुक्ति होती है, वल्कि यह आत्मज्ञान के अभ्यास से अपरोक्ष हो जाने पर मुक्ति मिलती है। यह आगे के दो श्लोकों में कहते हैं तथा उस ज्ञान के विशेष साधन भी वताते हैं॥

ध्यानेनात्मनिपश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्येसांख्येनयोगेन कर्मयोगेनचापरे ॥ २४ ॥
अन्येत्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्यउपासते ।
तेऽपिचातितरन्त्येव मृत्युंश्रुतिपरायणाः ॥२५॥

अर्थ-(केचित्) कोई २ मनुष्य (ध्यानेन) ध्यान योग के द्वारा (आत्मनि) अपने देह तथा बुद्धियों में ही (आत्मना) अपनी बुद्धि तथा मन से (आत्मानम्) आत्मस्वरूप को (पश्यन्ति) देखते हैं। (अन्ये) कोई २ दूसरे लोग (सांख्येन) प्रकृति पुरुष को जुदा २ देखकर (योगेन) अष्टांग योग के द्वारा (च) और (अपरे) कोई २ (कर्मयोगेन) कर्म योग के द्वारा आत्मस्वरूप को देखते हैं। ये सब लोग ध्याना-नादि का यथायोग क्रम समझ करके भी जुदी २ निष्ठा भेद के कारण अलहदा २ कहे गये हैं ॥२४॥

जो अतिमंद अधिकारी हैं उन के निस्तार के उपाय आगे कहते हैं (तु) परंतु (अन्ये) दूसरे लोग जो सांख्य योगा· दि मार्ग से उक्त लक्षण युक्त आत्म स्वरूप को (एवम्) इस प्रकार साक्षात्कार करना (अजानन्तः) नहीं जानते परंतु (अन्येभ्यः) अन्य आचार्यादि के उपदेश से (श्रुत्वा) सुन कर (उपासते) उपासना वा ध्यान करते हैं (तेऽपि) वेभी (श्रुतिपरायणाः) श्रुति संपन्न आचार्यादि के उस उप· देश में परायण होकर (मृत्युम्) इस संसार को धीरे २ (चातितरन्ति,एव) पारही कर लेते हैं ॥ २५ ॥

टीका-श्लोक २४ में ज्ञान परिपाक होने की चार रीति कही हैं, उन में १ ध्यान अर्थात् उस चित्स्वरूप का ध्यान करना जो बुद्धि में रहकर उनका प्रकाशक है, और उस बुद्धि को तद्रूप करना ही अर्थात "अहं ब्रह्माऽस्मि" विचारना ही उस का ध्यान है। २ सांख्य का अभ्यास-आपन ब्रह्म हैं, ऐसा समझना प्रकृति का शुद्धसत्व गुण है, इस का आश्रय करके यह जानना कि सर्व कर्त्तापन प्रकृति का है, और हम केवल साक्षी होकर उससे निराले हैं, यही सांख्य मार्ग है। ३ ज्ञान योग-जड़ चैतन्य को एकता देखना। ४ कर्मयोग- कर्म हीमें ब्रह्म देखना जिसका वर्णन अध्याय ४ श्लोक २४ "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः" इत्यादि में होचुका है। इन चारो मार्गों का अ- ङ्गीर परिणाम एकही है, गुरु कृपासे साक्षात्कार होकर इसी प्रकार अभ्यास करने से मनुष्य इस संसार सागर के पार उतर जाता है। सो इतनाही नहीं बल्कि यद्यपि सक्षात्कार न हुआ तोभी इन मार्गों के श्रवण मात्र ही से जो मनुष्य भग- वत् को उपद्रष्टा, अनुमंता, भर्त्ता, भोक्ता जानकर उनको श्रवण कीर्तनादि भक्ति करके उनका भजन करता है वह भी भवार्ण- व से तरजाता है। अध्याय ३, ४, ५, में कर्म योगका वर्णन हो चुका, ध्यानयोग का विचार अध्याय ६, ७, ८, में हुआ और

यहां यह भी कहागया कि ध्यानादि मार्ग ही सांख्य में कहे हुए आत्मविचार के विषय हैं ॥

अब आगे सांख्य का ही वर्णन करके यह दरशाते हैं, कि ज्ञान का परिपाक हो कर अज्ञान का पूर्णनाश हुए विना जन्म मृत्यु नहीं टलते ॥

यावत्संजायतेकिंचित्सत्वंस्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धिभरतर्षभ ! ॥ २६ ॥

अर्थ—हे (भरतर्षभ) अर्जुन ! (यावत् किंचित्) जितने कुछ (सत्वम्) उत्तम अधम (स्थावरजंगमम्) स्थावर जंगम शरीर मात्र (संजायते) उत्पन्न होते हैं (तत्) वे सब (क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्) क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के संयोग से होते हैं तू ऐसा (विद्धि) जान ॥

टीका—क्षेत्र कहिये शरीर तथा क्षेत्रज्ञ का अर्थ देहधारी है, जब तक यह देहधारी यह अभिमान रखता है कि देह मैंही हूं, तभीलौं क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का संयोग समझो, इस जड़ शरीर और इस चैतन्य क्षेत्रज्ञ का संयोग हुआ कि उन से कर्म उत्पन्न होता है, कर्म से चराचर देह उपजते हैं। परन्तु इस "क्षेत्र" शब्द से यह सुझाया है कि केवल नरदेह में ही किये हुए कर्म फलप्रद होते हैं, और उन्हीं कारण नाना योनि भी प्राप्त होती हैं, और देहाभिमान ही अज्ञान का स्वरूप है, वह नहीं रहा कि स्वतःसिद्ध आत्मा बच रहता है ॥

यहां तक कहा गया कि संसार की उत्पत्ति अविवेक से ही है, अब आगे इन अविवेक की निवृत्ति के हेतु विविक्तात्म विषय सम्यक् दर्शन कहते हैं, तथा यह दरशाते हैं कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को भिन्न जानने का ज्ञान हो जाने पर भी सर्व भूतों में भगवद्भाव रखना चाहिये क्योंकि—

समंसर्वेषुभूतेषु तिष्ठन्तंपरमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यःपश्यतिसपश्यति॥ २७ ॥

अर्थ—स्थावरजंगमात्मक (सर्वेषुभूतेषु) सब चराचर भूतों के बीच में (समं तिष्ठन्तम्) एक समान वर्तमान रहते हुए (परमेश्वरम्) परमात्मा को (यः) जो मनुष्य (पश्यति) देखता है और यह भी समझता है कि उन (विनश्यत्सु) नाशवान् भूतों में रहकर भी वह परमेश्वर (अविनश्यन्तम्) अविनाशी है (सः) वही मनुष्य (पश्यति) भली भांति देखता है अर्थात् वही नेत्रवाला है, बाकी सब अंधे हैं ॥

टीका—जो सर्वात्मयोग जानता है, वही क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का वियोग जानताहै, क्योंकि केवल देह का वियोग जान लेने से क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के संयोग का अर्थात् देहाभिमान का नाश नहीं होता। किसी मुर्दा के देखने से जड़ क्षेत्र तथा चैतन्य क्षेत्रज्ञ का वियोग स्पष्ट दीख पड़ताहै, परंतु इतनाही समझ लेने से अज्ञान का नाश नहीं होता, उस निर्जीव मुर्देमें जो ईश्वर व्याप्त रहता है, उसका भी ज्ञान होना चाहिये। वही ईश्वर प्रतिबिंबरूप से क्षेत्रज्ञ कहा जाताहै, परंतु मुख्य क्षेत्रज्ञ वही विश्वात्मा है। मुर्दा में जीव नहीं रहता, परंतु वह क्षेत्रज्ञ रहता ही है। जब उस क्षेत्रज्ञ के वियोग का तथा क्षेत्र का वैभव जाना जावेगा, तभी क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का वियोग बराबर समझपड़ा ऐसा कहते बनेगा नहीं तो नहीं ॥

देह दीखने परभी जो ऐसा देखताहै कि मैं आत्माहूं उस के ज्ञान में क्रिया तथा कर्त्ता मिथ्या हैं, और उसको यह भी निश्चय हो जाताहै कि वे क्रिया वा कर्त्ता मिथ्या शरीर में रहते हैं। जिसकी ऐसी दृष्टि होती है वही सर्वत्र समता रख सक्ताहै, जो ऐसा सर्वात्मयोग देखता है कि सर्व आकारात्मक सृष्टि मिथ्या आभास मात्र है, वास्तविक में सर्वत्र अपन ही हैं, उसी का क्षेत्र क्षेत्रज्ञ संयोग नाश होता है, जो कोई विश्वात्मा परमेश्वर को अपना ही आत्मा जानकर एक समान अविनाशी

परमेश्वर को नश्वर जड़ में देखताहै, वही देहाभिमान से मुक्त होता है अर्थात् क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का वियोग जानताहै, इसी ज्ञान को सगुण भक्ति कहते हैं ॥

अब आगे कहते हैं कि जो ऐसी सगुण भक्ति करता है वही अपना हितकारी है, तथा अन्य लोग आत्मघातक हैं ॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
नहिनस्त्यात्मनात्मानं ततोयातिपराङ्गतिम् ॥२८॥

अर्थ—जो मनुष्य (सर्वत्र) सब भूत मात्रमें (ईश्वरम्) परमात्मा को (समम्) सम्यक् अप्रच्युत स्वरूप से अर्थात् एक समान (समवस्थितम्) स्थित (पश्यन्) देखता हुआ (हि) उसी कारण से (आत्मना) अपने ही द्वारा अपने (आत्मानम्) आत्मा को (न, हिनस्ति) घात नहीं करता अर्थात् अविद्या से सच्चिदानन्दरूप आत्मा का विनाश नहीं करता वह (ततः) इस के पश्चात् अर्थात् सर्वत्र सम ईश्वर को समान दृष्टि से देखने के पश्चात् आत्मघातक नहीं होता और उसी कारण (परां गतिम्) मोक्ष को (याति) प्राप्त होता है परन्तु जो इस प्रकार नहीं देखता है, वही देहात्मशरीर देह के साथ आत्मा का घात करता है जैसा श्रुति कहती है ॥

असुर्यानाम ते लोका अन्धेनतमसाऽवृताः ।
तांस्तेप्रेत्यापिगच्छन्ति येकेचात्महनोजनाः ॥

टीका—क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का संयोग ही जन्म मरण का कारण होता है, और जो कोई इन दोनों का वियोग देखता है वही मुक्त होता है । यह वियोग वही देखता है जो ईश्वर को सर्वत्र देखता है, और वही अपना घात नहीं करता । ऐसा सर्वात्मयोग न साधने वाले आत्मघातकी होते हैं ॥

यहां यह शंका होती है कि शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता होने के कारण आत्मा में विषमता दीखती है, तो फिर आत्मा में समता कहां रही ? इस का समाधान आगे करते हैं ॥

प्रकृत्यैवचकर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यःपश्यतितथात्मान मकर्त्तारंसपश्यति ॥ २९ ॥

अर्थ–(यः) जो मनुष्य ऐसा (पश्यति) देखता है कि (सर्वशः) सब प्रकार के (क्रियमाणानि कर्माणि) कर्म जो अभी किये जा रहे हैं वे (प्रकृत्या, एव, च) देहेन्द्रियाकार प्रकृति ही के द्वारा होते हैं (तथा) और ऐसा भी समझता है कि देहाभिमान से ही कर्म होते हैं । स्वतः (आत्मानम्, अकर्त्तारम्) आत्मा अकर्त्ता है । (सः) वही (पश्यति) सम्यक् प्रकार से देखता है और कोई नहीं ॥

टीका–जैसे प्रकृति का कर्त्तापन देखे वैसे ही आत्मा का अकर्त्तापन देखना चाहिये, यही सच्चा देखना है, केवल प्रकृति का कर्त्तापन देखने से निभाव नहीं बल्कि उसी के साथ साक्षित्व धर्म वाले चिदात्मा को भी देखना चाहिये । सत्त्ववृत्ति चिन्मय हुई कि आत्मा का अनुभव होता है और उसी समय आत्मा को अकर्त्ता देखना बनता है । जो ईश्वर को सब भूतों में देखता है, वही आत्मा का ऐसा अकर्तापन देख सकता है ॥

भूतों की प्रकृति में यद्यपि अद्भुत भेद हैं, तो भी उनसे आत्मा को भिन्न न देखे परंतु उस को अकर्ता जानते रहने से मोक्ष मिलता है यह आगे कहते हैं ॥

यदाभूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
ततएवचविस्तारं ब्रह्मसंपद्यतेतदा ॥ ३० ॥

अर्थ–(यदा) जिस समय सब (भूतपृथग्भावम्) स्थावर जंगम भूतों के जुदे २ भेदों को (एकस्थम्) एक ही जगह स्थिर अर्थात प्रलय काल में केवल एक ईश्वर की शक्ति रूपी प्रकृति में स्थित (अनुपश्यति) देखता है (च) और (ततः, एव) उसी प्रकृति से फिर सृष्टि समय में सब भूतों का (वि-

स्तारम्) उत्पन्न होना फैलना देखता है (तदा) तब प्रकृति के भेदों के अनुसार भूतों के भी भेद देखकर (ब्रह्म संपद्यते) परिपूर्ण ब्रह्म को प्राप्त होता है अर्थात् वह मनुष्य ब्रह्म ही हो जाता है ॥

टीका—यह प्रसंग पूर्व में कई स्थानों में स्पष्ट हो चुका है कि आकारमात्र जुदे २ भूत चित्स्वरूप से उत्पन्न हुए हैं, और जो मनुष्य इन सब को उस अद्वितीय चित्स्वरूप में "अनुपश्यति" अर्थात् अनुभव से देखता है, वही ब्रह्म को पाता है। यह ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण है, अतएव उस एक में भूतों के अनेक भाव रहते हैं ॥

यहां यह शंका होती है कि संसार की अवस्था में देह संबन्धी कर्मों के तथा उन के फलों के द्वारा सुख दुःखादि की विषमता मिटही नहीं सकती तो फिर सम दर्शन कैसे हो सकता है ? इस का समाधान आगे करते हैं ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपिकौन्तेय ! नकरोतिनलिप्यते ॥३१॥

अर्थ—जिस की उत्पत्ति है वही आदि वाला है, और जो गुण युक्त वस्तु है उसी के गुण नाश हो जाने पर व्यय होता है। परन्तु हे (कौन्तेय) अर्जुन ! (अयम्) यह (परम त्मा) चिदंश उत्तम आत्मा जो शरीर में स्थित है वह (अनादित्वात्) अनादि होने के कारण (निर्गुणत्वात्) गुण रहित होने के कारण (अव्ययः) अविकारी अविनाशी है इसी कारण (शरीरस्थोपि) शरीर में स्थित रहने पर भी (न करोति) न तो कुछ कर्म करता है और (न लिप्यते) न कर्म फलों में लिप्त होता है ॥

टीका—जिसका आदि है वही त्रिगुणात्मक है, और इसी त्रिगुण में कर्त्तापन है, अतएव ईश्वर अनादि तथा निर्गुण होने के कारण अकर्त्ता रहता है, उसी से कर्म में लिप्त नहीं होता

चिदंश जीव भी शरीर में रहता है और उपाधि बिना वह भी अकर्त्ता होता है, परन्तु उपाधि के संयोग से वह लिप्त होता है। शरीरस्थ निर्गुण परमात्मा ऐसा लिप्त नहीं होता, जो कोई ऐसे अकर्ता तथा अलिप्त आत्मा को सर्व भूतों में देखता है, उसी को वास्तविक में अपना अकर्तापन दीख पड़ता है, नहीं तो क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का संयोग मन में जमा रहने से यह तत्व जन्मान्तर में भी नहीं दीख सक्ता॥

अब आगे उसका कारण दृष्टांत सहित कहते हैं॥ ५८॥

यथासर्वगतंसौक्ष्म्यादाकाशंनोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितोदेहे तथाऽऽत्मानोपलिप्यते॥ ३२॥

अर्थ-(यथा) जैसे (सर्वगतम्) पंकादिक में भी सर्वत्र स्थित (आकाशम्) आकाश (सौक्ष्म्यात्) अति सूक्ष्म तथा असंग होने के कारण (न, उपलिप्यते) पंकादि में भी लिप्त नहीं होता (तथा) उसी प्रकार (सर्वत्र) उत्तम, मध्यम, अधम सब (देहे) देह में (अवस्थितः) स्थित होने पर भी वह (आत्मा) आत्मा (न, उपलिप्यते) लिप्त नहीं होता अर्थात् देह के दोष गुणों से जुदा रहता है॥

टीका-इस श्लोक में इस दृष्टांत से आत्मा और जीवात्मा का फरक दिखाकर यह दरशाया है कि जीवात्मा क्यों लिप्त होता है, क्षेत्रज्ञ एक ही देह में रहता है, अतएव उसे सर्वगत नहीं कह सक्ते, जल में का प्रतिबिंब जल ही भर में रहता है, उपाधि योग से हिलता है, परन्तु घट में स्वतःसिद्ध आकाश रहता है, जो उपाधि से चंचल नहीं होता, उसी प्रकार सर्वगत आत्मा अलिप्त रहता है। परन्तु उसका प्रतिबिंब जीव सर्वगत नहीं रहता, उपाधि योग से भोग काल में वह लिप्तसा दीखता है, परन्तु जड़ देह को आत्मा प्रकाशित करता है, अतएव यह क्रिया उसी को लागू होती है। इसी कारण आगे

दूसरे दृष्टान्त से इस सब पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं—आकाश के दृष्टांत से यह बताया है कि असंग को लेप नहीं होता। अब आगे सूर्य के दृष्टांत से यह बताते हैं कि प्रकाश के कारण उन वस्तुओं तथा धर्मों में वह लिप्त नहीं होता, जिन्हें वह प्रकाशित करता है॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नंलोकमिमंरविः।
क्षेत्रंक्षेत्रीतथाकृत्स्नं प्रकाशयति भारत !॥३३॥

अर्थ—हे (भारत) अर्जुन !(यथा) जिस प्रकार (एकः) एक ही (रविः) सूर्य (इमं कृत्स्नं लोकम्) इस सर्व चराचर लोक को (प्रकाशयति) प्रकाशित करता है परंतु उस प्रकाश की सहायता से जो लोग पाप पुण्य करते हैं उन में लिप्त नहीं होता (तथा) उसी प्रकार (क्षेत्री) देहमें रहने वाला आत्मा (कृत्स्नम्) सब (क्षेत्रम्) देहों को (प्रकाशयति) प्रकाशित करता है, परंतु उन के कर्मों में लिप्त नहीं होता॥

अब अन्त के श्लोक में अध्याय का सारांश कह कर उस का फल कहते हैं।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरंज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षंच येविदुर्यान्तितेपरम्॥३४॥

अर्थ-(एवम्) उक्त प्रकार से (ये) जो कोई (ज्ञानचक्षुषा) विवेक तथा ज्ञान युक्त आंखों से (क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का (अन्तरम्) भेद (विदुः) जानते हैं (च) और उक्त प्रकार (भूतप्रकृतिमोक्षम्) भूतों की प्रकृति के द्वारा मोक्षका उपाय अर्थात् ध्यानादि भी जानते हैं (ते) वे लोग (परम्) परम पद को (यान्ति) प्राप्त होते हैं॥

टीका—इस के पहिले अकर्त्तापन से निर्गुण ब्रह्म का भी वर्णन कर चुके हैं, और यहां श्री महाराज ने यह धर्म कहा है, कि जो आत्मा को निर्गुण, निर्धर्म वा अकर्त्ता देखेगा, वही अकर्त्तापन में रहेगा। प्रकृति क्षेत्र है, इस प्रकृति से निराला जो

क्षेत्रज्ञ है वही आत्मा है, जो लोग इस आत्मा और प्रकृति का अंतर ज्ञान चक्षु से देखेंगे वे ही परमपद पावेंगे। सर्वात्मदृष्टि को ही ज्ञानचक्षु कहा है, क्योंकि अध्याय ४ श्लोक ३५ "येनभूतान्यशेषेण" इत्यादि में जो कहा है उससे यह नहीं पाया जाता है कि क्षेत्रज्ञ भोक्ता को क्षेत्र से जुदा देखने को ज्ञानचक्षु नहीं कह सक्ते। अतएव भूत समुदाय को आत्मा में देखनाही ज्ञानचक्षु है। अब क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के बीच में अंतर कैसे देखा जाता है सो कहते हैं। जैसा सर्प तथा रस्सी का योग होता है, वैसा क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का योग समझो, सर्प और रस्सी का वियोग होना यही दोनों के बीच में अंतर है, इसी प्रकार क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का वियोग दोनों के बीच का अंतर है। भगवान् ने कहा है कि जो ज्ञान दृष्टि के द्वारा क्षेत्र प्रकृति से आत्मा को निराला देखेगा, और भूत प्रकृति मोक्ष जानैगा, वही मुक्त होगा। केवल क्षेत्रका वा क्षेत्रज्ञ का वियोग जानने से मुक्ति नहीं मिलती। भासित होने वाले सर्व भूत मिथ्या हैं, इतना ही जानने से जड़त्व का संस्कार नहीं जाता, वलिक जब ध्यानाभ्यास से सर्व भूत चित्स्वरूप दीखने लगैंगे, तब वह संस्कार मिटता है। इसी जड़त्व संस्कार को "भूतप्रकृति"कहा है, इस से जो छूटते हैं वेही "भूतप्रकृति मोक्ष" जानते हैं और जब व्यतिरेक का वा अन्वय का ज्ञान होकर चिद्रूप में चराचर का ध्यान बन सकैगा तब परमपद मिलैगा, यह भी सिद्ध होगया! इसी अर्थ को श्री महाराज अध्याय १४ में स्पष्ट निरूपण करेंगे॥

यह अध्याय १३ की टीका श्रीयुगल चरणारविंदों को अर्पण करता हूं॥

विविक्तौयेनतत्त्वेन भिन्नौप्रकृतिपूरुषौ।
तंवंदेपरमानंदं नन्दनन्दनमीश्वरम्॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ॥

ओं नमोभगवते वासुदेवाय ॥

पुंप्रकृत्योःस्वतन्त्रत्वं वारयन्गुणसंगतः ।
प्राहसंसारवैचित्र्यं विस्तरेणचतुर्दशे ॥

अध्याय १२ में जो "धर्म्यामृत" कहा उसी का विशेष वर्णन अध्याय १३ में किया अर्थात् क्षेत्र को "धर्म" तथा क्षेत्रज्ञ को "अमृत" नाम से कहकर इन का ज्ञान बताया, उस ज्ञान का फल अध्याय १३ श्लोक २३ "यएवंवेत्तिपुरुषम्" में बताया, पुनः अ० १३ श्लोक २५ "यावत्संजायतेकिंचित्" में जो क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का संयोग कहा, वह निरीश्वर वादी सांख्य लोगों के मत के अनुसार है। उस में स्वतंत्रता नहीं किंतु ईश्वर ही की इच्छा से होता है, यह बताया, इस वचन से उस पूर्व वचन को पुष्ट किया जो अध्याय १३ श्लोक २१ "कारणं गुणसंगोऽस्य" इत्यादि में कहा है । अब सत्वादि गुणों के द्वारा ही संसार की विचित्रता हुआ करती है, इस बात को पुष्ट करते हुए उसी कहे हुए अर्थ की प्रशंसा प्रथम दो श्लोकों में करते हैं। पुरुष और प्रकृति का ज्ञान अध्याय १३ में करचुके अब केवल त्रिगुण का विवेचन करते हैं ॥

श्रीभगवानुवाच ।

परंभूयःप्रवक्ष्यामि ज्ञानानांज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वामुनयःसर्वे परांसिद्धिमितोगताः ॥१॥

अर्थ—हे अर्जुन ! (ज्ञानानाम्) तप तथाकर्मादि विषयों का जो ज्ञान है उस में से जो मोक्ष देने वाला (उत्तमं ज्ञानम्) उत्तम आत्मज्ञान है और जो (परम्) परमात्मनिष्ठ उपदेश है वही (भूयः) मैं फिर से तुझ को (प्रवक्ष्यामि) प्रकर्ष रूप से कहता हूं । यद्यपि पहिले कहा है परंतु अब उस को

अन्य रीति से स्पष्ट करके कहता हूं (यत्) जिसको (ज्ञात्वा) जानकर (सर्वे मुनयः) सब मनन शील पुरुष (इतः) इस देह बंधन से मुक्त होकर (परां सिद्धिम्) मोक्ष को (गताः) प्राप्त हुए हैं क्योंकि सब से परे जो सिद्धि है वह मोक्ष है और वही उन्हों ने पाई ॥

टीका—गुणत्रय का ज्ञान ज्ञानी को बड़ा उपयोगी है, क्योंकि आत्मा को पहिचान लेने से प्रारब्ध भोगते समय तथा कर्म करते समय प्रत्येक ज्ञानी इस गुणत्रय के ज्ञान की सहायता से अपने को अकर्ता अभोक्ता जानता रहता है। यह अकर्तापन वा अभोक्तापन प्रकृति के परे है, अतएव इस ज्ञान को "उत्तम ज्ञान" कहा है, और उसके फल को "परा सिद्धि" कहा है। "इतः" शब्द प्रकृति सूचक है, ऐसा माना जावे तो यह अर्थ होता है कि प्रकृति के परे का ज्ञान पाकर मुनिजन प्रकृति की स्थिति को पहुंचते हैं। इस "इतः" शब्द से देहादि बंधन की भी सूचना होती है ॥

भगवान् कहते हैं कि सर्व ज्ञानों से उत्तम ज्ञान कहता हूं, तो इस से यह पाया जाता है कि अब तक जो ज्ञान कहे वे उत्तम नहीं थे, परन्तु यह भाव श्री महाराज के कहने का नहीं है, क्योंकि "भूयः" शब्द से स्पष्ट है कि वही ज्ञान फिर से कहता हूं ॥

सब कर्तापन प्रकृति का ही है, आत्मा अकर्ता है, यह साक्षित्व से देखने पर्यंत अपना अकर्तापन सिद्ध नहीं होता, इस बात को कई ठौर कह चुके हैं, परंतु प्रकृति गुण वृत्ति का विवेचन नहीं हुआ, सोई इस अध्याय में करते हैं ॥

"परां सिद्धिम्" वाक्य से कोई यह न समझ लेवे कि केवल निर्गुण मोक्ष कहा है, इसी कारण आगे कहते हैं कि इस ज्ञान का फल सगुण मोक्ष भी है ॥

इदंज्ञानमुपाश्रित्य ममसाधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपिनोपजायंते प्रलयेनव्यथंति च ॥ २ ॥

अर्थ-(इदं ज्ञानम्) यह ज्ञान जो मैं कहता हूं उसको (उपाश्रित्य) आश्रय करके अर्थात् उसका साधन करके जो लोग (मम) मेरे ही (साधर्म्यम्) समान धर्म को अर्थात् मेरे रूप को (आगताः) प्राप्त हो गये हैं वे (सर्गे अपि) सृष्टि काल में,ब्रह्मादिक उत्पन्न हो जाने पर भी (न, उपजायंते) उत्पन्न नहीं होते (च) तथा (प्रलये) प्रलयकाल में (न, व्यथन्ति) नाश होने का दुःख नहीं पाते अर्थात् उन का पुनर्जन्म नहीं होता ॥

टीका-सगुण भक्ति करने वाले ज्ञानी मुक्त होकर भगवान् के "साधर्म्य" को पाते हैं, यह सगुण भगवंत मायायुक्त ब्रह्म ही है। उस को अखण्ड ब्रह्मानुभव होता है, और वही उस का धर्म है। मुक्ति देने वाले ज्ञान को प्राप्त करके भी जो सगुण भक्ति करते हैं, उन को यह "साधर्म्य" प्राप्त होता है, सगुण भक्त यह साधर्म्य पाते हैं, इस वचन से जीव तथा ईश्वर की एकता सुझाई है। क्योंकि प्रारब्ध कर्म जनित देह रहने तक अखंडानुभव रह नहीं सकता, किंतु देह पात हो जाने पर ही सगुण भक्तों को वैसा अनुभव रहता है। यहां यह शंका होती है कि प्रलय काल में ईश्वर का साधर्म्य ही जब नहीं बचता तो फिर इस सगुण भक्त का साधर्म्य कहां रहा ? ऐसे प्रसंग में उसकी क्या गति होती है, इस शंका का परिहार उत्तरार्द्ध में किया है, कि सृष्टिकाल में ईश्वर के ही समान इन भक्तों की मूर्ति प्रगट होती हैं, और प्रलय काल में भी ईश्वर के समान इन भक्तों की मूर्ति निर्गुण में प्रलय होजाती हैं। अतएव ईश्वर के समान इनका भी जन्म मरण नहीं कहा जा सक्ता, जिस का कर्मानुरूप देह होता है, उसी को जन्म मृत्यु है। कर्म की उत्पत्ति अविद्यासे है और जब विद्या के द्वारा अविद्याका नाश होजाता है, तब कर्म भी नहीं रहते, तभी जन्म मृत्यु की वाधा मिटती है ॥

ज्ञान का फल मुक्ति है और यह ज्ञान सगुण भक्तों को होता है, अतएव उन्हें मुक्ति बनी ही है परंतु ज्ञान न होने पर भी यदि अन्तकाल में सगुण ध्यान बन पड़ा तो सगुण प्राप्ति हो सक्ती है, जैसाकि अध्याय ८ के श्लोक ६ "यंयं वापि स्मरन् भावम्" में कहा है। ऐसे भक्त प्रसंगानुसार पुनरावृत्ति पाते हैं, परंतु जिन को ज्ञान होकर भगवत् का साधर्म्य मिल गया, उनको पुनरावृत्ति कहां से आसक्ती है। इस पर भी कोई शंका करे तो फिर ज्ञान का माहात्म्य ही न रहा और इसका भी क्या भरोसा है कि निर्गुण मोक्ष को भी पुनरावृत्ति नहीं, देखो जय, विजय बैकुंठ से पतित हुए, इस का निर्गुणाभिमानियों ने बड़ा हल्ला मचा रक्खा है। परंतु उसका कारण ठीक२ न जानने से उन की शंका दूर नहीं हो सक्ती, अतएव वह इतिहास नीचे लिखते हैं जिस से सगुण मोक्ष संबंधी संशय दूर होजावे ॥

जय विजय पूर्व जन्म में ब्राह्मण सगे भाई थे, इनका झगड़ा हुआ तब क्रोध में एक भाई ने दूसरे को शाप दिया कि तू नक्र (नाका) होजा, तब दूसरे ने पहिले से कहा कि तू हाथी होजा, इसी कारण एक भाई गंडकी नदी में ग्राह हुआ, दूसरा हाथी होकर वहां पानी पीने को गया, उसे ग्राह ने ग्रसा, तब उस गजेन्द्र ने हरि को पुकारा, तब हरि ने आकर चक्र से उस ग्राह को मारा, गजेन्द्र को बचाया, ये दोनों भगवत्परायण थे, अतएव भगवान् ने उन्हें वैकुंठ का द्वारपाल बनाया। यह वैकुंठ भगवान् ने अपने वैकुंठ अवतार में लक्ष्मी की प्रार्थना से बनाया था, सो ज्ञानहीन भक्त इस वैकुंठ को जाते हैं। परंतु ज्ञानी भक्त जिस वैकुंठ को जाते हैं, वह आदि अन्त रहित जुदा ही वैकुंठ है। रैवत मनु के मन्वंतर में वह ज्ञान हीन भक्तों के लिये वैकुंठ बनाया था, उसी समय विकुंठा के उदर से विष्णु ने अवतार लिया था, और इसी वैकुंठ से जय विजय पतित हुये थे ॥

इस प्रकार कीप्रशंसा से श्रोताओं को सावधान करके अब आगे कहते हैं कि प्रकृति पुरुष से सर्व भूतों की उत्पत्ति है सही परन्तु वे स्वतंत्र न होकर मुझ परमेश्वर के आधीन हैं और मैं ही त्रिगुण का भोक्ता हूं॥

ममयोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भंदधाम्यहम् ।
संभवःसर्वभूतानां ततोभवतिभारत ! ॥३॥

अर्थ-हे (भारत) अर्जुन (महत्) देश काल जिसको क्षीण नहीं कर सक्ते और स्वकार्यों की वृद्धि करनेवाला जो (ब्रह्म) ब्रह्म प्रकृति अर्थात् ऐसा जो महद्ब्रह्म यानी महत्तत्व है सो (मम) मुझ भोक्ता पुरुष का (योनिः) गर्भ धारण करनेका स्थान है (तस्मिन्) उस महत्तत्वरूपी योनि में (अहम्) मैं (गर्भम्) जगत् के विस्तारार्थ चिदाभास को (दधामि) रखता हूं, अर्थात् उस योनि में मैंही गर्भरूप से स्थित होता हूं। प्रलय के समय में जो अविद्या काम कर्मादि के आशय से युक्त क्षेत्रज्ञ मुझमें लीन होजाता है उसको सृष्टि समय में उसके भोग्य स्थान क्षेत्र के साथ संयुक्त करदेता हूं (ततः) उस मेरे गर्भाधान से ब्रह्मादि (सर्वभूतानाम्) सर्व सूक्ष्म स्थूल चराचर भूतों की (संभवः) उत्पत्ति होती है ॥

टीका-निर्गुण ब्रह्मसे प्रथम अव्यक्त प्रकृति उत्पन्न होती है, और इसी की उपाधि से निर्गुण ब्रह्म सगुण होता है, इस सगुण सर्वेश्वर को सृष्टि रचने की इच्छा होती है, और वही त्रिगुणमयी माया है, उसी का नाम महत्तत्व है। इन तीनों गुणोंमें से सत्व में ईश्वर का प्रतिबिम्ब होता है, और यही चिदंश जीव है, जड़ देह का भोग यही लेता है, इसी चिदंश का उत्पत्ति स्थान महत्तत्व है, ऐसा "मम योनिर्महत्" इस वाक्य में कहा है। कोई टीकाकार ऐसा अर्थ करते हैं कि बिंब की योनि "महत्" है, परंतु यह इसी श्लोक में आगे के वाक्यों को बाधा करता है। क्योंकि "अहं ब्रह्म, तस्मिन्, गर्भं दधामि" ऐसा वाक्य है, जैसे स्त्री के उदर में पति गर्भ धरता

है तैसे महत्तत्व में ईश्वर गर्भ रखता है। इस पर से ईश्वरके जीव भाव की योनि महत्तत्व हुई, इसी प्रकार आगे श्लोक ४ में भी कहा है कि "अहं ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता"॥ पुरुष का रेत बीज है, और वही आकार पाता है, उसी प्रकार चिदंश जीव हरेक देह में ईश्वर का गर्भ है, यह गर्भ महत्तत्व में रक्खा जाता है। अतएव महत्तत्व जननी माता और ईश्वर पिता हुवा, इसी भाव से भगवान् ने कहा है कि मेरी अर्थात् मेरे चिदंश की योनि अर्थात् उत्पत्ति स्थान महत्तत्व है। "मम" शब्द का अर्थ केवल विंब किया तो माता, पिता, गर्भ ये तीनों भाव नहीं आते। इस महत्तत्व में चिदंश का आभास हुवा कि २४ तत्त्व उत्पन्न होते हैं, अतएव "भूत" शब्द से तत्त्व सुझाये हैं, "भूत" शब्द का अर्थ शरीर भी है, परंतु आगे के श्लोक में भूत यानी शरीर को "मूर्तयः" कहा है॥

अब आगे कहते हैं कि मेरे अधिष्ठान रूपी प्रकृति पुरुष के द्वारा यह भूतों की उत्पत्ति केवल सृष्टिकाल ही में नहीं होती, किंतु सर्वदा ही हुवा करती है॥

सर्वयोनिषुकौन्तेय मूर्त्तयःसंभवन्तियाः।
तासांब्रह्ममहद्योनिरहंबीजप्रदःपिता॥४

अर्थ—हे (कौन्तेय) अर्जुन (सर्वयोनिषु) मनुष्यादि सब योनियों में स्थावर जंगमात्मक (याः) जो जो (मूर्त्तयः) मूर्त्तियां (संभवन्ति) उत्पन्न होती हैं (तासाम्) उन सब मूर्त्तियों की (महद् ब्रह्म) प्रकृति (योनिः) माता स्थानी है और (अहम्) मैं (बीजप्रदः) गर्भाधान कर्त्ता (पिता) जनक हूं॥

टीका—ब्रह्म का अर्थ ब्रह्मदेव है, जो महत्तत्व की ही प्रतिमा है, क्षेत्र में महत्तत्व का अंश बुद्धि है, अतएव बुद्धि का देवता ब्रह्म देव है। महत्तत्व से सृष्टि की उत्पत्ति होती है, ब्रह्मदेव सृष्टिकर्ता है, अतएव उसे "ब्रह्म महत्" कहा है। जिसके हेतु भोग की इच्छा उत्पन्न होती है, वह प्रतिविंब पुरुष ईश्वर का अंश है, उस अंश का प्रतिविंब महत्तत्व में पड़ा

कि चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न हुआ, और यही क्रम आगे चलताहै। जैसे स्त्रीके उदर में पुरुष का रेत प्रवेश हुआ कि मूर्ति उत्पन्न होती है, उस मूर्ति के वे दोनों स्त्री पुरुष माता पिता होते हैं, वैसे चिदंश का प्रतिबिंब महत्तत्व में पड़ा कि चराचर मूर्तियां उत्पन्न होती हैं, अतएव चराचर की माता महत्तत्व तथा पिता चिदंश रूपी भगवंत हुए ॥

यहां तक यह कहा गया कि भोक्ता पुरुष कौन है और कैसे उत्पन्न होता है, अध्याय १३ में यह भी स्पष्ट होचुका कि आत्मा अकर्ता है, तथा प्रकृति ही में सब कर्तापन है, यहभी कहचुके कि परमेश्वर के आधीन प्रकृति पुरुष से सब भूतों की उत्पत्ति होती है। अब आगे ४ श्लोकों में निराले२ प्रकृति गुणों के लक्षण बताकर प्रकृति के संग पुरुष का संसार भोग वर्णन करते हैं ॥

सत्त्वंरजस्तमइति गुणाःप्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्तिमहाबाहो देहेदेहिनमव्ययम् ॥ ५॥

अर्थ—हे (महाबाहो) अर्जुन! (सत्वं,रजः, तमः) सतो गुण, रजोगुण, तमोगुण (इति) ये तीनों (गुणाः) गुण (प्रकृतिसंभवाः) प्रकृति से उत्पन्न हुये हैं। और उसी प्रकृति से पृथक् पृथक् प्रकाश पाकर प्रकृति का कार्य जो देह है उस (देहे) देह में स्थित जो (अव्ययम्) निर्विकार (देहिनम्) चिदंश है उस को (निबध्नन्ति) अपने कार्य सुख दुःखादि द्वारा बंधन में डाल देते हैं। यह देहधारी जीव वस्तुतः निर्विकार है क्योंकि वह चिदंश है परंतु देह में आने के कारण तीनों गुणों के वशीभूत होकर सुख दुःखादि भोगता है। आगे सत्व के लक्षण तथा बंधन प्रकार भी कहते हैं ॥

तत्रसत्त्वंनिर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेनबध्नाति ज्ञानसंगेनचाऽनघ ! ॥ ६ ॥

अर्थ–हे (अनघ) पाप रहित अर्जुन! (तत्र) उन तीनों गुणों में से (सत्वम्) सतोगुण (निर्मलत्वात्) स्वच्छ होने के कारण स्फटिक मणि के समान (प्रकाशकम्) प्रकाश करने वाला (अनामयम्) निरुपद्रव अर्थात् शांत रूप है, अतएव वह शांत होने के कारण अपने कार्य (सुखसंगेन) सुख के संग द्वारा (च) और प्रकाशवान् होने के कारण (ज्ञानसंगेन) ज्ञान के संग द्वारा (बध्नाति) बंधन करता है । अर्थात् मैं सुखी तथा मैं ज्ञानी हूं, ऐसे२ जो मन के धर्म हैं, उनका अभिमान क्षेत्रज्ञ में उत्पन्न कर देताहै ॥

टीका– यद्यपि एक आत्माही प्रकाशक है, तथापि निर्मल होने के कारण जड़सत्वगुण को भी प्रकाशक कहा है। जैसे अग्नि की ज्योति मुख्य प्रकाशक है, परंतु तेलयुक्त बाती को प्रकाशक कहते हैं। और जैसे अग्नि के अंगार में उसका प्रकाश सही रहता है, परंतु उसके प्रकाश से घर और घरमें की वस्तुयें प्रकाशित नहीं होतीं, परंतु उसी अंगार को तेलकी बाती का संयोग होजाने पर सब घर में प्रकाश पड़ता है। उसीप्रकार शुद्ध चित्स्वरूप प्रकाशक सही है, तथापि बिना सत्व के संग के उस का प्रकाश नहीं पड़ता, अतएव इस योग से सत्व को प्रकाशक कहा है। रज तथा तम में निर्मलता नहीं है, अतएव सत्व ही को प्रकाश कहा है। अंधेरे में आंख हाथ, नाक पांव इत्यादि नहीं दीखते, परंतु दिया जलाने सें उन्हीं आंखों के द्वारा हाथ पांव दीखने लगते हैं। जैसे दिया के उजेले में आंखें और सब अवयवों को देख सकती हैं, परन्तु अवयव एक दूसरे को नहीं देख सकते, यद्यपि ये सब दिया के उजेले से ही प्रकाशित होते हैं। तथापि आंखें देख सकती हैं, अन्य अवयव नहीं देख सक्के। इसी प्रकार चैतन्य तीनों गुणों को प्रकाशित करता है, परन्तु रज और तम को उसका बोध नहीं होता, केवल सत्व को होता है। जैसे

दिया के उजेले में आंखें दिया को तथा अन्य पदार्थों को देखती हैं, उसी प्रकार चित्प्रकाश से सत्व चैतन्य को तथा अन्य जड़ पदार्थों को देखता है, यह उसकी निर्मलता का विशेष गुण है ॥

यह सत्व अनामय है, क्योंकि उसपर अविद्या का आवरण न होने के कारण वह रज तम के दोषों से दूर रहता है। सर्व जड़ जगत् चिन्मय देखता है, इस का स्पष्ट वर्णन अध्याय २ के श्लोक ४५ "त्रैगुण्यविषया वेदाः" की टीका में किया है, जहां "नित्यसत्व" की व्याख्या की है ॥

उत्तरार्द्ध में कहा है कि यह शुद्धसत्व भी सुख संग से तथा ज्ञान संग से बंधन करने वाला हो जाता है। "सुख संग" से विषय सुख संग नहीं हो सकते क्योंकि विषय सुख रज तम का धर्म है। और यह प्रसंग केवल सत्व का है, नित्य सुख तथा अनित्य सुख का विचार न करके केवल यही इच्छा करना कि हमें सुख हो और दुःख न हो इसी को यहां सुख संग कहा है। आत्मा ही सुख है और वही सब को प्रिय होता है, परन्तु अविद्या के योग से यह सुखापेक्षा बन्धक होजाती है। यह सत्ववृत्ति सबमें होती है, परंतु विषय वासना से ढंपी रहती है, नित्य सुख समझने पर यह ऐसी सुखापेक्षा नहीं रहती जब सत्व जड़ है तो उसे सुखापेक्षा होती भी कैसे है इस का समाधान यह है कि जैसे लोहा चुंबक के समीप होने से सचेतन हो जाता है, वैसे देह में चैतन्य के समीप रहने से सत्व भी सचेतन होकर अपने अज्ञान से सुख की इच्छा करने लगता है। मादक पदार्थ अचेतन है, परंतु सचेतन मनुष्य ने उसका सेवन किया कि वह सचेतन हो जाता है, यह दोनों के संयोग का कारण है। ज्ञान संग का वर्णन यह है कि जैसे अलंकार में सुवर्ण रहता है तैसे जड़ में ज्ञान स्वरूप ब्रह्म है, जो उसे ज्ञान दृष्टि से देखते हैं, वे मुक्त होते हैं। परन्तु जिन के चित्त अविद्या से ढंपे हैं, उन का-

यह चित्स्वरूप सुवर्ण जड़ रूपी अलंकार में नहीं दीखता, किन्तु सब विषय विषय रूप ही दीखते हैं। इसी विषय ज्ञान के संग से सत्व रूपी जीव बद्ध होता है, यह ज्ञान भी सत्व प्रकाश से होता है अतएव यह ज्ञान संग से सत्व जीव को बद्ध करता, है ऐसा कहा है ॥

अब आगे रजोगुण के लक्षण भी बंधक होते सो कहते हैं ॥

रजोरागात्मकंविद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नातिकौन्तेय ! कर्मसंगेनदेहिनम् ॥७॥

अर्थ-(कौन्तेय) हे अर्जुन ! (रजः) रजो गुण को (रागात्मकम्) अनुरंजन अर्थात प्रीति रूप (विद्धि) जान, यानी जब स्त्री मित्रादि के बीच में स्नेह होकर मन रंजन होता है वह रागात्मक रजोगुण का लक्षण है और उसी से (तृष्णासङ्गसमुद्भवम्) जो वस्तु न मिली हो उस की इच्छा, प्राप्त वस्तु में विशेष प्रीति नाम आसक्ति उत्पन्न होती है ये सब रजोगुण के धर्म हैं, यह रजोगुण (देहिनम्) जीव को (कर्मसंगेन) दृष्ट अदृष्ट अर्थों के निमित्त कर्म करने की आसक्ति उत्पन्न करके (निबध्नाति) बंधन में डाल देता है। अर्थात् तृष्णा सम्बन्धी संग से ही कर्मों में और उन के फलों में आसक्ति होती है। इच्छित विषयों की प्राप्ति होने के हेतु रजोगुण ही कर्म करवाता है क्योंकि वह स्वयं विषय प्रीति स्वरूप है ॥

आगे तमोगुण के लक्षण भी बंधक बताते हैं ॥

तमस्त्वज्ञानजंविद्धि मोहनंसर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नातिभारत !॥ ८॥

अर्थ-हे (भारत) अर्जुन ! (तु) और आवरण शक्ति प्रधान होने के कारण (तमः) तमो गुण को (अज्ञानजम्) अज्ञान से उत्पन्न हुआ अर्थात् प्रकृति के अंश से उत्पन्न (विद्धि) जान, वह (सर्व देहिनाम्) सब देह धारियों को (मोहनम्) भ्रान्ति कराने वाला है और इसी कारण (तत्) वह (प्रमा-

दालस्यनिद्राभिः) प्रमाद, आलस्य, निद्रा के द्वारा सब देह धारियों को (निबध्नाति) बंधन में डालता है ज्ञान के सन्मुख नहीं होने देता है ॥

टीका—रजो गुण में भी अज्ञान होता है, और उसी से तमोगुण उत्पन्न होता है, यह सत्य है कि तमो गुण से सब विषयों की उत्पत्ति होती है। तथापि रजोगुणात्मक इन्द्रियों की सहायता के बिना वे विषय कुछ भी नहीं कर सकते अर्थात् जब इन्द्रियों का तथा विषयों का संयोग होता है तभी मोह उत्पन्न होगा। अब देखो तो मन, चित्त, बुद्धि ये सत्वात्मक हैं और इन की सहायता के बिना इन्द्रियों को दृश्य विषयों का पता नहीं लगता। इन सब एक दूसरे का ऐसा संबंध होने पर भी भगवान् ने इस श्लोक में जो यह कहा है कि केवल रजोगुण अज्ञान रूप है और उस से तमो गुण उत्पन्न हुआ है, इस से बड़ा पेचीला दीखता है, इसकी सफ़ाई दृष्टांत द्वारा करना अवश्य है। जैसे रस्सी में मिथ्या सर्प दीखता है, वैसे ही ब्रह्म में विषय दीखते हैं, परंतु चैतन्य रूप रस्सी के बिना विषय रूप सर्प का भास नहीं होता रस्सी को दृष्टि स्पर्श करती है, परन्तु जब तांई इस दृष्टि में भ्रम नहो तब तांई सर्प नहीं भासता। यह भ्रम रस्सी के अज्ञान से उत्पन्न होता है, सर्व विषय और भूत तामस हैं, और ये विषय तथा भूत रूप सर्प रजोगुणी इन्द्रिय रूप भ्रम को दीखते हैं। दृष्टि सत्वगुण है और यह सत्वरूप दृष्टि रस्सी रूप ब्रह्म, इन्द्रियरूपभ्रम, विषय रूप सर्प इन तीनों को स्पर्श करती रहती है। दृष्टि में रस्सी ही रहती है, दृष्टि भ्रम में भी वही रस्सी होती है, परंतु सर्प रूप में जो मिथ्या सर्प है, वही रस्सी दीखती है। एक वार दृष्टि को रस्सी जानपड़ी कि फिर उसे सर्प नहीं दीखता, क्योंकि वह दृष्टिभ्रम का कारण था, अर्थात दृष्टि भ्रम से ही रस्सी का अज्ञान होता है।

तो यह रस्सी ब्रह्म समझो, सत्य दृष्टि तथा इंद्रियां भ्रम और भासमान विश्व सर्प समझो। यह विश्व रूप इंद्रिय रूप दृष्टि भ्रम को दीखता है, अतएव यह सिद्ध हुआ कि तमोरूप विषय अज्ञान से उत्पन्न हुए और यह अज्ञानपन रजोगुण का है। दृष्टिरूप सत्व को भी अज्ञान लगता है, परंतु वह रजोगुणरूप से प्रगट होकर तमोगुण को उत्पन्न करता है। जब दृष्टि सच्ची रस्सी देखने लगती है तब भ्रम नहीं रहता, मिथ्या सर्प भी भास नहीं होता, इसी प्रकार सत्य ब्रह्म को जानकर विषय देखता है, तब इन्द्रियभ्रम नहीं रहता, विषयाभास भी नाहींसा होता है। दृष्टि का भ्रम नष्ट होने पर सर्प नहीं दीखता, परंतु सर्प रूप जो रस्सी थी वह भ्रम जानेपर भी बनी रहती है, इसी प्रकार जड़भ्रम का नाश हुआ कि दृश्य विषय जड़ भाव से नहीं भासते, तथापि भ्रम रहते समय सत्य में जो ब्रह्म भासता था, वह भ्रम नाश होने पर भी भासमान रहता है। अतएव ऐसा कहा है कि सत्व जुदा है, रज अज्ञान है और उसी से दृश्यरूप तमस् उत्पन्न हुआ है। यह तमोगुण देहधारी चिदंश को मोह उत्पन्न करता है, यह मोह बुद्धि को होता है, और उसी से उसके प्रतिबिंब चिदंश को भी होता है। सैकड़ों मुर्दे देखने पर भी अपने देहाभिमान के कारण यही कहते हैं कि यह देह हम हैं, उसमें और उसके संबंधियों में प्रीति करते हैं। इसी प्रकार हम विषयों में भी प्रीति करते हैं, यह देह और विषय तमोगुणरूप हैं, और यही मोह अर्थात् अविवेक उत्पन्न करते हैं। अपने हित में सावधान न रहने को प्रमाद कहते हैं, और सावधान रहने पर भी अपना हिताचरण न करने को आलस्य कहते हैं। चित्त के लय को निद्रा कहते हैं, ये तीनों मोह के लक्षण हैं, और इन्हीं के बल से तमोगुण जीव को बद्ध करता है॥

अब आगे कहते हैं कि सत्वादिगुण भी अपने २ कार्यों के करने की सामर्थ्य रखते हैं॥

सत्त्वंसुखेसंजयति रजःकर्मणिभारत !।
ज्ञानमावृत्यतुतमः प्रमादेसंजयत्युत ॥ ९ ॥

अर्थ-हे (भारत) अर्जुन ! (सुखे) सुख में (सत्वम्) सतोगुण (संजयति) आसक्त करता लगाता है अर्थात् दुःख शोकादि के कारण होने पर भी य ; सतोगुण देहधारी को सुख की ओर झुकाता है और सुखादि के कारण होने पर भी (रजः ; रजोगुण मनुष्यों को (कर्मणि) कर्मों में प्रवृत्त करता है (तमः)तमोगुण महत्जनों के सत्संग से प्राप्त हुए (ज्ञानम्) ज्ञान को भी (आवृत्य) आच्छादन अर्थात् ढांप करके (प्रमादे) प्रमाद में (संजयति) लगा देता है अर्थात जो उपदेश महत्जनों ने किया हो उसका भी ध्यान चित्त से उठा देता है (उत) बल्कि आलस्यादि में भी प्रवृत्त कर देता है॥

टीका-सुख संभोग के समय न तो कर्म की याद आती है, और न आलस्य वा निद्रा आते हैं अर्थात् उस समय रज और तम निर्बल रहते हैं, केवल सत्वगुण ही प्रबल रहता है। सुख दो प्रकार का है १ विषय रूप २ निर्विषय, विषयरूप सुख सत्व से मिश्रित होता है, क्योंकि उसे भोगते समय रजोरूप इंद्रिया तथा तमोरूप विषय वर्तमान होते हैं। और वही उस सुख के भोगने में उपयोगी दीखते हैं, परन्तु उन के जो कार्य हैं अर्थात् कर्म और निद्रा आलस्यादि हैं इन में प्रवृत्ति नहीं रहती ॥

निर्विषय सुख शुद्धसत्व से होता है, उसको भोगते समय रजोरूप इंद्रियों और तमोरूप विषयों का पता ही नहीं रहता,कारण यह कि उस समय चित्त चिन्मय होकर केवल आत्मा में मग्न रहता है। जिस समय यह सत्व सर्व विश्व को भगवद् रूप देखता है, तब रज तम के जड़त्व को भूलकर केवल चैतन्य को देखता है, अर्थात् दोनों प्रकार के सुख भोगते समय सत्व बलवान् रहता है ॥

कर्म में रजोगुण प्रधान होकर सत्व और तम शिथिल हो जाते हैं। जैसे कोई वकील अपने घर में आराम करता हो उसे कोई पक्षकार मुकद्दमा में बहुत पैसा देने कहे, तो वकील अपना सब सुख त्याग के उठ धावेगा, क्योंकि रजोगुण का झपाटा ऐसा ही होता है। उस समय सुख का त्याग होगा, आलस्य और निद्रा भाग जावेगी, परन्तु जब प्रमाद, आलस्य तथा निद्रा का ज़ोर होता है, तब इस सुख की अपेक्षा नहीं रहती, कर्म की भी इच्छा नहीं होती प्रमाद में तमोगुण ज्ञान को ढांप देता है। क्योंकि जब मनुष्य असावधान हुआ तब उसे विक्षेप और लय आघेरते हैं, फिर ज्ञानजी आपही विदा मांगलेते हैं। इस प्रकार सर्व काल में एक गुण प्रबल रहता है, बाकी के दोगुण शिथिल रहते हैं, इसका कारण आगे कहते हैं॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्वंभवतिभारत !।
रजःसत्वंतमश्चैव तमःसत्वंरजस्तथा ॥ १० ॥

अर्थ—हे (भारत) अर्जुन! (रजः) रजोगुण को (च) और (तमः) तमोगुण को (अभिभूय) तिरस्कार करके अर्थात् दबा के (सत्वम्) सतोगुण (भवति) अदृष्टसा होकर उत्पन्न होजाता है और अपने कार्य सुखादि की वृद्धि करता है, इसी प्रकार (रजः) रजोगुण (सत्वं चैव, तमः) सतोगुण तथा तमोगुण को दबाकर आप प्रबल होता और अपने कार्य तृष्णा संगादि की वृद्धि करता है (तथा) उसी प्रकार (तमः) तमोगुण (सत्वं,रजः) सत्व को तथा रज को दबाकर अपने कार्य प्रमाद आलस्यादि को पुष्ट करता है॥

टीका--शास्त्राभ्यास संतों के संग से सत्व प्रबल होता और रज तम को दबादेता है, सत्व प्रबल होने से मुक्ति की इच्छा उत्पन्न होती और शांति आती है। जब यह निश्चय हुआ कि विषय भोगही सर्व पुरुषार्थ है, धनमानादि परम अर्थ हैं, तो

फिर उस समय सुषुप्ता और शान्ति का ठिकाना कहां, इस प्रसंग में निद्रा आलस्य और प्रमाद भी पलायन करजाते हैं। इसी प्रकार तमोगुण प्रबल हुआ कि बाकीके दोगुणों को दबा करडालता है। इस प्रकार तीनों गुणों की लड़ाई परस्पर सदैव चली जाती है॥

अब आगे ३ श्लोकों में सत्वादि गुणों की वृद्धि होनेके लक्षण कहते हैं॥

सर्वद्वारेषुदेहेऽस्मिन्प्रकाशउपजायते।
ज्ञानंयदातदाविद्याद्विवृद्धंसत्वमित्युत॥११

अर्थ- (अस्मिन् देहे) इस देह में जो आत्मा का भोगस्थान है (यदा) जिस समय श्रोत्रादि (सर्वद्वारेषु) सब द्वारों में (ज्ञानम्) शब्दादि ज्ञानात्मक का (प्रकाशः) प्रकाश (उप-जायते) उत्पन्न होजाता है (तदा) तब (इति) ऐसा (विद्यात्) जानना चाहिये कि (सत्वम्) सतोगुण की (विवृद्धम्) वृद्धि हुई है (उत) और सुखादि लक्षणोंकी वृद्धि भी जानना चाहिये॥

टीका--निर्मल होने के कारण सत्व प्रकाशक है, वास्तविक में प्रकाश चैतन्य ही का होता है, तथापि सत्व के द्वारा वह दीखने में आता है। जब रज, तम, इस सत्व से प्रबल होजाते हैं, तब मन कर्मों भोग में आलस्य और निद्रा में लीन होकर असावधान हो जाता तथा विषय वृत्ति का ज्ञान नष्ट होजाता है। परंतु जब रज तम की विशेष प्रबलता नहीं होती, तब पुरुष को इंद्रियों का ज्ञान होता है, और वे इंद्रियां अपने२ विषय सेवन को तैयार रहती हैं। जब ऐसा प्रकाश सब इंद्रियों में दीखे तब समझना कि सत्व की वृद्धि हुई, यह लक्षण मिश्र सत्व की वृद्धि का है, परंतु जब यह चित्त आत्मबोध किंवा सर्वात्मबोध में लीन होता है, तब केवल शुद्ध सत्व रहता है, और अभ्यास से जैसी २ जड़ की भ्रांति कम होती जाती है तैसा२ शुद्ध सत्व बढ़ता जाता है॥

लोभःप्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमःस्पृहा ।
रजस्येतानिजायन्ते विवृद्धेभरतर्षभ ! ॥ १२॥

अर्थ–हे (भरतर्षभ) अर्जुन! (रजसि विवृद्धे) रजोगुण की वृद्धि होने पर (लोभः) धनादि की प्राप्ति में फिर २ से अभिलाष बढ़ना (कर्मणाम्) कर्मों में (प्रवृत्तिः) नित्यनई प्रवृत्ति होना कर्मोंका (आरंभः) प्रारंभ अर्थात बड़े २ घरों इत्यादि को बनाने का उद्यम और एक पूरा नहीं हुआ कि दूसरे का प्रारंभ करदेना (अशमः) अशांति अर्थात् ऐसे २ संकल्प विकल्प करते रहना कि इस कामको करके हम वह काम करेंगे (स्पृहा) ऊंच नीच जो वस्तु दृष्टि मात्र में आवे उसकी इच्छा करके यहां वहां दौड़ना (एतानि) ये सब लक्षण (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं अर्थात जब रजोगुण बढ़ता है तब मनमें लोभ उत्पन्न होता है, उसके वश में मनुष्य भले बुरे कर्म करने को तैयार होता, तथा करने भी लगता है तब उसका चित्त व्यग्र होकर उसे शांति नहीं रहती और सदा उसका मन इधर उधर तड़फता रहता है ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादोमोहएवच ।
तमस्येतानिजायन्ते विवृद्धेकुरुनन्दन ! ॥१३॥

अर्थ–हे (कुरुनन्दन) अर्जुन! (अप्रकाशः) विवेकका नाश (च) और (अप्रवृत्तिः) कोई उद्यम न करना (प्रमादः) कर्तव्य कर्म में असावधानी (एवच) और (मोहः) विचार शून्यता (एतानि) ये सब लक्षण (तमसि विवृद्धे) तमोगुण के बढ़ने पर (जायन्ते) प्रगट होते हैं अर्थात् जब ये सब लक्षण होवें तब जानना कि तमोगुण प्रबल हुआ, उस समय मनुष्य ऐसे २ कर्म करने लगता है कि उनका नतो इस लोक में और न परलोकमें फल हो ॥

अब आगे दो श्लोकों में मरण समय में सत्वादि की वृद्धि होनेके फल कहते हैं ॥

यदासत्वेप्रवृद्धेतु प्रलयंयातिदेहभृत् ।
तदोत्तमविदांल्लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

अर्थ-(यदा) जिस समय (सत्वे प्रवृद्धेतु) सत्व की वृद्धि होने पर (देहभृत्) यह देहधारी जीव (प्रलयं याति) मृत्यु को प्राप्त होजाता है (तदा) तब (उत्तमविदाम्) हिरण्यगर्भादिकी उपासना करने वालों के जो (अमलान्) प्रकाशमयउत्तम (लोकान्) लोक हैं अर्थात् सत्य लोकादि उन को (प्रतिपद्यते) प्राप्त होता है ॥

टीका-अध्याय ८ में कह आये हैं कि ज्ञान पाकर योगाभ्यास न करके जो अपक्व ज्ञानी हठ योग का आश्रय करते हैं, वे ब्रह्मरंध्र को भेद करके सत्यलोक को जाते हैं, और वे "उत्तमविद्"अर्थात् तत्वज्ञान जानने के कारण वहां से फिर नहीं लौटते परंतु ज्ञानहीन पुरुष सत्ववृद्धि होने पर भी मरैं तो सत्यलोक को जाते सही हैं परंतु वहां से फिर लौटना पड़ता है ॥

रजसिप्रलयंगत्वा कर्मसंगिषुजायते ।
तथाप्रलीनस्तमसिमूढयोनिषुजायते ॥१५॥

अर्थ-(रजसि) रजोगुण की वृद्धि होने पर (प्रलयं गत्वा) मृत्यु होने से वह देहधारी (कर्मसंगिषु) कर्म में आसक्ति रखने वालों के बीच में (जायते) जन्म पाता है (तथा) उसी प्रकार (तमसि) तमोगुण की प्रबलता होने पर (प्रलीनः) मृत्यु होनेसे वह जीव (मूढयोनिषु) मूढ अर्थात् पशु आदि की योनियों में (जायते) जन्म पाता है ॥

सत्वादि गुणों के अनुसार कर्म करने पर जिस हेतुसे फल विचित्र होते हैं वह हेतु आगे कहते हैं ॥

कर्मणःसुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलंफलम् ।
रजसस्तुफलंदुःखमज्ञानं तमसःफलम् ॥ १६

अर्थ-(सुकृतस्य) सात्विकपुण्य (कर्मणः) कर्मका (फलम्) फल (सात्विकम्) सत्व प्रधान बहुत (निर्मलम्) प्रकाश-

वान् होता है ऐसा कपिल मुनि आदि ने (आहुः) कहा है (तु) परंतु (रजसः) रजोगुणी कर्मका (फलम्) फल (दुःखम्) दुःख कहा है क्योंकि उस में प्रकृति होसे कर्म फल का कथन है और (तमसः) तमोगुणी कर्मका (फलम्) फल (अज्ञानम्) अज्ञानता अर्थात् मूढ़ता है। कोई २ इन गुणों के फल बढ़ाते हैं और किसी २ के पिछले जन्म के सतोगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी कर्म के फल दीखते हैं ॥

टीका—सात्विकादि कर्म के लक्षण और भी अध्याय १८ श्लोक २३, २४, २५, में कहेंगे। जो सतोगुण युक्त कर्म किये जाते हैं उन्हीं का नाम "सुकृत" है, उनका फल भी निर्मल सात्विक सुख होता है। जहां रज तम फल नहीं वह निर्मल परब्रह्मही है, और सात्विक कर्मका फल उसी की प्राप्ति है। रजोगुण का फल दोप्रकार का है १ इस लोक का २ परलोक का, काम्यकर्म करने पर जो स्वर्ग का सुख मिलता है, वह दुःख ही है, यह बात "तु" शब्द से सुझाई है। जहां सुख तहां दुःख है ही, सर्व नश्वर फलोंके आदि, मध्य अंतमें दुःख रहता है, क्योंकि कर्म करते समय यह चिंता तथा धोखा बनारहता है कि वह सिद्ध होगा या नहीं। कर्मफल प्राप्त होजाने पर उसके नाश होने का डर लगा रहता है और नाश हो जाने पर तो दुःख सामने खड़ाही है। यह स्वर्ग सुखका मार्ग हुआ तो फिर इस लोक के सुख की अब बातही क्या कहना है, इसी भाव से रजोगुण का फल दुःख कहा है, तमोगुण का फल अज्ञान है अर्थात् मनुष्य जन्म पाकर भी तमोगुणी मनुष्य पशु के समान विचार शून्य रहता है ॥

इन विभिन्न फलों का भी हेतु आगे कहते हैं ॥

सत्वात्संजायतेज्ञानं रजसोलोभएवच ।
प्रमादमोहौतमसो भवतोऽज्ञानमेवच ॥ १७

अर्थ-(सत्वात्) सतोगुण से (ज्ञानम्) ज्ञान अर्थात् वेद तात्पर्यनिश्चय (संजायते) उत्पन्न होता है, अतएव सात्विक

कर्मों का फल बहुत प्रकाश युक्त होता है (एवच) और (रजसः) रजोगुण से (लोभः) लोभ उत्पन्न होता है जो दुःख का हेतु है, अतएव उसके पूर्व में जो कर्म किये जावें उनका फल दुःख ही होता है। तथा (तमसः) तमोगुणसे (प्रमाद मोहौ) असावधानी तथा मोह (एवच) और (अज्ञानम्) अज्ञान (भवतः) उत्पन्न होते हैं। अतएव तामसी कर्मका फल केवल प्रमाद मोह और अज्ञान से भरा रहता है यह निश्चय है ॥

टीका—निष्काम कर्म ईश्वर को अर्पण कर देने से सात्विक कर्म होजाते हैं, और ऐसे कर्मों का फल ज्ञान है। राजस कर्मों का फल लोभ है, और राजस कर्म करने वाला संत संगति से सुधर सकता है क्योंकि उसके अंग में सावधानता रहती है। परंतु तामस कर्म करने वाला अति निकृष्ट है, क्योंकि वह असावधान रहता है, और विवेक हीन होने के कारण उसको विषय ध्यान बना रहता है। अतएव उसको ज्ञानप्राप्त करने की इच्छा तक नहीं रहती ॥

अब आगे सत्वादि वृत्तिवाले मनुष्यों को जो भिन्न २ फल मिलते हैं सो कहते हैं ॥

ऊर्द्ध्वंगच्छन्तिसत्वस्था मध्येतिष्ठन्तिराजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छन्तितामसाः १८

अर्थ-(सत्वस्थाः) जिन की प्रधानवृत्ति सतोगुणी है वे लोग (ऊर्द्ध्वं गच्छंति) ऊंचे लोक अर्थात जन, तप वा सत्य लोकादि को जाते हैं जहां सतोगुण प्रधान होने के कारण उत्तरोत्तर शतगुण आनंद दायक मनुष्य गंधर्व पितृ देवादि लोक सत्यलोक पर्यंत वर्तमान हैं (राजसाः) रजोगुणी लोग जो तृष्णादि से व्याकुल रहते हैं वे (मध्येतिष्ठन्ति) मध्यवर्ती मनुष्यलोक ही में रह जाते हैं और (तामसाः) तमोगुणी लोग जो (जघन्यगुणवृत्तिस्थाः) निकृष्ट तमोगुणी वृत्ति में स्थित रहते हैं अर्थात् प्रमादि मोहादि में लिप्त रहते हैं वे (अधोगच्छन्ति) अधमगति को प्राप्त होते हैं अर्थात तामिस्रादि नरकों में उत्पन्न होते हैं ॥

यहां तक प्रकृति और गुणों के संग से संसार प्रपंच बताकर त्रिगुणों की जुदी २ वृत्ति उनके प्रकार, फल तथा उन से प्राप्त होने वाली गति का वर्णन किया, अब आगे कहते हैं कि इनके व्यतिरिक्त अपना आत्मापन कैसे देखना तथा मोक्ष कैसे प्राप्त करना चाहिये ॥

नान्यंगुणेभ्यःकर्त्तारं यदाद्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्चपरंवेत्ति मद्भावंसोऽधिगच्छति ॥ १९॥

अर्थ–(यदा) जिस समय (द्रष्टा) विवेकी होकर बुद्धि आदि को फिराने वाले (गुणेभ्यः) गुणों के सिवाय (अन्यं कर्त्तारम्) और कोई दूसरा कर्त्ता (न अनुपश्यति) नहीं देखता किन्तु यही समझ लेता है कि गुण ही सब कर्म करते हैं, तब वह (गुणेभ्यः) गुणों के (च) भी (परम्) परे जो उनका साक्षिरूप आत्मा है उसको (वेत्ति) जान लेता है और तभी (सः) वह (मद्भावम्) मेरे भाव अर्थात् ब्रह्मत्व तथा सगुण मोक्ष को (अधिगच्छति) प्राप्त होता है, अर्थात् ऐसा ज्ञानी देह धरे पर्यंत गुणातीत रहता है। और फिर त्रिगुणों के सर्व अनर्थों से दूर होकर मरने पर कृतार्थ होता है और भगवत् साधर्म्य को प्राप्त करता है ॥

गुणानेतानतीत्यत्रीन्देहीदेहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अर्थ–(देहसमुद्भवान्) देहसे उत्पन्न हुए (एतान्) इन (त्रीन्) तीनों (गुणान्) गुणोंको (अतीत्य) उल्लंघन करके यह (देही) देहधारी जीव उन गुणोंके कार्य यानी (जन्ममृत्युजरादुःखैः) जन्म, मरण, बुढ़ापे के दुःखों से (विमुक्तः) मुक्त हुआ (अमृतम्) परमानन्द रूप मोक्ष सुखका (अश्नुते) भोग करता है।

टीका–"देहसमुद्भवान्" इस पद का अर्थ देहसे उत्पन्न हुए त्रिगुण ऐसा होता है, परंतु वास्तविक में त्रिगुण से देह उत्पन्न होती है, तो यहां देह से उत्पन्न त्रिगुण क्यों कहा है। इसका

समाधान ऐसा है कि जैसे बीजसे वृक्ष उत्पन्न होकर फिर उसी वृक्ष से आगे होनेवाले वृक्ष का बीज उत्पन्न होता है, वैसे ही त्रिगुण से देह उत्पन्न होती है, उसी देहसे अहंकार युक्त होने के कारण फिर से जन्म देने वाले त्रिगुणात्मक कर्म उत्पन्न होते हैं। इन में से ज्ञानी के संचित कर्मों का नाश होकर प्रारब्ध कर्म देह रहे पर्यन्त बने रहते हैं, अतएव उसको प्रारब्धभोग भोगना पड़ते हैं। यह प्रारब्ध भोग त्रिगुणात्मक होता है, और वह इसी देह में उत्पन्न होता है, अतएव उस भोग को ही त्रिगुण कहा है। इस प्रारब्ध भोग रूपी त्रिगुण को उल्लंघन करने पर अर्थात् देहत्याग करने पर ज्ञानी मोक्ष पाता है, इस श्लोक का यही भाव है। प्रारब्ध भोगते समय ज्ञानी को भी अहंकार उत्पन्न होता है, परंतु उस अहंकार को भी वह साक्षिरूप से देखता है। मैं आत्मा हूं ऐसा साक्षिपन बुद्धिसे होता है, और भोग काल में यह बुद्धि भी अहंकार युक्त होती है, तो फिर ऐसे समय में बुद्धि कैसे साक्षी रह सक्ती है! इसके समाधान के वास्ते नीचे उदाहरण देते हैं॥

"मैं निः शब्द हूं" यह वाक्य जीभ का चलाने वाला जीभ ही के द्वारा बोलता है, क्योंकि बिना जीभ के तो बोलनाही नहीं हो सक्ता, किंतु अपन को जो बोलना होता है वह उसी जीभ के योग से बोलते हैं। उसी प्रकार यद्यपि बुद्धि की सहायता विना भोग होनहीं सक्ता, तथापि भोग कालमें उसी बुद्धिके द्वारा स्वयं अपने अकर्तापन देख सक्ता है

इन तीनों गुणों को अतिक्रमण करके ज्ञानी लोग मोक्ष पाते हैं, यह सुनकर अर्जुन को यह बात जानने की इच्छा हुई कि गुणातीत के लक्षण तथा आचार क्या हैं और उन गुणों के पार हो जाने के उपाय क्या हैं, अतएव आगे प्रश्न करता है॥

अर्जुन उवाच॥

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतोभवतिप्रभो!।
किमाचारःकथंचैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥२१॥

अर्थ-हे (प्रभो) श्रीकृष्ण ! यह देही प्रत्येक गुण के कौन २ लक्षण समझकर अपने (कैः लिंगैः) किस प्रकार के आत्म चिन्हों के द्वारा (एतान् त्रीन् गुणान्) इन तीनों गुणों को (अतीतो भवति) अतिक्रमण अर्थात् पारकर सक्ता है, उस देही के (किम्,आचारः) आचार अर्थात् बर्ताव क्या है (च) और (एतान् त्रीन् गुणान्) इन तीनों गुणों को (कथम्) किस उपाय से (अतिवर्तते)अतिक्रमण अर्थात् पार करता है॥

टीका-अध्याय २ के श्लोक ५४ "स्थितप्रज्ञस्य का भाषा" इत्यादि में जो प्रश्न अर्जुन कर चुका था, उसका उत्तर जो भगवान् देचुके थे, उन्हीं को फिर से स्पष्ट रीति से जानने की इच्छा करके अर्जुन ने यह प्रश्न यहां किया है। ऐसा जानकर श्री श्रीमहाराज उसी "स्थितप्रज्ञ" के लक्षण और आचारादिक दूसरे प्रकार से आगे के ७ श्लोकों में वर्णन करते हैं॥

श्रीभगवानुवाच ॥

प्रकाशंचप्रवृत्तिंच मोहमेवचपाण्डव ।
नद्वेष्टिसंप्रवृत्तानि ननिवृत्तानिकाङ्क्षति ॥२२॥

अर्थ-हे (पाण्डव) अर्जुन ! वे लक्षण ये हैं (प्रकाशं च) प्रकाश जो श्लोक ११ "सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाशउपजायते" में सत्व का कार्य कहा है (च) और (प्रवृत्तिम्) प्रवृत्ति जो रजोगुण का कार्य है (एवच) और (मोहम्) मोह जो तमोगुण का कार्य है, ये तीनों लक्षण सत्वादि गुणों के ही कार्य हैं। और अपने २ कारणों के संयोग से आप ही प्रवृत्त होते हैं, सो "वह स्थितप्रज्ञ" (संप्रवृत्तानि) इन के प्रवृत्त होने पर इन से दुःख बुद्धि राख के (न द्वेष्टि) द्वेष नहीं करता और उन के (निवृत्तानि) निवृत्त हो जाने पर उनसे सुख विचार कर उन की फिर से (न कांक्षति) इच्छा नहीं करता उसी का नाम "गुणातीत" है अर्थात् उसको सब ही गुणों में उदासीनता बनी रहती है॥

टीका-सतोगुण इन्द्रियों को तथा विषयों को प्रकाशित

करता है, अतएव उस का लक्षण प्रकाश है । रजोगुण कर्म में प्रवृत्त करता है, अतएव उसका लक्षण प्रवृत्ति कहा है। और तमोगुण से मोह अर्थात् अविवेक होता है, ज्ञानी को केवल प्रारब्ध भोग के समय गुणों से संबंध रहता है, और उस प्रसंग में वह यही समझता रहता है कि इन्द्रिय और विषयों को सत्व ही प्रकाश करता है, अतएव भोग करने वाला चिदंश है, और अपन उस सत्व के साक्षीमात्र हैं। इस रीति से वह सत्व का अतिक्रमण करता है, भोग समय में इंद्रियां विषयों का भोग करती हैं, तब वह अपन को अकर्त्ता समुझकर इंद्रियों के कर्मों का साक्षी रहता है। इस रीति से वह रजोगुण का अतिक्रमण करता है। "मैं सुखी वा मैं दुःखी" ऐसा कहने से उसे मोह उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वह अपने को चित्स्वरूप आत्मा समुझता रहता है। और उसे यह भी खातिरी रहती है कि भोग चिदंश को होता है। इस रीति से वह तमोगुण का अतिक्रमण करता है। वह प्रवृत्ति कर्म से द्वेष नहीं करता और निवृत्ति कर्मकी इच्छा नहीं करता, अर्थात् प्रारब्ध भोगते समय वह भी अन्य लोगों के समान प्रवृत्ति कर्म करता है, और मुझ विरक्त को भी ऐसा कर्म करना पड़ता है ऐसा विचार के उस कर्म से द्वेष नहीं मानता, तथा उसे यह भी इच्छा नहीं होती कि निवृत्ति मार्ग का कर्म मुझ से बनजावे। वह सर्वदा निर्विकार रहता है, अतएव वास्तविक में कुछ भी नहीं करता ॥

यहां तक गुणातीत के लक्षण हुए जो अर्जुन का पहिला प्रश्न था। अब आगे तीन श्लोकों में "किमाचारः" इस दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्योनविचाल्यते ।

गुणावर्तन्तइत्येव योऽवतिष्ठतिनेङ्गते ॥२३ ॥
समदुःखसुखःस्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियोधीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।२४।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्योमित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतःसउच्यते ॥२५॥

अर्थ- (यः) जो ज्ञानी (उदासीनवत्) उदासीन के समान केवल साक्षीरूप होकर (आसीनः) स्थित तथा स्वस्थ रहता है (गुणैः) गुणों के कार्य जो सुख दुःखादि हैं उन के द्वारा यानी उनके वशी भूत होकर (न विचाल्यते) स्वस्वरूप से चलायमान नहीं होता किंतु (इति एव) ऐसाही समझता है कि (गुणाः) तीनों गुण अपने२ कार्यों में (वर्तन्ते) वर्तते रहते हैं, इनसे मेरा कोई संबंध नहीं है ऐसे विवेक ज्ञान से (यः) जो (अवतिष्ठति) चुप वा स्वस्थ बैठा रहता है और (नेङ्गते) चलायमान नहीं होता यही गुणातीत है ॥ २३ ॥

तथ जो (समदुःखसुखः) दुःख सुख एक समान रहते हैं क्योंकि वह (स्वस्थः) आत्मस्वरूप में ही स्थिर रहता है अतएव (समलोष्टाश्मकाञ्चनः) माटीके ढेले, पत्थर, सोना सब को एक समान समझता है, वह (तुल्यप्रियाप्रियः) प्रिय और अप्रिय पदार्थों को जो सुख दुःख के हेतु हैं एक समान मानता है तथा वह (धीरः)धैर्यवान् होता है, और(तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः) अपनी निंदा अपनी स्तुति को एकसी जानता है ॥ २४ ॥ वही गुणातीत कहा जाता है ॥

जो (मानापमानयोः) मान वा अपमान को (तुल्यः) एकसा मानता है (मित्रारिपक्षयोः) मित्र के पक्षमें तथा शत्रु के पक्षमें (तुल्यः) एकसा रहता है और जो (सर्वारंभपरित्यागी) इष्ट अदृष्ट सब प्रकार के अर्थों के उद्यमों को

त्याग देता है, इस प्रकार के आचारवाला जो पुरुष है (सः) वही (गुणातीतः) त्रिगुणों के पार हुआ यानी उन का जीतने वाला (उच्यते) कहा जाता है ॥

टीका—जड़ चैतन्य के संयोग से अहंकार उत्पन्न होता है, उससे ममता उत्पन्न होती है, परंतु यह ज्ञानी सर्व विश्व को चैतन्य मय देखता है । अतएव उसमें ममता का लेशमात्र नहीं रहता, इसी कारण वह उदासीन के समान एक किनारे पर बैठकर देखता है कि गुण अपने २ कार्य करते हैं, उनसे अपना कोई संबंध नहीं ॥

भोग से प्रारब्ध का क्षय होता है, अतएव वह किसी भी प्रकार से भोगना पड़ता है, ज्ञानी मनुष्य ऐसा समझकर उसके संबंध में सुख दुःख नहीं मानता ये सुख दुःख ज्ञानी को भी मालूम पड़े बिना नहीं रहते, तथापि वह सुखमें हर्ष नहीं मानता तथा दुःखमें घबराता नहीं, अतएव उसे "धीर" कहा है। उसको सुख की इच्छा ही नहीं रहती, अतएव सुख साधन के पदार्थ जो कि सुवर्णादिक हैं, वे उसे माटी वा पत्थरके समान हैं। इसी कारण उसे प्रिय अप्रिय दोनों समान लगते हैं । वह समझता है कि प्रारब्ध भोग रहे तक यह देह रहता है, अतएव इस देह को स्वप्नवत् मान कर उसे निंदा, स्तुति, और मान अपमान एक समान लगते हैं । तो फिर ऐसे पुरुष को शत्रु मित्र भाव भी कहांसे रहसक्ता है, उसको किसी भी बातकी अपेक्षा नहीं रहती, अतएव कोई कर्म प्रारंभ करने की भी उसे आवश्यकता नहीं पड़ती, ऐसा वैराग्यशील ज्ञानी पुरुष गुणातीत कहा जाता है । सब कोई अवगुणों की निंदा करता है और वह देनेसे अवगुण दूरभी होजाता है । इस बात को इतिहास से स्पष्ट करते हैं ॥

इतिहास ॥

एक राजा ने एक दिन बहुत से ब्राह्मणों को जिमाया और

भोजन किये पीछे वे सब मरगये, इसका कारण यह था कि जो खीर ब्राह्मणों को परोसी गई, वह मैदान में बनी थी और एक चील अपने मुह में सर्प को दवाये आकाश में उड़ी थी, उस सर्प के मुखसे विष टपक कर उस खीरमें पड़गया था॥ परंतु यह बात किसी को मालूम न थी, नगर में यह चर्चा फैल गई कि राजा ने ब्राह्मणों को विष देके मारडाला। एक दुष्ट ने यह भी उड़ादिया कि राजा एक ब्राह्मण की स्त्री से प्रीति रखता है, उस ब्राह्मण को अकेला मारना योग्य न जान कर सब के साथ उसे भी विष देकर मारडाला। कई लोगों को इस बात पर विश्वास होगया, तब विचारा राजा इस अकृत अपराध से बड़ा लज्जित होकर वनमें चलागया। वहां आकाश वाणी हुई कि राजा का कुछ दोष नहीं है, चील के सर्प विष की सब कथा कही जो राजा ने वा उन दुष्ट निंदकों ने भी सुनी। तब वह ब्रह्महत्या परमेश्वर के पास गई और पूछा कि मैं कहां जाऊं, प्रभुने कहा कि जिन निंदकों ने राजा को वृथा कलंक लगाया, तथा जिन्हों ने यह निंदा कही या सुनी उन पर जाके सवार होजा। राजा अपने घर आया, हत्या निंदकों के मुख पर गई, जो किसी की बुराई कान लगाकर सुनते हैं, उनके भी मुखपर हत्या का वास रहता है। श्रीगोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है॥

हरि हर निंदा सुनहिं जे काना, होय पाप गोघात समाना॥

इन तीनों श्लोकों में कही हुई सर्वोत्कृष्ट स्थिति प्राप्त करने का उपाय अब आगे कहते हैं, उसीमें अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर भी देते हैं कि "कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते"॥

मांचयोऽव्यभिचारेण भक्तियोगेनसेवते।
सगुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयायकल्पते॥२६॥

अर्थ-(यः) जो कोई (मां च) मुझ परमेश्वर ही को (अव्यभिचारेण) एकांत (भक्तियोगेन) भक्ति योग के द्वारा

(सेवते) सेवन करता है (सः) वह (एतान् गुणान्) इन तीनों गुणों को (समतीत्य) सम्यक् प्रकार से अतिक्रमण करके अर्थात् जीत के (ब्रह्मभूयाय) ब्रह्म भाव अर्थात् मोक्ष पाने को (कल्पते) समर्थ होता है ॥

टीका—एक सगुण भगवंत ही विश्वरूप से प्रकाश होरहा है और वही सगुण भगवंत अपनी आत्मा है। ऐसा भाव रखकर जो भक्ति उपासना की जावे वही अव्यभिचारिणी भक्ति है। यहां "ब्रह्म" शब्द का अभिप्राय सगुण ब्रह्म का है, गुणों का अतिक्रमण होने पर निर्गुण ब्रह्म होता है। ऐसा निर्गुण ब्रह्म हो जाने पर फिर ब्रह्म होता है, तौ यह सिद्ध हुआ, कि यह ब्रह्म सगुण ब्रह्म के सिवाय कोई दूसरा नहीं इस का हेतु आगे के श्लोक में कहते हैं, यहां तक त्रिगुण का वर्णन तथा उन के जीतने का फल कहा। श्री ब्रजचंद्र महाराज का अवतार इसी समय के लोगों के उद्धार करने को हुआ है, जैसे इस समय के पाप वलवान् हैं तैसे ही श्रीकृष्ण महाराज पाप नाश करने में समर्थ हैं ॥

ब्रह्मणोहिप्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्यच।
शाश्वतस्यचधर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्यच ॥२७॥

अर्थ—(हि) क्योंकि (ब्रह्मणः) ब्रह्म की (अहम्) मैं (प्रतिष्ठा) प्रतिमा हूं अर्थात् जैसे एकत्र, सब घनीभूत प्रकाश का सूर्य मंडल है तैसे मैं घनीभूत ब्रह्म ही हूं तथा (अव्ययस्य) नित्य की (च) और (अमृतस्य) मोक्ष की प्रतिष्ठा अर्थात प्रतिमा मैं हूं क्योंकि मैं नित्य मुक्त हूं (च) तथा मोक्ष का साधन जो शाश्वत धर्म है उस (शाश्वतस्य धर्मस्य) सनातन धर्म की भी प्रतिष्ठा अर्थात प्रतिमा मैं हूं क्योंकि मैं शुद्ध सत्वात्मक हूं (च) और (एकांतिकस्य सुखस्य) अखंडित सुख की भी प्रतिष्ठा अर्थात् प्रतिमा मैं ही

हूं, क्योंकि परमानंद रूप हूं अतएव मेरे सेवक अवश्य ही मेरे भाव को प्राप्त होने के योग्य हैं। इसी कारण उन के हेतु कहा है कि "ब्रह्मभूयाय कल्पते"॥

टीका—सकाम तथा निष्काम कर्म के फल जो वेद कहते हैं, वे सर्व भगवंत ही देता है, अमृत अर्थात् निर्गुण मोक्ष भी भगवत्कृपा से मिलता है क्योंकि वह विना ज्ञान के नहीं मिलता और ज्ञान सगुण कृपा के विना नहीं होता। प्रलय काल में सब का व्यय यानी नाश होता है, परंतु एक भगवत् साधर्म्य अव्यय रहता है, अर्थात् जिस को भगवंत के धर्म की समानता प्राप्त हो गई हो उसका नाश नहीं, अतएव "अव्यय" शब्द का भाव सगुण मोक्ष है॥

भागवत धर्माचरण से शाश्वत मोक्ष मिलता है वही शाश्वत धर्म है, उसका दाता भगवंत ही है। सगुण मोक्ष में अखंड आनंद का अनुभव होता है, अतएव उसे शाश्वत कहा है। जिस एक चित्स्वरूप में सकल वृत्तियों का अंत होता है, वह निर्गुण अनुभव भी भगवंत हैं। श्री भगवान् ने इस मोक्ष प्रकरण में इतना ही कहा है कि दोनों प्रकार के मोक्ष और उन के साधन एक मैं ही हूं। परंतु आगे के अध्याय में कहेंगे कि सब कुछ मैं ही हूं, अतएव श्रीकृष्णचंद्र की भक्ति करनाही गुणातीत होने का उपाय है॥

यह चौदहवें अध्याय की टीका श्रीयुगलवर की कृपा से समाप्त हुई, और इसकी प्रतिष्ठा भी वही गोविंद है, अतएव उन्हीं के चरण कमलों में अर्पण है॥

कृष्णाधीनगुणासंग प्रसज्जितभवाम्बुधिम्।
सुखंतरंतिमद्भक्ता इत्यभाषिचतुर्दशे॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः ॥

॥ ओंनमो भगवते वासुदेवाय ॥

वैराग्येणबिनाज्ञानं नचभक्तिरतःस्फुटम् ।
वैराग्योपस्करंज्ञानमीशःपंचदशेऽदिशत् ॥

अध्याय १४ में इस प्रकार का व्यतिरेकानुभव श्रीकृष्ण जी ने बतलाया कि सर्व जगत् जड़ है, उस का साक्षी अप्रन चित्स्वरूप आत्मा है, और श्लोक २६ "मांच योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन" इत्यादि में यह कहा कि जो कोई मुक्त परमेश्वर को एकान्त भक्ति से भजता है उस को भगवत् प्रसाद से ज्ञान लाभ होकर वह ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है । परंतु जिस को वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ है उसको एकान्त भक्ति अथवा ज्ञान होना कठिन है, अतएव अब इस अध्याय में वैराग्य के पहिले जो ज्ञान होता है उसका उपदेश करेंगे और समझावेंगे कि अन्वय ज्ञान का विशेष अनुभव हुए विना ज्ञान पक्व नहीं हो सकता ॥

प्रथम संसार स्वरूपी वृक्ष को रूपकालंकार द्वारा वर्णन करते हैं ॥

॥ श्री भगवानुवाच ॥

उद्र्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थंप्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसियस्यपर्णानि यस्तंवेदसवेदवित् ॥ १ ॥

अर्थ–इस संसार प्रपंच को वृक्ष की उपमा दी है कि क्षर तथा अक्षर से उत्कृष्ट जो मायोपहित ब्रह्म पुरुषोत्तम है वह इस वृक्ष का (उद्र्ध्वमूलम्) उत्तम जड़ है, क्योंकि उससे ऊंचा यानी परे और श्रेष्ठ अन्य कोई पदार्थ संसार में नहीं और उस पुरुषोत्तम के पीछे वाले कार्यों के उपाधि रूप हिरण्यगर्भादि जो (अधःशाखम्) नीची श्रेणी के हैं परंतु उसी पुरुषो-

उनके अंश हैं वे ही इस वृक्ष की डालियां हैं। श्वः प्रभात,तपं स्थिर रहने वाला, नहीं, इन को मिलकर अश्वत्थं, वाक्य हुआ अर्थात् यह संसार वृक्ष नाशवान् है, अतएव उसे (अश्वत्थम्) प्रभात पर्यंत भी स्थित होनेके योग्य नहीं है, ऐसा (प्राहुः) कहा है और प्रवाह रूप से अविच्छिन्न है अर्थात् उस का प्रवाह टूटता नहीं क्योंकि बिना ज्ञान इस का नाश नहीं अतएव उस को (अव्ययम्) नित्य भी कहा है जैसा कि श्रुति बोलती है "उद्र्ध्वमूलो अवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" (यस्य) जिस वृक्ष की (छन्दांसि) वेद (पर्णानि) पत्ते हैं अर्थात् धर्म अधर्म का प्रतिपादन करके वेद इस संसार की छाया रूप हैं, क्योंकि इस वृक्ष का फल कर्मफल है और वेदों ही में इन कर्मों के फलों का प्रतिपादन है। अतएव उन फलों की प्राप्ति के हेतु सब संसारी जीव वेदों का और संसार का आश्रय लेते हैं इसी से वेदों को पत्र कहा है। बहुत से लोग वेदों का तात्पर्य तो समझते नहीं, केवल रोचक वाक्यों को सिद्धांत समझ बैठते हैं, इस से भ्रम में पड़जाते हैं। (यः) जो मनुष्य इस प्रकार (तम्) उस अश्वत्थ को (वेद) जाने (सः) वही (वेदवित्) वेदों का अर्थ जानने वाला समझो वेदोक्त कर्मद्वारा संसार का सेवन करना ही वेदोंका आशय है॥

टीका—जैसे बाप लड़के से ऊंचा रहता है, वैसे ब्रह्म सब से ऊंचा है, अतएव उसे ऊद्र्ध्व कहा है, इस ऊद्र्ध्व ब्रह्म में प्रपंच का मूल माया उत्पन्न होती है, उस माया से ब्रह्मादिक से लगाय चिऊंटी पर्यंत जीव उत्पन्न होते हैं। अतएव चराचर जीवों को "अधः" अर्थात् नीचे वा पीछे वाले कहा है। वेदों को पत्र कहा है, क्योंकि अविद्या के अंधकार में वेद वाक्य ही जीवों के हेतु प्रकाश दिखाने वाले तथा रक्षा करने वाले होते हैं। जैसे पत्रों से वृक्ष की शोभा होती है, वैसेही वेद वाक्यों से संसार में अनुराग बढ़ता है। यह वृक्ष नश्वर

होने पर भी अव्यय है अर्थात् जैसे अलंकार का आकार नश्वर है परंतु जिस सुवर्ण से वह बना है वह सुवर्ण नित्य है। वैसे ही इस प्रपंच में जड़ भाव नश्वर है परंतु उस जड़ प्रपंच को प्रकाशित करने वाला अधिष्ठानात्मक ब्रह्म नित्य अर्थात् अव्यय है। यानी कार्य रूपसे अनित्य तथा कारण रूपसे नित्य है और ये दोनों कार्य कारण जुदे नहीं हो सके। इससे यह सिद्ध होता है कि जो सर्वत्र चैतन्य को देखता है, वही ज्ञानी है वह वेद मार्गको एक साधन समझ कर उस का फल परमानंद रूप मानता है। अध्याय २ में भगवान् कह चुके हैं, कि वेद अज्ञानियों के वास्ते हैं, जो सत्वादि गुणों में मोह को प्राप्त हो रहे हैं॥

अधश्चोर्ध्वंप्रसृतास्तस्यशाखा, गुणप्रवृद्धा-विषयप्रवालाः। अधश्चमूलान्यनुसंततानि, कर्मानुबन्धीनिमनुष्यलोके॥ २॥

अर्थ–हिरण्यगर्भादि जो कार्यों के उपाधि रूप जीव हैं वेही (तस्य) उस संसार वृक्ष की शाखा डालियां कही गई हैं, सो उन में से जो दुष्कर्मी जीव हैं उनका (अधः) नीचे अर्थात् पश्वादि योनियों में (प्रसृताः) विस्तार हुआ है (च) और जो सुकृती जन हैं उनका (ऊर्ध्वम्) ऊपर की अर्थात् देवादि योनियों में विस्तार होरहा है ये शाखायें (गुणप्रवृद्धाः) सत्वादि गुण वृत्ति रूपी जल से सींची जा रही हैं, अतएव यथायोग्य यथाक्रम वृद्धि को प्राप्त होरही हैं। (विषयप्रवालाः) शब्द रूपादि जो विषय हैं वेही इन शाखाओं में पल्लव रूप हैं क्योंकि इन का संयोग शाखों के अग्रभाग रूपी इंद्रिय वृत्तियों से रहता है। (अधः) नीचे (च) और ऊपर (मूलानि अनुसंततानि) जड़ें फैल रहीं हैं अर्थात् मुख्य मूल तो ईश्वर है और ये सब उस के अन्तर्गत होकर अपने विषय भोग की वासना रूप हैं और इन का कार्य यह है कि (मनुष्यलोके) मनुष्य लोक में (कर्मानुबंधीनि) कर्म हो उन का परिणाम हैं अर्थात् ऊपर

के तथा नीचे के लोकों में अपने २ भोग आनन्दादि को भोग लेने पर जब कर्मका क्षय होजाता है तो मनुष्य लोक में आकर उसी अनुरूप फिर से कर्मों में प्रवृत्ति होती है क्योंकि मनुष्य लोक ही में कर्म का अधिकार है अन्य लोक में नहीं॥

टीका—"शाखा"शब्द देह दर्शक है, "अधः" अर्थात् जीव ऊर्ध्व अर्थात् ब्रह्म इन दोनों का भी देह है, अर्थात माया के योग से जो अवतार शरीर होता है वही ब्रह्म का देह है. जीवों का देह कर्म का बना हुआ रहता है। यह देह गुणों के द्वारा बढ़ता रहता है, अर्थात् जीवों का देह त्रिगुणात्मक होता है, भगवदवतार देह शुद्धसत्व गुणात्मक होता है। जीव देह को सर्व विषय सत्य मानते हैं, परंतु अवतार देह को व सब मिथ्या हैं क्योंकि उसी की कल्पना से हैं। अवतार देह को गुण और विषयों का संबंध रहता नहीं है परंतु यह गुण शुद्धसत्व होने के कारण उसमें रज तमात्मक अविद्या का स्पर्श नहीं रहता। जीवों की यह बात नहीं है, क्योंकि वे त्रिगुण से उत्पन्न हुए कर्मों के बंधन में रहते हैं, यही बात इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में कही है। इसी कारण अवतार देह नित्य मुक्त सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् होता है, और जीव देह बद्ध अल्पज्ञ तथा शक्तिहीन रहता है ॥

वृक्ष की शाखाओं में जैसे पौधे लटकते हैं, तैसे जीवदेह में कर्मरूपी पौधे फूटते हैं, उसी से जीव बद्ध रहता है, ये कर्म बंध जड़ कर्मों के ही फल हैं। माया जैसे अनादि है तैसे ही लिंग देह रचना भी अनादि है। मनुष्य की स्थूल देह में कर्म उपजते हैं, उन कर्मों का बंध लिंगदेह में होता है, क्योंकि दृश्य स्थूल देह के भीतर जो पंच प्राण मन बुद्धि ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां रहती हैं, उन्हीं को लिंगदेह कहते हैं। वह इन्हीं १७ तत्वों का बना रहता है, मनुष्य देह में जो २ कर्म होते हैं वे सब संस्कार रूप से प्राणों के साथ जाते हैं। लिंग देह में जो संचित रहते हैं, वेही संचित कर्म कहाते हैं, नरदेह

में जो कर्म फिर से किये जाते हैं वे क्रियमाण कहाते हैं। देहांत होने पर इन्हीं क्रियमाण कर्मों से संचित बनजाते हैं। उन्हीं से अगले जन्म का प्रारब्ध बनता है, यह लिंगदेह के व शाखों की जड़ हैं, उन से स्थूल देह उत्पन्न होता है। ये बंधक कर्म मनुष्य देहमें ही होते हैं, यह बात „कर्मानुबंधीनि मनुष्यलोके” इस चरण से सुझाई है ॥

आगे के दो श्लोकों में इस प्रपंचरूपी वृक्ष को अव्यय बनाकर उसको छेदन करके जो पद प्राप्त होता है उसका भी वर्णन करते हैं ॥

नरूपमस्येहतथोपलभ्यते, नांतोनचादिर्नच संप्रतिष्ठा। अश्वत्थमेनंसुविरूढमूल—मसंगशस्त्रेण दृढेनछित्त्वा ॥३॥ ततःपदंतत्परिमार्गितव्यं, यस्मिन्गतानिवर्तन्तिभूयः । तमेवचाद्यंपुरुषंप्रपद्ये, यतःप्रवृत्तिः प्रसृतापुराणी ॥ ४ ॥

अर्थ—(इह) इस संसार में जो प्राणी स्थित हैं उन को (अस्य) इस संसार वृक्ष का तथा उस के ऊर्ध्वमूलादि प्रकार का (तथा) वैसा वृक्ष का सा (रूपम्) रूप (न, उपलभ्यते) जानने में नहीं आता (च) और (न, अन्तः) न उस का अन्त (न, आदिः) न आदि जान पड़ता है क्योंकि उस का अवसान अपर्यंत है, और वह अनादि है, उस की (न, संप्रतिष्ठा) स्थिति भी नहीं मालूम पड़ती अर्थात् कोई भी नहीं जान सकता कि वह कैसे स्थित रहता है। अब कि यह प्रपञ्च वृक्ष ऐसा जानने के योग्य नहीं है और अनर्थकारी भी है तथा जलदी क्षीण होने के योग्य भी नहीं है तो (सुविरूढमूलम्) अत्यन्त दृढ़ नाम गहरी जड़ वाले (एनम्, अश्वत्थम्) इस नाशवान् प्रपंच वृक्ष को (दृढेन, असंगशस्त्रेण)

खूब मज़बूत वैराग्य रूपी हथियार से (छित्त्वा) काट कर अर्थात् तत्त्वज्ञान में पक्का हो कर तथा मैं और मेरा ऐसे अहंकार और ममता का त्याग करके सत्यविचार से उस को अपने से पृथक् करे ॥ ३ ॥ (ततः) इस के पश्चात् उस का मूलभूत (तत्) वह (पदम्) पद अर्थात् वस्तु (परिमार्गितव्यम्) ढूंढ़ना चाहिये कि (यस्मिन् गताः) जिस में गये हुए अर्थात् जिस पद को प्राप्त हो कर (भूयः) फिर से (न निवर्तन्ति) लोग लौटते नहीं अर्थात् जहां से पुनरावृत्ति वा पुनर्जन्म नहीं होते (च) और वहां पहुंच कर एकान्त भक्ति द्वारा खोज लगा के मन में यह भावना करना चाहिये कि मैं (तम्, एव) उसी (आद्यम्) आदि (पुरुषम्) पुरुष को (प्रपद्ये) शरण में बना रहूं (यतः) जिस से यह (पुराणी) पुरातन (प्रवृत्तिः) संसार की प्रवृत्ति अर्थात् घटना (प्रसृता) विस्तार हुई है यानी संसार से विरक्त हो कर वहां परमपद उसी परम पुरुष को ढूंढे जहां से फिर इस संसार में जन्म न होने पावे और सदैव सगुण स्वरूप की शरण में बना रहे ॥४॥

टीका—इस प्रपंच को अव्यय कहा है, अतएव उस का कोई रूप नहीं परन्तु वास्तविक में रूप तो उस का देखने में आता है तो फिर बिना रूप कैसे कहा जा सकता है। इस का परिहार ऐसा है कि उस का स्वतः सिद्ध रूप नहीं है किन्तु जो रूप दीखता है, वह उपादान कारण का कार्यरूप है, इस उपादान का ज्ञान कैसे करना चाहिये यह (तथोपलभ्यते) इस वाक्य से दर्शाया है। इस में "उप" शब्द से उपादान कारण दरशाया है, और "उपलभ्यते" का भी अर्थ है कि जो समीप मिलें जैसे घट में माटी, पट में तन्तु और अलंकार में सुवर्ण ये सब समीप दीखते हैं अर्थात् इन में व्याप्त हो हो रहे हैं। वैसे ही जड़ कार्यों में उन के अजड़ उपादान कारण भी समीप दीखते हैं और वे चित्स्वरूप होने के कारण उन के कार्य रूप भी समीप दीखते हैं। यह प्रपंच अव्यय चैतन्य

का कार्य्य रूप है और वह चैतन्य प्रपंच का कारण रूप है। अतएव (अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्) ऐसा कहा है। इस उपादान कारण का आदि अंत नहीं, अतएव उसके कार्य का भी आदि अंत नहीं, इस प्रपंच की प्रतिष्ठा नहीं, अतएव वह विवर्त रूप है। यानी एक ठौर स्थिति हीन है, ऐसा सुझाया है श्लोक दूसरे में "कर्मानुबंधीनि मनुष्यलोके" इस वाक्य से यह सुझाया है कि यह वृक्ष रूपी प्रपंच दुःख रूप है, और इसकी लिंगदेहरूपी जड़ें बहुत फैली हुई हैं, उन के नाश करने का साधन "असंगशस्त्र" कहा है, जिसका अर्थ वैराग्य है। परंतु केवल वैराग्य कहना ठीक नहीं दीखता, कारण यह कि सिवाय ज्ञान के और किसी रीति से इस प्रपंच का नाश हो नहीं सकता। अपने देह इत्यादि का अहंकार ही सकल अनर्थों का कारण है और इसी अहंकार का नाम संग है, इस को त्यागना असंग हुआ तो इसी असंग शस्त्र अर्थात् ज्ञान के द्वारा प्रपंच का नाश करना चाहिये। ज्ञान दो प्रकार का है, एक "व्यतिरेक" दूसरा "अन्वय" यहां प्रपंच वृक्ष का छेदन करना चाहिये इस उपदेश से "व्यतिरेक" ज्ञान की सूचना की है, जिस से चैतन्य को जड़ से विलग देखना पड़ता है और इसी व्यतिरेक ज्ञान से अन्वय ज्ञान होता है जिसके द्वारा जड़ के भीतर चैतन्य देखना बनता है, यही ज्ञान श्लोक ४ में कहते हैं॥ ३॥

"ततपदम्" शब्द से अक्षर ब्रह्म सुझाया है जिसका वर्णन श्लोक ३ में हो चुका है, इसी को प्रपंच वृक्ष में ढूंढ़ना चाहिये अर्थात् निर्गुण ब्रह्म को पहिचानना चाहिये। इस से यह सिद्ध होता है कि प्रथम व्यतिरेक ज्ञान का अभ्यास करके तदनंतर अन्वयज्ञान प्राप्त करना चाहिये। यह ज्ञान परिपक्व हुआ कि प्रपंच वृक्ष का नाश हुआ और जीव उसी अक्षर ब्रह्म को प-

पहुँचकर फिर वहां से लौटता नहीं. इसी का नाम निर्गुण मोक्ष है। जो लोग केवल निर्गुण को भजते हैं वे जड़ में केवल निर्गुण को ढूंढते हैं, निर्गुण मोक्ष पाते हैं, परंतु जो लोग सगुण भक्ति करके निर्गुण को ढूंढते हैं, उन को सगुण मोक्ष प्राप्त होता है। सगुण भगवान् सब से प्रथम प्रकट होते हैं, अतएव उन को "आद्य" कहा है। वे प्रकट होकर जीवों के रूप से देहों में प्रवेश करते हैं, उन्हीं का नाम "सगुणपुरुष है" इसी को प्राप्त करने की श्रद्धा रखकर उसे प्रपंच वृक्ष में ढूंढना चाहिये। क्योंकि निर्गुण ज्ञान के बिना सगुण भक्ति होती नहीं और सगुण ही जगत् का कारण है जैसा कि चौथे चरण में कहा है। ईश्वर की कल्पना रूपी वृत्ति को ही माया की प्रवृत्ति कहा है, यह कल्पना वृत्ति "पुराणी" अर्थात् अनादि है, इस विषय का विशेष विवेचन अध्याय ७ के श्लोक ५ में हो चुका है। चौथे चरण का मुख्य भाव ऐसा है कि ईश्वर सर्व सृष्टि की कल्पना करता है, और वह सृष्टि आप ही बनता है, अतएव सर्वविश्व भगवत् रूप देखने से आद्य पुरुष जो सगुण भगवन्त हैं, उस की प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

उस उक्त पद को प्राप्त होकर जो मनुष्य के लक्षण होते हैं, अथवा जो अन्यसाधन उसे करना चाहिये, वे आगे के श्लोक में कहते हैं ॥

निर्मानमोहाजितसंगदोषा, अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ताःसुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययंतत् ॥ ५ ॥

अर्थ-(निर्मानमोहाः) जिन लोगों के मान और मोह अर्थात् अहंकार और मिथ्या ममता इत्यादि दोष दूर होगये हैं (जितसंगदोषाः) जिन्होंने स्त्री पुत्रादि संगरूपी दोषों को और वासना इत्यादि दोषों को जीत लिया है (अध्यात्मनित्याः) जो लोग आत्मज्ञान में नित्य विशेष निष्ठा रख

कर उस का आचरण करते रहते हैं। (विनिवृत्तकामाः) जिन की कामना विशेष करके निवृत्त हो गई हैं जो लोग (सुखदुःखसंज्ञैः, द्वंद्वैः) सुख दुःख और शीतोष्णादि रूपी द्वन्द्वों से (विमुक्ताः) मुक्त हो गये हैं अतएव (अमूढाः) जिन की अविद्या का नाश हो गया है, ऐसे ज्ञानी पुरुष (तत्) उस (अव्ययम्) अविनाशी (पदम्) पद को (गच्छन्ति) जा पहुंचते हैं ॥

टीका—देहाभिमान का नाश हुआ कि ममता आप ही नाश होती है और यही निर्मोह का लक्षण है। जबतक विषय वासना नहीं जाती तबतक मोह भी रहता है, और "संग" शब्द से यही विषय वासना बतलाई है। "अध्यात्म" का अर्थ स्वभाव और स्वभाव का भाव यह है कि सर्वत्र आपही हैं, ऐसी भावना हुई कि कामना बिलकुल नहीं रहती और कामना गई कि सुख दुःख मान अपमानादि द्वंद्वों से मुक्त होता है। वह मनुष्य प्रलयकाल में सब व्यथा रहित हो कर "भगवत्साधर्म्य" पद को पाता है।

उस पद का वर्णन आगे के श्लोकों में करते हैं ॥

नतद्भासयतेसूर्यो नशशाङ्कोनपावकः।
यद्गत्वानिवर्तन्ते तद्धामपरमंमम ॥ ६ ॥

अर्थ—(तत्) उस पद को (सूर्यः) सूरज (शशांकः) चंद्रमा (पावकः) अग्नि (न,भासयते) इनमें से कोई भी प्रकाशित नहीं करते और (यत्) जिसको (गत्वा) प्राप्त होकर योगी तथा ज्ञानी लोग (न निवर्तन्ते) पुनर्जन्म नहीं पाते (तत्) वह (धाम) स्वरूप (मम) मेरा (परमम्) अति उत्कृष्ट पद है अर्थात् वह पद अथवा धाम सूर्यादि के प्रकाश करने का विषय नहीं है। अतएव शीतोष्णादि अज्ञान के कार्य जो जड़ हैं, उन के दोष भी वहां नहीं लगसक्ते ॥

टीका—इस श्लोक में "तत्" शब्द से उस पूर्व उपदेश की सूचना की है जो अध्याय १४ के श्लोक २ "सर्गेऽपिनोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च" में वर्णन किया है ॥ "तद्धाम" शब्द से निगुण मोक्ष की सूचना की है, इस निगुण मोक्ष का अर्थ "शुद्ध सत्व रूप" है और सत्व स्वयं प्रकाशमय है। अतएव उसको सूर्य चन्द्रमादि के प्रकाश की आवश्यकता नहीं। इसके सिवाय अर्जुन ने जिस समय सगुण रूप के दर्शन किये, उस समय अध्याय ११ श्लोक १७ में कहा भी है कि आप स्वयं दीप्तिमन्त हैं। इस पर से भी सिद्ध होता है कि "तद्धाम" शब्द से शुद्ध सत्वरूप वैकुंठ की सूचना की है। प्रभु का धाम प्रभु से जुदा नहीं यह बात अध्याय ८ में स्पष्ट कर चुके हैं ॥

जब यह बात कही गई कि आप के धाम को पहुंच कर फिर नहीं लौटते, तो "सति संपद्य न विदुः" और "सति संपद्य" इत्यादि श्रुतियों में जो कहा है कि सुषुप्ति प्रलय काल में सब जीव ईश्वर में लीन हो जाते हैं। इस में विरोध पड़ता है, अर्थात् जब सब ही लीन हो गये तो संसार कहां से रहा? इस शंका के निवारणार्थ आगे के ५ श्लोकों में श्रीमहाराज संसारी जीवों का स्वरूप इत्यादि वर्णन करते हैं ॥

ममैवांशोजीवलोके जीवभूतःसनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानिकर्षति ॥७॥

अर्थ—(मम) मेरा (एव) ही (अंशः) अंश जो अविद्या के कारण (जीवभूतः) जीव हो गया है वह (सनातनः) सर्वदा संसारी के ही नाम से प्रसिद्ध है। और वही उन सब पांचों (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों को जो सुषुप्ति वा प्रलयकाल में (प्रकृतिस्थानि) प्रकृति के बीच में लीन हो कर स्थित रहती हैं (मनःषष्ठानि) मय छठवें मन के अर्थात् पांचों इन्द्रियों को तथा छठवें मन को फिर से (जीवलोके) इस संसार में संचार भोगने के हेतु देहान्तर में (कर्षति) खींचलेता है॥

टीका–यह जीव सगुण भगवन्त का ही अंश है और देवतादि भी उसी के अंश हैं यह बात "एव" शब्द से सुझाई है, और अपना तथा अपने अंश का समान धर्म होने के कारण जीव को सनातन कहा है। क्योंकि सोने का अंश सोना ही होगा, किन्तु तांबा पीतल नहीं हो सक्ता, तैसे ही भगवंत में और उसके अंश में भेद नहीं। आकाश के समान चैतन्य सर्व व्यापक है, और उसका अंश भी उसी के साथ रहता है दोनों में कोई भिन्नता नहीं। घट में आकाश के समान जो सर्वगत चैतन्य का अंश देह में रहता है वह कूटस्थ भगवंत है, उसको भोग नहीं, जड़ उपाधि भी नहीं, परंतु जीवोपाधि सत्व है और इसी पर कूटस्थ का प्रतिविंब पड़ता है यही प्रतिविंब जीव का रूप है और इसी को भोग होता है, जैसे सूर्य का प्रतिविंब जितना जल हो उतना ही पड़ता है, वैसे ही यह चिदंश प्रतिविंब सत्वोपाधि भर में पड़ता है। यह सत्वरूप जल उपाधि के हिलने से हिलता है, तब प्रतिविंब भी चंचल होजाता है, इस सत्व में तमोगुण रूपी कीचड़ मिली कि वह पानी के सदृश मैला हो जाता है। तब प्रतिविंब का नाश होजाता है, और वह कूटस्थ विंब में जा मिलता है। इसी स्थिति को सुषुप्ति अथवा गाढ़ी निद्रा कहते हैं, यह तमरूपी कीचड़ नीचे बैठ जाने पर सत्वरूपी जल निर्मल हुवा कि उसी को जागृति अवस्था कहते हैं। सत्व तथा तम के मेल को स्वप्नावस्था कहते हैं, इसमें रजोगुण के द्वारा प्रतिविंब को स्वप्न होते हैं। सुषुप्ति और प्रलय काल के एक ही लक्षण हैं, उस समय जीव ब्रह्म में लीन होता है। परंतु यह लय अविद्या तथा प्रकृति के सहित होता है, अतएव जीव की फिर उत्पत्ति होती है। इस विषय का स्पष्ट वर्णन अध्याय ९ के श्लोक ७ " सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं

याति मामिकाम्" में हो चुका है। और अध्याय ८ श्लोक १८ "अव्यक्तात् व्यक्तयः सर्वाः" में भी यही विषय वर्णित है, अतएव यह अविद्वान् जीव संसार भोग के हेतु फिर से निकल कर प्रकृति में लीन हुआ अपनी उपाधि रूपी ५ ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, पंचप्राण, अंतःकरण चतुष्टय और मन को देहांतर में खींच लाता है। परंतु ज्ञानी लोग शुद्ध सत्वरूप में लीन होजाते हैं, अतएव वे नहीं लौटते। ये सत्वरूप ज्ञानी विंबरूप चैतन्य को पहिचान कर उसको नहीं छोड़ते, उन दोनों की एकता होजाती है। उसी का नाम मुक्त है। विंब में मिल जाने से प्रतिविंब का नाश नहीं होता, सत्व को कांच की आरसी समझो और जैसे कांच में प्रतिबिंब देखने के हेतु उसके पीछे रोग़न लगा रहता है, वैसे ही सत्वरूप कांच पर जब तक रजतम का लेप लगा रहैगा तभी तक प्रतिविंबरूप जीव भाव उत्पन्न होता है। परंतु रजतम का नाश होजाने पर जीव रूप प्रतविंब दीख नहीं पड़ता, और सर्वत्र चित्स्वरूप का अनुभव होने लगता है, इस प्रकार चिदंश भोक्ता का रूप स्पष्ट हुवा॥

यहां पर एक यह विरोध पड़ता है कि अध्याय ७ के श्लोक ५ में भगवान् ने कहा है कि जो पराप्रकृति है वही "जीवभूता" है। और यहां पर "चिदंश" को "जीवभूत" कहा है, इसका परिहार ऐसा है कि जैसे पानी में सूर्य का प्रतिविंब पड़कर वह पानी भी उसी का रूप दीखता है, वैसे ही सत्व रूपी पराप्रकृति भी जीव होती है। अतएव उसको "जीवभूता" कहा है, परंतु उस अकेली को जीवभूता नहीं कहसक्ते क्योंकि जिस प्रकार पानी और सूर्य इन दोनों का संयोग हुए बिना प्रतिविंब नहीं दीखता, वैसे ही सत्वरूपी पराप्रकृति और कूटस्थ चिदंश इन दोनों के संयोग विना प्रतिविंबरूपी जीव उत्पन्न नहीं होता। अतएव इस चिदंश को भी "जीवभूत" कहा है, इस चिदंश में भोक्तापन है इसी कारण इसे बंध होता है। जिसका वर्णन उत्तरार्द्ध में किया है अर्थात् पांचों

इन्द्रियां तथा छठवां मन इस चिदंश के भोग करने के साधन हैं। ये छहो प्रकृति में रहते हैं और वहां से चिदंश उन को आकर्षण करता है ॥

इस ठौर पर देह को प्रकृति मानना चाहिये क्योंकि इस देह में रहने वाला चिदंश इन सब विकारों को आकर्षण करके दूसरी देह में जाता है और अपना बंधन अपने साथ लिये जाता है। श्लोक २ के अंत के चरण "कर्मानुबंधीनि मनुष्य लोके" में कहा है कि बंधक कर्मों का संस्कार लिंग देह में आता है। इस लिंग देह में १७ तत्त्व होते हैं, उन सब का बोध इन ६ तत्त्वों से किया है अर्थात् मन शब्द से बुद्धि का भी बोध होता है और ५ ज्ञानेन्द्रियों से ५ कर्मेन्द्रियों का भी बोध होता है। क्योंकि कर्मेन्द्रियों के बिना ज्ञानेन्द्रियां कुछ कर नहीं सक्तीं। उसी प्रकार पंच प्राणों के बिना कर्मेन्द्रियां भी कुछ नहीं कर सक्तीं, ऐसे १७ तत्त्वयुक्त लिंग देह के सहित जीव देहांतर में जाता है। येही तत्व आगे के श्लोक में और भी स्पष्ट करके वह कहते हैं जो इन सब विकारों को आकर्षण करके जीव करता है ॥

शरीरंयदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानिसंयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥

अर्थ (यत्) जिस समय (ईश्वरः) इस देह का स्वामी जीव कर्म के वश हो कर (शरीरम्) दूसरे शरीर को (अवाप्नोति) प्राप्त होता है (च) और (यत्) जिस समय (उत्क्रामति) प्रथम शरीर से जुदा (अपि) भी होता है, तब उसी प्रकार पर्व देह से (एतानि) इन सब विकारों को जो पूर्व श्लोक में कहे हैं (गृहीत्वा) ले कर दूसरे शरीर में (संयाति) सम्यक्प्रकार चला जाता है (इव) जैसे (आशयात्) अपने स्वस्थान कुसुमादि से (गन्धान्) (सुगन्धियों

को (वायुः) पवन खींच कर ले जाता है, जिस स्थल में जैसा गंध भरा होगा उसी को पवन उड़ा ले जावेगा ॥

विकाररूपी इन इन्द्रियों को तथा मन को अर्थात् सर्व लिंग देह को अपने संग ले कर जिस हेतु यह जीव देहान्तर में जाता है उस का वर्णन आगे के श्लोक में करते हैं ॥

श्रोत्रंचक्षुःस्पर्शनंच रसनंघ्राणमेवच ।
अधिष्ठायमनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

अर्थ–(अयम्) यह जीव (श्रोत्रम्) कान (चक्षुः) आंख (च) और (स्पर्शनम्) त्वचा (रसनम्) जीभ (एवच) और घ्राणम् नाक (च) तथा (मनः) मन इन सब बाहिरी इन्द्रियों को और अन्तःकरण को (अधिष्ठाय) अपने वशीभूत करके अर्थात् उन सब का अधिष्ठाता बनकर (विषयान्) शब्दादि विषयों का (उपसेवते) सेवन करता है अर्थात् सब को भोगता है ॥

टीका–चिदंश जीव ही सर्व का भोक्ता है, वह इन्द्रियों में और मन में व्याप्त हो कर इन्हीं की सहायता से विषयों को भोगता है । श्लोक के पूर्वार्द्ध में ५ ज्ञानेन्द्रियों को कहा है परन्तु " एवच " शब्द से कर्मेन्द्रियों की भी सूचना की है। इन्द्रियों के समान मन भी भोग का साधन है क्योंकि जीव मन की सहायता से इन्द्रियों के द्वारा विषयों का उपभोग लेता है। मन में कोई वास्तविक भोक्तापन नहीं है क्योंकि ऐसा कहा है कि पांच इन्द्रियां तथा मन का अधिष्ठाता बन कर चिदंश जीव ही भोग करता है। जैसे जड़ धनुष् तथा जड़ बाण से कोई किसी को मारे तो मारने वाला वह पुरुष ही होगा जो धनुष् चलावेगा । सहायतामात्र धनुष् बाण की है, तैसे इन्द्रियों और मन की सहायता से भोक्ता चिदंश जीव ही है । मन इन्द्रियों के ही अन्तर्गत यानी बीच में है

अतएव जैसे गर्भिणी स्त्री के खाने से उस के पेट में के बच्चे को आहार पहुंचता है, तैसे इन्द्रियों के भोग लेने से मन को भोग होता है । परन्तु वह जड़ है इस से श्रीभगवान् जी ने कहा है कि चिदंश भोगता है। यह बात प्रमाण और अनुभव के भी विरुद्ध है कि मन भोग भोगता है, क्योंकि यदि भोग भी मिथ्या कहा जावे तो भी वह मन को नहीं हो सक्ता। यही मन वंध और मोक्ष का कारण भी है परंतु वास्तविक में भोग वंध और मोक्ष ये तीनों प्रतिबिंब रूपी चिदंश को ही होते हैं ॥

जब यही बात सिद्ध है कि जीवात्मा ही इन्द्रियों के द्वारा सब भोग करता है, तो उसको इस प्रकार सब लोग क्यों नहीं देख सक्के? इसका कारण आगे कहते हैं ॥

उत्क्रामंतंस्थितंवापि भुंजानंवागुणान्वितम् ।
विमूढानानुपश्यन्ति पश्यन्तिज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

अर्थ-(उत्क्रामंतम्) यह जीवात्मा एक देह से निकल कर देहांतर में कैसे जाता है (वा) अथवा (स्थितम्) उसी देह में कैसे रहता (अपि) भी है और (भुंजानम्) विषयों का भोग कैसे करता है (वा) अथवा (गुणान्वितम्) इन्द्रियादि युक्त कैसे रहता है ये सब बातें (विमूढाः) अविवेकी मूर्ख लोग (न) नहीं (अनुपश्यन्ति) देख सक्के । किंतु केवल ज्ञानी व विवेकी लोग (ज्ञानचक्षुषः) ज्ञान दृष्टि द्वारा (पश्यन्ति,) देख लेते हैं ॥

टीका-लिंग देह सहित यह जीवात्मा एक देह से दूसरे में चला जाता है, यह प्रसंग चर्म चक्षु से नहीं दीखता, परंतु विचार रूपी दिव्य दृष्टि से इस की खातरी हो सक्ती है। यह बात केवल अज्ञ जनों के जीवों के उत्क्रमण अर्थात् निकास संबंधी हैं परंतु जो ज्ञानी जीते जी ही ब्रह्म हो गया उसको जीव की भिन्नता दीखती ही नहीं और इसी कारण

वही इस जीव के उत्क्रमण को भलीभांति जानता है। जैसे नदी के तटों का प्रतिबिंब नदी के पानी में ही पड़ता परंतु पानी बढ़ने से जब तट पर आ जाता है तब कोई प्रतिबिंब नहीं दीखता, उसी प्रकार अपनी देह में रहने वाला आत्मा जब सर्वत्र दीखने लगता है तो उपाधि रूप सत्व चिन्मय हो जाता है। और प्रतिबिंब रूपी जीव चैतन्य बिंब में मिलकर दोनों की एकता हो जाती है। क्योंकि प्रारब्ध भोगते समय जीवभाव उत्पन्न होता है और यह भोग समाप्त हुआ कि जीव भाव भी गया। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष जीव का उत्क्रमण बारंबार देखता है और उस को जान पड़ता है कि प्रारब्ध रूपी देह पतन होने पर उस का जीव तथा चैतन्यरूपी ईश्वर एक हो जाते हैं ॥

इस भोक्ता चिदंश को और सर्वगत चिदंश को एक ही बुद्धि देखती है, आत्मा के अनुभव के समय पुरुष अभोक्ता दीखता है और भोग समय वही भोक्ता दीखने लगता है। ऐसे दो रूप इस चैतन्य के विचार दृष्टि से दीखते हैं परन्तु आत्मा का ज्ञान होने पर भी जो लोग जड़ मन को भोक्ता समझते हैं उन को विमूढ़ अर्थात् विशेष मूढ़ कहा है ॥

जिस समय भोगकाल आता है उस समय यही चिदंश जीव अहंभाव धारण करके और गुणमय हो कर विषय सेवन करता है यह बात भी विचार दृष्टि से देखने में आती है ॥

यह जीवात्मा का उत्क्रमण इत्यादि जानना बड़ा कठिन है क्योंकि विवेकी लोगों में से भी कई इसे देख सकते हैं और कई नहीं भी देख सकते, यह बात आगे कहते हैं ॥

यतंतोयोगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतंतोऽप्यकृतात्मानो नैनंपश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

अर्थ-(यतंतः) ज्ञानयोग तथा ध्यानादि में प्रयत्न करने वाले (योगिनः) योगी लोगों में से (च) भी कोई कोई

(एनम्) इस चिदंश जीवात्मा को (आत्मनि) अपने देह में (अवस्थितम्) स्थित वा वर्तमान (पश्यन्ति) देखते हैं परंतु शास्त्रादि के अभ्यास रूपी (यतन्तः) यत्न करने वाले (अपि) भी जो लोग (अकृतात्मानः) अशुद्ध मलिन चित्त वाले हैं और अतएव (अचेतसः) मन्दमति हैं वे लोग (एनम्) इस आत्मा को (न पश्यन्ति) नहीं देख सकते क्योंकि वे लोग वेदान्त में श्रद्धा नहीं रखते और जीव को परिच्छिन्न यानी आत्मा से जुदा समझते हैं ॥

टीका—पूर्वार्द्ध में यह सुझाया है कि ज्ञानयुक्त योगी इस चिदंश को भोगकाल में देखते हैं परन्तु सर्वगत आत्मा का ज्ञान होने पर भी उस ज्ञान को परिपक्व करने का यत्न करके भी जो लोग इस चिदंश को नहीं देखते उन को "अचेतसः" अर्थात् बुद्धिहीन कहा है। और उन्हीं को " अकृतात्मानः" भी कहा है। अकृत का अर्थ नहीं किया, " आत्मानः " का अर्थ अपनी बुद्धि अर्थात् जिन ने अपनी बुद्धि का संदेह दूर नहीं किया इसी से वे " अकृतात्मानः " हैं। इस मनुष्य को इस संदेह की निवृत्ति नहीं होती कि यदि जड़ मन को भोग नहीं हो सकता और सर्वगत चैतन्य को भी नहीं होता तो फिर किस को होता है ? इस से यह सिद्ध होता है कि जिस को इस भोक्ता चिदंश का ज्ञान होगया है वही सच्चा ज्ञानी है।

श्लोक ६ में यह उपदेश किया है कि मेरा जो परमधाम है उस को चन्द्र सूर्यादि प्रकाशित नहीं करते और जो लोग वहां पहुंचते हैं उन की पुनरावृत्ति नहीं होती। यह भी कहा है कि वहां पर देहादि व्यतिरिक्त संसारी जीव रहते हैं। अब आगे ४ श्लोकों में वह कारण बताते हैं जिससे उस परम धाम को चंद्रादि प्रकाशित नहीं करते और वह मेरा पारमेश्वर रूप अनंत शक्तिवाला है ॥

यदादित्यगतंतेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसियच्चाग्नौ तत्तेजोविद्धिमामकम् ॥ १२॥

अर्थ-(यत्) जो (आदित्यगतम्) सूर्यादि के बीच में (तेजः) तेज है और (अखिलम्) सर्व (जगत्) संसार को (भासयते) प्रकाशित करता है (यत्) जो तेज (चंद्रमसि) चंद्रमा में है (च) और (यत्) जो तेज (अग्नौ) अग्नि में वर्त्तमान है ये तीनों वस्तुओं में का (तत्) वह (तेजः) प्रकाश (मामकम्) मेरा ही (विद्धि) जान ॥

टीका—अखिल जगत् का अर्थ अशेष जगत् है और सकल इंद्रियां तथा विषय मिलकर यह अखिल जगत् बनता है । सूर्य चंद्र तथा अग्नि सब इंद्रियों को और उन के विषयों को प्रकाशित नहीं कर सके केवल रूप और नेत्र इन दोनों का प्रत्यय जो सूर्य है वह चंद्र अग्नि इन दोनों का कारण होताहै। इन के तेज विना पाचो कर्मेन्द्रियां तथा नेत्र को छोड़ कर बाकी की चार ज्ञानेन्द्रियां अपना २ काम कर सक्ती हैं । यह बात सामान्य बुद्धि को भी मालूम होती है, नेत्र का अभिमानी देवता सूर्य है, अतएव उसी के तेज से नेत्र को अंधकार का रूप दीखता है । यदि ऐसा कहा जावै तौ नेत्र में रहने वाले सर्य के द्वारा अंधकार का नाश क्यों न होना चाहिये और जिस तेज से अंधकार भी भासता है वह अखिल जगत् को भासित करने वाला तेज निराला ही है, यह सिद्ध होता है । वह तेज चित्प्रकाश है, इस श्लोक में भगवान् ने अपना ऐश्वर योग भी बताया है और आगे दो श्लोक में अपनी विभूति कहते हैं ॥

गामाविश्यचभूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामिचौषधीःसर्वाः सोमोभूत्वारसात्मकः ॥१३॥

अर्थ-(अहम्) मैं (गाम्) इस पृथिवी में (ओजसा) अपनी बल शक्ति के द्वारा (आविश्य) प्रवेश करके अर्थात् उसका अधिष्ठाता बनकर (च) भी (भूतानि) सब चराचर

भूतों को (धारयामि) धारण करता हूं (च) और (रसात्मकः) रसमय (सोमः) सोम देवता वा तत्त्वरूप (भूत्वा) होकर (सर्वाः ओषधीः) सब ओषधियों को (पुष्णामि) पोषण करता हूं अर्थात् उनकी वृद्धि करता हूं ।

अहंवैश्वानरोभूत्वा प्राणिनांदेहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नंचतुर्विधम् ॥ १४ ॥

अर्थ—(अहं) मैं (वैश्वानरः) जाठराग्नि रूप (भूत्वा) होकर (प्राणिनाम्) सब प्राणियों के (देहमाश्रितः) शरीर का आश्रय करके अर्थात् उन में प्रविष्ट होके (प्राणापानसमायुक्तः) प्राण और अपान वायु में युक्त हो कर जो जाठराग्नि को दीपन करते हैं प्राणियों ने जो खाया हो उस (चतुर्विधम्) चार प्रकार के खाये हुए (अन्नम्) अन्न को (पचामि) पाचन करता हूं ॥

टीका—दांतों से चाबकर खाये हुए अन्न को, या और पदार्थ को भक्ष्य कहते हैं जैसे अपूपादि । जो केवल जीभ से चाटकर निगल या लील लिया जावे उसका नाम भोज्य है जैसे पायसादि । जो जीभ में डालकर उसका स्वाद लेके धीरे २ द्रवीभूत होकर निगला जावे उसका नाम लेह्य जैसे गुड़ादि । और जो डाढ़आदि के द्वारा दबाकर उसका रस चूसा जावे उसका नाम चोष्य जैसे गांठा इत्यादि प्राण और अपान वायु ये दोनों जाठराग्नि के कार्यकर्ता हैं इन्हीं की सहायता से जाठराग्नि प्रदीप्त होकर अन्न पाचन करती है । सूर्य, चंद्र, पृथिवी आदि पदार्थों में जो २ गुण हैं वे सब चैतन्य देव की सत्ता से हैं, वे सब जड़ हैं, उनका प्रेरक वा चालक एक चैतन्य है ॥

सर्वस्यचाहं हृदिसन्निविष्टो, मत्तःस्मृतिर्ज्ञानमपोहनंच । वेदैश्चसर्वैरहमेववेद्यो, वेदान्तकृद्वेदविदेवचाहम् ॥ १५ ॥

अर्थ—(सर्वस्य) संपूर्ण प्राणियों के (हृदि) अंतःकरण में अंतर्यामी रूप होकर (अहम्) मैं (च) ही (सन्निविष्टः) सम्यक् प्रकार से प्रवेश करके स्थित रहता हूं अतएव (मत्तः)

मेरे ही द्वारा सब प्राणियों को जो विषय गत हो गये हैं, उनका (स्मृतिः) स्मरण होता है और विषयेन्द्रिय संयोग से उत्पन्न जो (ज्ञानम्) ज्ञान है वह भी मुझ से होता है (च) तथा उस विषयेन्द्रिय संयोग के ज्ञान का (अपोहनम्) विस्मरण भी मुझ से होता है (च) और (सर्वैः वेदैः) सब वेदों के द्वारा अर्थात् उन सब के देवताओं के रूप से (वेद्यः) जानने योग्य (अहम्, एव) मैं ही हूं (च) तथा (वेदान्तकृत्) वेदों के संप्रदायों का प्रवर्तक वा ज्ञान देने वाला गुरू और (वेदवित् एव) वेदों के अर्थ का जानने वाला भी (अहम्) मैं ही हूं॥

टीका-सब के हृदय में भगवान् स्थित हैं इस में यह शंका होती है कि वह अनन्त हो कर सूक्ष्म हृदयों में कैसे प्रवेश हो सकता है ? उस का समाधान ऐसा है कि जैसे जल के अन्तर्गत प्रतिविंव रूप से आकाश अपना प्रवेश करता है वैसे ही सत्वरूप अन्तःकरण में प्रतिविंवरूप से ईश्वर प्रवेश करता है और वही चिदंश जीव है। इस जीवात्मा को श्रीमहाराज अध्याय १० श्लोक २० " अहमात्मा गुडाकेश " इत्यादि में अपनी विभूति कह चुके हैं और वर्तमान अध्याय के श्लोक १२ वा १४ में भी यह कहा है कि जो सूर्यचन्द्र इत्यादि जड़ पदार्थ हैं उन सब में मेरी सत्ता है। मैं ही सब का प्रेरक हूं। और इस श्लोक में भी कहा है कि चिदंश भी मैं हूं॥

" स्मृति का " का अर्थ " आत्मस्मृति " है और ज्ञान का अर्थ " सर्वात्मकज्ञान " " अपोहनम् " का अर्थ आत्मस्मृति को भूल जाना, ये सब बातें श्रीभगवान् से ही मिलती हैं जड़ देह आत्मा नहीं है और सर्वव्यापक आत्मा है ऐसी स्मृति को " आत्मस्मृति " कहते हैं। और सर्व जड़ प्रपंच आत्मस्वरूप है, ऐसा जानने को ज्ञान कहते हैं। वेद वाक्यों से जानने योग्य जो वस्तु है, वह भगवन्त ही है, और वेदान्त के कर्त्ता जो वेदव्यास जी हैं वे भी भगवद्विभूति हैं॥

श्लोक ६ " तद्धाम परमं मम " में जो कह आये हैं कि मैं ही सब में उत्तम हूं वह अपनी सर्वोत्तमता आगे के ३ श्लोकों में वर्णन करते हैं॥

द्वाविमौपुरुषौलोके क्षरश्चाक्षरएवच ।
क्षरःसर्वाणिभूतानि कूटस्थोऽक्षरउच्यते ॥ १६ ॥

अर्थ-(लोके) इस लोक में (क्षरः) क्षर (च) और (अक्षर एव) अक्षर ही ऐसे (इमौ) ये (द्वौ) दो (पुरुषौ) पुरुष प्रसिद्ध हैं, इन में से (सर्वाणि भूतानि) ब्रह्मा से ले कर सब स्थावर जंगम शरीर (क्षरः) क्षर हैं यानी नाशवान् हैं क्योंकि जितने अविवेकी लोगों के शरीर हैं उन में भी पुरुषत्व प्रसिद्ध है और (कूटस्थः) पर्वत की शिला राशि के समान जो नाशवान् देहों में भी स्थित है ऐसे (कूटस्थ) चैतन्य भोक्ता को (अक्षर उच्यते) अक्षर कहते हैं क्योंकि वह विवेकी तथा निर्विकार है और अविनाशी भी होने के कारण विवेकी लोग उस को अक्षर कहते हैं ॥

टीका-"पुर" कहिये शरीर और शरीर में जो रहै उस का नाम पुरुष है, श्रीभगवान् जी कहते हैं कि नश्वर भाग एक प्रकार का पुरुष, अक्षर जीव दूसरे प्रकार का पुरुष है। यह अक्षर पुरुष सर्वदेह में व्याप्त रहता है, और उपाधि के अनुसार सूक्ष्म से सूक्ष्म वा स्थूल से स्थूल होता है। शरीर के कोई भी भाग में सुख दुःख हुआ कि जीव को उस का अनुभव होता है। इन दोनों पुरुषों में से जो श्रेष्ठ पुरुष है और जिस के अर्थ ये दोनों पुरुष बताये गये हैं उस का वर्णन आगे के श्लोक में करते हैं ॥

उत्तमःपुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
योलोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्ययईश्वरः ॥१७॥

अर्थ- (तु) परन्तु इन दोनों क्षर तथा अक्षर पुरुषों के समान किंतु इन से जो (अन्यः) विलक्षण वा निराला (उत्तमः पुरुषः) उत्तम पुरुष है वह श्रुतियों में (परमात्मा) परम उत्तम आत्मा (इति) इस नाम से (उदाहृतः) कहा गया है क्योंकि चैतन्यात्मक होने के कारण वह क्षर नाम अचेतन से बिलक्षण और परम होने के कारण अक्षर नाम भोक्ता से भी विलक्षण है, उस को परमात्मा कहते हैं क्योंकि (यः) जो (अव्ययः) निर्विकार वा अविनाशि और (ईश्वरः) सब

का स्वामी है वह (लोकत्रयम्) तीनों लोकों को (आविश्य) प्रवेश करके अर्थात् तीनों लोक के हृदय में घुस कर उस को (बिभर्त्ति) धारण वा पालन करता है । क्षर पुरुष से अक्षर श्रेष्ठ है परन्तु अक्षर से भी जो श्रेष्ठ है वह उत्तम पुरुष है। क्योंकि अक्षर पुरुष एक ही देह में व्याप्त रहता है परन्तु यह उत्तम पुरुष तीनों लोक में प्रत्येक देह में प्रवेश करके उनका धारण पोषण करता है और प्रतिबिंब जीव उसी का अंश है॥

अब आगे के श्लोक में अविवाद रूप से यह दरशाते हैं कि उक्तप्रकार का पुरुषोत्तम मैं ही हूं ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपिचोत्तमः ।
अतोऽस्मिलोकेवेदेच प्रथितःपुरुषोत्तमः ॥१८॥

अर्थ-(यस्मात्) जिस कारण से कि (अहम्) मैं नित्य मुक्त होने के कारण (क्षरमतीतः) नश्वर जड़ वर्ग से अतीत अर्थात् श्रेष्ठ हूं (च) और संसार का नियंता होने के कारण (अक्षरात्) अविनाशि चेतन वर्ग से (अपि) भी (उत्तमः) श्रेष्ठ हूं (अतः) अतएव (लोके) इस लोक में (च) वा (वेदे) वेदों में (पुरुषोत्तमः) पुरुषोत्तम नाम से (प्रथितः अस्मि) प्रख्यात हूं । श्रुति का वाक्य भी है कि-

" सर्वस्यायमात्मा सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वमिदं प्रशास्ति " इत्यादि-

टीका-जैसे सुवर्ण अलंकार से जुदा रहता है वैसे ही क्षरभाग से ईश्वर निराला है, और जैसे सुवर्ण अलंकार से उत्तम होता है वैसे ईश्वर क्षरभाग से उत्तम है । अक्षर पुरुष जो जीव है वह ईश्वर का अंश है तथापि वह ईश्वर के समान नित्यमुक्त न होने के कारण बद्ध है । यही दिखाने को " अक्षरादपि च " वाक्य कहा है । वेद जानने वाले लोग तो ईश्वर को मानते ही हैं, परंतु मूर्ख गंवार लोग भी यद्यपि उसे जानते नहीं तथापि यह क़बूल करते हैं कि ईश्वर मौजूद है, निदान दुःख में तो भी "राम राम देवदेव" कहते हैं । यह

आत " लोके प्रथितः " इस वाक्य से बताई है। लोक कहिये मनुष्य लोग, तो जो मनुष्य ईश्वर को नहीं मानते वे पशु हैं॥

इसप्रकार पुरुषोत्तम ईश्वर को जानने का फल आगे के श्लोक में कहते हैं॥

योमामेवमसंमूढो जानातिपुरुषोत्तमम्।
ससर्वविद्भजतिमां सर्वभावेनभारत॥ १९॥

अर्थ–हे (भारत) अर्जुन! (एवम्) इस उक्त प्रकार से (असंमूढः) निश्चिल मति करके (यः) जो ज्ञानी मनुष्य (मां पुरुषोत्तम्) मुझ पुरुषोत्तम को (जानाति) जानता है (सः) वह (सर्वभावेन) सर्व प्रकार से भावना सहित (माम्) मुझ को (भजति) भजता है इसी से (सर्ववित्) सर्वज्ञ हो जाता है॥

टीका–जो मनुष्य यह जानता है कि सर्व ब्रह्म ही है वही "सर्ववित्" है। वह "वासुदेवःसर्वमिति" इस भाव से भगवंत को भजता है। "एवं" शब्द से यह सुझाया है कि जैसा पहिले कह आये हैं, अर्थात् जो मनुष्य ईश्वर को क्षर से अतीत तथा अक्षर से भी उत्तम जानता है वही ज्ञानी है। वही क्षर वा अक्षर सब भगवंत ही को मान कर अद्वैत का अवलंबन कर सकता है। यहां पर केवल अद्वैत को लेकर वैठने वाले वा द्वैत मत वाले इन दोनों को दूषण दिया है। भला द्वैतवादी को दूषण देना तो ठीक ही है परंतु जो लोग अद्वैतमत जानने पर भी भगवंत की सर्वोत्तमता क़बूल नहीं करते उनके विषय में थोड़ा आगे कहते हैं। जहां सर्वत्र अद्वैत है वहां उत्तमता या अधमता कहां से आसक्ती है, यह पूर्व पक्ष मानो, उसका उत्तर यह है कि जिस स्थिति में अद्वैत है हो उसमें अद्वैत कहने का कारण ही नहीं होता परंतु जहां द्वैत दीख पड़ता है वहीं अद्वैत कहना पड़ता है ऐसा अद्वैत बोलकर नित्यमुक्त ईश्वर का भजन करे तब उस अद्वैत का अनुभव होता है। ईश्वर की उपाधि विद्या है अतएव वह मुक्त रहता है और चराचर अविद्या युक्त होकर बद्ध रहते हैं, तो बद्ध के शरण में यदि बंध जावेगा तो क्या लाभ हो सक्ता

है, वे दोनों रोते ही बैठेंगे अतएव नित्यमुक्त ईश्वर ही को सर्वोत्तम जान कर उसी का भजन करना चाहिये ॥

अब आगे इस अध्याय के अर्थ को समाप्त करते हैं। भगवान् कहते हैं कि इस में मैंने सब शास्त्रों वा वेदों का सिद्धांत कह दिया है॥

इतिगुह्यतमंशास्त्रमिदमुक्तंमयाऽनघ।
एतद्बुद्ध्वाबुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्चभारत॥२०॥

अर्थ—हे (अनघ) पाप रहित अर्जुन! (इति) इस प्रकार संक्षेप रूप से (इदम्) यह (गुह्यतमम्) अतिशय गुप्त रहस्य युक्त संपूर्ण (शास्त्रम्) शास्त्र का आशय (मया उक्तम्) मैंने तुम से कहा है अर्थात् इसको तू केवल २० श्लोक का अध्याय मात्र मत समझ किन्तु इतने ही में मैंने संपूर्ण वेदों का वा शास्त्रों का गूढ़ार्थ कह दिया है। तू अनघ अर्थात् व्यसन शून्य है अतएव हे (भारत) अर्जुन! (एतत्) इस को मेरा कहा हुआ (बुद्ध्वा) जानकर और खूब विचार कर तू (बुद्धिमान् स्यात्) सम्यक् ज्ञानी हो जावेगा (च) और (कृतकृत्यः) कृतार्थ भी हो जावेगा। इसको जान तथा मनन करके कोई भी कृतार्थ हो जावेगा तो फिर तेरे कृतकृत्य होने में क्या संदेह है क्योंकि तू ज्ञानी व मेरा एकांत भक्त है॥

"कृतकृत्य" का आशय यह है कि जिसको फिर और कुछ करने की आवश्यकता न पड़े॥

संसारशाखिनंभित्त्वा स्पष्टंपंचदशेविभुः।
पुरुषोत्तमयोगाख्ये परंपदमुपादिशत्॥

इस अध्याय के यह गूढ़ विषय की टीका भगवत्कृपा से ही पूर्ण हुई अतएव प्रेम पुरःसर इसे श्रीयुगलकेचरणारविंदों को अर्पण करता हूं॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुराणपुरुषोत्तमयोगो नाम पंचदशोऽध्यायः॥

अथ षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

ओंनमो भगवते वासुदेवाय ॥

आसुरींसम्पदंत्यक्त्वा दैवीमेवाश्रितानराः ।
मुच्यन्त्वइतिनिर्णेतुं तद्विवेकोऽथषोडशे ॥

अध्याय १५ के अंत में भगवान् ने कहा था कि "एतद् बद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत" अर्थात् इस तत्व को जानकर मनुष्य ज्ञानवान् तथा कृतकृत्य हो जाता है अतएव अब इस अध्याय में इस बात का विवेचन करते हैं कि उस गुह्य ज्ञान का कौन अधिकारी है तथा कौन नहीं अर्थात् यह कहेंगे कि दैवी संपत्ति के लोग जिन के लक्षण अध्याय ९ में सविस्तर वर्णन हो चुके हैं इस तत्वज्ञान के अधिकारी हैं। और आसुरी संपत्ति के लोग अधिकारी नहीं। भट्ट ने कहा भी है कि कार्यार्थ के निरूपण करने में उसके अधिकारी जानने की इच्छा होती है यथा—

„भारोयोयेनवोढव्यः सप्रागान्दोलितोयदा ।
तदाकस्तस्यवोढ़ेति शक्यंकर्त्तुंनिरूपणम्" ॥

अब प्रथम ३ श्लोकों में दैवी संपत्ति का वर्णन करते हैं जो इस गुह्य ज्ञान के अधिकारियों का विशेषण है ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

अभयंसत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानंदमश्चयज्ञश्च स्वाध्यायस्तपआर्जवम् ॥
अहिंसासत्यमक्रोधस्त्यागःशान्तिरपैशुनम् ।
दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवंह्रीरचापलम् ॥
तेजःक्षमाधृतिःशौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्तिसंपदंदैवीमभिजातस्यभारत ! ॥

अर्थ-हे (भारत) अर्जुन ! (अभयम्) जन्म मरण का भय न होना (सत्वसंशुद्धिः) चित्त की शुद्धि अर्थात् शुद्ध प्रसन्नता का होना, राग द्वेषादि का न होना (ज्ञानयोगव्यवस्थितिः) आत्मज्ञान के जो २ उपाय शास्त्रों में कहे हैं उनमें निष्ठा तथा आश्रय करना (दानम्) अपने खाने और भोगने के धन धान्यादि का यथोचित विभाग करके सत्पात्रों को अर्पण कर देना और धन का लोभ न रखना (च) और (दमः) बाहिरी इंद्रियों का निग्रह करना (च) और (यज्ञः) अधिकार के अनुकूल दर्श पौर्णमासादि सत्कर्म तथा नित्यपञ्च महा यज्ञादि करना (स्वाध्यायः) ब्रह्मयज्ञादि अर्थात् नियम से वेदाध्ययन तथा हरिगुण कीर्तनादि करना (तपः) कायिक वाचिक मानसिक तीन प्रकार के तप जो शारीरादि अगले अध्याय में कहेंगे उन का आचरण करना इन सब में भगवद्भजन रूपी तप सर्वोत्तम है (आर्जवम्) सरल स्वभाव॥१॥ (अहिंसा) मन, वाणी, शरीर करके परपीड़ा न करना (सत्यम्) सत्यभाषण अर्थात् जो देखा सुना हो उसको यथार्थ कहना (अक्रोधः) किसी के मारने पर चित्त में क्रोध न लाना (त्यागः) विषय वासनादि से उदासीनता रखना (शान्तिः) विवेक बल से कामादिक विकारों का चित्त में क्षोभ न होने देना (अपैशुनम्) परोक्ष में दूसरे के दोष प्रकाशित न करना (भूतेषु दया) प्राणिमात्र पर दया रखना (अलोलुप्त्वम्) आसक्ति या लोभ का अभाव और नीचों के सामने दीनता न करना (मार्दवम्) कोमलता (ह्रीः) ईश्वर को सर्व साक्षी मान किसी भी बुरे काम में प्रवृत्त होने की लज्जा चित्त में रखना (अचापलम्) बुद्धि को स्थिर रखकर व्यर्थ कर्म से रहित होना॥२॥ (तेजः) श्रेष्ठता के लक्षण वा ऐसी प्रगल्भता कि दृष्टि मात्र से दूसरों पर दबाव पड़े और कोई सहसा हंसी ठट्ठा न कर सके (क्षमा) परिभवादि हो जाने पर भी पर अपराध को सहनकर क्रोध

न लाना (धृतिः) स्वहित को धारण करके दुःखादि में चित्त को स्थिर रखना (शौचम्) वाहिरी वा भीतरी शुद्धता (अद्रोहः) दूसरे को घात न करने की इच्छा (नातिमानिता) अपनी श्रेष्ठता के विषय में गर्व न करना ये २६ प्रकार के लक्षण (दैवीं संपदम्) दैवी संपत्ति (अभिजातस्य) में अभिमुख अर्थात् प्राप्त होने वाले मनुष्य के (भवन्ति) होते हैं। अर्थात् देवताओं के योग्य जो सात्त्विकी संपत्ति है उस को प्राप्त करने का प्रयत्न करने वाले वा उससे कल्याण प्राप्त होने की इच्छा वाले पुरुष में ये सब लक्षण होते हैं ॥

अब आगे के श्लोक में आसुरी संपत्ति का वर्णन करते हैं॥

दंभोदर्पोऽभिमानश्च क्रोधःपारुष्यमेवच ।
अज्ञानंचाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥४॥

अर्थ—हे (पार्थ) अर्जुन ! (दंभः) अंतःकरण में श्रद्धा न रखकर इस अभिप्राय से धर्माचरण करना कि लोग हमको धर्मात्मा कहैं वा वारंवार अपने गुणों को बढ़ाकर कहना (दर्पः) गर्व अर्थात् धन विद्यादि का वा जाति वर्णाश्रमादि के निमित्त चित्त को उत्सुक करना वा उनका घमंड करना (च) और (अभिमानः) अपने किये हुए कर्म को बड़ा समझना तथा किसी के सामने नम्र न होना (क्रोधः) क्रोध के वशीभूत होजाना (एवच) और (पारुष्यम्) सब प्रकार की निष्ठुरता दिखाना (च) तथा (अज्ञानम्) अपने हितको न जानकर अविवेक रखना ये सब गुण (आसुरीम्) राक्षसों की (संपदम्) संपत्ति के (अभिजातस्य) अभिमुख होने वाले लोगों में हुवा करते हैं ॥

अब आगे इन दोनों संपत्तियों के कार्य दरशाते हैं ॥

दैवीसंपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरीमता ।
माशुचःसंपदंदैवीमभिजातोऽसिपाण्डव ! ॥५॥

अर्थ-(दैवीसंपत्) पूर्वोक्त प्रकार की देवतों की संपत्ति से युक्त होकर मेरे उपदेश किये हुए तत्वज्ञान के अधिकारी को (विमोक्षाय) मोक्षप्राप्त होता है और (आसुरी) राक्षसों की संपत्तियुक्त मनुष्य सदा संसारी होकर (निबन्धाय) बंधन में पड़ा रहता है ऐसा (मता) मेरा मत है, यह सुनकर अर्जुन इस संदेह में व्याकुल हो गया कि मैं देवी संपत्ति का अधिकारी हूं नहीं अतएव उस को संबोध करने के वास्ते अंतर्यामी भगवान् श्रीकृष्णचंद्र आनन्द कंद कहते हैं कि हे (पाण्डव) अर्जुन! तू (मा शुचः) शोक मतकर क्योंकि तू (दैवीम्) देव संबंधी (संपदम्) संपत्ति के (अभिजातः असि) अभिमुख हो चुका है और उस के सब लक्षण तुझ में वर्तमान हैं सो तू ज्ञानी भी हो चुका है॥

टीका- अविद्या के योग से मनुष्य को ऐसा बोध होता है कि जड़ देह है सो मैं ही हूं यद्यपि वास्तविक में आत्मरूप है ऐसी विपरीत भावना से मुक्त होने को मोक्ष न कहकर "विमोक्ष" कहा है उसी प्रकार आत्मा जड़ जगत् में प्राप्त होकर भी उस जगत् के जड़पन में सत्यरूप भासमान है। यह भी एक प्रकार की विपरीत भावना है, इनसे मुक्त होने को भी "विमोक्ष" कहा है। व्यतिरेक ज्ञान के द्वारा यह विपरीत भावना कि मैं देह हूं, नाश होती है और जगत् में जड़ता की विपरीत भावना अन्वय ज्ञान के द्वारा नाश होती है। अनादि अविद्या संबंध को "बंध" कहा है और इस अनादि बंध को आसुरी संपत्ति अधिक दृढ़ करती है, यह बात "निबंध" शब्द से सूचित की है। आसुरी संपत्ति के कारण भगवद्भक्तों से द्रोह जान पड़ता है, यानी बन पड़ता है और इस द्रोह के करने वालों को मोक्ष मिलना दुर्घट हो जाता है। ऐसा भगवान् आगे कहेंगे, साधारण अनादि संसार के बंध से कभी न कभी भगवत् प्रसाद से मोक्ष हो जाता है। परंतु

भगवद्भक्त से द्रोह करने वालों को कभी भी भगवत् तत्त्व का बोध नहीं होता, अतएव भगवान् ने कहा है कि आसुरी संपत्ति "निबंध" करने वाली है। अर्जुन को बड़ा ही भय हुआ कि आसुरी संपत्ति के जो लक्षण कहे हैं उन में से क्रोध अभिमान वगैरह तो मुझ में वर्तमान ही हैं। यह बात जानकर भगवान् ने उत्तरार्द्ध में उस का संशोधन किया है कि उत्तम कुल में जन्म लेनेवाला मनुष्य सहसा आसुरी संपत्ति के अभिमुख नहीं रहता। और यद्यपि क्रोध वा अभिमान आसुरी संपत्ति के लक्षण गिने जाते हैं, तथापि जो मनुष्य जन्म ही से दैवी संपत्ति के अभिमुख रहता है, उस को इन लक्षणों से धोखा नहीं होता। क्योंकि उस के यह अवगुण शीघ्र नाश ही से हो जाते हैं जैसे सोने में कोयला लगने से वह काला पड़ जाता है परन्तु उस से उस सुवर्ण में बट्टा नहीं लगता क्योंकि थोड़ा घिसने से वह फिर पूर्ववत् चमकने लग जाता है। इसी प्रकार उत्तम कुल में जन्म लेने वाले मनुष्य के अंग में उत्तम गुण रहते ही हैं और उन में एकाध क्षुद्र दुर्गुण रहा भी तो उस का महत्त्व नहीं रहता। भगवद्भक्ति की ओर बुद्धि की वृत्ति होना ही दैवी संपत्ति है, यह बात श्रीभगवान् जी ने अध्याय ९ में स्पष्ट कही है। देखो अध्याय ९ श्लोक १३।१४ तो जिस मनुष्य के हृदय में भगवद्भक्ति भरी हुई है, उस को क्रोध अभिमान इत्यादि क्षुद्र दोषों को दूर कर देने में भला कितनी देर लग सकती है॥

आसुरी संपत्ति सब प्रकार से त्यागने योग्य है इस हेतु से अब आगे उसी का वर्णन विशेष प्रकार से करते हैं॥

द्वौभूतसर्गौलोकेऽस्मिन् दैवआसुरएवच।
दैवोविस्तरशःप्रोक्त आसुरंपार्थ ! मेशृणु ॥ ६॥

अर्थ—हे (पार्थ) अर्जुन ! (अस्मिन् लोके) इस लोक में (भूतसर्गौ) सब चराचर सृष्टि (द्वौ) दो प्रकार की है अर्था-

त (दैवः) दैवी यानी देवसंबंधी (एवच) और (आसुरः) आसुरी यानी असुर संबंधी इन में से (दैवः) देवता संबंधी सृष्टि का वर्णन (विस्तरशः) विस्तार पूर्वक मैं (प्रोक्तः) कह चुका हूं, अब (आसुरम्) आसुरी सृष्टि का वर्णन (मे) मुझ से (शृणु) सुन ॥

टीका—अध्याय ९ के श्लोक १२ में आसुरी प्रकृति के लोगों के ३ विभाग किये हैं अर्थात् १ राक्षसी २ आसुरी ३ मोहनी इन तीनों के भेद "आसुर" शब्द के आगे "एव" शब्द जोड़ कर यहां दिखलाये हैं। और उस के आगे "च" शब्द जोड़कर चार्वाकादिक अनीश्वरवादी तथा दाम्भिक वेदवेत्ताओं की सूचना की है। और "द्वौ" शब्द से आसुरी राक्षसी दोनों प्रकृति के लोगों को एक ही में दरशाया है, इस से अध्याय ९ के श्लोक १२ में तथा इस श्लोक में कहे हुए प्रकृति भेद के अनुसार लोगों की संख्या में विरोध नहीं पड़ता, क्योंकि वहां ३ कहे यहां सिर्फ दो ॥

अब आगे १२ श्लोकों में चार्वाकादिक आसुरी प्रकृति के लोगों का विशेष वर्णन करते हैं, ये लोग वेद को भी नहीं मानते ॥

प्रवृत्तिंचनिवृत्तिंच जना न विदुरासुराः ।
नशौचंनापिचाचारो नसत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

अर्थ—(आसुराः) आसुरी स्वभाव वाले (जनाः) लोग (प्रवृत्तिम्) धर्म में प्रवृत्त होना (च) और (निवृत्तिम्) अधर्म से निवृत्त होना यह कुछ (च) भी (न विदुः) नहीं जानते अतएव (तेषु) उन लोगों में (न शौचम्) न तो शुद्धता (विद्यते) होती है (च) और (न आचारः) न आचार विचार (अपि) और (न सत्यम्) न सत्यता होती है ॥

टीका—काम्य कर्म के मार्ग को प्रवृत्ति तथा निष्काम कर्म के मार्ग को निवृत्ति कहते हैं, प्रवृत्ति मार्ग के लक्षण वाहिर

भीतर की शुद्धि और सदाचार हैं । और सत्यं अर्थात् ब्रह्म जानना यह निवृत्ति मार्ग का लक्षण है । अनीश्वर वादियों में ये दोनों मार्ग नहीं रहते । शौच वा आचार से चित्तशुद्धि हुई कि सत्यस्वरूप का शोधन करना बनता है । कर्मातीत हुए परमहंस में भी शौच तथा आचार नहीं रहते, परन्तु उन को अनीश्वरवादी नहीं कह सकते, क्योंकि उन की बुद्धि में सत्य-स्वरूप के सिवाय और किसी का प्रकाश नहीं रहता । इन जीवन्मुक्त पुरुषों को कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि वे कर्मातीत हुए होते हैं । वेद प्रतिपादित मार्ग से चलने वालों में भी दंभादि होने पर सत्य नहीं रहता, परन्तु उन को असुर नहीं कह सकते, तो इस श्लोक का यह आशय हुआ कि जिन का मत वा वर्ताव वेद विरुद्ध है वेही असुर हैं ॥

वेद प्रतिपादित धर्म अधर्म में प्रवृत्ति निवृत्ति क्यों नहीं जानते, तथा धर्म और अधर्म के अंगीकार न करने से जगत् में सुख दुःखादि व्यवस्था कहां से होती है और शौच आचा-रादि के विषय में ईश्वर की आज्ञा न पालने से, और ईश्वर को अंगीकार न करने से कैसे वा कहां से जगत् की उत्पत्ति हो सकती है, ऐसा कहने वालों के विषय में आगे कहते हैं ॥

असत्यमप्रतिष्ठंते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

अर्थ-(ते) वे असुर लोग (आहुः) कहते हैं कि इस (जगत्) जगत् को वेद पुराणादि का प्रमाण नहीं है अर्थात् वे लोग वेद पुराणादि में दिये हुए प्रमाणादि को नहीं मानते किन्तु कहते हैं कि (असत्यम्) इस जगत् के असत्य होने से ब्रह्म कोई नहीं है, उन की उक्ति है कि " त्रयोवेदस्यकर्त्तारो भण्डधूर्त्तनिशाचराः " अतएव उन के मतानुसार इस जगत् में धर्म अधर्म रूपी (अप्रतिष्ठम्) प्रतिष्ठा अर्थात् व्य-वस्था भी नहीं है यानी वे कहते हैं कि जगत् का अधिष्ठान

रूप ब्रह्म नहीं है और केवल स्वभाव से ही यह जगत् चित्र-विचित्र हो रहा है। इसी कारण यह भी उन का सिद्धान्त है कि इस जगत् में (अनीश्वरम्) ईश्वर ही नहीं है यानी इस की कोई व्यवस्था करने वाला और उत्पन्न करने वाला ईश्वर नहीं है। उन का कहना यह है कि यह जगत् (अपरस्परसंभूतम्) प्रकृति पुरुष के परस्पर संयोग से नहीं बल्कि स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है और यह (कामहैतुकम्) केवल काम वासना इस का हेतु है (अन्यत्) दूसरा (किम्) क्या है अर्थात् स्त्री पुरुष के काम प्रवाह के सिवाय और कोई हेतु वा कारण इस जगत् के उत्पन्न होने का नहीं है, यानी यह कामदेव का प्रवाह न होता तो जगत् भी न उपजता इस में ईश्वर की क्या महिमा वा कौन सी चतुराई है॥

टीका—"सत्य" का अर्थ यहां ब्रह्म है और "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् यह सब ब्रह्म है ऐसा वेद का भी वाक्य है। इस गीता में सर्वत्र अद्वैत का प्रतिपादन किया है और इसी अध्याय के श्लोक ७ में भगवान् कहि चुके हैं कि "न सत्यं तेषु विद्यते" अर्थात् जो जगत् को ब्रह्म नहीं जानता वह ब्रह्म को नहीं समझता और न उस में ब्रह्म है। वे आसुरी प्रकृति के अनीश्वरवादी लोग यह नहीं मानते कि यह जगत् अधिष्ठान रूप ब्रह्म में स्थित है क्योंकि खुद उपादान कारण ब्रह्म ही को वे नहीं मानते, तो फिर निमित्त कारण ईश्वर का उनके पास क्या ठिकाना है। जो अपने बाप को बाप नहीं कहता वह क्या काका को काका कहने वाला है॥

वे कहते हैं कि केवल कामदेव को शांत करने के हेतु स्त्री पुरुष का संयोग होता है, उसीसे शरीर उत्पन्न होता है और कोई कारण जगत् की उत्पत्ति का नहीं। ईश्वर दीखता नहीं पूर्व कर्म भी दीखता नहीं, जन्मांतर भी दीखता नहीं, तो ये सब मिथ्या हैं, जो दीख पड़े सोई सही है॥

अब आगे कहते हैं कि ये अनीश्वरवादी ईश्वर का भय नहीं रखते, अतएव जो चाहें सो निंद्यकर्म करने में चूकते नहीं ॥

एतांदृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयायजगतोऽहिताः ॥९॥

अर्थ—ऐसी लोकविरुद्ध (दृष्टिम्) दृष्टि को (अवष्टभ्य) आश्रय करके ये (नष्टात्मानः) नष्टवा मलिन चित्त वाले हो कर (अल्पबुद्धयः) अल्पबुद्धि दृष्टार्थ मात्र मानने वाले अतएव (उग्रकर्माणः) हिंसक कर्म करके (जगतः) जगत् के (अहिताः) वैरी होकर उस के (क्षयाय) नाश करने के हेतु (प्रभवंति) तैयार हो जाते हैं और—

काममाश्रित्यदुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥१०॥

अर्थ—(दुष्पूरम्) जो कभी तृप्त न हो ऐसी (कामम्) कामना का (आश्रित्य) आश्रय करके (दम्भमानमदान्विताः) पाखंड अभिमान तथा मद संयुक्त होकर (मोहात्) अविवेक के द्वारा ऐसा विचार के कि अमुक मंत्र के साधन से हम अमुक देवता को प्रसन्न करके बड़ा धन भूमि इत्यादि प्राप्त करेंगे ऐसे २ (असद्ग्राहान्) असत् कर्मों का (गृहीत्वा) अवलंबन करके (अशुचिव्रताः) मद्य मांसादि अशुद्ध २ विषयों का सेवन करते हैं जो चाहे सो निंदित कर्मों में (प्रवर्त्तन्ते) प्रवृत्त होते हैं और—

चिंतामपरिमेयांच प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदितिनिश्चिताः ॥११॥

अर्थ—ये लोग ऐसी (चिन्ताम्) चिंता को (आश्रिताः) अपना आश्रय समझते हैं अर्थात् ऐसी चिन्ता में डूबे रहते हैं जो (अपरिमेयाम्) नापी नहीं जा सकी अर्थात् जिसका प्रमाण वा अंत नहीं है (च) और जो (प्रलयांताम्) मरने

पर ही अंत होतीहै यानी उन्हें जीवन पर्यन्त नित्य चिंता ही लगी रहती है। पुनः ये लोग(कामोपभोगपरमाः) विषयों के भोग में ही तत्पर रहते हैं यानी विषय भोग ही को परम पुरुषार्थ समझते हैं और उन को (इति) यही (निश्चिताः) दृढ़ निश्चय रहता है कि (एतावत्) यह जो विषय भोग है वही अपना कर्तव्य होकर इसके सिवाय और कुछ नहीं है। श्रुति भी कहती है कि "काम एवैकःपुरुषार्थइति" "चैतन्य विशिष्टः कामः पुरुष. इति" अतएव—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्तेकामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥

अर्थ—(आशापाशशतैर्बद्धाः) आशा रूपी जो जाल है वैसे सैकड़ों जालों में फंसे रहते हैं इधर उधर खींचे जाते हैं और (कामक्रोधपरायणाः) काम क्रोध को ही अपना परम आश्रय मानते हैं अर्थात् उन्हीं के वशीभूत हो रहते हैं। तथा इन्हीं (कामभोगार्थम्) विषयों के सुख भोग के हेतु (अन्यायेन) चोरी आदि अनेक अन्यायों के द्वारा (अर्थसंचयान्) द्रव्य के संचयों को (ईहन्ते) चेष्टा वा उद्योग करते रहते हैं अर्थात् धन इकट्ठा करने की फ़िकरों में ही डूबे रहते हैं ॥

इन के मनोरथ कहकर आगे ४ श्लोकों में उसका फल नरक बताते हैं—

इदमद्यमयालब्धमिमंप्राप्स्येमनोरथम् ।
इदमस्तीदमपिमे भविष्यतिपुनर्धनम् ॥१३॥
असौमयाहतःशत्रुर्हनिष्येचापरानपि ।
ईश्वरोहमहंभोगी सिद्धोऽहंबलवान्सुखी ॥१४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योस्तिसदृशोमया।
यक्ष्येदास्यामिमोदिष्यइत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रांता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताःकामभोगेषु पतन्तिनरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

अर्थ-(अद्य) आज (मया) मैंने (इदम्) यह (लब्धम्) प्राप्त कर लिया है अब आगे (इमम्) इस (मनोरथम्) अपने मन के प्रिय वस्तु को (प्राप्स्ये) प्राप्त करूंगा तथा (इदम्) यह (धनम्) धन (मे) मेरे पास (अस्ति) अभी है और (इदम्) यह (अपि) भी (पुनः) फिर से मेरा धन (भविष्यति) होगा । यानी जो अभी मौजूद है सो तो मेरा धन है ही परंतु इस के अलावह और भी धन मुझे मिलेगा और फिर २ भी मुझे यही धन मिलेगा ॥ १३ ॥

(असौ) यह (शत्रुः) वैरी (मया हतः) मैंने मार लिया वा परास्त कर लिया है (च) और (अपरान्) अन्यान्य शत्रुओं को (अपि) भी मैं (हनिष्ये) मारूंगा (अहम्) मैं (ईश्वरः) बड़ा समर्थ हूं, (अहम्) मैं ही (भोगी) संपूर्ण पदार्थों का उपभोग लेने वाला हूं (अहम्) मैं (सिद्धः) कृतकृत्य हूं । मैं ही (बलवान्) बलवान् हूं मैं ही (सुखी) सुख भोगता हूं ॥ १४ ॥

(आढ्यः) धनादि से संपन्न (अभिजनवान्) कुलीन (अस्मि) मैं ही हूं (मया सदृशः) मेरे समान (अन्यः) दूसरा (कः) कौन (अस्ति) है । मैं यज्ञादि (यक्ष्ये) अनुष्ठान करके दीक्षितान्तरों के द्वारा बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त करूंगा, लोगों को बहुत सा (दास्यामि) दान दूंगा (मोदिष्ये) हर्ष प्राप्त करूंगा आनन्द उड़ाऊंगा, मौज करूंगा (इति) इस प्रकार के (अज्ञानविमोहिताः) अज्ञान से मूढ़ हो रहे हैं अर्थात् मोह को प्राप्त हो रहे हैं ॥ १५ ॥

इस प्रकार के (अनेकचित्तविभ्रान्ताः) अनेक मनोरथों में प्रवृत्त होकर उन का चित्त विक्षिप्त होकर वे भ्रम में भूल जाते हैं, इसी कारण (मोहजालसमावृताः) मोहरूपी जाल में मछलियों के समान फंसे रहते हैं और इस प्रकार (कामभोगेषु) विषयों के भोगों में (प्रसक्ताः) अत्यंत आसक्त हो

कर (अशुचौ) अशुद्ध वा कल्मषयुक्त (नरके) नरकों में (पतन्ति) जा पड़ते हैं ॥ १६ ॥

टीका—श्लोक १५ के पूर्वार्द्ध पर्यंत वेद को न मानने वाले चार्वाक इत्यादि असुरों का वर्णन किया है। उत्तरार्द्ध में वैदिक असुरों का वर्णन है, भला अवैदिकों को नरक प्राप्त होना ठीक ही है परंतु जो लोग धनमानादिक मिलने के हेतु से दांभिकपन से वैदिक कर्मों का आचरण करते हैं उन को भी नरक होता है ॥

ऊपर जिस के ओ२ मनोरथ कहे हैं सो जहां दंभाहंकार प्रधान हैं, वहीं ये सब होते हैं परंतु सात्विक स्वभाव में नहीं, इस अभिप्राय से आगे के दो श्लोक कहते हैं ॥

आत्मसंभाविताःस्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्तेनामयज्ञैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जो लोग (आत्मसंभाविताः) अपने मन ही से अपने को मान देते हैं अथवा उत्तम अन्न वस्त्र अलंकार आदि से अपनी ही देह की पूजा करते हैं किन्तु कोई साधु उन्हें मान नहीं देता इसी कारण जो (स्तब्धाः) नम्र नहीं होते किंतु (धनमानमदान्विताः) धन के मान से वा मद से युक्त होते हैं (ते) वे लोग (नामयज्ञैः) केवल नाम मात्र के यज्ञों द्वारा (यजन्ते) पूजन करते हैं अर्थात् उन के यज्ञादि कर्म नाममात्र के ही समझो क्योंकि उन के वे सब कर्म (दम्भेन) पाखंड के द्वारा होते हैं, श्रद्धा से नहीं, अतएव (अविधिपूर्वकम्) विधि पूर्वक भी नहीं होते, ऐसे लोगों को नरक प्राप्त होना ठीक ही है। ये असुर साधारण कोटी के समझो, इनके गुरु गोवर्धननाथ निराले ही हैं, जो अविधिपूर्वक कर्म करने में शिरोमणि हैं, जिन का वर्णन आगे के दो श्लोकों में करते हैं।

अहंकारंबलंदर्पं कामंक्रोधंचसंश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

अर्थ—ये लोग (अहंकारम्) अहंकार (बलम्) पौरुष

(दर्पम्) गर्व (कामम्) कामना (च) और (क्रोधम्) क्रोध का (संश्रिताः) आश्रय लेकर बैठले हैं और (आत्मपरदेहेषु) अपनी देह में तथा पराई देहों में जो चिदंशरूप से मैं स्थित हूं सो उस (माम्) मुझ को (प्रद्विषन्तः) विशेष द्वेष भाव से जानकार यजन करते हैं अर्थात् दंभयज्ञ में श्रद्धा का अभाव होने के कारण आत्मा को वृथा ही पीड़ा होती है। तथा पशु आदि की हिंसा भी विधिपूर्वक न होने से केवल चैतन्य का द्रोह ही होता है। और यही चैतन्य परमेश्वर से द्वेष करना है, सो वे लोग करते हैं और वे (अभ्यसूयकाः) सन्मार्ग में चलने वालों के गुणों में दोषारोपण भी किया करते हैं अर्थात् ज्ञानी भक्तों से द्वेष वा उनकी निंदा करते हैं, इसी कारण ईश्वर से भी द्वेष और उस की भी निंदा करते हैं ॥

टीका—जिस देह में आत्मा ही पर अर्थात् परम है और आत्मा प्रगट होने से जीवपन नहीं रहता उस को भी "आत्मपरदेह" कहते हैं। उस में भगवद्दतार की योग्यता आजाती है, और उस की बुद्धि में भी सब कुछ आत्मा ही दीखता है ऐसी ही देह ज्ञानी भक्त की समझो।

प्रारब्ध भोगने पर्यंत ज्ञानी भक्त की देह का देहभाव सब की दृष्टि में आता है, अतएव ज्ञान मार्ग के द्वेष करने वाले दांभिक याज्ञिक लोग ज्ञानी भक्त से द्वेष वा उस की निंदा करने लगते हैं। वे लोग यह नहीं समझते कि यह द्वेष वा निंदा भगवंत की ही होती है जो लोग अपने आत्मा को भगवंत ही जानकर चराचर जगत् को भगवद्रूप देखते हैं, उन्हीं सगुण भक्तों का यहां वर्णन है क्योंकि जो निर्गुण निर्धर्म होता है उस को द्वेष लगही नहीं सकता। और न वह कुछ फल दे सकता है जैसा कि भगवान् आगे के श्लोक में फल देना कहेंगे। सगुण निर्गुण एक सही हैं परंतु निर्गुण को न तो भजन मालूम पड़े और न द्वेष जान पड़े, अतएव वह न भजन का और न द्वेष का फल दे सकता है। यह उन का लक्षण अनादि है तो द्वेष वा भजन का फल देने वाला एक सगुण भ-

गवंत ही है। उन्हों ने कहा भी है कि "तेषामहं समुद्धर्ता" अध्याय १२ श्लोक ७ तथा "येयथामांप्रपद्यंते" अध्याय ४ श्लोक ११। श्रीमद्भागवत के स्कंध ११ अध्याय ५ श्लोक ९ भी देखो-

श्रियाविभूत्याभिजनेनविद्यया,
त्यागेनरूपेणबलेनकर्मणा।
जातस्मयेनान्धधियःसहेश्वरान्,
सतोऽवमन्यन्तिहरिप्रियान्खलाः॥

यहां "सहेश्वर" शब्द से सगुण ईश्वर ही बताया है।

अब आगे के श्लोक में भगवान् यह शिक्षा कहते हैं कि जो वे ऐसे असुरों को देते और कहते हैं कि इन लोगों का असुर भाव कदापि दूर नहीं हो सकता॥

तानहंद्विषतःक्रूरान्संसारेषुनराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेवयोनिषु ॥१९॥

अर्थ-(तान्) उन (द्विषतः) द्वेष करने वाले (क्रूरान्) कर्कश (अशुभान्) पापी (अधमान्) अधम (नरान्) मनुष्यों को जो मेरे भक्तों से तथा मुझ से द्वेष करते हैं (अहम्) मैं (संसारेषु) जन्म मृत्यु मार्ग में और वहां भी व्याघ्रसर्पादि की (आसुरीषु) असुर संबंधी नीची (योनिषु) योनियों में (अजस्रम्) निरंतर (क्षिपामि) फेंका करता हूं अर्थात् उन के पाप कर्मों का ऐसा ही फल दिया करता हूं और फिर वहां पर-

आसुरींयोनिमापन्ना मूढाजन्मनिजन्मनि।
मामप्राप्यैवकौन्तेय ततोयान्त्यधमांगतिम् ॥२०॥

अर्थ-हे (कौन्तेय) अर्जुन! वे लोग (आसुरीं योनिम्) उक्त प्रकार असुरों की योनि को (आपन्नाः) प्राप्त होकर (जन्मनि जन्मनि) जन्म जन्मान्तर पर्यंत (मूढाः) मूढ अर्थात् ज्ञानमार्गसे विमुख बने रहते हैं और (माम्) मुझ को प्राप्त होने के जो सन्मार्गादि उपाय हैं उन (एव) तक को भी (अप्राप्य) न पाकर (ततः) उस के पश्चात् (अधमां गतिम्) कृमि

कीटादि की गति से जो और भी अधमगति है उस को (यान्ति) प्राप्त होते हैं। मेरे भक्तों की कृपाके विना मेरी प्राप्ति नहीं होती, और भक्तों का द्रोह मुझसे सहा नहीं जाता ॥

जो असुरोंके दोष ऊपर कहे हैं उनमें से सबके मूल कारण मूल तीन दोष हैं जो आगे कहते हैं कि जो सर्वथा वर्जनीय हैं ॥

त्रिविधंनरकस्येदं द्वारंनाशनमात्मनः ।
कामःक्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्त्रयंत्यजेत् ॥२१॥

अर्थ (कामः) काम (क्रोधः) क्रोध तथा (लोभः) लोभ (इदम्) यह (त्रिविधम्) तीनों प्रकार का (नरकस्य) नरक का (द्वारम्) दरवाजा है, अतएव यही (आत्मनः) आत्मा का (नाशनम्) नाश करने वाला अर्थात् नीच योनि में पहुंचाने वाला है (तस्मात्) इसी कारण से (एतत्) इन (त्रयम्) तीनों यानी इन तीनों का समूह (त्यजेत्) त्यागने योग्य हैं। इन के त्यागने का विशेष फल आगे कहते हैं ॥

एतैर्विमुक्तःकौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनःश्रेयस्ततोयातिपरांगतिम् ॥२२॥

अर्थ–हे (कौन्तेय) अर्जुन ! (एतैः) इन (त्रिभिः) तीनों (तमोद्वारैः) नरक के द्वार रूपी कामादि अवगुणों से (विमुक्तः) विशेष करके मुक्त जो (नरः) मनुष्य हो जाता है वह (आत्मनः) अपने (श्रेयः) कल्याण का (आचरति) आचरण अर्थात् तप योगादि का साधन करता लेता है। और (ततः) उसके पश्चात् (परां गतिम्) परमोत्तम गति अर्थात् मोक्ष को (याति) प्राप्त करता है। औषधि तब गुण करती है जब खटाई मिठाई इत्यादि त्याग देवै तैसे ही जप पाठादिक शुभ कर्म तब फल देंगे जब प्रथम कामादि का त्याग होगा। इस त्याग से अंतर्मुख वृत्ति होगी उस से विचार बढ़ेगा, विचार से ज्ञान और ज्ञान से मुक्ति होती है ॥

अब आगे कहते हैं कि स्वधर्माचरण के बिना कामादि का त्याग भी नहीं बन पड़ता है और यह उन का प्रसंग है जो वेदशास्त्रों के अधिकारी होकर जान बूझ के शास्त्रोक्त

विधि का उल्लंघन करते हैं। ज्ञानी जन कृतकृत्य हैं, उन का यहां प्रसंग नहीं, न अनजान लोगों का प्रसंग है, अन्य द्वीप निवासी तथा अन्य मत वालों का भी यह प्रसंग नहीं क्योंकि इन सब का वर्णन अर्जुन के प्रश्न पर अध्याय १७ में होगा॥

यःशास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्ततेकामकारतः।
नससिद्धिमवाप्नोति नसुखंनपरांगतिम् ॥२३॥

अर्थ-(यः) जो कोई (शास्त्रविधिम्) वेद विहित धर्म को (उत्सृज्य) त्याग के (कामकारतः) कामनायुक्त होकर अपनी इच्छानुसार (वर्तते) बर्ताव करता है (सः) वह (न) न तो (सिद्धिम्) तत्वज्ञानरूपी सिद्धि को (अवाप्नोति) प्राप्त करता है (न सुखम्) न उपशम आदि सुख और (न परां गतिम्) न उत्तम गति यानी मोक्ष पाता है अतएव-

तस्माच्छास्त्रंप्रमाणंते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वाशास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

अर्थ-(तस्मात्) इसी कारण कौनसा कर्म (कार्याकार्य व्यवस्थितौ) किस प्रकार से करने योग्य है, कौनसा न करने योग्य है इस की व्यवस्था वा निर्णय करने में (शास्त्रम्) श्रुति स्मृति पुराणादिक ही (ते) तेरे लिये (प्रमाणम्) प्रमाण हैं अर्थात् इन्हींके वाक्यों को प्रमाण समझ और (शास्त्रविधानोक्तम्) शास्त्रों में कही हुई विधि को (ज्ञात्वा) जानकर तुझे (इह) इस कर्माधिकार लोक में अपने अधिकार के अनुसार (कर्म कर्तुम्) कर्म करना (अर्हसि) योग्य है और इसका सूल "अभयं सत्वसंशुद्धिः" इत्यादि किये हुए उपदेश का सम्यक् ज्ञान है। कभी भी शास्त्र के वाक्यों में अपनी बुद्धि नहीं भिड़ाना चाहिये।

यह सोलहवें अध्याय की टीका श्रीयुगल चरणारविंदों की कृपासे समाप्त हुई, अतएव विनय पूर्वक उन्हींको अर्पण करताहूं।

दैवदैतेयसंपत्तिः सविभागेनषोडशे।
तत्वज्ञानेऽधिकारस्तु सात्विकस्येतिदर्शितम् ॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः॥

॥ अथ सप्तदशोऽध्यायः ॥

ओंनमो भगवते वासुदेवाय ॥

उक्ताधिकारहेतूनां श्रद्धामुख्योचसात्विकी ।
इतिसप्तदशेगौण-श्रद्धाभेदस्त्रिधोच्यते ॥

अध्याय १६ के अंत में "यःशास्त्रविधिमुत्सृज्य" इत्यादि वाक्यों से भगवान ने यह सूचित किया है कि जो शास्त्र की विधि त्याग के केवल कामचार से इच्छानुसार वर्तता है, उस को ज्ञान में अधिकार नहीं होता । और इसी से उत्तमगति भी नहीं मिलती, यह सुनकर अर्जुन को इस बात के जानने की इच्छा हुई कि जो शास्त्र विधि को त्याग के परंतु बिना कामचार के श्रद्धा रखकर वर्तता है । उस को कोई अधिकार है या नहीं, और यदि है तो कौन सा अतएव प्रश्न करता है।

अर्जुन के इस प्रश्न से वे लोग नहीं समझना चाहिये, जो शास्त्रार्थ को जानकर भी उसका उल्लंघन करते हैं, क्योंकि उन में श्रद्धा तो भी रहती है, जिस में ठीक श्रद्धा होगी वह शास्त्र का अर्थ जानकर, उल्लंघन नहीं कर सकता ॥

आस्तिकी बुद्धि ही श्रद्धा है और जिन को शास्त्र का ज्ञान है उन को शास्त्र विरुद्ध अर्थ में श्रद्धा नहीं हो सकती, इन्हीं के अधिकार दिखाने के हेतु भगवान् ने "त्रिविधाभवति श्रद्धा" श्लोक २ वा "यजन्ते सात्विकादेवान्" श्लोक ४ उसी प्रकार के उत्तर दिये हैं । अतएव यहां पर शास्त्र को उल्लंघन करने वाले नहीं लेना चाहिये, किन्तु वे लोग लेना चाहिये जो क्लेश बुद्धि से अथवा आलस से शास्त्रार्थ को जानने का प्रयत्न न करके केवल आचार परम्परा के वशीभूत होकर श्रद्धा पूर्वक देवता के आराधनादि में प्रवृत्त होते हैं। अतएव अर्जुन का प्रश्न लिखकर उस का यही अर्थ उसके नीचे लिखा जावेगा॥

अर्जुनउवाच ।

येशास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्तेश्रद्धयान्विताः ।
तेषांनिष्ठातुकाकृष्ण सत्वमाहोरजस्तमः ॥१॥

अर्थ-हे (कृष्ण) श्रीकृष्ण ! (ये) जो लोग दुःख बुद्धि से अथवा आलस से (शास्त्रविधिम्) शास्त्रोक्त विधि को (उ-त्सृज्य) छोड़ के अर्थात् अनादर करके केवल आचार परम्परा के प्रमाण से (श्रद्धयान्विताः) श्रद्धायुक्त होकर (यजन्ते) यजन इत्यादि करते हैं (तेषाम्) तिन को (का) क्या (निष्ठा) स्थिति है वा क्या आश्रय है अर्थात् उन की वह श्रद्धा कौन प्रकार की है उसी को विशेष प्रकार से पूछता है कि वह निष्ठा क्या (सत्वम्, आहो) सतोगुणी कही जाती है अथवा (रजः) रजोगुणी अथवा (तमः) तमोगुणी ॥

टीका--शास्त्रोक्त निष्काम कर्म करना कार्य है, सकाम कर्म करके ईश्वर को अर्पण करना अकार्य है, इन दोनों की व्यवस्था यहां तक हो चुकी है। और अर्जुन को यह जान पड़ा कि निष्काम कर्म करके कृष्णार्पण कर देना ही असाधा-रण मोक्ष साधन है। और जिस श्रद्धा से ऐसा कर्म होवे वह शुद्ध सत्व गुणयुक्त होती है। अतएव अर्जुन ने यह प्रश्न किया है कि जो लोग दुःख वा आलस से शास्त्र विधि छोड़कर परंतु श्रद्धा से कर्म करते हैं, उन की श्रद्धा मिश्रसत्व है, या राजस है, या तामस है, अर्थात् कौन से गुण युक्त समझना चाहिये इस का उत्तर भगवान् आगे देते हैं-

श्रीभगवानुवाच ।

त्रिविधाभवतिश्रद्धा देहिनांसास्वभावजा ।
सात्विकीराजसीचैव तामसीचेतितांशृणु ॥२॥

अर्थ-जो लोग शास्त्रतत्त्व से ज्ञान में प्रवृत्त होते हैं उन की परमेश्वर पूजा संबंधी एकही प्रकार की सात्विकी श्रद्धा होती है, परंतु लोकाचार मात्र में प्रवृत्त होने वाले (देहि-नाम्) देहधारियों की जो श्रद्धा होती है (सा) वह (श्रद्धा)

श्रद्धा (सात्त्विकी) सतोगुणी (राजसी) रजोगुणी (चैव) और (तामसी) तमोगुणी (च) भी (इति) ऐसी (त्रिविधा) तीन प्रकार की (भवति) होती है। उस का कारण यह है कि वह (स्वभावजा) पूर्व संस्कार से उत्पन्न होती है, और इन लोगों में शास्त्रों से प्राप्त वह विवेक ज्ञान नहीं रहता, जिस के द्वारा उन का स्वभाव अर्थात् पूर्व संस्कार बदल सक्ता हो। अतएव केवल पूर्व संस्कार से उत्पन्न होने वाली श्रद्धा ही तीन प्रकार की होती है और भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! (ताम्) उसी तीन प्रकार की श्रद्धा का मैं वर्णन करता हूं सो (शृणु,) सुन यही बात अध्याय २ के श्लोक ४१ "व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह" में कही है ॥

श्रीमद्भागवत स्कंध ११ में श्रीकृष्ण जी ने उद्धव से कहा है कि सत्वकार्य के हेतु श्रद्धा सात्विकी होती है ॥

"शमोदमस्तितिक्षाच तपःसत्यंदयास्मृतिः ।
तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहाश्रद्धा ह्रीर्दयादिःस्वनिर्वृतिः ॥

इत्येताःसत्ववृत्तयः ॥ अर्जुन शंका करता है कि अब यहां श्रीकृष्ण उस श्रद्धा को क्यों तीन प्रकार की कहते हैं इस के समाधान में श्रीकृष्ण जी आगे कहते हैं कि जो मैंने आगे कहा है वह सत्य है तथापि रज तम में मिश्रित होने से सत्व तीन प्रकार का हो जाता है, अतएव श्रद्धा भी त्रिविध हो जाती है।

सत्त्वानुरूपासर्वस्य श्रद्धाभवतिभारत ! ।
श्रद्धामयोऽयंपुरुषो योयच्छ्रद्धःसएवसः ॥ ३ ॥

अर्थ—हे (भारत) अर्जुन ! (सर्वस्य) चाहें विवेकी अथवा अविवेकी हों परन्तु सब मनुष्यों की श्रद्धा (सत्वानुरूपा) सत्व गुण के तारतम्य के अनुसार अर्थात् जितना सत्व का अंश हो उसी के अनुसार (भवति) होती है। अतएव (अयं पुरुषः) यह पुरुष लौकिक श्रद्धा का विकार है, अर्थात् त्रिविध श्रद्धा इस को घेरे फिरती है इसी कारण (यः) जि-

सकी (यत्) जो वा जैसी श्रद्धा है (सः) वह (सएव) वही नाम उसी प्रकार का हो जाता है ॥

टीका-जो कोई पहिले सत्त्व के बढ़ने से सात्त्विक श्रद्धा युक्त होता है, जो रज के बढ़ने से राजस श्रद्धा युक्त होता है, वह फिर भी वैसा ही रहता है। और जो तमोगुण के बढ़ने से तामस श्रद्धायुक्त होता है, वह भी फिर वैसा ही हो जाता है। अर्थात् लोकाचार मात्र के अनुसार प्रवृत्त होने से इस प्रकार सात्त्विक राजस वा तामस श्रद्धा की व्यवस्था होती है। परन्तु जिन को शास्त्रानुसार वर्तने से विवेक वा ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, उन को उन का स्वभाव विजय करके एक सात्त्विकी ही श्रद्धा में प्रवृत्त करता है। मूल श्रद्धा शुद्ध सत्त्वरूप है, तथापि मिश्रण के अनुसार उस के जुदे २ प्रकार हो जाते हैं। शुद्ध सत्त्वात्मक श्रद्धा निवृत्ति मार्ग धरती है, राजसी तामसी श्रद्धा प्रवृत्ति मार्ग धरती है, और श्रद्धामय जीव जो जो भाव मन में धरेगा, वही रूप उस का होगा। यही आशय अध्याय ८ श्लोक ६ " यंयंवापिस्मरन्भावं त्यजत्यन्तेकलेवरम् " में दरशाया है। ६ अध्याय के ७ श्लोक २१-२२ में भी श्रद्धानुसार स्वभाव बताया है। शुद्ध सत्त्वात्मक श्रद्धा वाला मुमुक्षु हो कर भगवत् का सेवन करता है। अब मिश्र सत्त्वात्मक राजसी वा तामसी श्रद्धा वाले जैसा वर्ताव करते हैं वह आगे कहते हैं ॥

यजन्तेसात्त्विकादेवान् यक्षरक्षांसिराजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्तेतामसाजनाः ॥४॥

अर्थ-(सात्त्विकाः) सतो गुणी लोग सत्त्व प्रकृति वाले (देवान्) देवतों को (यजन्ते) पूजते हैं (राजसाः) रजोगुणी लोग (यक्षरक्षांसि) यक्षों तथा राक्षसों को पूजते हैं (च) और इन दोनों से विलक्षण जो (अन्ये) और (तामसा जनाः) तमोगुण प्रधान लोग हैं वे तामसी (प्रेतान् भूतगणान्) प्रेत तथा भूतगणों को (यजन्ते) पूजते हैं अर्थात् जो लोग जिस प्रकृति के होते हैं वे उसी प्रकृति वाले को पूजते हैं और दे-

होने पर उसी का स्वरूप पाते हैं। श्री महाराज भी उसी श्रद्धा को दृढ़ कर देते हैं जैसा अध्याय ७ श्लो० २१ में कहा है। अब आगे दो श्लोकों में राजसी तामसी लोगों में विशेष अंतर कहते हैं ॥

अशास्त्रविहितंघोरं तप्यन्तेयेतपोजनाः ।
दंभाऽहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥
कर्षयन्तःशरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मांचैवान्तःशरीरस्थंतान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ६॥

अर्थ—कोई २ लोग शास्त्रविधि को न जानने पर भी प्राचीन पुण्य कर्मों के संस्कार से उत्तम सात्विक होते हैं। कोई कोई मध्यम राजसी होते हैं, और कोई २ अधम तामसी हुआ करते हैं, परंतु जो लोग इन से भी गये बीते अत्यंत मंदभागी होते हैं, वे उत्तरोत्तर पाखंडी लोगों के संग से उन हीं के समान आचरण करते हैं। उन के विषय में कहते हैं कि (येजनाः) जो लोग (अशास्त्रविहितम्) शास्त्र विधि के विरुद्ध (घोरम्) भूरि भयंकर (तपः) तप (तप्यन्ते) करते हैं और उन के हेतु ये रहते हैं कि (दंभाऽहंकारसंयुक्ताः) पाखंड तथा अहंकार से भरे रहते हैं तथा (कामरागबलान्विताः) अभिलाष आसक्ति और आग्रह इन तीनों से युक्त रहते हैं, अर्थात् दंभ अहंकार इत्यादि से संयुक्त होकर वे लोग उक्त प्रकार के तप करते हैं। और इन तपों के द्वारा (शरीरस्थम्) उनकी देह में स्थित जो (भूतग्रामम्) पृथिव्यादि पंचभूतों के समूह से उस को वृथा ही उपवासादि करके (कर्षयन्तः) कृश करते हुए (अचेतसः) ये अविवेकी लोग (माम्) मुझ को (चैव) भी जो अंतर्यामी रूपी उन के (अंतःशरीरस्थम्) देहों में स्थित हूं दुःख देते हैं। अर्थात् मेरी आज्ञा भी उल्लंघन करके ऐसे २ घोर तप करते हैं। अतएव (तान्) उन को (आसुरनिश्चयान्) अति क्रूर निश्चय वाले (विद्धि) जानो अर्थात उन के निश्चय भी अतिक्रूर असुरों के समान समझो ॥

टीका–पहिले कह आये हैं कि इन देह में जो चिद्‌रूप जीव भगवत् का अंश है, उसी को सब भोग होते हैं। अतएव शास्त्र विरुद्ध ऐसे घोर तप लोगों को दिखाने के वास्ते करने से पंचभूतात्मा को तो दुःख होता ही है, परन्तु उस अंशरूपी भगवत् को भी कष्ट होता है। यह बात शास्त्रोक्त विधि से आचार करने में नहीं होती, क्योंकि शास्त्र भगवत् ही की आज्ञा है, उस के पालने से कोई नहीं कह सकता, कि यह मनुष्य लोगों के दिखाने के वास्ते, अथवा अहंकार से अथवा कोई कामना से, अथवा पुत्र मित्रादि में रजोगुणी प्रीति से, अथवा अपना बल दिखाने के हेतु से कर्म करता है॥

अब आगे १३ श्लोकों में आहारादि के भेद से भी सात्विकादि भेद दरशाते हैं॥

आहारस्त्वपिसर्वस्य त्रिविधोभवतिप्रियः।
यज्ञस्तपस्तथादानं तेषांभेदमिमंशृणु ॥ ७॥

अर्थ–(सर्वस्य) सब लोगों के (आहारः) खाने के लिये जो अन्नादि वस्तु हैं (अपितु) वह भी उन की प्रकृति के अनुसार (त्रिविधः) तीन प्रकार के उन को (प्रियः) प्रिय (भवति) होते हैं। तथा (यज्ञस्तपोदानम्) वैसे ही यज्ञ तप और दान भी तीनों गुणों के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं। अब (तेषाम्) उन का जो (भेदम्) भेद है (इमम्) सो यह (शृणु) सुनो। इस भेद के बताने का अभिप्राय यह है कि राजस तामस आहार वा यज्ञादिक त्याग के सात्विक आहार वा यज्ञ दानादिक करने से सत्व की वृद्धि में प्रवृत्त करना चाहिये, जिस से ज्ञान होवे प्रथम आगे तीन श्लोकों में तीनों प्रकार के आहारों का वर्णन करते हैं॥

आयुःसत्वबलारोग्य–सुखप्रीतिविवर्द्धनाः।
रस्याःस्निग्धाःस्थिराहृद्याआहाराःसात्त्विकप्रियाः

अर्थ–(आयुःसत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः) जीवन उत्साह तथा सत्व शक्ति, रोग से बचाव, चित्तप्रसाद

अभिरुचि, इन सब को विशेष बढ़ाने वाले जो (रस्याः) रसयुक्त (स्निग्धाः) स्नेह युक्त (स्थिराः) अपना सारांश देह में चिरकाल स्थिर रखने वाले (हृद्याः) देखने मात्र से हृदय प्रफुल्लित करने वाले ऐसे २ चार प्रकार के (आहाराः) भक्ष्य भोज्य पदार्थ हैं वे (सात्विकप्रियाः) सतोगुणी लोगों को प्रिय होते हैं । क्योंकि वे उक्त छः प्रकार के आयुआदि को शरीर में बढ़ाने वाले हैं ॥ तथा–

कट्वम्ललवणात्युष्ण-तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहाराराजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

अर्थ–(कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः) अति कड़वे जैसे नीम इत्यादि, अति खट्टे, अति खारे, अति गरम, अति चरपरे, जैसे मिरची इत्यादि, अति रूखे, अति तीखे, वा जलन उत्पन्न करने वाले ये सब (आहाराः) भक्ष्य भोज्यादि (राजसस्य) राजसी वृत्ति वालों को (इष्टाः) प्रिय होते हैं । और यही उन को (दुःखशोकामयप्रदाः) तत्काल हृदय को संताप, पीछे से मन को मलिनता तथा रोगों के देने वाले होते हैं ॥

यातयामंगतरसं पूतिपर्य्युषितंचयत् ।
उच्छिष्टमपिचामेध्यं भोजनंतामसप्रियम् ॥१०॥

अर्थ–(यत्, यातयामम्) जिस को परिपाक किये एक प्रहर हो गया हो अर्थात् जो ठंडा हो गया हो, जिस का (गतरसम्) जिस का रस अर्थात् सार नष्ट हो गया हो (पूति) जिस में दुर्गंध आने लगी हो (च) और जो (पर्य्युषितम्) एक दिन पहिले पकाया हो अर्थात् बासा, जो (उच्छिष्टम्) खाने से बच गया हो अर्थात् जूंठा (अपि च) और जो (अमेध्यम्) अपवित्र वा खाने के योग्य न हो ऐसा (भोजनम्) भोजन (तामसप्रियम्) तामसी प्रकृति वालों को प्रिय होता है ॥

अब आगे ३ श्लोकों में ३ प्रकार के यज्ञों का वर्णन करते हैं॥

**अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टोयइज्यते ।
यष्टव्यमेवेतिमनः समाधायससात्विकः ॥११॥**

अर्थ-(अफलाकाङ्क्षिभिः) किसी फल की इच्छा न रखने वालों के द्वारा केवल (विधिदृष्टः) वेदोक्त विधान पालने की आवश्यकता रूप हेतु से और (इति) इस प्रकार (मनः) मन में (समाधाय) निश्चय समाधान करके कि हम को (यष्टव्यम्, एव) यज्ञ करना योग्य ही है, उस से कोई फल का साधन नहीं करना है, इस प्रकार से (यः) जो (यज्ञः) यज्ञ का (इज्यते) अनुष्ठान किया जाता है (सः) वह यज्ञ (सात्विकः) सतोगुणी है ॥

**अभिसंधायतुफलं दंभार्थमपिचैवयत् ।
इज्यतेभरतश्रेष्ठ तंयज्ञंविद्धिराजसम् ॥ १२ ॥**

अर्थ-हे (भरतश्रेष्ठ) अर्जुन ! (तु) परन्तु (फलम्) किसी फल के प्राप्त करने की इच्छा (अभिसंधाय) मन में लाकर (चैव) और (दंभार्थम्) अपना महत्व बढ़ाने के हेतु से (अपि) भी (यत्) जो यज्ञ का (इज्यते) अनुष्ठान किया जावे (तम्) उस (यज्ञम्) यज्ञ को (राजसम्) रजोगुणी (विद्धि) जानो ॥

**विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितंयज्ञं तामसंपरिचक्षते ॥१३॥**

अर्थ-जो यज्ञ (विधिहीनम्) शास्त्रोक्त विधान से रहित हो जिसमें ब्राह्मणादि को (असृष्टान्नम्) अन्न न दिया जावे वा जिस में (मंत्रहीनम्) यथोक्त मंत्रोच्चारण न हो, जिस में (अदक्षिणम्) यथोक्त दक्षिणा न दी जावे और जो (श्रद्धाविरहितम्) पूर्ण श्रद्धा न रखकर किन्तु लोक रीति देख कर किया जावे ऐसे (यज्ञम्) यज्ञ को शिष्ट लोग (तामसम्) तामसी यज्ञ (परिचक्षते) कहते हैं ॥

अब आगे तीन श्लोकों में तप के भी सात्विकादि तीन भेद बताने के हेतु से प्रथम शरीरादि के तीन भेदों से उस तप के भी तीन भेद दरशाते हैं ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञ पूजनंशौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसाच शारीरंतपउच्यते ॥१४॥

अर्थ-(देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्) देवता ब्राह्मण गुरु और गुरु को छोड़ कर जो अन्य तत्व वेत्ता विद्वान् हैं इन सब की पूजा करना (शौचम्) शुचि पवित्रता (आर्जवम्) सरलपना (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य व्रतपालना (च) और (अहिंसा) जीवहिंसा न करनी इन साधनों को (शरीरम्)शरीर संबंधी (तपः) तप यानी शरीर से होने वाला कायिक तप (उच्यते) कहते हैं । देश घर वस्त्र पात्र सब पवित्र होना चाहिये, और अन्न जल वीर्य कुलादि भी पवित्र हों ॥

टीका—गुरू तीन प्रकार के हैं १ पिता २ विद्या पढ़ाने वाला, ३ मंत्रोपदेश करने वाला, यानी मोक्ष गुरु—ब्रह्मचर्य भी दो प्रकार के हैं १ बिलकुल विवाह न करके स्त्री संग छोड़ देना, २ विवाह करके केवल संतान उत्पत्ति के हेतु एक ऋतु काल ही में स्त्री संग करना जो आठ प्रकार का मैथुन है उस से वर्जित रहै वही सच्चा ब्रह्मचारी है । अब आगे वाचिक तप कहते हैं ॥

अनुद्वेगकरंवाक्यं सत्यंप्रियहितंचयत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनंचैव वाङ्मयंतपउच्यते ॥१५॥

अर्थ—(अनुद्वेगकरम्) किसी के मन को उद्विग्न वा भय न करने वाला (सत्यम्) सच्चा (च) और सुनने में (प्रियहितम्) प्यारा तथा परिणाम में सुख कर ऐसा (यत्) जो (वाक्यम्) बचन बोलना है सो (चैव) और (स्वाध्यायाभ्यसनम्) वेदों का अभ्यास ये सब (वाङ्मयम्) वाणी का (तपः) तप (उच्यते) कहा जाता है ॥

टीका—यहां पूर्वार्द्ध का अर्थ आत्मचर्चा वा भगवत् संबं-

थी यानी समझना चाहिये, क्योंकि संसारी प्रपंचों के विषय में जो बोला जावे उस बोलने में ये गुण आही नहीं सकते। वेदाध्ययन में सब भाषाओं के ग्रंथ भी आजाते हैं। जिस में वेदांत विषय वर्णन हो अब आगे मानसिक तप कहते हैं॥

मनःप्रसादःसौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपोमानसमुच्यते ॥ १६ ॥

अर्थ-(मनःप्रसादः) मन की प्रसन्नता स्वच्छता अर्थात् स्वहित विषय में मन का उत्साह रहना, विषयासक्ति में प्रसन्न न होना (सौम्यत्वम्) अक्रूरता (मौनम्) मुनि का भाव याने मननशीलता अर्थात् परा पश्यंती मध्यमा तथा वैखरी ये चारो प्रकार की वाणी को बंद करके चित्त को चिन्मय करना-(आत्मविनिग्रहः) मन को विषयों से खींच लेना-(भावसंशुद्धिः) चित्त की शुद्धि व्यवहार में माया न रखना (इति एतत्) यही सब (मानसं तपः) मानसी तप (उच्यते) कहा जाता है अर्थात् ये सब मन से होने वाले तप के लक्षण हैं॥

यहां तक शरीर वाणी तथा मन से करने के तीन प्रकार के तपों का वर्णन किया. और सात्विकादि भेद से आगे ३ श्लोकों में उसी त्रिविध तप के भी और ३ भेद कहते हैं॥

श्रद्धयापरयातप्तं तपस्तत्त्रिविधंनरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकंपरिचक्षते ॥१७॥

अर्थ-(तत्) वही (त्रिविधम्) तीन प्रकार का (तपः) तप यदि (परया) बड़ी श्रेष्ठ (श्रद्धया) श्रद्धा से युक्त (अफलाकांक्षिभिः) किसी फल की इच्छा न रखने वाले और (युक्तैः) एकाग्र चित्त वाले-(नरैः) मनुष्यों के द्वारा (तप्तम्) तपा जावे-तो उसे-सात्विकम्) सतोगुणी तप (परिचक्षते) कहते हैं॥-अब रजोगुणी तप कहते हैं-

सत्कारमानपूजार्थं तपोदंभेनचैवयत्।
क्रियतेतदिहप्रोक्तं राजसंचलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

अर्थ–(सत्कारमानपूजार्थम्) यह तपस्वी बड़ा अच्छा साधु है, अच्छा तपस्वी है, लोगों से ऐसी २ सन्मान की बातें जो वाक्पूजा है–सुनने के अर्थ लोगों से उठ कर नमस्कार वंदन कराना जो देह संबंधी पूजा है वह पाने के हेतु से अर्थात् वे दोनों प्रकार की पूजा प्राप्त करने के हेतु से वा धन लाभादि के निमित्त (चैव) और (दंभेन) दंभ से युक्त हो कर (यत्) जो (तपः) तप (क्रियते) किया जाता है (तत्) वह (चलम्) अनियत चंचल और (अध्रुवम्) क्षण भंगुर होता है, उसी को (इह) यहां पर (राजसम्) रजोगुणी तप (प्रोक्तम्) कहा है ॥

मूढग्राहेणात्मनोयत् पीड़याक्रियतेतपः ।
परस्योत्सादनार्थंवा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

अर्थ–(मूढग्राहेण) मूर्खता वा अविवेक का आग्रह करके (आत्मनः) अपने शरीर वा आत्मा को (पीड़या) पीड़ा दे कर (वा) अथवा (परस्य) दूसरे लोगों को (उत्सादनार्थम्) दुःख देने वा उन का विनाश करने के हेतु (यत्) जो (तपः क्रियते) तप किया जाता है (तत्) वह तप (तामसम्) तमोगुणी (उदाहृतम्) कहा गया है ॥

पूर्व में कहे अनुसार अब श्रीमहाराज दान के भी तीन भेद आगे कहते हैं ॥

दातव्यमितियद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशेकालेचपात्रेच तद्दानंसात्विकंस्मृतम् ॥२०॥

अर्थ–जिस को दान देना हो उस से यह न चाहे कि उस दान के पलटे में वह (अनुपकारिणे) कोई हमारा उपकार करे, किन्तु (इति) यही मन में निश्चय रक्खे कि हम को (दातव्यम्) देना ही है और (देशे) कुरुक्षेत्रादि तीर्थ में (च) तथा (काले) व्यतीपातादि वा ग्रहण इत्यादि पर्व में (च) और (पात्रे) सत्पात्र को (यत्) जो (दानम्) दान

(दीयते) दिया जाता है (तत्) वह (दानम्) दान (सा. त्विकम्) सतोगुणी (स्मृतम्) कहा जाता है ॥

टीका-जो ब्राह्मण धर्मानुष्ठानरूप श्रुति इत्यादि में स. म्पन्न हो वही मुख्य दानपात्र है, गरीब लाचार कोई भी जाति हो, अथवा जो अपना रक्षक है उसे भी मध्य कोटि में सत्पात्र कहते हैं । क्योंकि वह सब प्रकार की आपदों से दाता को बचाता है । तो ऐसे सत्पात्र को उत्तम क्षेत्र में प. वित्र समय में जो दान दिया जावे, वह दान उत्तम है । इस से यह नहीं समझना कि यह तीनों बातें अनुकूल हों तभी दान करे, क्योंकि बीच में "च" अक्षर जोड़ने से यह सुझाया है कि इन तीनों में से कोई एक भी प्रसंग में दान देवे तो वह सात्विकी दान समझा जावे और तीनों प्रसंग आन जुड़ें तो फिर पूछना ही क्या है याद रक्खो कि यह प्रकार केवल द्रव्यदान का ही है । अन्न इत्यादि के दान को कोई शर्त लागू नहीं है-वह सर्वत्र सब को देना ठीक है ॥

अब आगे राजसी दान का वर्णन करते हैं ॥

यत्तुप्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्यवापुनः ।
दीयतेचपरिक्लिष्टं तद्दानंराजसंस्मृतम् ॥ २१ ॥

अर्थ-कालांतर में अमुक मनुष्य मेरे ऊपर उपकार करेगा इस निमित्त अथवा जो उपकार उस ने मुझ पर किया है, उस का बदला देना चाहिये । ऐसा विचार करके (प्रत्युप. कारार्थम्) प्रत्युपकार करने के हेतु से (वा) अथवा (पुनः) फिर से स्वर्गादिक कोई (फलम्) फल प्राप्त करने का (उद्दि. श्य) उद्देश वा आशा करके और (परिक्लिष्टम्) चित्त को क्लेश देकर (यत्) जो दान (दीयते) दिया जाता है (तत् दानम्) वह दान (राजसम्) रजोगुणी (स्मृतम्) कहा जाता है । कलियुग में रजोगुणी दाता बहुत हैं ॥

अदेशकालेयद्दान-मपात्रेभ्यश्चदीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अर्थ-(अदेशकाले) अशुचिस्थान में अशौचादि समय में (च) और (अपात्रेभ्यः) असत् पात्र अर्थात् विट नटादि को (यत्) जो (दानम्) दान (दीयते) दिया जाता है वह देशकाल पात्र ठीक होने पर भी यदि (असत्कृतम्) बिना सत्कार के अर्थात् पाद प्रक्षालनादि सत्कार रहित और (अवज्ञातम्) दान पात्र का तिरस्कार करके दिया जावे तो (तत्) वह दान (तामसम्) तमोगुणी (उदाहृतम्) कहा गया है ॥

टीका—ऐसा विचार करने से सभी यज्ञ तप दानादि प्रायः राजस वा तामस होजाते हैं, तो फिर यज्ञादि करना केवल वृथा प्रयास वा दुःख उठाना ही है। इस शंका के निवारणार्थ भगवान् आगे कहते हैं कि वैसा होने पर भी वे यज्ञ तप दानादि यदि उन में कोई कर्म अंगहीन हुआ भी हो तो भगवत् का नाम उच्चारण करने से सात्विक प्रकार के हो जाते हैं, उन का पूर्ण फल भी मिल जाता है ॥

ओंतत्सदितिनिर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधःस्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेनवेदाश्च यज्ञाश्चविहिताःपुरा॥२३॥

अर्थ-(ओम्, तत्, सत्,इति) ये तीनों (त्रिविधः) तीन प्रकार के (ब्रह्मणः) परमात्मा के (निर्देशः) नाम के चिन्ह (स्मृतः) उत्तम कहे गये हैं, अर्थात् इन के उच्चारण मात्र से परब्रह्म की सूचना होती है ॥

"त्रिवृद् ब्रह्म" इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध हैं, और विद्वानों को भी अपरोक्ष हैं । अतएव यह "ओम्" शब्द भी ब्रह्म का नाम है । परमार्थ, सत्व, साधुत्व इत्यादि का प्रकाशक होने के कारण "तत्" शब्द भी ब्रह्म का नाम है । "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि श्रुति वाक्य से "सत्" शब्द भी ब्रह्म का नाम है ॥

यह तीन प्रकार का नाम निर्देश निर्गुण को भी सगुण करने को समर्थ है । इस आशय से अब उस की स्तुति करते

हैं कि (तेन) उस त्रिविध ब्रह्म निर्देश से (पुरा) सृष्टि के आदि में विधाता ने (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण लोगों को (च) तथा (वेदाः) वेदों को (च) और (यज्ञाः) यज्ञों को (विहिताः) निर्माण किया है अर्थात् परमात्मा ने इसी अपने त्रिविध नाम से ब्राह्मणों के उपनयन का विधान बताया, उन को पवित्र तम किया और वेद पठन तथा यज्ञानुष्ठान का भी विधान प्रसिद्ध किया है ॥

अब आगे ओम् इत्यादि शब्दों की जुदी २ प्रशंसा वा गुण वर्णन करते हैं ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तंतेविधानोक्ताः सततंब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

अर्थ-(तस्मात्) जिस कारण से (ओं इति) यह शब्द (उदाहृत्य) उच्चारण कर लेने से (ब्रह्मवादिनाम्) वेदवेत्ता लोग जो यज्ञ दान वा तप इत्यादि करते हैं वे सब (क्रियाः) कर्म (विधानोक्ताः) शास्त्रोक्त विधान के अनुसार कोई अंग भंग हो जाने पर भी (प्रवर्तन्ते) प्रकर्ष करके उत्तम वा सगुण हो जाते हैं ॥

टीका-श्लोक २३ में यह कह चुके हैं कि ब्राह्मण वेद वा यज्ञ ये तीनों त्रिविध नाम से प्रसिद्ध हैं, इस श्लोक में यह कहा कि ये यज्ञदानादि क्रियायें ओं शब्द के उच्चारण से प्रवृत्त होती हैं, इस से यह सिद्ध किया है कि सब सत्क्रिया इसी त्रिविध नामोच्चारण से सफल होती हैं। ब्राह्मणपन उपनयन विधि से आता है, और यह उपनयन विधि तथा वेद पठन वा सब यज्ञ क्रिया ओंकार के उच्चारण से करते हैं अर्थात् ओं तत्, सत्, इस त्रिविध नाम से ही सब क्रिया उत्पन्न हुई हैं । और उसी से वे प्रवृत्त होती हैं । उसी से उन क्रियाओं में की न्यूनता भी पूर्ण हो जाती है ॥

अब "तत्" इस दूसरे नाम की प्रशंसा करते हैं

तदित्यनभिसंधाय फलंयज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्चविविधाः क्रियन्तेमोक्षकांक्षिभिः॥२५॥

अर्थ-(मोक्ष कांक्षिभिः) मोक्ष की चाहना करने वाले लोग शुद्ध चित्त होकर (फलम्) फल की (अनभिसंधाय) इच्छा वा मनोरथ न करके (तत्, इति) इस शब्द का उच्चारण करते हुए (विविधाः) बहुत प्रकार की यज्ञ तप (च) और दान की क्रिया करते हैं। अतएव उनके चित्त का शोधन होकर फल संकल्प त्याग देने से उन को मोक्ष संपादन होता है॥

टीका-"तत्" पद से ब्रह्म का बोध होता है, और यज्ञ तपादि क्रिया भी ब्रह्म है, अतएव मोक्ष चाहने वाले कोई फल की इच्छा न करके वे क्रिया करते हैं। ओं तत्, सत्, इन तीनों नाम से सब कर्मों की उत्पत्ति है "तत्" का अर्थ "ते" अर्थात् "वह" है, यह "ते" जड़ है तो "तत्" के उच्चारण से ज्ञानी को सर्वत्र ब्रह्म ही दीखता है, क्योंकि जड़ में ब्रह्म व्याप रहा है, जैसे वह घट कहने से माटी ही दीख पड़ती है। वह तरंग कहने से समुद्र ही दीखता है, तैसे तत् कहने से ब्रह्म ही दीख पड़ता है। देखने वाला जड़ को "तत्" कहता है, और ऐसा कहने में अपने को भी "तत्" मानता है, तो उस को यही अनुभव होता है, कि जड़ नहीं है, बल्कि सब चित्स्वरूप ही है। अतएव यह "तत्" शब्द जो जड़ है वह ब्रह्म ही का नाम हुआ। इस से जड़ कर्म भी ब्रह्म का नाम हुआ, परंतु ब्राह्मण, वेद वा यज्ञादि कर्म त्रिविध नाम से कहे जाते हैं। अतएव उन के आचरण में उन तीनों नामों का उच्चारण करना ही चाहिये, महावाक्य में भी यही "तत" नाम है॥

अब "सत्" पद की प्रशंसा आगे के दो श्लोकों में करते हैं।

सद्भावेसाधुभावेच सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्तेकर्मणितथा सच्छब्दःपार्थ! युज्यते ॥२६॥

यज्ञेतपसिदानेच स्थितिःसदितिचोच्यते ।
कर्मचैवतदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

अर्थ—हे (पार्थ) अर्जुन ! देवदत्त के पुत्रादिक हैं, ऐसे अस्तित्व अर्थात् मौजूदगी के (सद्भावे) भाव में (च) और देवदत्त के पुत्रादिक श्रेष्ठ हैं ऐसे (साधुभावे) श्रेष्ठता के भाव में (सत् इति) ही (एतत्) यह "सत्" पद (प्रयुज्यते) उपयोग में आता है । (तथा) उसी प्रकार (प्रशस्ते) मांगलिक विवाहादि (कर्मणि) कर्मों में भी "सत्" शब्द (युज्यते) का उपयोग कियाजाता है अर्थात् उस पद की योजना से ही यह जाना जाता है कि यह सत्कर्म है ॥२६॥ (च) और (यज्ञे) यज्ञ में (तपसि) तप में वा (दाने) दान में जो (स्थितिः) मन का समाधान है, वह (च) भी " सत् " (इति) इसी शब्द से (उच्यते) कहा जाता है । यही तीन नाम वाला जो परमात्मा है । उस की प्राप्ति के हेतु पूजोपहार गृह आंगन का मार्जन तथा अंगलेपनादि मांगलिक क्रिया की जाती है । वह (कर्म) क्रिया (चैव) और (तदर्थीयम्) इन कर्मों की सिद्धि के निमित्त जो उद्यानशालि क्षेत्र धनार्जनादि संबंधी अन्यत् कर्म किये जाते हैं, वे भी उसी परमात्मा के अर्थ होने के कारण उन को " सत् " (इति) यह शब्द (अभिधीयते) लागू होता है, अर्थात् कहा जाता है। ये तीनों नाम अतिप्रशस्त होने के कारण सर्व कर्मों को सद्गुणी करने के निमित्त उन में प्रथम वा अंत में तीन २ बार इन नामों का उच्चारण करना चाहिये ॥

टीका—अध्यात्म शास्त्र के अनुसार जो है, वह ब्रह्म ही है, और जड़ बिलकुल नहीं है, अतएव सद्भाव ब्रह्म को लागू होता है, और असद्भाव जड़ की ओर जाता है । साधुभाव अर्थात् उत्तम भाव भी ब्रह्म को लागू होता है । प्रशस्त कर्म में ब्रह्म देखना ही सद्भाव है । यज्ञ दान तपादि निष्काम कर्मों में मन का समाधान होना ही साधुभाव है ॥

ओंकार वेद का मूल है अतएव "गोविन्दम्" "गोविदांपतिम्" ऐसे २ अनन्त भगवत् नामों में ओं शब्द की योजना की है, तथा "मन्दिर" गोवर्द्धन" वृन्दावन" ये जहों के नाम भी भगवत् के नाम हैं। ये सब "तत्" शब्द से सुझाये हैं। सत् शब्द से निर्मल स्वरूप की सूचना होती है। वह दरशाने वाले "सच्चिदानन्द" आत्मा परमात्मा" इत्यादि नाम हैं॥

अब आगे सब कर्मों में श्रद्धा ही मुख्य वा श्रेष्ठ मानकर जो कर्म अश्रद्धा से किये जावें उन की निन्दा करते हैं॥

अश्रद्धयाहुतंदत्तं तपस्तप्तंकृतंचयत्।
असदित्युच्यतेपार्थ! नचतत्प्रेत्यनोइह ॥२८॥

अर्थ–हे (पार्थ) अर्जुन! (अश्रद्धया) विन श्रद्धा के जो (हुतम्) हवन (दत्तम्) दान वा (तपः, तप्तम्) तप किया जावे–(च) और (यत्) जो कुछ और भी (कृतम्) कियाजावे वह सब "असत्" (इति) ही (उच्यते) कहा जाता है–क्योंकि (तत्) वह विगुण होने के कारण (न च) न तो (प्रेत्य) लोकान्तर में फलीभूत होता है और (नो, इह) न इस लोक में उस का कोई उपयोग वा फल होता है। क्योंकि यश देने वाला नहीं होता॥

यह सप्तदश अध्याय की टीका श्रीयुगलचरणानुग्रह से निर्विघ्न समाप्त हुई, और ओं तत्सत् श्रीकृष्णार्पण है॥

रजस्तमोमयींत्यक्त्वा श्रद्धांसत्त्वमयींश्रिताः।
तत्त्वज्ञानेऽधिकारोऽस्मादितिसप्तदशेस्थितम्॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णाऽर्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगोनाम सप्तदशोऽध्यायः॥

अथाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

॥ ओं—नमोभगवतेवासुदेवाय ॥

न्यासत्यागविभागेन-सर्वगीतार्थसंग्रहम् ।
स्पष्टमष्टादशेप्राह-परमार्थविनिर्णये ॥

(संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्)—यह श्रुति का वाक्य है, तथापि जनक, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ इत्यादि बड़े २ ब्रह्मवेत्ता बिना संन्यास के श्रवण के योग्य हो गये। लो कैसे हुए होंगे ऐसी शंका अर्जुन के मन में आई। तब उस का परिहार अध्याय ६ श्लोक १ (अनाश्रितःकर्मफलम्) से किया गया, इस श्लोक में भगवान् ने कर्मयोग ही में संन्यास दिखाया है। परन्तु यह संन्यास कर्म के आश्रित है और श्रुति कहती है कि—(नकर्मणानप्रजयाधनेनत्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः) अर्थात् कर्म से किंवा प्रजा से किंवा धन से मोक्ष नहीं मिलता किंतु अकेले त्याग से मिलता है। लो यह कैसा कि भगवान् तो कहते हैं कि कर्मसंन्यास से मोक्ष मिलता है और श्रुति कहती है कि केवल त्याग से मिलता है। इस से जान पड़ता है कि कर्मसंन्यास से त्याग निराला है। पुनः अध्याय ५ श्लोक १३ "सर्वकर्माणिमनसा संन्यस्यास्तेसुखंवशी"—में वा अध्याय ९ श्लोक २९ संन्यासयोगयुक्तात्मा"—इत्यादि में कर्मसंन्यास का उपदेश किया है तथा अध्याय ४ श्लोक २० (त्यक्त्वाकर्मफलासंगं-नित्यतृप्तोनिराश्रयः, कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैवकिंचित्करोतिसः। अध्याय १२ श्लोक ११ "सर्वकर्मफलत्यागं ततःकुरुयतात्मवान्" इत्यादि श्लोकों में फलमात्र त्याग के कर्मानुष्ठान बताया है, ये दोनों बातें एक दूसरे के विरुद्ध हुईं परन्तु परम कारुणिक सर्वज्ञ भगवान् ऐसी परस्पर विरुद्ध बातें नहीं बतावेंगे। ऐसा विचार के अर्जुन प्रश्न करता है कि जिस के उत्तर से कर्म संन्यास का वा कर्मानुष्ठान का विरोध मिट जावे ॥

अर्जुनउवाच ।

संन्यासस्यमहाबाहो तत्त्वमिच्छामिवेदितुम् ।
त्यागस्यचहृषीकेश ! पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

अर्थ–हे (हृषीकेश) सर्व इन्द्रियों के नियंता स्वामी, भो (केशिनिषूदन) हयाकृति केशी दैत्य के मारने वाले, भो (महाबाहो) केशि के मुख में अपनी भुजा डालने वाले ! मैं (संन्यासस्य) संन्यास का (च) और (त्यागस्य) त्याग का (तत्वम्) तत्त्व (पृथक्) जुदा २ विवेक के साथ (वेदितुम्) जानने की (इच्छामि) इच्छा करता हूं ॥

॥ इस का उत्तर भगवान् आगे देते हैं ॥

। श्रीभगवानुवाच ।

काम्यानांकर्मणांन्यासं संन्यासंकवयोविदुः ॥
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागंविचक्षणाः ॥२॥

अर्थ-(काम्यानांकर्मणाम्) कोई भी कामना करके जो कर्म किये जावें उन के (न्यासम्) परित्याग को (कवयः) पंडित लोग (संन्यासम्) संन्यास (विदुः) जानते वा कहते हैं अर्थात् उन का कहना है कि फल के समेत कर्मों को भी त्याग देने का नाम संन्यास है। और (सर्वकर्मफलत्यागम्) सब काम्य कर्मों के फल मात्र त्याग देने को (विचक्षणाः) कोई २ निपुण लोग (त्यागम्) त्याग (प्राहुः) कहते हैं अर्थात् इस त्याग में केवल फल ही त्यागा जाता है। स्वरूप से कर्म नहीं त्यागा जाता ॥

टीका–चित्त शुद्धि हुए विना काम्य कर्मों का त्याग हो नहीं सकता और चित्त शुद्धि के हेतु निष्काम कर्म करना चाहिये अतएव पंडितों ने काम्य कर्मों के त्याग ही को संन्यास कहा है। (संन्यस्यश्रवणंकुर्यात्)–इस श्रुति में भी यही कहा है कि इसी संन्यास से श्रवण करना चाहिये जब चित्त निष्काम हो गया तौ मानो चतुर्थाश्रम आगया, उसी समय मोक्ष की

इच्छा तीव्र होकर आत्मसरव उमड़ उठता है। केवल शिर मुंड़ाने वा जनेऊ तोड़ने से संन्यास नहीं होता, इसी आशय से भगवान् ने अध्याय ६ का श्लोक १ (अनाश्रितः कर्म फलम्) कहा है, यह अर्जुन के पहिले प्रश्न का उत्तर हुआ। अब दूसरा प्रश्न था कि त्याग कैसा होता है उस का उत्तर देते हैं। वास्तविक में संन्यास शब्द का अर्थ व्याकरण की रीति से त्याग ही होता है। तथापि मुमुक्षु को दो प्रकार का त्याग होना चाहिये १ काम्यत्याग २ ईश्वर को अर्पण कर देने से विहित कर्मों के फल का त्याग, केवल काम्यकर्मों को त्यागदेने से मोक्ष नहीं मिल सकता, क्योंकि निष्काम विहित कर्म किया भी तौभी वह बंधक होगा, जब तक उसे ईश्वर को अर्पण न कर देवें। यही बात अध्याय ३ में स्पष्ट हो चुकी है। इन्हीं दोनों प्रकार के त्यागों को इस श्लोक में (त्याग) कहा है ॥

शंका—बंध्या स्त्री का पुत्र त्यागना संभव नहीं क्योंकि जब पुत्र है ही नहीं तो त्यागेगी क्या? इसी प्रकार नित्य नैमित्तिक कर्मों में फल की कोई भावना ही नहीं होती तौ फिर फलत्याग कैसे कहा जा सकता है। यद्यपि (अहरहः संध्यामुपासीत) तथा (यावज्जीवमग्निहोत्रंजुहोति) इत्यादि वाक्यों में कोई विशेष फल जैसा कि स्वर्ग काम, पशुकामादिक, नहीं सुना जाता तथापि अपुरुषार्थ व्यापार के अनुसार इन में भी सामान्य दृष्टि से कोई न कोई फल का भास होता ही है। जैसा कि—(विधिविंश्वजितायजेत) इस श्रुति में है और (नित्यादावधिफलंसर्वएतेपुण्यलोकाभवंतीति) (कर्मणापितृलोकाद्दति) (धर्मेणपापमपनुदतीति) इत्यादि श्रुतियों में भी फल का आभास होना पाया जाता है। अतएव श्री महाराज ने यह बहुत ठीक कहा है कि (सर्वकर्मफलत्यागंप्राहुस्त्यागंविचक्षणाः) परंतु फल त्याग देने से फिर निष्फल कर्मों में प्रवृत्ति भी न रहेगी। यह शंका होती है परंतु (तमेतमात्मानंवेदानुवचनेन ब्राह्मणाविविदिषंति यज्ञेन, दानेन, तपसा,

ब्रह्मचर्येण) इस श्रुति से वह शंका दूर हो जाती है। क्योंकि सब कर्मों का संयोग वा वियोग विविदिषार्थ के कारण हो जाता है और वैसी ही प्रवृत्ति भी होती है इस से यह सिद्ध हुआ कि श्रुतिप्रोक्त सर्व फल बंधक होने के कारण उसे त्याग के विविदिषार्थं सर्व कर्म होता ही है। और त्याग केवल उस के फल का है। अर्थात् कर्मत्याग नाम मात्र से है स्वरूप से नहीं श्रुति भी है कि (कुर्वन्नेवेहकर्माणिजिजीविषेच्छतᳪसमाइति) इस के पीछे सर्व कर्म निवृत्ति आप ही से होती है। भगवान् ने यही बात अध्याय ३ श्लोक १० (यस्त्वात्मरतिरेवस्यात्) इत्यादि श्रीमद्भागवत में भी कहा है—स्कंध ११॥

तावत्कर्माणिकुर्वीतननिर्विद्येतयावता।
मत्कथाश्रवणादौवा श्रद्धायावन्नजायते॥१॥
ज्ञाननिष्ठोविरक्तोवा मद्भक्तोवाऽनपेक्षकः।
सलिंगानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥२॥

(नकर्मणानप्रजया) इस श्रुति का भी यही सार है। काम्य कर्म से मोक्ष नहीं मिलता और पुनरावृत्ति बनी रहती है यह बात अध्याय ९ श्लोक २१ (तेतंभुक्त्वास्वर्गलोकंविशालं-क्षीणेपुण्येमर्त्यलोकं विशंति) में कही है काम्य कर्म न करके नित्य नैमित्तिक कर्म फल को ईश्वर को अर्पण किया तो भी वह त्याग हुआ और उस से मोक्ष है। तात्पर्य जब लग अंतःकरण शुद्ध न हो तब लग कर्म करके उस का फल त्यागना और अंतःकरण शुद्ध हो जाने पर कर्म त्याग ठीक है। (न कर्मणा-अमृतत्वमानशुः) इस श्रुति का तत्व इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में है (त्यागेनैकेअमृतत्वमानशुः) इस का सार उत्तरार्द्ध में कहा है। अर्थात् काम्य त्याग से संन्यास तथा उस से श्रवणाधिकार और कर्मार्पण से ईश्वर प्रसाद होकर आत्मसाक्षात्कार के अनंतर मोक्ष मिलता है। ऐसा नहीं है कि मोक्ष के वास्ते संन्यास आश्रम की आवश्यकता हो इसी तत्व को मत भेद से भी दृढ़ करने के हेतु आगे मत भेद दरसाते हैं॥

त्याज्यंदोषवदित्येके कर्मप्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म नत्याज्यमितिचापरे ॥ ३ ॥

अर्थ–(एके) कोई २ (मनीषिणः) बुद्धिमान् लोग अर्थात् सांख्य मत वाले (इति) ऐसा (प्राहुः) कहते हैं कि हिंसादि (दोषवत्) दोषयुक्त होने से बंधक जो यज्ञादि कर्म हैं वे सब (कर्म) कर्म (त्याज्यम्) त्याग देने योग्य हैं । इस का यह भाव है कि (माहिंस्यात्सर्वाभूतानि) (पुरुषस्यानर्थ हेतु हिंसा) (अग्नीषोमीयं पशुमालभेत) ऐसे २ वाक्यों में हिंसा की निंदा की है । अतएव उन का सिद्धांत यह किया गया है कि सामान्य भाव से सर्व कर्म जो द्रव्य से साधन होते हैं त्यागने योग्य हैं क्योंकि उन में हिंसा का होना संभव है । (दृष्टवदानुश्रविकःसाह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः) इस श्रुति में भी यही भाव दरसाया है।(अपरे च) और अन्य लोग जो मीमांसा शास्त्र वाले हैं । यह कहते हैं कि यज्ञ, दान, वा (तपः) तप इत्यादि (कर्म) कर्म (न त्याज्यम्) त्याग ने योग्य नहीं हैं । यज्ञ के हेतु जो हिंसा की जावै वह त्याज्य नहीं है । किंतु अन्य उद्देश से करै तो करने वालों को प्रत्यवाय दोष लगता ही है । अतएव नित्य वेदोक्त यज्ञादि कर्म त्याज्य नहीं होंगे । सांख्यवाले यह समझते हैं कि नित्य निष्काम कर्म भी बंधक है । अतएव भगवान् उन को बुद्धिमन्त कहते हैं । और मीमांसक को जो वेदोक्त कर्म करना चाहिये ऐसा कहते हैं । उन को अल्पबुद्धि अर्थात् अपरे कहा है । मीमांसा के कर्ता जैमिनि ऋषि व्यास के शिष्य थे वे पूर्ण अद्वैती थे तथापि उन को उस समयानुरूप कर्म मार्ग की स्थापना करनी पड़ी और मोक्षमार्ग को निषेध किया, क्योंकि उन्हों ने यह विचारा–कि अशुद्ध चित्त के लोग मोक्ष के अधिकारी नहीं हो सकते और यदि वे कर्ममार्ग में न लगाये जावेंगे तो मोक्षमार्ग से तो गये हुए ही हैं वल्कि कर्म मार्ग से भी जावेंगे–और इससे उनका बड़ा नुकसान होगा अतएव मीमांसा

में कर्म ही प्रधान रक्खा है, परन्तु जैमिनि का यह विशेष हेतु न समझ कर उन के पीछे के लोगों ने कर्म ही को श्रेष्ठ मान रक्खा है इसी कारण मीमांसकों को अल्पबुद्धि कहा है॥

इस प्रकार मतभेद कहकर अब श्रीकृष्ण जी भगवान् आगे अपना मत कहते हैं ॥

निश्चयंशृणुमेतत्र–त्यागेभरतसत्तम ।
त्यागोहिपुरुषव्याघ्र–त्रिविधःसंप्रकीर्त्तितः ॥४॥

अर्थ–हे (भरतसत्तम) अर्जुन (तत्र) उस मतभेद से कहे हुए (त्यागे) त्याग के विषय में (मे) मेरा (निश्चयम्) निश्चय अर्थात् मेरा मत मुझ से (शृणु) सुन, हे (पुरुषव्याघ्र) पुरुषों में श्रेष्ठ अर्जुन (त्यागः) इस त्याग का बोध होना कठिन है (हि) क्योंकि इस कर्मत्याग को तत्ववेत्तों ने रजस् तमस् आदि भेद से (त्रिविधः) तीन प्रकार का (संप्रकीर्तितः) सम्यक् विवेक के साथ कहा है। वेदों में प्रवृत्ति और निवृत्ति दो मार्ग हैं। उन में से पहिले को कर्मानुष्ठान तथा दूजे को कर्मत्याग कहा है ॥

यज्ञदानतपःकर्म नत्याज्यंकार्यमेवतत् ।
यज्ञोदानंतपश्चैव पावनानिमनीषिणाम् ॥५॥

अर्थ–(यज्ञदानतपः कर्म) यज्ञ दान तप इत्यादि कर्म को (न त्याज्यम्) त्यागना न चाहिये। किंतु (तत) वे (कार्यम्) करने के योग्य (एव) ही हैं क्योंकि ये (यज्ञो दानम्) यज्ञ दान (च) तथा (तपः) तप (मनीषिणाम्) विवेकी लोगों के (पावनानि) चित्त को शुद्ध (एव) अवश्य करते हैं–इस वास्ते ज्ञान की प्रथम भूमिका वालों को कर्म त्यागना न चाहिये। जिस प्रकार से ये कर्म चित्तशुद्धि करने वाले हो जाते हैं वह प्रकार आगे कहते हैं ॥

एतान्यपितुकर्माणि संगंत्यक्त्वाफलानिच ।
कर्त्तव्यानीतिमेपार्थ निश्चितंमतमुत्तमम् ॥६॥

अर्थ–हे (पार्थ) अर्जुन! (एतानि) ये सब यज्ञादि (कर्माणि) कर्म जो मैंने पवित्र कहे हैं वे (अपि) सब ही (संगम्) कर्तापन इत्यादि का भाव (त्यक्त्वा) त्यागि के अर्थात् केवल ईश्वर के आधीन हो कर (च) और बंधक (फलानि) फलों को भी त्याग के (कर्त्तव्यानि) आचरण करना चाहिये-(इति) यह (मे) मेरा (निश्चितम्) निश्चित (मतम्) मत है और वही मत (उत्तमम्) उत्तम भी है। संग शब्द से काम्य कर्मों का भी बोध होता है, फल शब्द से नित्यकर्मों का ईश्वर को अर्पण करने की विधि की सूचना भी है। जिन का स्पष्टीकरण पूर्व ही हो चुका है, विना अन्तःकरण शुद्ध हुए जो लोग वेदोक्त बहिरंग कर्मों को त्याग देते हैं, वे पाप के भागी होते हैं। अब अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार आगे के तीन श्लोकों में त्याग के तीनप्रकार कहते हैं॥

नियतस्यतुसंन्यासः कर्मणोनोपपद्यते।
मोहात्तस्यपरित्याग-स्तामसःपरिकीर्त्तितः ॥७॥

अर्थ–काम्य कर्म बंधक होते हैं, अतएव उन का त्यागना तो योग्य ही है (तु) परन्तु (नियतस्य) नित्य संध्यादि (कर्मणः) कर्म का (संन्यासः) त्याग (न उपपद्यते) करना योग्य नहीं है और न वह हो सकता है क्योंकि इन से सत्त्व शुद्धिद्वारा मोक्ष मिलता है। अतएव उन का परित्याग ऐसे ही भ्रम से होता है कि वह त्यागने योग्य है, परन्तु (मोहात्) ऐसे मोह से (तस्य) उस का (परित्यागः) त्याग देना (तामसः) तमोगुणी (परिकीर्तितः) कहा गया है क्योंकि मोह स्वयं तमोगुण का लक्षण है। नियत कर्म का तो त्याग हो ही नहीं सक्ता और उसी प्रकार उस के फल भाग का भी त्याग कठिन है अतएव ये दोनों बातें "संन्यास" शब्द से बताई हैं इसी कारण जो नित्य कर्म त्यागता है वह अविवेकी वा अविचारी कहा गया है॥ अविचार

अर्थात् मोह तमोगुण का लक्षण है, अतएव नित्य कर्म का त्याग तामसी त्याग कहा है। अब आगे राजसी त्याग कहते हैं ॥

दुःखमित्येवयत्कर्म-कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
सकृत्वाराजसंत्यागं-नैवत्यागफलंलभेत् ॥८॥

अर्थ—कर्म करने से (दुःखम्) दुःख होता है (इति) ऐसा मानकर (एव) ही (यत्) जो (कर्म) नित्य कर्म (कायक्लेशभयात्) शरीर को पीड़ा होने के डर से (त्यजेत्) त्याग दिया जावे वह राजसी त्याग है। (सः) ऐसा पुरुष (राजसं त्यागम्) राजस त्याग (कृत्वा) करके उस (त्यागफलम्) त्याग का फल अर्थात् ज्ञान निष्ठा रूपी फल (नैवलभेत्) कभी नहीं पाता है ॥ उस का अंतःकरण मैला रहता है और इसी कारण उस को ज्ञान प्राप्त नहीं होता न परमानंद रूपी निवृत्ति मिलती है ॥

कार्यमित्येवयत्कर्म-नियतंक्रियतेऽर्जुन ।
संगंत्यक्त्वाफलंचैव सत्यागःसात्विकोमतः ॥९॥

अर्थ—हे (अर्जुन) (कार्यम्) यह हमारा कर्त्तव्य कर्म है (इति एव) ऐसा ही समझ कर (यत्) जो (नियत कर्म) नित्य वा विहित कर्म (संगम्) आसक्ति (चैव) तथा (फलम्) फल (त्यक्त्वा) त्यागि के (क्रियते) किया जावे अर्थात् जो पुरुष नित्य कर्म को अपना कर्त्तव्य मानकर उसका आचरण करता है परंतु उस में आसक्त नहीं होता और उस के फल को भी त्याग देता है वह सात्विक त्यागी कहा जाता है। और उसका (सः) वह (त्यागः) त्याग भी (सात्विकः) सतोगुणी त्याग (मतः) माना जाता है ॥

(एव) शब्द का यह भाव है कि कर्म न छोड़कर केवल उसका फल त्यागना चाहिये ऐसे पुरुष का अंतःकरण शुद्ध होकर वह साधन चतुष्टय संपन्न हो जाता है ॥ इस प्रकार के सात्विक त्याग में निष्ठा रखने वाले पुरुष के लक्षण आगे कहते हैं ॥

न द्वेष्ट्यकुशलंकर्म कुशलेनानुषज्जते ।
त्यागीसत्त्वसमाविष्टो मेधावीछिन्नसंशयः ॥१०॥

अर्थ-(सत्त्वसमाविष्टः) आत्मा अनात्मा के विवेक वाला सतोगुण युक्त पुरुष जो (त्यागी) त्यागी होता है वह (अकुशलं- कर्म) दुःख देने वाले बंधक कर्मों से जैसे शीतकाल में प्रातःस्नान इत्यादि से (न द्वेष्टि) द्वेष नहीं करता, अर्थात् उन को बुरा नहीं कहता और निद्रा वा मध्यान्ह में स्नानादि जो (कुशले) सुख कर निष्काम कर्म हैं, उन में (न अनुषज्जते) प्रीति वा आसक्ति नहीं रखता, इस का कारण यह है कि उस की (मेधावी) बुद्धि स्थिर रहती है जिस से वह बड़े २ दुःख सह लेता है और स्वर्गादि सुखों को भी त्याग देता है तो फिर इन तात्कालिक सुखों वा दुःखों को वह क्या समझेगा स्थिर बुद्धि होने के कारण उस के मिथ्या ज्ञानरूपी सब (छिन्नसंशयः) संशय भी क्षीण हो जाते हैं और वह देहादि सुख दुःखों को कुछ नहीं समझता है और आत्मनिष्ठ रहकर परमानन्द स्वरूप आत्मा के सामने सर्व कर्मों के फलों को तुच्छ समझता है ॥

टीका-आत्मविद्यायुक्त बुद्धि को (मेधा) कहते हैं, अर्थात् इस मेधायुक्त मेधावी पुरुष को त्रिगुणात्मक प्रपंच ब्रह्ममय दीखने लगता है, और उस के सर्व संशय भी नाश हो जाते हैं । श्रुति भी यही बात कहती है ॥

भिद्यतेहृदयग्रंथि-श्छिद्यन्तेसर्वसंशयाः ।
क्षीयन्तेचास्यकर्माणि तस्मिन्दृष्टेपरावरे ॥

जिस को ऐसा अनुभव हो गया उसी में सत्व का अतिप्रकाश समझा जाता है, वही त्यागी है । अर्थात् फल का त्याग करके विहित कर्मों का आचरण करता है परन्तु उन कर्मों में भी आसक्त नहीं होता, तथापि यदि किसी को बं-

थक काम्य कर्म करते देखता है तो उस कर्म से द्वेष भी नहीं करता। क्योंकि वह जानता है कि जिन को मोक्षमार्ग का अधिकार नहीं उन को कुछ न करने की अपेक्षा काम्य कर्म ही करना अच्छा है। तो फिर इस प्रकार कर्म फल त्याग से सर्व कर्म ही त्याग देना ठीक है क्योंकि जब कर्म जनित विक्षेप ही नहीं रहेगा, तो ज्ञाननिष्ठा का सुख संपादन होगा। परन्तु भगवान् आगे कहते हैं कि यह नहीं हो सकता, क्योंकि अज्ञानी जीव कर्म नहीं त्याग सकता है, इसी से उस का अन्तःकरण शुद्ध हो कर उसे ज्ञान प्राप्त होता है, तब वह कर्म भी त्याग सकता है, अतएव ज्ञान प्राप्त हुए बिना कर्म त्यागना न चाहिये॥

नहिदेहभृताशक्यं त्यक्तुंकर्माण्यशेषतः।
यस्तुकर्मफलत्यागी सत्यागीत्यभिधीयते॥११॥

अर्थ–(देहभृता) देहधारी मनुष्य के द्वारा (अशेषतः) निःशेष अर्थात् अखिल (कर्माणि) कर्म (त्यक्तुम्) त्यागे (न शक्यम्) नहीं जा सकते क्योंकि मनुष्य का देह ही कर्मों से बना है। अतएव वह कर्म छोड़ ही नहीं सकता। अध्याय ३ श्लोक ५ (नहि कश्चित्क्षणमपि–जातुतिष्ठत्यकर्मकृत) में भी यही बात कही हुई है, इसी कारण से (यस्तु) जो कोई कर्म करता हुआ भी (कर्मफलत्यागी) उस कर्म के फल का त्यागी है (सः) वही मुख्य (त्यागी) त्याग करने वाला (अभिधीयते) कहा जाता है–ज्ञानी मनुष्य कर्म करता हुआ भी अकर्ता है, क्योंकि आत्मा सदा स्वभाव से अक्रिय है। अब आगे इस उक्त प्रकार कर्मफल त्याग का फल कहते हैं॥

अनिष्टमिष्टंमिश्रंच त्रिविधंकर्मणःफलम्।
भवत्यत्यागिनांप्रेत्य नतुसंन्यासिनांक्वचित॥१२॥

अर्थ-(अनिष्टम्) दुःख वा नर संबन्धी (इष्टम्) सुख वा देव संबन्धी (च) और (मिश्रम्) कुछ सुख कुछ दुःख दोनों का मेल वा मर्त्यलोक में मनुष्य आदि देह की प्राप्ति ऐसे पाप कर्म, पुण्य कर्म वा दोनों के संयोग से जो कर्म हैं उन (कर्मणः) कर्मों के जो (त्रिविधम्) तीन प्रकार के (फलम्) फल प्रसिद्ध हैं वे सब (अत्यागिनाम्) बिना त्याग वालों को अर्थात् सकामी लोगों को ही (भवति) होते हैं वा (प्रेत्य) मरणानन्तर अन्य लोक में भी उन को नहीं छोड़ते क्योंकि उन के कर्म भी तीन प्रकार के हुआ करते हैं मरणानन्तर में उन को स्वर्ग सुख मिलता है, परंतु यह सुवर्ण की बेड़ी समझो, अतएव वह इष्ट नहीं क्योंकि वह अंतवन्त है। पाप का फल दुःख है सो भी मरने पर भोगना पड़ता है, यह मरने से नहीं छूटता (तु) परन्तु कर्म फल त्याग करने वाले (संन्यासिनाम्) संन्यासियों को इन कर्मों के फल का (क्वचित्) कभी भी बन्ध (न) नहीं होता अध्याय ६ श्लोक १ (अनाश्रितः कर्मफलम्) इत्यादि में भी कर्मफल त्यागने वालों को संन्यासी वा योगी कहा है। ये लोग सतोगुणी होते हैं, अतएव उन में पाप का संभव ही नहीं बल्कि पुण्य कर्मों के फल को भी वे ईश्वरार्पण कर देते हैं, अतएव उन को यह तीन प्रकार का कर्म फल कभी होता ही नहीं ॥

अब आत्मा का अकर्तापन बोध करने के हेतु से आगे पांच श्लोकों में प्रकृति के कर्म कर्तापन के पांच भागों का विवेचन करते हैं वा यह प्रतिपादन करते हैं कि संगत्यागी निरहंकारी के भी कर्म का लेप नहीं होता। जब प्रकृति ही को कर्ता ठहराया तो आत्मा को कर्मफल कहां रहा ॥

पञ्चैतानिमहाबाहो ! कारणानिनिबोधमे ।
सांख्येकृतान्तेप्रोक्तानि सिद्धयेसर्वकर्मणाम् ॥१३॥

अर्थ-हे (महाबाहो) अर्जुन (सर्वकर्मणाम्) सब कर्मों की (सिद्धये) सिद्धि के वास्ते (एतानि) ये जो मैं कहता हूं वे (पञ्च) पांच (कारणानि) कारण हैं वे (मे) मेरे उपदेश से (निबोध) जान आत्मा का अकर्तापन जानने के लिये इन कारणों का ज्ञान होना अवश्य है। (सांख्ये) सांख्य शास्त्र में वा (कृतान्ते) वेदांत शास्त्र में ये सब (प्रोक्तानि) कहे गये हैं ॥

टीका-जिस के द्वारा सम्यक् प्रकार से परमात्मा का ज्ञान हो वह (सांख्य) है, वही तत्त्वज्ञान है, उस में प्रकाशमान जो आत्मबोध है सो (सांख्य) है। कृत कर्म का जिस में अंत यानी समाप्ति हो, उस का नाम (कृतान्त) है अर्थात् वेदान्त, सिद्धान्त, अथवा जिस में तत्त्व गाये जायं वह (सांख्य) है और जिस में निर्णय किया जाय वह (कृतान्त) है ॥

अधिष्ठानंतथाकर्त्ता करणंचपृथग्विधम् ।
विविधाश्चपृथक्चेष्टा दैवंचैवात्रपञ्चमम् ॥ १४॥

अर्थ-(अधिष्ठानम्) शरीर तथा (कर्त्ता) चित् चैतन्य, अचित् जड़ की ग्रन्थि अर्थात् अहंकार यानी सोपाधिक चैतन्य (च) और (पृथग्विधम्) अनेक प्रकार का (करणम्) साधन अर्थात् जिन के द्वारा कर्म किये जाते हैं वे चक्षु श्रोत्रादि जुदे २ इंद्रिय (च) और कार्य से वा स्वरूप से (विविधाः) नाना प्रकार की (पृथक्) निराली (चेष्टा) प्रयत्न अर्थात् पंच प्राण यानी प्राणापानादि के व्यापार (चैव) और (अत्र) इन सब का (पंचमम्) पांचवां (दैवम्) इंद्रियाभिमानी देवता अथवा नेत्रादि का चालक वा आदित्यादि का प्रेरक अंतर्यामी तात्पर्य यह कि शरीर, इंद्रिय, प्राण, अन्तःकरण, अज्ञान, इन सब के साथ मिला हुआ चैतन्य कर्ता है पृथक् अकर्ता है। अब आगे इन सब को सर्व कर्मों के हेतुरूप वर्णन करते हैं ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्मप्रारभतेनरः ।
न्याय्यंवाविपरीतंवा पञ्चैतेतस्यहेतवः ॥१५॥

अर्थ—शरीर, वाचा, मन, इन तीनों के द्वारा अर्थात् शारीरिक, वाचिक, मानसिक, तीन प्रकार के कर्म प्रसिद्ध हैं सो (यत्) जो (कर्म) कर्म (शरीरवाङ्मनोभिः) शरीर, वाणी, मन, के द्वारा (नरः) मनुष्य (प्रारभते) प्रारंभ करता है । सो वह (न्याय्यम्) न्याय युक्त हो अथवा (विपरीतंवा) अन्याय युक्त हो परंतु (तस्य) उस कर्म के (एते) ये (पञ्च) पांच (हेतवः) हेतु होते हैं जो पिछले श्लोक में कहे अर्थात् इन के बिना कोई कर्म होता ही नहीं ॥

तत्रैवंसतिकर्त्तार-मात्मानंकेवलंतुयः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वा-न्नसपश्यतिदुर्मतिः ॥१६॥

अर्थ—सब कर्मों में ये पांच हेतु होते हैं तो (तत्र) उस प्रसंग में (एवम्) ऐसा (सति) होने पर (यः) जो कोई (केवलम्) केवल बिना किसी उपाधि के अपने (आत्मानम्) आत्मा को (कर्तारम्) कर्म करने वाला (पश्यति) समझता है सो (अकृतबुद्धित्वात्) शास्त्राचार्य के उपदेश से उस की बुद्धि शुद्ध न होने के कारण (सः) वह (दुर्मतिः) कुबुद्धि वाला सम्यक् (नपश्यति) नहीं देखता अर्थात् उस को अशुद्ध बुद्धि होने के कारण ऐसा कहना चाहिये कि वह अंधा है क्योंकि आत्मा स्वयं अकर्ता है ॥

टीका—बुद्धि शुद्ध हुए बिना यह नहीं समझ पड़ता कि आत्मा अकर्ता है और आत्मा को अकर्ता देखना यही ज्ञान का मुख्य फल है। आत्मस्वरूप का ज्ञान न होना यही बुद्धि का अविद्या युक्त होना है और उसीसे ऐसी बुद्धि में अहंकार होकर वह अपने ही कर्ता बनती है परंतु शास्त्राचार्य के उपदेश से उस की शुद्धि हो गई कि वह विद्यायुक्त होकर

आत्मा को अकर्ता तथा प्रकृति को कर्ता जानने लगती है यह सुनकर अर्जुन के मन में बड़ी चिंता हुई कि अहंकार छोड़ कर युद्ध करने के हेतु भगवान् ने इतना उपदेश किया परंतु यह भी भगवान् कहते हैं कि अहंकार के बिना तो कोई कर्म ही नहीं बन सकता इस के समाधान के हेतु भगवान् आगे का श्लोक कहते हैं और उन में समझाते हैं कि उस श्लोक में जिस पुरुष का वर्णन है वही सुमति है और उसी का कर्म लेप नहीं होता-

यस्यनाहंकृतोभावो बुद्धिर्यस्यनलिप्यते ।
हत्वापिसइमांल्लोकान्नहन्तिननिबध्यते ॥१७॥

अर्थ-(यस्य) जिसको ऐसा (भावः) भाव (न) नहीं कि (अहंकृतः) मैं कर्ता हूं अर्थात् जिस में अहंकार नहीं है वा यह भाव समझता है कि शरीरादि पांचो कारण अपना अपना कर्म करते हैं मैं अखंड अविद्या रहित हूं और इसी कारण से (यस्य) जिस की (बुद्धिः) बुद्धि (न लिप्यते) लिप्त नहीं होती, अर्थात् वह इष्ट अनिष्ट बुद्धि द्वारा कर्म में लिप्त नहीं होता; शुभाशुभ कर्म जो प्रारब्ध वशात् हो जावे उस में हर्ष शोक नहीं करता (सः) वह इस प्रकार आत्मा को देहादि से व्यतिरिक्त देखने वाला महात्मा (इमान्) इन सब (लोकान्) प्राणिमात्रों को लोकदृष्टि से (हत्वा) मारता हुआ (अपि) भी अपनी आत्मदृष्टि से (न हन्ति) किसी को नहीं मारता और (न निबध्यते) न उस कर्म का फल उसे बंधन करता है तो फिर कर्म का बंधन उस को कैसे हो सकता है ? उस में सत्वशुद्धिद्वारा परोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। यही सिद्धान्त अध्याय पांच श्लोक १० (ब्रह्मण्याधायकर्माणि सङ्गंत्यक्त्वाकरोतियः लिप्यतेनसपापेभ्यः) इत्यादि में बताया है॥

टीका-अहंपन विना कोई कर्म हो ही नहीं सकता आपन को आत्मा अक्रिय समझ पड़ा ऐसा कहना भी तो अहं-

कार हो चुका तथापि बुद्धिबल से आत्मा को अक्रिय मानलो तो अहंकार का अभाव हो जाता है जैसे अलंकार को मिथ्या मानलेने पर भी उस का आकार दीखे बिना नहीं रह सकता तैसे ही आत्मा को अक्रिय मान लेने पर भी अहंकार का भास होता ही है तथापि बुद्धि से यह निश्चय कर सकते हैं कि अलंकार वास्तविक में नहीं है उसी प्रकार अहंकार का अभाव भी निश्चय कर सकते हैं। जबतक आत्मा को अकर्ता न जान लेवे तबतक उस का भाव बना रहता है अर्थात् आत्मा कोई वस्तु मौजूद है, यह भाव रहता है और वही सच्चा अहंकार है, क्योंकि उस के अहंपन ही में आत्मा जान पड़ता है। जैसे सुवर्ण का केला बनाओ तो जबतक यह न जानपड़े कि यह सोने का है तबतक उसे असल केला ही का फल स-मझेंगे परन्तु वह सोना है ऐसा जानपड़ा कि केला का आ-कार दीखने पर भी फिर उसे केला नहीं मान सकते, अर्थात् उस का अभाव हो जाता है। उसीप्रकार अहंकार मिथ्या है, सर्वत्र ब्रह्म ही है, ऐसा अनुभव हुआ कि अहंकार का अभाव हो गया ऐसा जान पड़ने पर भी जबतक बुद्धि में यह न स-मावे कि मैं करूंगा वा मैं नहीं करूंगा, तबतक अपने स्वहित तक का भी कोई कर्म नहीं बन पड़ता तथापि इस मैं पन का उपादान कारण आत्मा है, ऐसा समझ पड़ा कि उस अ-हंकार का अभाव हो जाता है। अतएव जिस को अहंकार का भाव यानी उस की मौजूदगी न जान पड़ी और बुद्धिभी लिप्त न हुई वह तीनों लोक का संहार कर डालने पर भी अकर्ता बना रहता है। इस से यह सिद्ध हुआ कि केवल अ-हंकार के अभाव से अकर्तापन सिद्ध नहीं होता, यानी उस के साथ बुद्धि को भी द्वन्द्व रहित होकर अलिप्त होना चाहिये यह बुद्धि अलिप्त तभी होती है, जब कियेहुए कर्मों की सिद्धि वा असिद्धि में वह सम रहे। जहां द्वन्द्व का प्रकाश हुआ कि

वहां अहंकार जो तैय्यार ही समझो, अतएव भगवान् अर्जुन को यह उपदेश करते हैं कि यदि तू अहंकार का अभाव देख कर जय पराजय की परवाह न करके युद्ध करेगा तो उस कर्म से तू बद्ध न होगा। यही उपदेश पहले भी अध्याय २ श्लोक ३८ "सुखदुःखेसमेकृत्वा लाभालाभौजयाजयौ" वा श्लोक ५६ अध्याय १४ श्लोक २४ में भी कह चुके हैं। इस श्लोक में एक खूबी यह भी है कि अर्जुन को अकर्त्ता पन की खातरी करने के हेतु भगवान् ने अपना ही दृष्टान्त दिया है कि मैं तीन लोक की उत्पत्ति, पालन, और नाश, करने की शक्ति रखकर भी उस में लिप्त नहीं रहता क्योंकि मुझे सदैव आत्मस्वरूप स्थिति का अखंड स्फुरण बना रहता है और जो कर्म किया करता हूं उस का अभाव ही सदा मानता रहता हूं, अतएव मेरी चिच्छक्तिरूपी बुद्धि अलिप्त रहती है॥

इस श्लोक से अर्जुन का घबराहट वा शंका भगवान् ने दूर किये। अब आगे "हत्वापिनहन्यते" "ननिबद्ध्यते" अर्थात् मार कर भी नहीं मारा जाता और न बंधन में पड़ता है इसी तत्त्व का प्रतिपादन करने के हेतु कर्मों की सिद्धि के तथा विधि के तीन प्रकार बताते हैं और समझाते हैं कि कर्म प्रवृत्ति, कर्माश्रय, कर्मफल, सब त्रिगुणात्मक हैं और निर्गुण आत्मा का जो सदैव अकर्त्ता है इन से कोई संबंध नहीं॥

ज्ञानंज्ञेयंपरिज्ञाता त्रिविधाकर्मचोदना।
करणंकर्मकर्त्तेति त्रिविधःकर्मसंग्रहः॥१८॥

अर्थ–(ज्ञानम्) इष्टसाधन अर्थात् जो कर्म करने को होता है उस के साधन का ज्ञान (ज्ञेयम्) जो कर्म करना होता है अर्थात् "इष्टसाधनकर्म" (परिज्ञाता) कर्म सिद्धि चाहने वाला अर्थात् उस ज्ञान का आश्रय ऐसी (त्रिविधा) तीन प्रकार की (कर्मचोदना) कर्म की बिधि अर्थात् कर्म प्रवृत्ति के हेतु हैं

उदाहरण—यज्ञ है सोई ज्ञेय है, यज्ञ कुंड कैसा बनाना, यज्ञ में कौन वस्तु होमना, मंत्र कौन २ कहना, इन सब साधनों के ज्ञान को ज्ञान कहते हैं। और यज्ञ करने वाले यजमान को परिज्ञाता कहते हैं। जिस के द्वारा कर्म में प्रवृत्ति होवे उस का नाम (चोदना) अर्थात् विधि उक्त ज्ञानादि तीन लक्षण का अवलंबन करने से यज्ञविधि को त्रिगुणात्मक कहते हैं जैसा कि अध्याय २ के श्लोक ४५ "त्रैगुण्यविषयावेदाः" में कहा है। अब उत्तरार्द्ध में कर्म व्यवहार के तीन प्रकार कहते हैं कि (करणम्) साधन, (कर्म) जो साधक करना चाहे अर्थात् ज्ञेय (च) और (कर्त्ता) करने वाला अर्थात् परिज्ञाता (इति) ये (त्रिविधः) तीन प्रकार के (कर्मसंग्रहः) कर्म करने के संग्रह अर्थात् स्थान यानी आश्रय हैं। इस प्रकार तीनों विधि की एकता होकर न्याय्य कर्म हुआ इन के विपरीत जो कर्म हो वह अन्याय्य है। ज्ञानादि जो संप्रदानरूपी तीन क्रिया कारक पूर्वार्द्ध में कहे हैं, वे केवल क्रिया प्रवर्त्तक हैं, परंतु करणादि के तीन प्रकार जो उत्तरार्द्ध में कहे हैं, वे साक्षात् क्रिया के आश्रय हैं। आत्मा कूटस्थ निर्विकार है, और बंध मोक्ष का विषय भी नहीं ॥

ज्ञानंकर्मचकर्ताच त्रिधैवगुणभेदतः।
प्रोच्यतेगुणसंख्याने यथावच्छृणुतान्यपि ॥१९॥

अर्थ—जिस में सम्यक् कार्य भेद के अनुसार गुणों का आख्यान अर्थात् प्रतिपादन हो, उसे "गुणसंख्याने" अथवा "सांख्यशास्त्र" कहते हैं इस (गुणसंख्याने) सांख्यशास्त्र में (ज्ञानम्) ज्ञान (च) तथा (कर्म) कर्म (च) और (कर्ता) कर्ता इन तीनों में से प्रत्येक (गुणभेदतः) सत्वादि गुण भेद के अनुसार (त्रिधा-एव) तीन २ प्रकार का (प्रोच्यते) कहा गया है (तानि) उन ज्ञानादि को (अपि) भी (यथावत्) यथा प्रकार मुझ से (शृणु) सुन—

टीका-(त्रिधैव) शब्द में (एव) शब्द से यह दरशाया है कि तीनों गुण उपाधि रूप हैं, और आत्मा इन से जुदा होकर स्वतः किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। (अध्याय १४ श्लोक ६ "तत्र सत्वंनिर्मलत्वात्") इत्यादि में गुणों का बंधन होने का प्रकार निरूपण किया है, फिर (अध्याय १७ श्लोक ४ "यजन्तेसात्विकादेवान्") इत्यादि में गुणों के अनुसार तीन प्रकार के स्वभाव बताकर यह उपदेश किया, कि राजस, तामस, स्वभाव त्याग के सात्विक आहारादि का सेवन करके सात्विक स्वभाव का संपादन करना चाहिये। अब यहां पर क्रिया, कारक, फलादि में भी आत्मा का संबंध नहीं है, यह दिखाने के हेतु सर्व को त्रिगुणात्मक कहते हैं, यह बात विशेष करके जानने योग्य है। अब प्रथम सात्विकादि भेद से ज्ञान के तीन प्रकार आगे के तीन श्लोकों में वर्णन करते हैं॥

सर्वभूतेषुयेनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तंविभक्तेषु तज्ज्ञानंविद्धिसात्विकम् ॥२०॥

अर्थ-(येन) जिस ज्ञान के द्वारा (विभक्तेषु) जुदे २ दीखने वाले (सर्वभूतेषु) सर्व भूतों में (अविभक्तम्) बिना विभाग के (एकम्) एक ही (अव्ययम्) निर्विकार अविनाशी (भावम्) परमात्मतत्व (ईक्षते) देखा जाता है। (तत्) उस (ज्ञानम्) ज्ञान को (सात्विकम्) सतोगुणी ज्ञान (विद्धि) जानो ॥

टीका-जैसे समुद्र में निराले २ आकार की तरङ्गें उठकर दीखती हैं और मिट जाती हैं, परंतु उन में जो अव्यय अर्थात् अविनाशितत्व जल रहता है वह उन के साथ नाश नहीं होता, तैसे ही चराचर भूत कई एक प्रकार के उत्पन्न हो होकर नाश हो जाते हैं परंतु उन में कार्यरूप रहने वाला ब्रह्म अविनाशी है, इस को ऐसा अव्यय देखना ही सात्विक ज्ञान है। यह सर्व व्यापक ब्रह्म अव्यय है वह जिन में व्याप

रहा है, उन सब भूतों का क्षय अर्थात् नाश हो जाता है और इन के नाश हो जाने पर जो शेष बचता है, वही अव्यय ब्रह्म है । इस से यह अभिप्राय है कि प्रकृति पुरुष का सदैव अटूट संयोग रहता है, यही तत्व (अध्याय १३ के श्लोक १७ "अविभक्तंचभूतेषु") में कहा है । तत्व स्वरूप का अव्यय भाव सर्व असत्य नाशवान् भूतों में देखने के ज्ञान को सात्विकज्ञान कहा है । ये भूत जुदे २ रहते हैं परंतु उन में व्याप्त "अव्यय" का भाव एक ही सा स्थिर है । अब यह देखना है कि विभक्त में अविभक्त कैसा हो सक्ता है । इसके स्पष्ट करने को यह दृष्टान्त है कि जैसे एक ही अविभक्त दीवार पर नाना प्रकार के चित्र खींचे जाते हैं तैसे अनेक प्रकार के भूत एक ही अव्यय वा अविभक्त ब्रह्म में स्थित हैं । ऐसे ही देखने को सात्विकज्ञान कहा है और यही अद्वैत वादियों का ज्ञान है । अब आगे राजसज्ञान कहते हैं जो भेद वादियों का है ॥

पृथक्त्वेनतुयज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्
वेत्तिसर्वेषुभूतेषु तज्ज्ञानंविद्धिराजसम् ॥२१॥

अर्थ-(तु) परंतु (पृथक्त्वेन) जुदे २ भाव से (यत्) जो (ज्ञानम्) समझ है अर्थात् निराले २ भाव का जो ज्ञान है उस से (सर्वभूतेषु) सब चराचर भूतों के देह में (नानाभावान्) वस्तुतः अनेक प्रकार के जीवों को (पृथग्विधान्) सुखिया वा दुखियादि रूपों में भिन्नता जिस ज्ञान के द्वारा (वेत्ति) ऐसी समझ होती है (तत्) उस (ज्ञानम्) ज्ञान को, (राजसम्) रजोगुणी ज्ञान (विद्धि) जानो ॥

टीका-इस से स्पष्ट होता है कि जो द्वैतमत है वही राजसज्ञान है अतएव वह न्याय्य नहीं है । वेद में सर्वत्र अद्वैत प्रतिपादन किया है. अतएव द्वैतमत वादी लोग सब दीखने वाले पृथक् भावों को सच्चा मान कर वेद वाक्यों को नहीं मानते

। अद्वैत की प्रतीति गुरु कृपा विना नहीं होती और उस के विना आत्मा पर से जुदा नहीं जाना जाता। अब आगे तामसज्ञान कहते हैं॥

यत्तुकृत्स्नवदेकस्मिन् कार्येसक्तमहैतुकम्
अतत्त्वार्थवदल्पंच तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

अर्थ– (तु) परन्तु जो ज्ञान (एकस्मिन् कार्ये) एक ही देह में वा प्रतिमा में (कृत्स्नवत्) परिपूर्णवत् अर्थात् पूर्णरूप से ब्रह्मभाव स्थापन करके उसी देह वा प्रतिमा में मन को (सक्तम्) आसक्त करता है अर्थात् यही निश्चय करवाता है कि यही आत्मा वा ईश्वर है यह (अहैतुकम्) मोक्ष का हेतु न होने वाला (अतत्त्वार्थवत्) परमार्थ तत्व रहित (च) तथा (अल्पम्) तुच्छ अर्थात् अल्प विषय वाला, अल्प फल वाला (यत्) जो ज्ञान है। (तत्) वही (तामसम्) तमोगुणी ज्ञान (उदाहृतम्) कहा गया है॥

टीका–जो एक होकर अनेक हो गया, उसी उपादान कारण को "कृत्स्न" कहा है, उस से जो नाना रूप का जगत् उत्पन्न हुआ है, वह उसी का कार्य है, ऐसा समझने को सात्विक ज्ञान कहते हैं। परंतु इस (कृत्स्न) कारण का केवल एकआधाही कार्य निवेर कर केवल उसी कार्य में सर्व कारण मान लेने को तामसी ज्ञान कहते हैं उस से मोक्ष नहीं मिलता, वह तत्वार्थ भी नहीं और वह अल्प दृष्टि का रहना है॥

(श्रुति) के अनुसार सर्व ब्रह्म ही है, और कृत्स्न शब्द का अर्थ भी सर्व है, यह सर्व एक रूप समझने को सच्चा सात्विकी ज्ञान कहते हैं, परंतु भ्रांति वश होकर कोई आकाश को कोई ज्योति को वा कोई अन्य देवतों को ब्रह्म समझते हैं, इस में संदेह नहीं कि सर्व विश्व में कार्यरूप ब्रह्म वर्तमान ही है, और उस कार्य को ब्रह्म समझ सकते हैं, परंतु

इस को भगवान् तामस ज्ञान कहते हैं, क्योंकि उस में यह भूल रहती है कि कार्य रूप ही को कारण समझने लगते हैं जैसे सुवर्ण कारण तथा अलंकार उस के कार्य हैं। और अलंकार को सोना कहने में कोई हरकत नहीं है परंतु अलंकार की आकृति को कारण रूप सोना कह देना भूल है इसी प्रकार (कृत्स्न) कारण ब्रह्म है, और आकारादिक उस के कार्य है, ये सब ब्रह्म कहा सकते हैं, तथापि उनके रूप वा आकृति को ब्रह्म नहीं कह सके। इस प्रकार जगत्कारण के केवल एक आधे कार्य ही में आसक्त हो जाने को तामस ज्ञान कहा है यही बात (कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्येसक्तम्) इस वाक्य से सुझाई है। जिस ज्ञान से मोक्ष मिलता है उसे तत्त्वार्थवत् ज्ञान कहा है, परंतु कार्य में ब्रह्मत्व स्थापन करना अज्ञान मिश्रित ज्ञान है, जिस से मोक्ष नहीं मिलता। अतएव उस ज्ञान को अतत्त्वार्थवत् कहा है। इस श्लोक का सारांश यह हुआ कि कार्य रूप को कारण भाव से उपासना करना ही तामस ज्ञान है अतएव जगत्कारण जो शुद्ध सत्त्वात्मक सगुण ब्रह्म है उस की उपासना करना सात्विक ज्ञान है केवल इतर देवतों की उपासना तामस ज्ञान है॥

अब आगे कर्म के तीन प्रकारों का वर्णन करते हैं॥

नियतंसङ्गरहित·मरागद्वेषतःकृतम्।
अफलप्रेप्सुनाकर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ॥२३॥

अर्थ—(अफलप्रेप्सुना) फल की इच्छा न करके (सङ्गरहितम्) अभिनिवेश शून्य अर्थात् कामना रहित (अरागद्वेषतः) पुत्रादि की प्रीति विना वा शत्रु के द्वेष विना (यत्) जो (नियतम्) वेद विहित नित्य कर्म (कृतम्) किया जावे (तत्) वह (सात्विकम्) सतो गुणी कर्म (उच्यते) कहा जाता है॥

टीका-रागद्वेष युक्त नियत कर्म भी सात्त्विक नहीं क्योंकि कर्म का सहज अनादि गुण यह है कि कर्त्ता के मनोभाव के अनुसार फल देता है । मन को झाड़ मानो और इस झाड़ को कर्म रूप कितना ही स्वच्छ पानी दो परंतु तो भी वृक्ष के अनुसार फल देगा जैसे नीम के वृक्ष को गंगाजल क्यों न दो परन्तु फल उस के निबौरी ही होंगे, इसी प्रकार नियत कर्म यद्यपि सात्त्विक है । तथापि राजस मन से किया तो फल भी राजस होगा । अतएव रागद्वेष रहित नियत कर्म ही को सात्त्विक कहा है । अब आगे राजस कर्म कहते हैं ॥

यत्तुकामेप्सुनाकर्म साहङ्कारेणवापुनः ॥
क्रियतेबहुलायासं-तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

अर्थ-(तु) परन्तु (यत्) जो (कर्म) कर्म (कामेप्सुना) सकाम अर्थात् कोई फल की इच्छा रखने वाले के द्वारा (वा) और (साहङ्कारेण) इस प्रकार के अहङ्कार सहित कि मेरे समान उत्तम कर्म वाला और कौन है (क्रियते) किया जाता है (पुनः) और फिर जिस कर्म के करने में (बहुलायासम्) बहुत क्लेश होवे (तत्) वह (राजसम्) रजो गुणी कर्म (उदाहृतम्) कहा गया है ॥

टीका-अहंकार के बिना जो काम्य कर्म किया जावे उस को सफल करने में यदि क्लेश भी हो तो भी उसे क्लेश-दायक नहीं कहा है क्योंकि जो कोई अपनी कीर्त्ति फैलाने की इच्छा से काम्य कर्म करते हैं, उन को कीर्त्तिफल मिलता है उसी प्रकार बिना अहंकार के काम्य कर्म करने वाले को भी वही फल मिलता है । अहंकार से कर्म करने वाले को क्लेश का फल क्लेशरूप से ही मिलता है, परन्तु दूसरों को क्लेश का फल स्वर्ग मिलता है । अतएव अहंकार से कर्म करने वाले को क्लेश कहा है । इस से निरहंकार कर्म कर्त्ता श्रेष्ठ है, तो भी उस के कर्म को त्याज्य नहीं कह सकते क्योंकि जिस फल के वास्ते

इसने श्रम से कर्म किया वह नाशवान् रहता है। आगे तामसी कर्म कहते हैं ॥

अनुबन्धंक्षयंहिंसा-मनवेक्ष्यचपौरुषम् ।
मोहादारभ्यतेकर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥२५॥

अर्थ -(अनुबन्धम्) पीछे होने वाले बन्धन शुभाशुभ परिणाम को (क्षयम्) धन के नाश को (हिंसाम्) परपीड़ा को (च) और अपने (पौरुषम्) सामर्थ्य को (अनवेक्ष्य) न देखकर अर्थात् यह विचार करके कि इस कर्म में शुभाशुभ बन्ध कितना होगा, धन कितना बरबाद होगा, पराये को कितनी पीड़ा देनी पड़ेगी, और अपने में सामर्थ्य भी कितनी है किन्तु केवल (मोहात्) अविवेक से जो (कर्म) कर्म (आरभ्यते) किया जाता है (तत) वह (तामसम्) तामसी कर्म (उदाहृतम्) कहा जाता है ॥

टीका—प्रत्येक कर्म में पूर्व का अनादि बन्ध तो रहता ही है, और जो कोई अदृष्टकाम्य फल का भरोसा न करके केवल धन मद से उन्मत्त हो कर कौतुक के हेत यज्ञादि का समारम्भ करता है, सो ऐसा करके उस पूर्व के बन्ध को और भी पुष्ट करता है। उसी को (अनुबन्ध) कहा है अर्थात् वह मनुष्य एक बेड़ी पांव में पड़ी हुई के सिवाय और दूसरी बेड़ी अपने गले में डाल लेता है, उसे स्वर्गादि फल की इच्छा तो होती नहीं—परन्तु इस कर्म का हेतु केवल बकरा मारकर मांस खाना वा सोमपान करके उन्मत्त होना होता है ॥

अब आगे तीन श्लोकों में कर्म कर्ता के तीन प्रकार कहते हैं ॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्तासात्त्विकउच्यते २६॥

अर्थ—जो (मुक्तसङ्गः) कामना से रहित होता है (अनहंवादी) गर्व से बचता रहता है (धृत्युत्साहसमन्वितः) उ-

द्यम से युक्त होता है और जिस को कर्म की (सिद्धयसिद्ध्योः) सिद्धि असिद्धि में (निर्विकारः) विकार अर्थात् हर्ष विषाद नहीं होता वह (सात्विकः कर्त्ता) सतोगुणी कर्त्ता (उच्यते) कहा जाता है ॥

टीका–सात्विक कर्त्ता काम्य कर्मों का त्याग करके जो पहिले पांच प्रकार के कर्महेतु कहे हैं उन को प्रकृतिभाग के संबन्धी कर्त्ता मानता है, अपने को अकर्त्ता समझता है और आत्मा की ओर अहंकार नहीं डालता, वह अपने धैर्य से स्वर्गादि फलों की आशा छोड़ कर नित्यकर्म उत्साह से करता है। जो कर्म प्रारम्भ किया और वह सिद्ध हो गया तो उसे विशेष हर्ष नहीं होता। वा सिद्ध न हुआ तो खेद भी नहीं मानता क्योंकि वह ईश्वरार्पण करने के हेतु से निष्काम कर्म करता रहता है और उसे कोई फलेच्छा न रहने के कारण सिद्धि वा असिद्धि में हर्ष विषाद नहीं होता, अलबत्ता उसे भगवत्प्रीति की इच्छा रहती है सो उसे कर्म की सिद्धि न होने पर भी कृपालु भगवान् जी देता ही है क्योंकि यह उस का साधारण वात्सल्य धर्म है, जैसे माता को प्यास लगी यह जान कर बालक पानी लेने को दौड़ता है और बर्तन नहीं सम्हाल सकने के कारण वह पानी बीच ही में डाल देता है तो भी महतारी उस का प्रयत्न खेल देखकर तृप्त होती है इसी प्रकार जो कर्म भगवत्प्रीति के हेतु किया जावे, और वह सिद्ध न होने पावे तो भी भगवत् अपनी प्रीतिरूप फल देता है, । अब आगे राजसकर्त्ता कहते हैं ॥

रागीकर्मफलप्रेप्सु-र्लुब्धोहिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितःकर्त्ता राजसःपरिकीर्तितः ॥२७॥

अर्थ–(रागी) विषयासक्त वा पुत्रादि प्रीतिमान् (कर्मफलप्रेप्सुः) कर्मफल चाहने वाला (लुब्धः) परस्वाभिलाषी (हिंसात्मकः) परपीड़ा में चित्त देने वाला (अशुचिः) वि-

हित शौच रहित और (हर्षशोकान्वितः) लाभ में हर्ष वा हानि में शोकयुक्त ऐसा जो (कर्त्ता) कर्म का कर्ता है सो (राजसः) रजोगुणी (परिकीर्तितः) कहा गया है। आगे तमोगुणी कर्त्ता के लक्षण वर्णन करते हैं॥

अयुक्तःप्राकृतःस्तब्धःशठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादीदीर्घसूत्रोच कर्त्तातामसउच्यते ॥ २८ ॥

अर्थ—(अयुक्तः) सत्कर्म करने की इच्छा करके उस में लक्ष्य न दे कर चारो ओर चित्त दौड़ाने वाला (प्राकृतः) प्रकृति के वश हो कर जड़ बुद्धि वाला विवेक शून्य (स्तब्धः) गर्विष्ठ वा अनम्र (शठः) धन पा कर गरीबों को न देनेवाला और प्रातः स्नानादि की शक्ति रख कर भी वह कर्म न करने पड़े इस से अशक्त बनने वाला (नैष्कृतिकः) पराये का अपमान करने वाला वा आजीविका नाश करने वाला (अलसः) कोई उद्यम न करने वाला (विषादी) कर्मों के करने में चित्त न दे कर उन में हार मानकर शोक करने वाला (च) और (दीर्घसूत्री) कर्म करने में संशय युक्त हो कर जो काम आज वा कल में करना चाहिये उस को महीनों तक डाल रखने वाला—इस प्रकार का कर्म (कर्त्ता) करने वाला (तामसः) तमोगुणी कर्ता (उच्यते) कहा जाता है॥

टीका—सात्विक कर्त्ता जो दीर्घसूत्री हो तो वह भी तामसी गिना जाता है यह (च) अक्षर से सुझाया है, कर्त्ता तीन प्रकार के कहने से श्लोक १८ के (परिज्ञाता) के भी तीन प्रकार कहचुके वा कर्म के तीन प्रकार कहने से (ज्ञेय) के भी तीन प्रकार हो चुके। अब आगे बुद्धि के तीन प्रकार कहने से (ज्ञानम्) अथवा "करण" के भी तीन भेद कहे जावेंगे। वही बुद्धि के वा धारणा के तीन भेद आगे के श्लोक ३० में कहते हैं॥

बुद्धेर्भेदंधृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधंशृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेनधनञ्जय ! ॥२९॥

अर्थ-हे (धनञ्जय) अर्जुन (गुणतः) तीनों गुणों के अनुसार (बुद्धेः) बुद्धि के (चैव) और (धृतेः) धारणा के भी (त्रिविधम्) तीन प्रकार के (भेदम्) भेद जो (अशेषेण) विस्तार पूर्वक वा (पृथक्त्वेन) जुदे २ (प्रोच्यमानम्) कहे जाते हैं उन को (शृणु) सुन तात्पर्य रजोगुणी तमोगुणी बुद्धि वालों की बात का परमार्थ के विषय में भरोसा न करना चाहिये ॥

अब पहिले बुद्धि के तीन भेद कहते हैं ॥

प्रवृत्तिंचनिवृत्तिंच कार्याकार्येभयाऽभये ।
बन्धंमोक्षंचयावेत्ति बुद्धिःसापार्थ ! सात्त्विकी॥३०॥

अर्थ-हे (पार्थ) अर्जुन (प्रवृत्तिम्) धर्म में प्रवृत्ति (च) वा अधर्म से (निवृत्तिम्) निवृत्ति (च) और जिस देश में वा जिस काल में जो (कार्याकार्ये) करने योग्य और न करने योग्य कार्य अकार्य के हेतु से (भयाऽभये) डर निडर यानी अर्थ वा अनर्थ का भय और अभय और काहे में (बंधम्) बंधन (च) वा काहे में (मोक्षम्) मोक्ष है ये सब बातें (या) जो बुद्धि अर्थात् अंतःकरण (वेत्ति) जानता है (सा) वही अंतःकरण वा बुद्धि (सात्त्विकी) सतोगुणी है ॥

टीका-बुद्धि सत्त्वगुण युक्त हुई कि उसे बंध वा मोक्ष समझ पड़ता है और यह समझ गयी कि वह प्रवृत्ति मार्ग त्याग के निवृत्ति मार्ग ग्रहण करती है क्योंकि उसे समझ पड़ता है कि प्रवृत्ति मार्ग बंधक दुःखदाई है, निवृत्ति मार्ग में उसे स्व स्वरूप का बोध होता है और उस से उसे जड़,वा, चैतन्य, का विभाग समझ पड़ता है । इस से वह यह देखने लगती है कि जड़ मात्र कार्य है ॥

और इस कार्य का जो कारण अर्थात् अकार्य है वही अपना आत्मा है इस प्रकार कार्याकार्य जान लेने पर जब वह कार्य

देखती है तो उसे भव भय उत्पन्न होता है। और अकार्य अर्थात् कारण देखने से निर्भयपन आ जाता है। क्योंकि जिस समय वह कार्य को जड़ रूप में देखती है तब वह मैं, वा मेरा, इत्यादि ममता वा अहंकार में पड़कर संसार को भय रूप देखती है परंतु जब वही कार्य चिद्रूप दीखने लगता है, तब उसे समाधान होता है ॥

अब आगे राजसी बुद्धि के लक्षण कहते हैं ॥

यथाधर्ममधर्मंच कार्यंचाकार्यमेवच।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिःसापार्थ!राजसी ॥३१॥

अर्थ—हे (पार्थ) अर्जुन (यया) जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य (धर्मम्) धर्म वा (अधर्मम्) अधर्म (च) और (कार्यम्) कार्य (च) वा (अकार्यम्) कारण (एवच) भी ये सब (अयथावत्) यथार्थ रूप से नहीं (प्रजानाति) जान सकता है अर्थात् संदेह युक्त रहता है (सा) वह (बुद्धिः) बुद्धि (राजसी) रजो गुणी है ॥

टीका—यज्ञ करना वेद विहित धर्म है यह बात वह जानती है और वेद ही कहते हैं कि हिंसा करना अधर्म है परंतु इस रजोगुणी बुद्धि वाले को यह तत्व नहीं समझ पड़ता कि यज्ञ करने में वेद ने पशु हिंसा करने को क्यों आज्ञा दी है। अतएव जिस कर्म से हिंसा होती है वह कर्म करना भी धर्म है ऐसा वह अन्यथा समझता है। कर्म मार्ग प्रवृत्त करने का अंतर्गत हेतु यह है कि उससे लोग निवृत्ति मार्ग में जावें अनादि संस्कार के कारण विषय प्रवृत्ति बलवती होती है अतएव एका एकी निवृत्ति मार्ग धारण करना बनता नहीं इसी से इस विषय प्रवृत्ति को धीरे २ कर्म करने के हेतु भगवान् ने कर्म मार्ग की स्थापना की है। अपनी इच्छानुसार स्त्री पुरुष परस्पर रमें इच्छानुसार हिंसा करके मांस खाना वा

दारू पीकर उल्लू बनना यह पशु का वर्ताव है। पशुयोनि में किये हुए कर्मफल के देनहारे नहीं होते परंतु नरदेहों के कर्म फल उत्पन्न करते हैं अतएव मनुष्य का उक्त प्रकार बुरा वर्ताव करना घातक हो जाता है, उसी से रोकने के वास्ते विवाहकर्म चलाया कि स्वस्त्री से संभोग उचित समय वा उचित प्रकार होवे। और यज्ञ करके शेष मांस भक्षण करने की आज्ञा दी है ये सब तत्त्व वह राजस बुद्धि वाला मनुष्य यथार्थरूप से नहीं जानता, अतएव (अयथावत्प्रजानाति) कहा है उस को हरएक बात में संशय बना रहता है ॥

आगे तामसी बुद्धि के लक्षण कहते हैं ॥

अधर्मंधर्ममितिया मन्यतेतमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिःसापार्थ! तामसी ॥३२॥

अर्थ–हे (पार्थ) अर्जुन ! (तमसावृता) अज्ञानावरण के कारण (या) जो बुद्धि (अधर्मम्) अधर्म ही (धर्मम्) धर्म है (इति) ऐसा (मन्यते) मानती है (च) और (सर्वार्थान्) सब सांचे अर्थों को (विपरीतान्) विपरीत जानती है। (सा बुद्धिः) वह बुद्धि (तामसी) तमोगुणी है, अर्थात् विपरीत ग्रहण करने वाली बुद्धि तामसी है ॥

टीका–बुद्धि है सोई पूर्वोक्त अन्तःकरण का ज्ञान है और उसी के अनुसार वृत्ति वा धृति हुआ करती है। बुद्धिवृत्ति सत्त्वात्मक होती है, परन्तु उस पर तमोगुण की छाया पड़ने से उसे अधर्म ही धर्म जान पड़ता है। जारण, मारण, उच्चाटन, इत्यादि निंद्यकर्मों का श्रुति स्मृति ने निषेध किया है परन्तु उस तमोगुणी बुद्धि को यही कर्म उत्तम दीख पड़ते हैं यह नहीं कि उन की वेद शास्त्रों में प्रवृत्ति न हो, क्योंकि वे अधर्म कर्मों को धर्म मान कर उन का आचरण करते ही हैं, परन्तु जारण, मारण, शास्त्र नवीन होने पर भी उन को वे

पुरातन मानकर अपनी पाण्डित्यशक्ति से यही सिद्ध करते हैं कि ये सब वेदमत के विरुद्ध नहीं, अर्थात् वेदों का ही अर्थ विपरीत करते हैं। यही बात (सर्वार्थान् विपरीतान्) वाक्य से सुझाई है यहां तक कि वे भेदवादी को (तत्त्वमसि) इत्यादि महावाक्यों के अर्थ भी मन माने कर देते हैं और श्रुति-स्मृति के विरुद्ध जो मत हाल में प्रचलित हुए हैं, उन्हीं को सत्य मानते हैं। अब आगे धृति के तीन भेद कहते हैं, सत्वादि भेद से अन्तःकरण की वृत्ति तीन २ प्रकार की है उन में से एक धृतिवृत्ति के तीन भेद हैं॥

धृत्यायया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिःसापार्थ सात्त्विकी ३३॥

अर्थ—हे (पार्थ) अर्जुन! (यया धृत्या) जिस धारणा से (योगेन) चित्त एकाग्र हो कर ब्रह्म को छोड़ (अव्यभिचारिण्या) और अन्य विषयों की धारणा नहीं करता (मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः) मन प्राण और इन्द्रियों के व्यापार केवल ब्रह्मरूप (धारयते) समझ पड़ते हैं अर्थात् धारण कियेजाते हैं (सा धृतिः) वह धारणा (सात्त्विकी) सतोगुणी है॥

टीका—यह धारणा पक्के ज्ञानी की है, ज्ञानहीन मनुष्य सात्त्विक आचरण करता भी रहे, तो भी उस को जड़भाग जड़रूप ही से भासता है और उस जड़ में चैतन्य कारण दृष्टि नहीं पड़ता, अतएव सर्वात्मनिष्ठा की धारणा ही सात्त्विकी धारणा हैं क्योंकि उस में सब ठौर आत्मस्वरूप ही भासमान होता है। और किसी विषय की ओर चित्त नहीं जाता, इसी कारण उस धारणा को अव्यभिचारिणी कहा है। अब मन, प्राण, इन्द्रियों की क्रियायें ब्रह्मरूप कैसे भासती हैं, सो कहते हैं—कल्पना करना मन की क्रिया है, और यह मन एक ही हो कर नाना आकार धरता है जैसा कि स्वप्नावस्था से प्रगट होता है परन्तु उस की कोई भी क्रिया चित्स्वरूप के भास

बिना होती नहीं, जैसे पृथ्वी पर उसी के आधार से सेना खड़ी रहती है और सेना ही को देखने से पृथ्वी नहीं दीखती परन्तु सेना निकल जाने पर पृथ्वी दीखने लगती है, उस के सिवाय फिर और कुछ नहीं दीखता इसी प्रकार यह मन कल्पना करके जब तक उसी कल्पना को देखता है, तब तक चित्स्वरूप का बोध नहीं होता,-परंतु यह कल्पना नाहीं भी हुई कि उस का अधिष्ठान चित्स्वरूप आप ही से अनुभव में आने लगता है परंतु इस अनुभव का विस्मरण होने पर मन फिर से पहिले के समान कल्पना करने लगता है तमरूप "विषयसृष्टि" लिंग देह के रहने वाले राजस इन्द्रियों को भासने लगती है, यह रज तम युक्त धारणा सात्विकी नहीं होती,-क्योंकि सर्व कल्पना चित्स्वरूप दीखने लगना ही सात्विकी धारणा है। सर्व जड़ जगत् कल्पना ही का बना हुआ है। और जब अपनी कल्पना ही आत्म स्वरूप जान पड़ी तो सर्व जगत् भी उसी रूप भासमान होने लगता है। यह अनुभव सदैव के अभ्यास से ठहर सक्ता है फिर कुछ यत्न नहीं करना पड़ता, चित्त चैतन्य योग का अभ्यास करके धारणा करना चाहिये। प्रथम मानसध्यान करने से फिर जगदात्मक ज्ञान होता है, क्योंकि मन ही चिच्छक्ति है। जहां जहां मन जावे वहां २ चित्स्वरूप देखने का दृढ़ अभ्यास करै तो वही धारणा अव्यभिचारणी हो जाती है। दौड़ना मन की क्रिया है आकार की कल्पना करना उस की विक्रिया है, ये दोनों इस धारणा में ब्रह्म स्वरूप दीखने लगती हैं, अतएव वह सात्विकी कही गई॥

प्राण के दश भेद हैं १ प्राण २ अपान ३ व्यान ४ उदान ५ समान- ये पांच मुख्य भेद हैं, । और १ नाग २ कूर्म ३ कृकल ४ देवदत्त ५ धनंजय-ये पांच उपभेद हैं, येही प्राण की दश क्रिया हैं। प्राण अर्थात् ऊपर चढ़ने वाली पवन, अधोगमन

वायु अपान है, जिस वायु के द्वारा सब अंग सकुड़ने वा पसरते हैं वह व्यान है, कंठगत वायु उदान है, खाने पीने को एक समान करनेहारा वायु समान है, जिस के द्वारा उद्गार निकलता है वह नाग है, जिस के योग से नेत्रों की पलकें लगती वा उघरती हैं वह (कूर्म) है जिस से छींक आती है वह (कृकल) है जिस से जम्हाई आती है वह (देवदत्त है) और मरने पर शरीर में जो सर्वगत वायु रहता है वह (धनंजय) है ज्ञानी को यह दशौ क्रियायें आत्म स्वरूप दीखती हैं, चैतन्य ही प्राणों का अधिष्ठान है सो उसको भी ज्ञानी आत्मस्वरूप देखता है, इन्द्रियों की क्रिया भी ज्ञानी इसी प्रकार देखता है इन्द्रियों में जैसा चैतन्य व्याप्त है तैसा उन इन्द्रियों के विषयों में भी व्याप्त है क्योंकि विना चैतन्य के विषय ग्रहण नहीं हो सक्ता। योगाभ्यास से ज्ञानी को सब इन्द्रियां वा प्राण की क्रिया ब्रह्मरूप दीखने लगती है, और यही धारणा सात्विकी है श्लोक में केवल मन कहा है परंतु उन में बुद्धि वा चित्त की क्रिया भी ग्रहण करना चाहिये क्योंकि ये सब एक सत्व के ही प्रकार हैं। अब आगे राजसी धारणा के लक्षण कहते हैं ॥

ययातुधर्मकामार्था-न्धृत्याधारयतेऽर्जुन ! ।
प्रसङ्गेनफलाकाङ्क्षी-धृतिःसापार्थ! राजसी ॥३४॥

अर्थ-हे अर्जुन ! हे पार्थ (यया धृत्या तु) जिस धारणा से (धर्मार्थकामान्) धर्म अर्थ तथा कामना प्रधान होकर (धारयते) उन्हीं की धारणा हो जाती है अर्थात् धर्म अर्थ वा काम पीछा नहीं छोड़ते और (प्रसंगेन) अपने प्रसंग के अनुसार (फलाकाङ्क्षी) प्रत्येक के फल की इच्छा होती है (सा धृतिः) वह धारणा (राजसी) रजो गुणी है कर्म मार्ग की यह वह धारणा है जिस से यह इच्छा होती है-कि धर्म करने के हेतु बहुत सा धनमिले, इस लोक तथा परलोक में काम का उपभोग लेवें ॥

यथास्वप्नंभयंशोकं विषादंमदमेवच ।
नविमुञ्चतिदुर्मेधा धृतिस्सापार्थ! तामसी ॥३५॥

अर्थ-हे (पार्थ) अर्जुन ! (दुर्मेधाः) दुर्बुद्धिवाला अविवेकी पुरुष (यया) जिस धारणा के द्वारा (स्वप्नम्) निद्रा को (भयम्) भय को (शोकम्) शोक को (विषादम्) विषाद का (एवच) और (मदम्) मद को (न विमुञ्चति) नहीं छोड़ता किंतु वारंवार उन्हीं में लिप्त होकर अपनी बुद्धि को भ्रष्ट कर डालता है (सा धृतिः) वह धारणा (तामसी) तमो गुणी है जब तक ऐसी तमो गुणी वृत्ति रहे, तब तक स्नान, ध्यान, साधु सेवादि, कर्म अवश्य करता रहे ॥

अब आगे सुख के तीन प्रकार कहते हैं और दिखाते हैं कि कार्य कारण का भेद जो सत्वादि भेद से कहा है और सब का फल सुख भी तीन प्रकार का कहते हैं सो कर्ता कर्म करणादि फल सहित सब त्रिगुणात्मक है किन्तु आत्मा का कुछ संबंध नहीं है ॥

सुखंत्विदानींत्रिविधं शृणुमेभरतर्षभ ! ॥

हे (भरतर्षभ) अर्जुन ! (इदानीम्) अब (सुखंतु) सुख भी (त्रिविधम्) तीन प्रकार के हैं सो (मे) मुझ से (शृणु) सुन॥

अभ्यासाद्रमतेयत्र दुःखान्तंचनिगच्छति ॥३६॥
यत्तदग्रेविषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखंसात्विकंप्रोक्त-मात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

अर्थ-(यत्र) जिस सुख में (अभ्यासाद्रमते) थोड़े २ अभ्यास से चित्त रमता है, अर्थात् विषय सुख के अनुसार एक दम प्रीति नहीं, हो जाती और जिस सुख में रमजाने से (दुःखांतं च) दुःख का अंत भी (निगच्छति) प्राप्त हो जाता है ॥ ३६ ॥ (यत् तत्) जिस किसी सुख के (अग्रे) प्रथम आरंभ में (विषम्) विष के (इव) समान हैं अर्थात् प्रारंभ में

मन इत्यादि का संयम करने से दुःख सा जान पड़ता है परंतु (परिणामे) अंत में (अमृतोपमम्) अमृत के समान है, और (आत्मबुद्धिप्रसादजम्) बुद्धि को आत्मस्वरूप का बोध हो जाने से वह जो प्रसाद देती है अर्थात् रज, तम, का त्याग करा देती है, स्वस्थ बैठाल देती है, उस बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न जो यह सुख है (तत्) वह (सुखम्) सुख (सात्विकम्) सतोगुणी (प्रोक्तम्) कहा गया है ॥

टीका—(अभ्यासाद् रमते यत्र) इस वाक्य से निर्विकल्पयोग के अभ्यास की सूचना की है (दुःखान्तंचनिगच्छति) इस वाक्य से सविकल्प योग बताया है, दुःख शब्द से क्षरभाग लेवो, और इस क्षर भाग में उस का अधिष्ठान चित्स्वरूप देखा कि दुःख रूप विवर्त का नाश हुआ। क्षरभाग का निषेध व्यतिरेक से करके जिस स्वरूप में चित्त रमता है, वही क्षरभाग के अंत देखने के अभ्यास को ही सविकल्प योग कहते हैं स्वस्वरूप सुखरूप है, उसी में चित्त को जबरदस्ती से लगाना चाहिये यह सुख आत्म बुद्धि के प्रसाद बिना नहीं मिलता, जिस बुद्धि को आत्मस्वरूप का बोध होता है, उसे आत्मबुद्धि कहते हैं यह बोध रज तम के वियोग बिना नहीं होता, रज से विक्षेप तथा तमोगुण से लय होता है इस लय वा विक्षेप के कारण चित्स्वरूप में स्थिर नहीं रहता, अतएव अभ्यासद्वारा इन दोनों का नाश करना चाहिये तब आत्मस्वरूप के सुख का अनुभव होता है, यह सुख प्रारंभ में तो विष के समान कडुआ लगता है, परंतु अंत में अमृत सा मीठा होता है क्योंकि अनादि विषय वासना रूपी मलचढ़े रहने से स्वरूप मीठा होने पर भी कडुआ सा लगता है, । परंतु उसी का सेवन करते २ वासना विष का नाश हो कर स्वस्वरूप ही मीठा लगने लगता है । अध्याय १४ में सत, रज, तम, का भेद कहा तथा बताया कि ये तीनों गुण आत्मा का बंधन कहते हैं और अध्याय १७ में यही भेद कहके यह बताया है कि तप

यज्ञादि सतोगुणी कर्म करे क्योंकि सतोगुणी पुरुष का ज्ञान में अधिकार है ॥

अब राजस सुख कहते हैं

विषयेन्द्रियसंयोगा-द्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामेविषमिव तत्सुखंराजसंस्मृतम् ॥ ३८ ॥

अर्थ-(यत्) जो सुख (विषयेन्द्रियसंयोगात्) विषय तथा इन्द्रियों के संयोग से स्त्री संसर्गादि रूपी प्रसिद्ध है (तत्) वह (अग्रे) आरंभ में (अमृतोपमम्) अमृत सरीखा मीठा लगता है, परंतु (परिणामे) अंत में (विषमिव) विष के समान कडुवा होता है क्योंकि उस से उभय लोकों में दुःख है (तत्) वही (सुखम्) सुख (राजसम्) रजोगुणी (स्मृतम्) कहा गया है ।

टीका-विषय वा उन की इन्द्रियों से होने वाला सुख कैसा दुःख देने वाला है, इस का विवेचन (अध्याय २ श्लोक १४ मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय) तथा (श्लोक १५ यंहिनव्यथयन्त्येते) की टीका में हो चुका है और वहां पर यह भी दरशाया है कि विषयों में दुःख के सिवाय सुख तो नाम मात्र को नहीं, जो सुख विषयों से मिलता है वह आत्म सुख ही है, अर्थात् सुख जो पदार्थ है, वह आत्मा से ही है और दुःख है सो विषयों से परंतु यहां पर यह कहा है कि विषयेन्द्रिय संयोग से प्रथम सुख अंत में दुःख है, अर्थात विषयों में सुख दुःख दोनों बराबर हैं इस का यह आशय है कि विषयों में चैतन्य और जड़भाव दोनों हैं तो चैतन्य सुख स्वरूप है तथा जो दुःख है वह जड़भाव में है, और जैसा आत्म स्वरूप में केवल सुख है वैसा विषयों में नहीं, अर्थात् इन में दुःख सुख मिश्रित है अतएव इस सुख को राजस कहा है ॥

यदग्रेचानुबन्धेच सुखंमोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

अर्थ-(यत्) जो (सुखम्) सुख (अग्रे) आरंभ में (च) और (अनुबन्धे) अंत में (च) भी (आत्मनः) अपने को (मोहनम्) मोह उत्पन्न करता है और जो (निद्रालस्यप्रमादोत्थम्) निद्रा, आलस, और प्रमाद से उत्पन्न होता है अर्थात् निद्रादि में ही विचार रहित होने के कारण कर्तव्य अकर्तव्य न सूझने के कारण जो सुख भोग किया जाता है (तत्) वह सुख (तामसम्) तमोगुणी (उदाहृतम्) कहा गया है ॥

टीका-निद्रा के पहिले, निद्रा के बीच में वा कुछ समय तक निद्रा के अंत में भी विवेक विचार नहीं रहता, अतएव उस समय जो करने योग्य है, सो न करके उसी में सुख माना जाता है जो काम उचित समय पर न किये जावें तो उन के न करने पर्यंत ही सुख माना जाता है परंतु वह काम फिर करना तो पड़ता ही है और उस का असल समय निकल जाने पर यह नहीं सूझता कि अब क्या करें, इस से मोह उत्पन्न होने लगता है, प्रमाद का अर्थ स्वहित के विषय में असावधान रहना, मोह से प्रमाद उत्पन्न होने लगता है, प्रमाद का अर्थ स्वहित के विषय में असावधान रहना, मोह से प्रमाद उत्पन्न होता है और जबतक प्रमाद रहता है तब तक मनुष्य निश्चिन्त रहता है, उस से जो सुख जान पड़ता है, वह प्रमाद सुख है परन्तु उस से कार्य नाश होने का समय आया कि अपन अपने ही पर गुस्सा होते हैं और कार्यनाश होने पर अपन ही रोने बैठते हैं, इस प्रकार प्रमाद सुख के आदि वा अन्त में भी मोह होता है ॥

ये तीन प्रकार के सुख कहे गये इन में से प्रत्येक सुख के समय एकगुण प्रबल रहता है बाकी के दो गुण निर्बल रहते हैं इस से सात्त्विक सुख भी मिश्र सत्त्व का होना पायाजाता है, क्योंकि उस के आरम्भ में दुःख वा अन्त में सुख होता है॥

अब अर्जुन को शुद्ध सत्त्वात्मक सुख जानने की इच्छा हुई उन

को जान कर भगवान् आगे कहते हैं कि ईश्वर के सिवाय और किसी ठौर में शुद्ध सत्वात्मक सुख नहीं है ॥

नतदस्तिपृथिव्यांवा दिविदेवेषुवापुनः ।
सत्वंप्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिःस्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

अर्थ–(प्रकृतिजैः) प्रकृति से उत्पन्न हुए (एभिः) इन (त्रिभिर्गुणैः) तीनों गुणों से (मुक्तम्) रहित (यत्) जो कोई (सत्वम्) सत्वजीव (स्यात्) यदि होवे तो (तत्) वह (न अस्ति) नहीं है (पृथिव्याम्) पृथिवी के मनुष्यादि में (वा) अथवा (दिवि) स्वर्ग में (वा पुनः) अथवा फिर (देवेषु) देवतों में अर्थात् वह शुद्ध सत्व इन ठौरों में कहीं भी नहीं है ॥

टीका–तीनों गुणों से रहित जो शुद्ध सत्व है, वह केवल एक सगुण भगवन्त के सिवाय और किसी में वा किसी ठौर में न है न होसकता है, क्योंकि शुद्धसत्व जो है वही मूलमाया है उसी से सत्व, रजस्, तमस्, ये तीनों गुण उत्पन्न हुए हैं, और इन तीनों गुणों से सर्वसृष्टि उत्पन्न हुई है, अतएव इस त्रिगुणात्मक सृष्टि में शुद्ध सत्व भला कहां रह सकता है । (पृथिव्याम्, वा दिवि देवेषु वा) इस वाक्य में दो (वा) शब्द से पृथ्वी के नीचे के सप्त पाताल, वा ऊपर के सात स्वर्गादिकों की सूचना की है । इन चौदहों भुवन में रहने वाले लोगों को जैसा अपना जुदा २ देह दीखता है वैसा ही शुद्ध (सत्वोपाधि) जो सगुण भगवन्त है उस को अपना देह नहीं दीखता अर्थात् उसे ऐसा ज्ञान पड़ता है कि सर्व कुछ सर्वत्र मैं ही हूं ऐसा प्रभाव और किसी में नहीं है पूर्व प्रतिज्ञानुसार यहां तक भगवान् ने सात्विक कर्म, सात्विक बुद्धि वा सात्विक सुखों का माहात्म्य कहा इस को सुनकर अर्जुन के मन में यह आया कि तो अब युद्ध छोड़कर सात्विक कर्म ही करूं । सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्ण जी यह जान गये, अतएव आगे

अध्याय समाप्ति तक यह उपदेश करते है कि यद्यपि सर्वक्रियाकारक फल वा प्राणिमात्र त्रिगुणात्मक हैं इस से मोक्ष नहीं मिल सकता तथापि प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि अपने२ अधिकार के अनुसार विहित धर्म करके परमेश्वर का आराधन करे। उस से परमेश्वर का प्रसादरूपी ज्ञान प्राप्त करके मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति होवे। यही सर्व गीता के अर्थ का सार है इसी हेतु से प्रथम चारो वर्णों के धर्मों का वर्णन करते हैं, इन्हीं के आचरण से ज्ञान प्राप्त हो कर परमानन्द स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार होता है ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्चपरन्तप ! ॥
कर्माणिप्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

अर्थ-हे (परन्तप) शत्रुतापन अर्जुन ! (ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्) ब्राह्मणों के क्षत्रियों के वैश्यों के (च) और (शूद्राणाम्) शूद्रों के (स्वभावप्रभवैः) स्वभाव से उत्पन्न अथवा पूर्व संस्कार से प्रगट सात्विक, राजस, तामस इन तीनों (गुणैः) गुणों के अनुसार (कर्माणि) सब कर्म (प्रविभक्तानि) विशेष रूप से जुदे २ विभागों में बटे हुए रहते हैं अर्थात् सत्त्व प्रधान ब्राह्मण हैं, सत्त्व का उपसर्ज्जन (गौण) रजप्रधान क्षत्रिय हैं, तम उपसर्ज्जन रजप्रधान वैश्य हैं, और रजउपसर्ज्जन तमप्रधान शूद्र हैं ॥

टीका-स्वभाव-अपनाभाव-आत्मभाव-आत्मा-ब्रह्म-प्रत्येक कल्प में सृष्टि उत्पन्न होने के पहिले इस ब्रह्म से सत्त्व, रज, वा तम, ये तीनों गुण उत्पन्न होते हैं, और इन्हीं गुणों के अनुसार वर्णाश्रम धर्मों के विभाग किये हैं। स्वभाव शब्द में यह दरशाया है कि जैसे मध्यान्ह काल में सूर्य की किरणों का मृगजल का भासित करना सहज धर्म है, वैसे ही ब्रह्म का अनादि स्वाभाविक धर्म है कि उस से त्रिगुण उत्पन्न होवें इसी गुण स्वभावानुरूप वर्ण हुए हैं, अतएव वर्णाश्रम धर्म करना

मब को उचित है। इस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ये विभाग स्वभाव के अनुरूप हुए हैं केवल ब्राह्मण के यहां जन्म लेने से, क्षत्रिय के यहां जन्म लेने से ब्राह्मण क्षत्री नहीं हो सक्ता परंतु पूर्व के बड़े २ ऋषियों ने जन्मानुरूप भेद किये हैं सो भी कुछ भूल नहीं है क्योंकि उन के विचार बड़े दृढ़ सत्य थे। जैसे कानून में केवल न्याय के तत्त्व लिखे रहते हैं परंतु उस कानून को वर्ताव में लाने के हेतु स्थानिक सरकार भी कुछ नियम बनाती है तब वह कानून ठीक चलता है वैसे ही भगवंत ने वेद में गुण स्वभावानुरूप वर्णों के भेद किये हैं, वही मूल कानून वा तत्त्व समझो उस पर धर्माधिकारी लोगों ने जो नियम बनाये हैं वे ऐसे बड़े विचार से बनाये हैं कि वे इतने काल पर्यन्त विना बाधा के चले आते हैं। (यथाबीजं तथाङ्कुरः) भी नियम है अर्थात् जिस का जैसा स्वभाव है उस को वैसे ही कुल में जन्म मिलता है यह तत्त्व अध्याय ६ में योग भ्रष्ट के प्रसंग में स्पष्ट हो चुका है और सामान्य दृष्टि में भी प्रत्येक मनुष्य में उस का कुल स्वभाव दीख पड़ता है उसी के अनुसार उन के घर में इष्टमित्रों में वर्ताव होता है क्योंकि (समानशीलव्यसनेषुसख्यम्) यह भी नियम है और नीति में भी कहा है कि–

स्वभावमेवात्रतथाऽतिरिच्यते ।
यथाप्रकृत्या मधुरंगवांपयः ॥

इन कारणों से मनुष्य का जन्म स्वभाव ही से दृढ़ हो जाता है। और जो कर्म करने योग्य है वही करता है, अन्य नहीं जैसे बनियां चाहै कि मैं सिपाही हो जाऊं तो नहीं बन सकता, सिपाही से बनियां का काम नहीं बन सकता, और यदि बने भी तो बहुत अभ्यास से परन्तु फिर भी जन्म स्वभाव के विरुद्ध वर्ताव करना कभी हानिकारी भी हो जाता है जैसे पानी की धार के ऊपर चढ़ो तो गिरना ही पड़ता है

स्वभाव अनेक कर्म संस्कारों का परिणाम है उसी का विचार करके ईश्वर जन्म देता है अतएव जिस कुल में जन्म हो उस का वर्णाश्रम धर्म करना उचित है। कभी २ उत्तम कुल में बुरा वा बुरे कुल में अच्छा मनुष्य जन्म लेता है, परन्तु इस का भी विशेष कारण होता है जो सामान्य विचार से दृष्टि में नहीं आता ॥

यहां यह शंका होती है कि कालमान से कभी २ वर्णाश्रम धर्म से चलने में अड़चन होती है यह ठीक है, परन्तु कानून के मुख्य तत्त्व को न छोड़ कर नियमों की रदबदल करदो तो अनुचित नहीं कहा जा सकता ॥

जुदे २ वर्णों के अलहदा २ जन्म, व्यवहार, विवाह, संबन्ध ऋषि लोगों ने बड़े विचार से कर रक्खे हैं, अर्थात् जिस वर्ण का जैसा स्वभाव तैसा ही भोजन वा वर्ताव बनाया है, जैसे सात्विक भोजन वाला ब्राह्मण क्षत्रियों के समान युद्ध नहीं कर सकता और स्वभाव वा अवस्था के विरुद्ध लग्न करने से लड़के लड़कियां कभी खुश नहीं रह सकते ॥

अब आगे ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन करते हैं

शमोदमस्तपःशौचं क्षान्तिरार्जवमेवच ।
ज्ञानंविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्॥४२॥

अर्थ—(शमः) चित्त को निग्रह करके भगवत् में निष्ठा (दमः) बाहरी इन्द्रियों का निग्रह (तपः) कायिक, वाचिक, मानसिक, जिस के लक्षण अध्याय १७ में कह आये हैं (शौचम्) भीतर बाहर शुचिर्भूतपना (क्षान्तिः) क्षमा (एवच) और (आर्जवम्) सरलता (ज्ञानम्) शास्त्रों का ज्ञान जिस से आत्मा पहिचाना जाता है (विज्ञानम्) अनुभव अर्थात् जड़ में चैतन्य देखना (आस्तिक्यम्) शास्त्र में कहीहुई बातों पर भरोसा करके यह निश्चय रखना कि परलोक है ये सब सयषट् कर्मों के (ब्रह्मकर्म) ब्राह्मण के कर्म हैं और वे

उस के (स्वभावजम्) स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं सीखने की आवश्यकता नहीं वेदाध्ययन इत्यादि ब्रह्मकर्म तो बने ही हैं, जिस जाति में ये लक्षण हैं वही ब्राह्मण जानो ॥

अब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म कहते हैं ॥

शौर्यंतेजोधृतिर्दाक्ष्यं युद्धेचाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रंकर्मस्वभावजम् ॥४३॥

अर्थ-(शौर्यम्) पराक्रम (तेजः) प्रगल्भता जिस के योग से अन्य मनुष्यों पर अपने बड़प्पन का विश्वास पड़ता है । (धृतिः) धैर्य अथवा धारणा (दाक्ष्यम्) कुशलता चतुराई (च) और (युद्धे) युद्ध में (अपि) भी (अपलायनम्) पीठ दे कर न भागना (दानम्) उदारता (च) और (ईश्वरभावम्) ईश्वर में भक्ति वा नियम शक्ति अन्यों पर अधिकार जमाना हकूमत करना ये सब (क्षात्रम्) क्षत्रिय के (कर्म) कर्म (स्वभावजम्) स्वभाव से सिद्ध हैं ॥

अब आगे वैश्य शूद्रों के कर्म कहते हैं ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकंकर्म शूद्रस्यापिस्वभावजम् ॥४४॥

अर्थ-(कृषिः) खेती (गोरक्ष्य) गाय पालना वा चराना (वाणिज्यम्) खरीद वा वेंच करके धन मिलाना ये सब (वैश्यकर्म) बनियों के कर्म (स्वभावजम्) स्वभाव सिद्ध हैं। और ब्राह्मण, क्षत्री, वा वैश्य, की (परिचर्यात्मकम्) सेवा करना (शूद्रस्य) शूद्र के (अपि) भी (स्वभावजम्) स्वाभाविक कर्म हैं ॥

अब आगे प्रत्येक के स्वाभाविक कर्म का फल कहते हैं ॥

स्वेस्वेकर्मण्यभिरतः संसिद्धिंलभतेनरः ॥
स्वकर्मनिरतःसिद्धिं यथाविन्दतितच्छृणु ॥ ४५ ॥

अर्थ-(स्वेस्वे) अपने २ (कर्मणि) अधिकार विहित कर्म में (अभिरतः) प्रीति वा (निष्ठा रखने वाला) (नरः) मनुष्य (संसिद्धिम्) उत्तम सिद्धि वा ज्ञान की योग्यता को (लभते) प्राप्त करता है (स्वकर्मनिरतः) स्वकर्म में रत होने से (यथा) जिस प्रकार (सिद्धिम्) सिद्धि (विन्दति) मिलती है (तत्) सो (शृणु) सुन ॥

अब आगे कर्म से ज्ञानप्राप्ति का प्रकार कहते हैं ॥

यतःप्रवृत्तिर्भूतानां येनसर्वमिदंततम् ॥
स्वकर्मणातमभ्यर्च्य सिद्धिंविन्दतिमानवः ॥४६॥

अर्थ-(यतः) जिस अंतर्यामी भगवंत से उस के उत्पन्न किये हुये (भूतानाम्) सब प्राणियों की (प्रवृत्तिः) चेष्टा होती है वा (येन) जिस आत्मस्वरूप के द्वारा (इदं सर्वम्) यह सब विश्व (ततम्) व्याप्त हो रहा है। (तम्) उस ईश्वर को (स्वकर्मणा) अपने २ विहित कर्मों के द्वारा (अभ्यर्च्य) पूजन करके (मानवः) मनुष्य (सिद्धिम्) सिद्धि को (विन्दति) प्राप्त करता है अर्थात मुक्ति पाता है ॥

टीका-प्रत्येक मनुष्य अपने वर्णाश्रमोचित कर्म करके श्रीभगवंत को समर्पण कर देवे, उन की कृपा प्राप्त करे, क्योंकि इस कर्मार्पण से भगवद्भक्ति उत्पन्न होती है, उस से ज्ञान मिलकर मोक्ष प्राप्त होता है। वेद में ज्ञान के दो भेद हैं १ व्यतिरेक जिस से जगत्कारण ब्रह्म जानने में आता है । २ " अन्वय " जिस के द्वारा वही ब्रह्म सब चराचर में व्याप्त देखा जाता है ॥

अब आगे स्वकर्माचरण का फल कहते हैं ॥

श्रेयान्स्वधर्मोविगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतंकर्म कुर्वन्नाप्नोतिकिल्विषम् ॥४७॥

अर्थ-(स्वनुष्ठितात्) उत्तम प्रकार आचरण करने योग्य श्रेष्ठ दीखने वाले (परधर्मात्) पराये धर्म की अपेक्षा (स्वध-

र्मः) अपना निज धर्म (विगुणः) गुण हीन होने पर भी (श्रेयान्) श्रेष्ठ कल्याण कारी है क्योंकि (स्वभावनियतं कर्म) पूर्वोक्त स्वभाव के अनुसार नियत कर्म का (कुर्वन्) आचरण करने से (किल्बिषम्) पाप (न आप्नोति) नहीं लगता है अर्थात् बंधुवधरूपी जो युद्धादि निज क्षत्रिय धर्म है उससे दू- सरे का धर्म अर्थात् भिक्षाटनादि कर्म श्रेष्ठ नहीं हो सके, जैसे विष का कीड़ा विष से नहीं मरता तैसे ही अपने गुण के अ- नुसार कर्म करता हुआ बंध को प्राप्त नहीं होता ॥

टीका–प्रत्येक वर्ण के स्वभावानुरूप कर्म नियत हो चुके हैं और ये स्वकर्म कितने भी दोषरूप क्यों न हों परंतु भगवत् को अर्पण कर देने से वह दोष नहीं लगता किसी का कुत्ता भी कोई मारे, तो उसे राजदंड होता है। परंतु राजा की आज्ञा से यदि राज पुत्र भी मार डाले तो उस कर्म के लिये राज दंड नहीं है। भगवंत अपन सब का राजा है, और स्व- कर्म करने को उसी की आज्ञा है, अतएव यह स्वकर्म कितना भी दोष युक्त हो परंतु राजा की आज्ञा से किया जाता है, इसी से उस दोष का पाप नहीं लगता अनादि सिद्ध नियम के अनुसार अमुक कर्म, अमुक गुण, से होता है और यह गुण सब के अधिष्ठान रूप ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं यही अधिष्ठान सगुण ब्रह्म है, अतएव इस भाव से देखो तो भी स्वभाव से नियत कर्म करना ही भगवंत की आज्ञा हुई जैसे राजा की आज्ञा टाल देने की अपन में सामर्थ्य नहीं तैसे स्वभाव नियत कर्म भी टालने की सामर्थ्य नहीं अतएव उसके विरुद्ध वर्ताव करना श्रेयस्कर नहीं है ॥

यदि सांख्य दृष्टि से स्वधर्म में हिंसा रूप दोष मानकर पर धर्म को श्रेष्ठ मानता है, तो पर धर्म भी तो इसी के समान दोष युक्त है, इस आशय से आगे कहते हैं ॥

सहजंकर्मकौन्तेय ! सदोषमपिनत्यजेत् ॥
सर्व्वारम्भाहिदोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

अ०—हे (कौन्तेय) अर्जुन ! (सहजम्) स्वभाव विहित (कर्म) कर्म यदि (सदोषमपि) दोष युक्त भी हो तो भ उसे (न त्यजेत्) नहीं त्यागना चाहिये (हि) क्योंकि (स र्वारम्भाः) दृष्ट अदृष्ट सब कर्म (दोषेण) दोषों से (आवृताः) ढंपे हुये रहते हैं अर्थात् दोष युक्त होते हैं। (इव) जैसे (धूमेन) धुवां से (अग्निः) अग्नि ढंपा होता है अतएव जिस प्रकार प्रथम धुवां रूप दोष को अलहदा करके शुद्ध अग्नि की सेवा शीतादि दूर करने के हेतु करते हैं। तैसे ही कर्मों का दोष रूपी अंश छोड़कर जितना अंश गुण का है वही अपनी शुद्धि के हेतु ग्रहण करना चाहिये। गुण दोष का संग वा फल कांटे के समान है, अतएव बुद्धिमान् कांटे के रूप दोष को न देख पुष्प रूपी गुण ग्रहण करे॥

टीका—जैसा अग्नि में धुवां रहता है, वैसा सब कर्म में बंध करने का दोष है, तो फिर स्वधर्म त्याग कर पर धर्म का आचरण करने से क्या लाभ ? क्योंकि बंध तो लगा ही रहा यह बंध केवल कर्म ईश्वर को अर्पण कर देने से छूटता है, तो फिर स्वकर्म ही ईश्वरार्पण क्यों न करे ? वस्तु स्वभाव से कार्य उत्पन्न होते ही हैं परन्तु उन कार्यों में कुछ न कुछ कारण का संस्कार रहता ही है, अतएव अपना सहज कर्म भी जो स्व कर्म है सो भी कुल धर्मानुसार होता है, और उसी का आ- चरण करना कल्याण कारी है। अपने घर में जैसा सूरज का उजेला पड़ता है, वैसा राजमंदिर में भी पड़ता है, तो उस उजेले के वास्ते राजमंदिर में जाना क्या ज़रूरी है ? इसी प्रकार पर धर्म यद्यपि अच्छा दीखे तो भी उस में जाना ठीक नहीं सिवाय इसके उसमें अपना नुकसान भी होता है, क्यों

कि सर्व विश्व का राजा जो ईश्वर है, उस की स्वकर्माचरण की आज्ञा भी पालन नहीं होती, कर्माचरण में दोषका अंश छोड़ कर गुण का अंश कैसे संपादन होता है, सो आगे कहते हैं॥

असक्तबुद्धिःसर्वत्र जितात्माविगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिंपरमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

अर्थ–(असक्तबुद्धिः) जिस की बुद्धि किसी कर्म में आसक्त नहीं होती अर्थात् (सर्वत्र) सब ठौर में संग शून्य होती है, जिस ने अपने (जितात्मा) आत्मा वा बुद्धि को वश में करके अहं- कार त्याग दिया है। और जिस की (विगतस्पृहः) बुद्धि से कामना विगत हो गई है अर्थात किसी फल की कामना जिस को नहीं रही वही मनुष्य जो (श्लोक ९ "संगत्यक्त्वाफलंचैव सत्यागःसात्त्विकोमतः") इत्यादि में कहे हुए कर्मशक्ति का फल त्यागरूपी (संन्यासेन) संन्यास के द्वारा अर्थात् ईश्वर को कर्म समर्पण की विधि द्वारा (परमाम्) अति उत्तम (नैष्कर्म्यसिद्धिम्) सर्व कर्म निवृत्ति रूपी सत्व शुद्धि अर्थात श्रेष्ठ ज्ञान को (अधिगच्छति) प्राप्त करता है ॥

टीका–अध्याय ५ के श्लोक ८ से १२ तक में कहा है कि संग वा फल के त्याग देने से कर्म का आचरण करना भी (नैष्कर्म्य) होता है क्योंकि उस में कर्त्तापन का अभाव हो जाने से मानो अपना कर्म करना ही नहीं समझा जाता तथा- पि इस श्लोक में कहे हुए संन्यास के द्वारा इतना और भी लाभ है कि (परमांनैष्कर्म्यसिद्धिम्) परम हंसों कैसी सिद्धि अर्थात् परमहंस की अवस्था प्राप्त हो जाती है। जिस का वर्णन अध्याय ५ के श्लोक १३ ("सर्वकर्माणिमनसासंन्यस्यास्ते सुखंवशी) में हो चुका है ॥

देह निर्वाह के हेतु आवश्यक कर्म करके जो स्वधर्माच- रण करता रहता है, परंतु फल की कामना नहीं रखता उस को ज्ञान प्राप्त होता है परंतु इस योग्यता को पहुंचने के

लिये बुद्धि अपने वश में चाहिये, किसी भी वस्तु की इच्छा न चाहिये, ऐसी फलासक्ति त्याग के सर्व कर्म ईश्वर को अर्पण करने को यहां (संन्यास) कहा है। (संन्यास) शब्द का अर्थ सम्यक् प्रकार से (न्यास) अर्थात् त्याग है और यहां पर उस का आशय (कर्मफलत्याग) ही है क्योंकि यदि उसका अर्थ (आश्रम संन्यास) लेते हैं तो उस से (स्वधर्म त्याग) सिद्ध हुआ जाता है, और यह विषय (स्वधर्माचरण) का चल रहा है, और यदि उसका आशय (काम्य त्याग संन्यास) लेते हैं तो उस उद्देश के विरुद्ध होता है, जो श्लोक ४५ (स्वकर्म निरतः) में किया है, । कि काम्य त्याग के पीछे ही स्वकर्माचरण से (नैष्कर्म्य सिद्धि) मिलती है।

अतएव कर्म फल त्याग ही को यहां (संन्यास कहा है। (निरतः) का अर्थ अत्यंत रत अर्थात् वह मनुष्य (काम्यरत) नहीं किंतु स्वकर्म में ही रत रहता है जो मनुष्य फल की इच्छा रखकर स्वधर्माचरण करता है, वह केवल प्रत्यवाय की भीति से करता है, क्योंकि स्वधर्माचरण से चित्त शुद्धि हुये बिना काम्यफल प्राप्त नहीं होता है, अतएव उस का स्वकर्माचरण काम्य ही के हेतु होता, ऐसे मनुष्यों को (स्वकर्मरत) नहीं कह सकते, सिवाय इस के श्लोक ४६ (स्वकर्मणातमभ्यर्च्य) इत्यादि में कहा है कि स्वकर्म द्वारा ईश्वर की अर्चा करने से सिद्धि प्राप्त होती है, और यहां कहा है कि संन्यास से सिद्धि होती है तो इस से जान पड़ता है कि (संन्यास) वा (कर्मार्पण) ये दोनों वाक्य एक ही अर्थ में लिये गये हैं। (नैष्कर्म्यसिद्धिम्) का अर्थ यहां ज्ञान है क्योंकि जिस मनुष्य की चित्त शुद्धि नहीं हुई उसे (असक्तबुद्धिः) (जितात्मा) वा (विगतस्पृहः) ये विशेषण नहीं लग सकते, और आगे के श्लोक में भी सिद्ध किया है कि (नैष्कर्म्यसिद्धि) का अर्थ चित्त शुद्धि नहीं किन्तु ज्ञान ही है क्योंकि ऐसी सिद्धि प्राप्त हो जाने पर ब्रह्मप्राप्ति होती

है, स्वरूप का बोध होने पर ही अभ्यास से ब्रह्मप्राप्ति होती है, और स्वकर्माचरण से चित्त शुद्धि हो कर तदनन्तर नैष्कर्म्य सिद्धि होती है अर्थात् बुद्धि को स्वरूप का बोध होता है॥

अब आगे ६ श्लोकों में यह बतलाते हैं कि इस प्रकार की परमहंस संबन्धी ज्ञाननिष्ठा से ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है उसी के प्रकार भी कहते हैं॥

सिद्धिंप्राप्तोयथाब्रह्म तथाप्नोतिनिबोधमे।
समासेनैवकौन्तेय! निष्ठाज्ञानस्ययापरा ॥५०॥

अर्थ-हे (कौन्तेय) अर्जुन (सिद्धिम्) ऐसी नैष्कर्म्यसिद्धि अर्थात् ज्ञान (प्राप्तः) प्राप्त हो जाने पर (यथा) जिस प्रकार से मनुष्य को (ब्रह्म) ब्रह्म की (आप्नोति) प्राप्ति हो जाती है (तथा) वह प्रकार (मे) मेरे वचन से (समासेनैव) संक्षेप में ही (निबोध) समझ ले (या) जो ब्रह्मप्राप्ति (परा) प्रतिष्ठिता (ज्ञाननिष्ठा) ज्ञान की निष्ठा है अर्थात् ऐसी ब्रह्म प्राप्ति में ज्ञान की अन्तिम निष्ठा रहती है उस से परे फिर कुछ नहीं है॥

टीका—ऐसा नहीं है कि स्वरूप के ही बोध से सब काम सिद्ध हो जाता हो किन्तु उस के पीछे अभ्यास करने से वह ज्ञान पक्व होता है, तब ब्रह्मत्व प्राप्त होता है जिस के मन में ब्रह्म के सिवाय और किसी का भी स्फुरण नहीं होता उसी को ब्रह्म समझना चाहिये स्वरूपबोध होना ज्ञाननिष्ठा ही है, परन्तु अभ्यास से यह निष्ठा पूर्णरूप से सधगई तो उस से जो ब्रह्मस्थिति प्राप्त होती है उसी को ज्ञान की परानिष्ठा कहा है जिस अभ्यास क्रम से यह पदवी प्राप्त होती है सो आगे कहते हैं॥

बुद्ध्याविशुद्धयायुक्तो धृत्यात्मानंनियम्यच।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौव्युदस्यच॥५१॥

विविक्तसेवीलघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरोनित्यं वैराग्यंसमुपाश्रितः ॥५२॥
अहङ्कारंबलंदर्पं कामंक्रोधंपरिग्रहम् ।
विमुच्यनिर्ममःशान्तो ब्रह्मभूयायकल्पते ॥५३॥

अर्थ-(विशुद्धया बुद्ध्या) पूर्वोक्त शुद्ध अर्थात् सात्विक बुद्धि से (युक्तः) युक्त होकर अर्थात् अपनी बुद्धि को सतोगुणी करके (च) तथा (धृत्या) सात्विकी धारणा के द्वारा (आत्मानम्) उसी बुद्धि के बल से अपने चित्त को (नियम्य) स्वरूप में निश्चल करके (शब्दादीन् विषयान्) शब्दादि विषयों को (त्यक्त्वा) छोड़ के (च) और उन विषयों के संबंधी (रागद्वेषौ) राग द्वेष को (व्युदस्य) त्याग के (५१) जो मनुष्य (विविक्त सेवी) एकांत पवित्र स्थान में रहता है, (लघ्वाशी) परिमित भोजन करने वाला और इन सब उपायों से (यत, वाक्, काय, मानसः) वाणी, देह, वा मन, को रोकने वाला (नित्यम्) सर्वदा (ध्यानयोगपरः) ध्यान रूपी योग से ब्रह्म संस्पर्श में तत्पर और (वैराग्यं समुपाश्रित) वैराग्य का भली भांति आश्रय करने वाला (५२) इस के पश्चात् (अहंकारम्) मैं विरक्त हूं इत्यादि प्रकार के अहंकार को (बलम्) दुराग्रह को (दर्पम्) योग बल से प्राप्त हुई उन्मत्तता को और प्रारब्ध बश जो विषय प्राप्त न हों उन के विषय में भी जो मनुष्य काम क्रोध वा परिग्रह को (विमुच्य) विशेष कर त्याग के जो बलात् आन पड़े उन में (निर्ममः) ममता रहित होकर (शांतः) परम शांति को प्राप्त हो जाता है वही मनुष्य (ब्रह्मभूयाय) ब्रह्म होने के योग्य (कल्पते) होता है अर्थात् उसकी बुद्धि इस वाक्य में निश्चल हो जाती है (अहं ब्रह्मास्मि) मैं ब्रह्म हूं ॥

टीका-इस के पहिले कहे अनुसार स्वकर्माचरण से शुद्ध होकर जिस की बुद्धि को स्वरूप का बोध हो जाता है उसे

विशुद्ध बुद्धि कहा है धृति अर्थात् धारणा से चित्त का निग्रह करके उस को स्वरूप में स्थिर करने को "आत्मानं नियम्य" कहा है यह "निग्रह" विषय त्याग बिना नहीं होता, और विषय त्याग हुआ कि राग द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते जब विषय त्याग से राग द्वेष आप ही नहीं होते तो फिर उनका विषय त्याग क्यों कहा ? इस का कारण यह है, कि प्रारब्ध के कारण ज्ञानी को भी उसकी इच्छा से विरुद्ध विषय भोग होता है और उस प्रसंग में उन ने राग द्वेष रहित होकर विषयों का उपभोग लिया कि-वह उस भोग रूपी कर्म से बद्ध नहीं होता अभ्यास के २ भेद हैं १ व्यतिरेक २ अन्वय और ये दोनों यहां बताये हैं क्योंकि चित्त का जड़ संस्कार तोड़ने विना वह स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकता और यह जड़त्व संस्कार तोड़ने के लिये सर्व विषयों को आत्म स्वरूप देखने का योग साधना अवश्य है ॥ (५१) स्वरूप में चित्त स्थिर करने के हेतु एकांत स्थल में रहना हलका और परिमित भोजन करना अवश्य है। सिवाय इस के शरीर की चेष्टा बोलना वा मन के संकल्पों को भी रोकना चाहिये अर्थात् उतनी ही शरीर चेष्टा, बोल चाल वा मन, की कल्पना करना चाहिये, जितनी नित्य कर्म वा देह निर्वाहार्थ कर्म करने के लिये आवश्यक हो ध्यान का अर्थ सगुण ध्यान है, योग का अर्थ आत्मयोग है अर्थात् (ध्यान योग) से वह सूचना की है कि सगुण ध्यान में आत्म योग देखना चाहिये। इन को परिपाक करने के हेतु वैराग्य का साधन करना चाहिये। यह विषय अध्याय ६ के श्लोक १२ (तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा) में स्पष्ट हो चुका है। और अध्याय १२ के श्लोक ६ (येतु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः) इत्यादि में भी उपदेश किया है कि भगवंत का ध्यान सगुण रूप में करके आत्मस्वरूप की उपासना करना चाहिये वही भाव यहां पर (ध्यानयोगपर) वाक्य में दरशाया है (५२)

अपने देह वा उस के संबंधी लोगों की ममता को अहंकार कहा है "बल", का अर्थ शरीर बल, धनबल, इत्यादि है। दर्प गर्व है, परिग्रह, का अर्थ नौकर, चाकर, पशु, इत्यादि इन सब को त्यागने से मनुष्य ममता रहित हो जाता, उस में शांतता आती है, तदनंतर वह ब्रह्म होने के योग्य होता है। इस से सिद्ध है कि केवल आत्मा का ज्ञान हो जाना काफ़ी नहीं है, यही उपदेश इस गीता में भगवान् ने कई ठौर पर किया है उन सब का सार इन तीन श्लोकों में दिया है॥

जो उक्त रीति से ब्रह्म हो जावे (अहं ब्रह्मास्मि) वाक्य का उच्चारण करने लगे उस के लक्षण आगे कहते हैं॥

ब्रह्मभूतःप्रसन्नात्मा नशोचतिनकाङ्क्षति।
समःसर्वेषुभूतेषु मद्भक्तिंलभतेपराम् ॥५४॥

अर्थ—जो मनुष्य इस प्रकार (ब्रह्मभूतः) ब्रह्म में अवस्थित हो जाता है, वह (प्रसन्नात्मा) प्रसन्न चित्त रहकर (न शोचति) न तो नष्ट किंवा प्रवृत्ति का शोक करता है और (न कांक्षति) न निवृत्ति की अथवा जो वस्तु प्राप्त नहीं उस की इच्छा करता है। अतएव वह (सर्वेषु भूतेषु) सब चराचर प्राणिमात्रों को राग द्वेष जनित विक्षेप से रहित हो कर एकसा देखता है और इसी कारण सर्वभूतों में मेरी भावना रूपी (पराम्) उत्कृष्ट (मद्भक्तिम्) मेरी भक्ति को (लभते) प्राप्त करता है। अध्याय ७ में चार प्रकार की भक्ति कही है उस में पीछे की भक्ति का नाम परा है उसी को ज्ञान की परा निष्ठा कहते हैं॥

टीका—यह पहिले सिद्ध हो चुका है, कि अपने आत्मा से और कोई वस्तु अधिक प्रिय नहीं होता, और प्रिय वस्तु की प्राप्ति से चित्त प्रसन्न होता है, तो जिस को ऐसा प्रियरूप आत्मा सर्वत्र ब्रह्म दीखने लगता है, उस का चित्त प्रसन्न होने में क्या संदेह है। उसे इस बात की खातरी

रहता है, कि जैसे स्वप्नसृष्टि जीवों की कल्पना है, तैसी ही जगत् ईश्वर की कल्पना है, आपन भी उसी ईश्वर के अंश हैं, अतएव अपने मन से स्वप्नसृष्टि उत्पन्न होती है जैसे यह मन स्वप्न सृष्टि उत्पन्न करके उस में प्रवेश करता है, उसे सचेत करता है, तैसे ही ईश्वर अपनी कल्पना से जगत् उत्पन्न करके उस में प्रवेश कर उसे सचेत करता है। ब्रह्मभूत मनुष्य को इस की खातरी रहती है, अतएव वह सर्वदा प्रसन्न चित्त रहता है। ऐसे पक्क ज्ञानी को प्रारब्ध भोग नहीं छूटता तथापि भोग काल में वह ऐसा सोच नहीं करता कि मुझ विरक्त को यह भोग क्यों हुआ और उसे किसी बात की इच्छा भी नहीं रहती॥

श्लोक ४९। ५० में पहिले भगवान् ने यह कहा है कि स्वकर्माचरण से चित्त शुद्धि होकर "नैष्कर्म्यसिद्धि" अर्थात् स्वरूप ज्ञान होता है। तदनन्तर श्लोक ५१, ५२, ५३, में अभ्यास क्रम बताया, अंत में यह बताया कि उस अभ्यास से वह साधक मनुष्य ब्रह्म होने के योग्य होता है। इस रीति से "ब्रह्म हुए" पुरुष के लक्षण पूर्वार्द्ध में कह कर उत्तरार्द्ध में यह कहा है, कि वह मनुष्य सर्वभूतों में भगवद्भक्ति पाता है। ब्रह्मभूत पुरुष का लक्षण सर्वत्र सम होता है, और ऐसा ही पुरुष सम ब्रह्म हो कर सर्व भूतों में भगवद्भाव देखता है, इसी का नाम सगुण भक्ति है, और यही ज्ञान का कलश है। इस का वर्णन इस गीता में ठौर २ हुआ है। (भग) शब्द में छः गुणों का बोध होता है १ ऐश्वर्य २ श्री ३ यश ४ धर्म ५ ज्ञान ६ वैराग्य और ये ही छः गुण ईश्वर में हैं॥ अतएव उस का नाम (भगवन्त) है। जो मनुष्य सर्वत्र चराचर में यही भाव देखता है उसे भागवत कहते हैं।

ऐश्वर्य का अर्थ सामर्थ्य है, वास्तविक में यह जगत् नाहीं सा होने पर भी इन्द्रिय द्वारा उस की मिथ्या प्रतीति होती

यह भगवंत का ऐश्वर्य ही है। अविद्या से सर्व प्रपंच सत्य भासता है, परंतु विद्या के योग से वह भगवंत का अघटित घटना योग जाना जाता है। अतएव यह योग भगवंत का ऐश्वर्ययोग है, अविद्याजनित कर्मों के कारण जो सुख दुःखरूप विषमफल भोगना पड़ते हैं, वे ज्ञानदृष्टि से भगवद्रूप दीखते हैं, यह विषम फल जीवों को भोगना पड़ते हैं, तो भी अध्याय ५ में यह सिद्ध हो चुका है कि भगवंत सम तथा सदय हैं, अतएव उस का एक गुण (धर्म) कहा है। ज्ञानी पुरुष इस समता तथा सदयता रूपी धर्मगुण को कर्म में देखता है। किसी का भी उत्तम कर्म उस के यश का चिन्ह होता है, इसी न्याय से जगत् की अघटित घटना भगवंत का यश दरशाती है। ज्ञानी पुरुष इस को यथार्थ रूप से देखता है। "भूत" वास्तविक में न होने पर भी भासमान होते हैं, यह माया की करनी है, यह माया श्री रूपिणी है, और चराचर उसी माया का ही रूप है, क्योंकि उस को धारण करने वाला श्रीधर अरूप है। श्री तथा श्रीधर ये दोनों माया के ही रूप हैं, इन दोनों का प्रकाशक एक ही ब्रह्म है, परंतु श्रीरूप में यह भाव रहता है कि मैं माया हूं और श्रीधर रूप में यह भाव रहता है कि मैं ब्रह्म हूं। चित्स्वरूप श्रीधर चराचर रूप माया को धारण करता है, परंतु स्वतःस्वरूप रहता है, यह बाल भक्त जानता है, अतएव वह चराचर के रूप को भगवंत की श्री अर्थात् माया जानता है। व्यवहार दृष्टि में श्री का अर्थ संपत्ति होता है, और अनेक वस्तु की समृद्धि यानी अनेक संपत्ति की दर्शक है। जिस के पास बहुत घोड़े, बहुत रथ, बहुत धन, इत्यादि होता है, उसे श्रीमान् कहते हैं तैसे ही इस अनंत सृष्टि का मालिक भगवंत है, अतएव वह उस की श्री हुई, माया के योग से निर्गुण में ईश्वर का भाव होता है, और वह ईश्वर सृष्टि रचना का संकल्प करता है, तब साक्षित्व उत्पन्न होता है, इस साक्षित्व सहित

ईश्वर अपने को आप ही छः भावों से कल्पना करता है, वे छः भाव ये हैं। १ जनन भाव २ अस्तित्वभाव ३ बढ़ने का भाव ४ परिणाम भाव अर्थात् बढ़ती रोकने का भाव ५ क्षय-भाव ६ नष्टभाव, इन भावों का वह ईश्वर साक्षी होकर रहता है और इन्हीं छः भावों को चराचर में देखने का नाम ज्ञान है। भक्त लोग चराचर को भगवद्रूप देखते हैं। क्योंकि चराचर में ये छः भाव रहते हैं, और अपना आत्मा जो भगवंत है उसके यह भाव हैं। अपने को आप से सर्वकल्पना करके भी भग-वंत स्वतः केवल साक्षी बनकर रहता है। यह उसका वैराग्य गुण है, सब चराचर इस गुण के दर्शक हैं, अतएव ज्ञानी भक्त चराचर को भगवद्रूप देखता है, और भगवंत के छः गुण चरा-चर सृष्टि में दीखते हैं, अतएव चराचर भगवद्रूप हैं। अपने शरीर में जैसे आत्मा वास करता है, वैसा ही भगवंत चराचर में वास करता है, अर्थात् चराचर आत्मा भगवंत का शरीर है इसी कारण भगवंत का नाम (वासुदेव) है। (भगवान्) वा (वासुदेव) इन दोनों शब्दों में यह बोध होता है कि चरा-चर भगवद् रूप है, इसी कारण नारद जी ने ध्रुव जी को (ओंनमोभगवते वासुदेवाय) इस मंत्र का उपदेश किया था, उस के प्रताप से ध्रुव जी को शाश्वत पद मिला, इन सब का-रणों से यह स्पष्ट दीखता है कि सगुण भक्ति ज्ञान का कलश है॥

अब आगे भगवान् कहते हैं कि आत्मत्व में ऐसी सगुण भक्ति बन पड़ी कि अपना कर्तव्य कर्म हो चुका ॥

भक्त्यामामभिजानाति यावान्यश्चास्मितत्त्वतः।
ततोमांतत्त्वतोज्ञात्वा विशतेतदनन्तरम् ॥५५॥

अर्थ-वह मनुष्य (भक्त्या) उसी परा भक्ति के द्वारा जो ऊपर कही है (माम्) मुझ को (तत्त्वतः) विशेष तत्त्व से यानी मेरा यथार्थ स्वरूप (अभिजानाति) जानता है, और उस के जानने का प्रकार यह है, कि वह मुझे (यावान्) मैं जि-

तना हूं अर्थात् सर्वव्यापी (च) और मैं (यत्) जो कुछ हूं अर्थात् सच्चिदानन्द घन (अस्मि) हूं उसी का तत्त्व वह जानता है। (ततः) तब इस प्रकार (तत्त्वतः) तत्त्व से (माम्) मुझे (ज्ञात्वा) जानकर (तदनन्तरम्) उस के पश्चात् उस ज्ञान में उपराम होकर देह त्यागने पर (माम्) मुझ में (विशते) प्रवेश करता है अर्थात् परमानन्द रूप होजाता है। देखो श्रीमद्भागवत स्कंध २ अध्याय ९ श्लोक ३१ से ३५ तक॥

टीका-(यावान्) शब्द से भगवंत के साक्षिपन की अनंतता बताई है और (यत्) शब्द से सगुणपन में निर्गुणपन की सूचना की है मुझ को जानता है, इस वाक्य से निर्गुण स्वरूप को जानने का आशय नहीं हो सकता क्योंकि पिछले श्लोक में कह आये हैं कि ब्रह्म होजाने पर सगुण भक्ति प्राप्त होती है और इस भक्ति के होजाने पर सगुणपन में अनंतता वा निर्गुणता दोनों देखने में आते हैं इसी से(अभिजानाति) वाक्य कहा है, अर्थात् वह मुझे सर्वत्र जानता है, ब्रह्म अनंत है, और माया वा ईश्वर भी अनंत है, सर्व चराचर केवल मिथ्याभास है, चित्स्वरूप उस का प्रकाश है, इस चित्स्वरूप के विना सगुणपन भी उत्पन्न नहीं होता, अतएव वह भक्त ऐसा जानता है कि चित्स्वरूप निर्गुण सगुण में सर्वत्र है। देह पात होने तक भगवत्स्वरूप में पक्का प्रवेश होना अशक्य है क्योंकि जब तक देह है तब तक प्रारब्ध कर्म बाकी रहते हैं और उन को भोगते समय मनुष्य स्वरूप में स्थिर नहीं रह पाता॥

इस प्रकार अभ्यास का क्रम वा उस का फल सुनकर अर्जुन को समझ पड़ा कि यही अभ्यास करना ठीक है कर्म में पड़ने से कोई काम नहीं यह जान कर भगवान् आगे कहते हैं कि स्वकर्म करके परमेश्वराराधन से मोक्ष मिलता है जैसा कि ऊपर कह आये हैं॥

सर्वकर्माण्यपिसदा·कुर्वाणोमद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति-शाश्वतंपदमव्ययम् ॥५६॥

अर्थ–(सर्वकर्माणि) "सबनित्य" वा "नैमित्तिक" कर्मों को पूर्वोक्त क्रम से (सदा) सर्वदा (कुर्वाणः) करते हुए (अपि) भी जो स्वर्गादि फल को न चाह कर केवल (मद्व्य पाश्रयः) मेरा ही आश्रय पकड़ रखता है वह (मत्प्रसादात्) मेरी कृपा से (शाश्वतम्) अनादि वा (अव्ययम्) नित्य और सर्वोत्कृष्ट (पदम्) पद को (अवाप्नोति) प्राप्त करता है॥ इस से सिद्ध है कि प्रभु का आश्रय लेकर यथा शक्ति देशकाल वस्तु के अनुसार निष्काम कर्म करना चाहिये ॥

अब आगे भगवान् यह स्पष्ट करते हैं कि सर्व कर्म करते हुए भी मेरा आश्रय लेना चाहिये क्योंकि सब धर्म कर्म अन्तःकरण की शुद्धि के लिये हैं और वह हुई कि भगवत् प्रसन्न हो कर ज्ञाननिष्ठा देते हैं ॥

चेतसासर्वकर्माणि मयिसंन्यस्यमत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तःसततंभव ॥ ५७ ॥

अर्थ–(सर्वकर्माणि) सब कर्मों को (चेतसा) अपने चित्त से (मयि) मुझ में (संन्यस्य) अर्पण करके वा (मत्परः) मुझ ही को प्राप्त करके योग्य परम पुरुषार्थ मानकर और (बुद्धि योगम्) व्यवसायात्मिका बुद्धि की सहायता से योग का (उपाश्रित्य) आश्रय ले कर (सततम्) सर्वदा कर्मानुष्ठान काल में भी (ब्रह्मार्पणं,ब्रह्महविः) अध्याय ४ श्लोक २४ इत्यादि न्याय से (मच्चित्तः) मेरे ही बीच में चित्त लगानेवाला (भव) हो जाय ॥

टीका–चित्त वा चैतन्य के संयोग को (बुद्धियोग) कहा है। और जड़ भ्रांति दूर हो जाने पर यह संयोग आप ही हो जाता है । जब तक आत्मसाक्षात्कार न हो लेवे तब तक योग नहीं सधता । जो भगवान् ने यह कहा है कि "बुद्धियो-

ग" का आश्रय करके सब कर्म भगवत चरणों में अर्पण करदेना चाहिये। इस से यह सूचना की है कि कर्मों को चित्स्वरूप का लक्ष्य रखकर उसे अर्पण करता रहै। जो कर्म करते समय चित्स्वरूप का प्रकाश उठवैठे तो ठीक ही है परंतु यह न हो सके तो ब्रह्मभाव से कर्मार्पण तो भी कर देना चाहिये। अध्याय ४ के श्लोक २४ में यही तत्व कहा है। जो यहां पर (बुद्धियोगमुपाश्रित्य) वाक्य में कहा है। (उप) का अर्थ समीप है, समीप आश्रय करने से यह सुझाया है कि बुद्धि में सदा स्वरूप का स्फुरण होते रहना चाहिये क्योंकि ऐसे अभ्यास से बुद्धि अनायास ही योग में युक्त हो जाती है और इस बुद्धि योग के आश्रय से सब कर्म चिन्मय दीखने लगते हैं इस प्रकार कर्मों को चिन्मय देखकर उन को ईश्वरार्पण करे और अर्पण करते समय चित्त में यह भी भावना रक्खे कि हम भी चित्स्वरूप हैं यह बात (मच्चित्तः) शब्द से सुझाई है। (मत्परः) शब्द से यह बताया है कि कर्मार्पण करते समय ईश्वर में ऐसी पूज्य बुद्धि राखे कि भगवान् सब से श्रेष्ठ हैं और वही हमारा उद्धार करेगा। इस भावना से भगवत् कृपा होकर अनायास योग सध जाता है, पहिले भी इसी बात को स्पष्ट कर दिखाई है। ज्ञान निष्ठा के परिपाकार्थ जो कर्म त्यागना है, वही प्रभु में कर्म संन्यास है। (मच्चित्तः) हो जाने से जो लाभ होता है सो आगे कहते हैं, क्योंकि मोक्ष का सुगम उपाय भक्ति है और भगवान् की आज्ञा मानना ही उस की भक्ति है। उस में बड़े २ कठिन पदार्थ सुलभ हो जाते हैं

मच्चित्तःसर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथचेत्त्वमहङ्कारान्नश्रोष्यसिविनंक्ष्यसि॥५८॥

अर्थ–(मच्चित्तः) मुझ में चित्त लगा देने के कारण (मत्प्रसादात्) मेरी कृपा से (सर्वदुर्गाणि) सब दुस्तर विघ्नों के

अर्थात् संसारी दुःखों के (तरिष्यसि) पार हो जावेगा (अथ) परन्तु (चेत्) यदि (त्वम्) तू (अहङ्कारात्) वर्णाश्रम का या ज्ञाता का अहङ्कार रखने से मेरा उपदेश (न श्रोष्यसि) न सुनेगा तो (विनंक्ष्यति) विनाश हो जावेगा अर्थात् तेरा पुरुषार्थ भ्रष्ट हो जावेगा मेरी भक्ति में चतुराई का कोई काम नहीं ॥

टीका—कर्म करते समय उस की सिद्धि होने में पद पद पर विघ्न आते हैं और ये सब विघ्न भगवत्कृपा से पार पड़तेहैं यह कृपा संपादन करने के हेतु भगवत् में चित्त लगाना चाहिये यही भाव अध्याय १२ के श्लोक ७ में दरशाया है। जो कोई ऐसा अहङ्कार मन में लावे कि हम कर्म ही न करेंगे तो भी नहीं बन सकता क्योंकि प्रारब्ध कर्म तो टल ही नहीं सकता और इस के सम्बन्ध से उस मनुष्य का निश्चय विफल हो जावेगा। साधारण तैरने वाला नदी के प्रवाह में पड़कर यदि तैरने लगे तो धीरे २ पार हो जाता है। परन्तु होशियार तैरने वाला रहने पर भी यदि प्रवाह में उलटा ऊपर को चढ़े तो कुछ समय तक तो दम धरेगा परन्तु पीछे से उसके नाक, वा कान में पानी भरने से वह घबड़ा कर तैरना भी भूल जावेगा और मरणान्त कष्ट पावेगा। उसी प्रकार ज्ञान का अहङ्कार करके कोई ऐसा हट धरे कि हम प्रारब्ध कर्म करेंगे ही नहीं तो उस समय भर उस का ज्ञान ढंपकर उस के हाथ से वह कर्म होवेहीगा और उस की यह हानि होगी कि ज्ञान नष्ट हो जाने के कारण वह कर्म बंधक हो जावेगा यही बात भगवान् आगे के श्लोक में कहते हैं वा समझाते हैं कि यदि तू अपना विनाश भी कबूल करके यह विचारेगा कि मैं अपने बंधुवों से नहीं लडूंगा तो तेरा पूरा पड़ने का नहीं क्योंकि—

यदहङ्कारमाश्रित्य नयोत्स्यइतिमन्यसे ।
मिथ्यैषव्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वांनियोक्ष्यति ॥५९॥

अर्थ-मेरे उपदेश का अनादर करके व (अहंकारमाश्रित्य) केवल अहंकार का आश्रय लेकर (यत्) जो तू (इति) ऐसा (मन्यसे) विचार करेगा कि मैं (न योत्स्ये) यह नहीं करूंगा तौ भी तू स्वतंत्र न होने के कारण यह (ते) तेरा (व्यवसायः) कर्म व निश्चय (मिथ्याएष) मिथ्या ही है क्योंकि तेरी (प्रकृतिः) प्रकृति रजोगुण रूप धारण करके (त्वाम्) तुझे विवश करके युद्ध में (नियोक्ष्यति) प्रवृत्त करैहीगी ॥

टीका-ज्ञानी मनुष्य के इतर कर्म नष्ट होकर केवल प्रारब्ध कर्म बाकी रह जाते हैं, अतएव मन की प्रवृत्ति कर्म में होते ही वह ऐसा समझ लेता है कि मेरे प्रारब्ध भोग का समय आ पहुंचा और इसी कारण उसे मान देता है। परन्तु सामान्य मनुष्यों को प्रारब्ध कर्म व इतर कर्म में फरक नहीं जान पड़ता भगवत्कृपा से अर्जुन ज्ञान संपन्न हो गया था, अतएव उस की प्रकृति प्रारब्ध रूपिणी थी, इसी से भगवान् कहते हैं कि यह प्रारब्ध रूपिणी प्रकृति उस को युद्ध में लगावे होगी क्योंकि ॥

स्वभावजेनकौन्तेय निबद्धःस्वेनकर्मणा ।
कर्तुंनेच्छसियन्मोहा त्करिष्यस्यवशोऽपितत् ॥६०॥

अर्थ-हे (कौन्तेय) अर्जुन! तू (यत्) जो युद्ध लक्षण कर्म (मोहात्) मोह के वश होकर (कर्तुम्) करना (न इच्छति) नहीं चाहता है (तत्) वह कर्म (अवशः अपि) बेवश होकर भी (करिष्यसि) तुझे करना पड़ेगा क्योंकि तेरे पूर्वकर्म संस्कार से जो (स्वभावजेन) क्षत्रिय स्वभाव के अनुसार कर्म उत्पन्न है उस (स्वेन कर्मणा) निज स्वभावानुसार कर्म से अर्थात् शूरताई से तू (निबद्धः) बंधा हुआ है यानी तू क्षत्रिय कुल में उत्पन्न है और इसी कारण शूरता तेरा स्वाभाविक कर्म है उस के बन्धन में हो कर तुझे यही युद्ध करना ही पड़ेगा, जो तू करना भी न चाहता हो ॥

टीका—जन्म जन्मान्तर के संस्कार से जो कर्म उत्पन्न होते हैं उन्हें स्वभावजनित कर्म कहते हैं, इन कर्मों के तीन भेद हैं १ संचित २ क्रियमाण ३ प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण दोनों बहुत हैं तथापि ज्ञान की सहायता से इन का बन्धन नाश हो सकता है। परन्तु इसी संचित कर्म से जो फलभोगरूपी प्रारब्ध बनती है उस का क्षय उस के भोगे बिना नहीं होता। प्रकृति स्वतः जड़ है और सांख्यादि मत के अनुसार वह प्रकृति वा स्वभाव दोनों परतन्त्र हैं जैसा कि ऊपर के दो श्लोकों में कहा है। परन्तु अब आगे के दो श्लोकों में महाराज अपना मत बताकर कहते हैं कि प्रकृति वा स्वभाव ईश्वर के स्वाधीन हैं॥

जो चेतन कहं जड़ करे, जड़हिं करे चैतन्य ।
अस समर्थ रघुनाथ कहं, भजहिं जीव ते धन्य ॥
रामायण तुलसीकृत—

ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानिमायया ॥६१॥

अर्थ-हे अर्जुन ! (सर्वभूतानाम्) सर्वचराचर भूतों के (हृद्देशे) हृदय में (ईश्वरः) अन्तर्यामी ईश्वर (तिष्ठति) रहता है और (यन्त्रारूढानि) यन्त्र में चढ़े हुए (सर्वभूतानि) सब भूतों को अर्थात् देहाभिमानी जीवों को अपनी (मायया) शक्तिरूपी माया के द्वारा (भ्रामयन्) भ्रमाता है अर्थात् उन को निज २ कर्मों में प्रवृत्त करता है जैसे सूत्रधार कृत्रिम भूतों को लकड़ी के यन्त्र पर घुमाता है वैसे ही ईश्वर सूत्र धार होकर सब देहधर्मा जीवों को भ्रमाता है स्वतंत्र कोई नहीं है ॥

टीका—श्वेताश्वेतरोपनिषद् का मंत्र भी यह है ॥

एकोदेवःसर्वभूतेषुगूढः सर्वव्यापीसर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षःसर्वभूताधिवासः साक्षीचेताकेवलोनिर्गुणश्च ॥

पुनः अंतर्यामि ब्राह्मण वाक्यम् -(यआत्मनि तिष्ठन्नात्मनो-अंतरो यमयति-यंआत्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं एषतेअन्तर्याम्यमृतः) इत्यादि ॥

हृदय का अर्थ बुद्धि व भूत का भाव देह है, पूर्व कर्म यंत्र व बुद्धि माया सूत्र है, इन माया सूत्र से ईश्वर प्राणिमात्रों के देहों को नचाता है। बुद्धि ही को माया कहते हैं प्रकृति स्वतः जड़ है परंतु सर्व शक्तिमान् ईश्वर की सत्ता से वह कर्मफल भोगती है। प्रारब्ध कर्म भोगना ईश्वर की आज्ञा है, और वह ईश्वर इन सब का प्रभु है, उसकी आज्ञा न मानो तो वह दंड देता है और उस के अधिकारी माया इत्यादि उस की आज्ञा के अनुसार मनुष्य के विरुद्ध भी वर्ताव करवाते हैं। परंतु जो ईश्वर राजा की आज्ञा पालन करके-उसकी शरण आता है, और प्रारब्ध भोगता है, उसकी फिकर खुद ईश्वर करता है व उस को कर्मबंध नहीं होने देता और संसार सागर के पार कर देता है ॥ श्रुति व स्मृति दोनों ईश्वर की आज्ञा हैं व उन्हें मानने से वह प्रसन्न होता है। अपनी चतुराई से कुछ लाभ नहीं यही तत्व आगे कहते हैं। उमा दारुयोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गुसांईं ॥ तुलसीकृत रामायणे ॥

तमेवशरणंगच्छ-सर्वभावेनभारत ॥
तत्प्रसादात्परांशान्तिं-स्थानंप्राप्स्यसिशाश्वतम् ॥ ६२

अर्थ—हे (भारत) अर्जुन! सर्व जीव परमेश्वर के स्वाधीन हैं अतएव अहंकार परित्याग करके (सर्वभावेन सर्वात्म भाव से (तम् एव) उसी ईश्वर के (शरणम्) शरण में (गच्छ) जा तदनन्तर (तत्प्रसादात्) उस की कृपा से तुझे (पराम्) उत्कृष्ट (शांति) शांति और (शाश्वतम्) नित्य परमेश्वर का (स्थानम्) स्थान अर्थात् मोक्ष (प्राप्स्यसि) प्राप्त होगा ॥

टीका-(सर्वभाव) का आशय यह है कि सर्वत्र भगवद्भाव देखना क्योंकि यही एक मुख्य लक्षण शरणागत का है, और ऐसे ही शरणागत को (अनन्य शरणागत) कहते हैं ॥

राम भक्तिसों मुक्ति गुसांई। अन इच्छित आवै वरि आई॥ तुलसीकृत रामायण—अब आगे सब गीता के अर्थ का सार वर्णन करते हैं ॥

इतिते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरंमया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसितथाकुरु ॥ ६३ ॥

अर्थ-हे अर्जुन (इति) इस प्रकार(गुह्यात्) अति गोप्य अर्थात् रहस्य मंत्र योगादिज्ञान से भी (गुह्यतरम्) अति गुप्त (ज्ञानम्) ज्ञान (ते) तुझ को (मयाआख्यातम्) मैं ने उपदेश किया क्योंकि मैं सर्वज्ञ व परमकारुणिक हूं (तत्) इस मेरे उपदेश किये हुए गीता शास्त्र को (अशेषेण) भलीभांति पूर्वापर (विमृश्य) विचार करके पश्चात् (यथा) जैसी तुझे (इच्छसि) इच्छा हो (तथा) तैसा (कुरु) कर अर्थात् इस को आदि से अंत तक खूब विचार करने से तेरा मोह जाता रहेगा और तू अपना कर्त्तव्य कर्म युद्ध करने को उद्यत हो जावेगा॥

टीका-(इति) शब्द से यह सूचना की है कि वेदों के तीनों काण्डों में जो ज्ञान कहागया है वह सब इस गीता में संक्षेप रूप से वर्णन किया है और (गुह्यतरम्) वाक्य से यह सूचना की है कि वेदों में जो ज्ञानतत्व कहे हैं वे गोपनीय अर्थात् गुप्त रखने योग्य हैं। परंतु जो ज्ञानतत्व इस गीता में कहे हैं वे अनन्य भक्ति के तत्व संयुक्त होने के कारण और भी महत्व के हैं। अध्याय १० में इन्हीं तत्व को विस्तारपूर्वक कहा है । यह गीताशास्त्र अतिगंभीर है और कदाचित् उस को अर्जुन भली भांति न विचार सके इसी कारण परम कारुणिक श्रीकृष्ण महाराज आप ही कृपा पूर्वक उस का सार संक्षेप में आगे के तीन श्लोकों में कहते हैं ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसिमेदृढमिति-ततोवक्ष्यामितेहितम् ॥६४॥

अर्थ-(सर्वगुह्यतमम्) सर्व गुह्यों में से जो अतिशय गुह्य अर्थात् बड़े ही महत्व का है ॥ सो (मे) मेरा (परमं वचः) परम उत्तम वचन अर्थात् उपदेश (शृणु) सुन यह तत्व मैंने ठौर २ में तुझे बताया है परंतु बड़े महत्व के कारण उसे (भूयः) फिर भी कहता हूं सो सुन-तुझे बारंबार कहने का कारण यह है कि तू (मे) मेरा (दृढम्) अत्यंत (इष्टःअसि) प्यारा है ॥ (इति) यही मैं खूब जानता हूं व (ततः) उसी कारण से (ते) तेरे (हितम्) हित की बात (वक्ष्यामि) कहता हूं अर्थात तू मेरा बड़ा प्यारा है व मेरे उपदेश में दृढ़ विश्वास करके उसको प्रमाण मानेगा इसी कारण तुझे यह गुह्य उपदेश करता हूं ॥

टीका-कहीं २ (दृढमतिः) ऐसा भी पाठ है उसका आशय (दृढ़) निश्चय है अर्थात् भगवान् ने अर्जुन को दृढ मति इस से कहा है कि यह इस उपदेश में पक्का निश्चय रखता है॥

वेदांत शास्त्र अत्यंत गुह्य है तथा उससे भी अत्यंत गुह्य अपरोक्ष ज्ञान है उस से भी गुह्य उपदेश भगवान् यहां पर अर्जुन को करते हैं ॥ अध्याय १२ में जो भक्तियोग कहा है उसी का विशेष वर्णन यहां पर हुआ है और यह बात आगे के श्लोक से भी स्पष्ट होती है ॥

मन्मनाभवमद्भक्तो-मद्याजीमांनमस्कुरु ।
मामेवैष्यसिसत्यंते-प्रतिजानेप्रियोऽसिमे ॥ ६५ ॥

अर्थ-(मन्मनाः) मुझ में चित्त लगाने वाला (भव) हो और (मद्भक्तः) मेरा भजन करने वाला हो व (मद्याजी) मेरा पूजन करने वाला हो और (माम्) मुझ को ही (नमस्कुरु) नमस्कार कर इस प्रकार का आचरण करने से तुझे

मेरी कृपा से ज्ञान प्राप्त हो जावैगा और उसी के द्वारा तू (मामेव) मुझ को ही (एष्यसि) प्राप्त कर सकैगा, मेरे इस वाक्य को (सत्यम्) सत्य जान उस में तू कोई संशय मतकर क्योंकि तू (मे) मेरा (प्रियः असि) प्यारा है अत एव जो बात सत्य व यथार्थ है वही मैं (ते) तुझ को (प्रति जाने) प्रतिज्ञा करके कहता हूं ॥

टीका-(मन्मना भव) पद से यह सूचना की है कि स कल विग्रह को मुझ भगवत् का रूप देख, आत्मत्व से जिसको सगुण में भक्ति होती है उसे भक्त कहते हैं यह भक्ति तीन लक्षणों से युक्त होना चाहिये अर्थात् १ (निर्निमित्त) जिस में इस लोक व परलोक के सुख की इच्छा न करके केवल भगवत् के हेतु उस का भजन किया जावे। यदि कोई वस्तु की प्राप्ति के हेतु भगवंत की भक्ति करे तो वह उसी वस्तु की भक्ति कही जाती है तैसे ही मोक्ष प्राप्ति के हेतु भी जो भक्ति की जावे वह भी निर्निमित्त नहीं हो सकती। २ (अखंडभक्ति) अर्थात् प्रीति युक्त भक्ति है। जिस के लक्षण अध्याय ७ के श्लोक १७ (तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त) के टीका में वर्णन हो चुके हैं। ३ (अव्यभिचारिणीभक्ति) जिस के द्वारा अपनी व भगवत की एकता मानकर भगवंत अपना आत्मा ही माना जाता है। यही त्रिविध भक्ति करने वाला ही सच्चा भक्त है और ऐसी भक्ति होने के लिये भगवान् अर्जुन को शिक्षा करते हैं। (मद्याजी) वाक्य) से सर्व कर्म ईश्वर प्रीत्यर्थ करना दरसाया है, उसी प्रकार सर्वात्मभाव से भगवंत को नमस्कार करने का उपदेश किया है इस रीति से जो मनुष्य भगवंत की सेवा करता है वह उन के स्वरूप को पाता है यह बात श्री महाराज ने प्रतिज्ञा पूर्वक कही है। यही उपदेश (अध्याय १२ के श्लोक १० अभ्यासेप्यसमर्थोऽसि) में किया है। इस भागवत धर्म में ज्ञान, व कर्म, दोनों रहते हैं और दूसरे भागवतधर्म में कर्मत्याग कहा है वा उस का वर्णन (अध्याय

१२ के श्लोक ११ अथैतदप्यशक्तोऽसि) इत्यादि में हो चुका है उस को फिर आगे के श्लोक में कह कर यह दरशाते हैं कि श्लोक ६४ वा ६५ में जो गुह्यतम ज्ञान बताया है उस से भी यह गुह्यतम है ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकंशरणंव्रज ।
अहंत्वांसर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामिमाशुचः ॥६६॥

अर्थ—मेरी भक्ति से ही सब कार्य सिद्ध हो जावेगा ऐसा दृढ़ विश्वास रखके(सर्वधर्मान्) सब धर्मों को जो केवल विधि के किंकर बना देते हैं । (परित्यज्य) त्याग के (माम्, एकम्) मुझ एक के ही (शरणम्) शरण (व्रज) जावो—अर्थात् मदेक शरण हो और यदि तुझे यह शंका हो कि इस प्रकार सर्व कर्म त्यागने से पाप लगेगा तो लेशमात्र भी ऐसा सन्देह न करके (माशुचः) किंचित् शोक मत कर क्योंकि (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ मदेकशरण को (सर्वपापेभ्यः) सब पाप वा कर्मबन्धन से (मोक्षयिष्यामि) मुक्त करदूंगा ॥

टीका—(सर्वधर्मान्) का अर्थ यहां पर सब विहित कर्म हैं क्योंकि यह विषय कर्मत्यागी भगवदेकशरण का है, पूर्वार्द्ध का यह भाव है कि सर्व कर्मों को त्याग के सर्व विश्व एक ही भगवन्त का रूप जानकर—उसी भगवन्त के शरण में जाना चाहिये। इस शरणागति का फल उत्तरार्द्ध में बताया है यानी सगुण भगवन्त उस भक्त को सर्वपापों से छुड़ाता है (पापम्) शब्द से यहां पाप वा पुण्य दोनों सुझाये हैं और वेद वेदान्त में भी यही दो अर्थ इस शब्द के किये हैं जैसे इस वेदान्तसूत्र से विदित होता है ॥

तदधिगमेउत्तरपूर्वार्द्धयो–रश्लेषविनाशौतद्
व्यपदेशात् ।

अर्थ—वह आत्मा जान जाने पर पूर्व के वा आगे के पापों का नाश होता है, वा क्रियमाण अकर्त्ताभाव से—किये

जाने के कारण—उन का बन्ध नहीं होता, पाप कर्मों से जैसा बन्ध उत्पन्न होता है वैसा पुण्य कर्मों से भी होता है, यह तत्व पहिले कई ठौर पर स्पष्ट हो चुका है।

इस प्रकार ज्ञान सिद्धि हो जाने पर चिंता करने की कोई जरूरत नहीं रहती परंतु यह स्थिति होने पर्य्यंत ज्ञानी को चिंता बनी ही रहती है व इस कारण उसे शोक भी होता है अतएव पूर्वार्द्ध में ज्ञान सिद्धि का उपाय बताकर उत्तरार्द्ध में अर्जुन के मन का समाधान किया है। इस श्लोक का यही सरल व सच्चा अर्थ है और अध्याय १२ में भी भगवान् ने यही उपदेश किया है परंतु कई टीकाकार इस श्लोक का अर्थ ऐसा करते हैं कि (सर्वधर्मों) के त्याग से जो प्रत्यवाय दोष लगेगा उस से मैं तुझे छुड़ा दूंगा तू शोक मत कर, अब देखो कि मोक्ष जब होगा तब बंध ही से होगा। क्योंकि जहां बंध नहीं तहां मोक्ष का क्या काम और वे टीकाकार यह कबूल ही करते हैं कि जिस धर्म के त्याग से ऐसा बंध होता है वही शरणागति भगवान् ने यहां कही है तो इससे यही सिद्ध हुआ कि भगवान् ने प्रथम बंध उत्पन्न करने वाले कर्म करने का उपदेश करके फिर उस कर्म बंध से मोक्ष करने की प्रतिज्ञा की है परंतु यह बात बिलकुल असंगत जान पड़ती है और भगवान् ऐसा उपदेश कभी न करेंगे। यहां तक इस प्रकार गीतार्थ का तत्व प्रकाश करके अब आगे उस तत्व का संप्रदाय प्रवर्त्तन करने के नियम कहते हैं॥

इदन्तेनातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
नचाशुश्रूषवे वाच्यं नचमांयोऽभ्यसूयति॥ ६७ ॥

अर्थ-(इदं) यह गीता शास्त्र (ते) तुझ को (कदाचन) कदापि इन लोगों से (न वाच्यम्) न कहना चाहिये अर्थात (न) न तो (अतपस्काय) धर्मानुष्ठानहीन को (न अ-भक्ताय) न गुरु व ईश्वर में भक्ति शून्य को (च) और

(न अशुश्रूषवे) न उन को जो परिचर्या करके सुनने की इच्छा रखता है। (च) और (न) न उस को (यः) जो (माम्) मुझ को (अभ्यसूयति) दोष लगाता है अर्थात् मुझ ईश्वर को मनुष्य जान कर—मुझ पर दोषारोपण करके मेरी निन्दा करता है ॥

टीका—तप का अर्थ विचार भी है अर्थात् यह गीताशास्त्र सुनकर जो मनुष्य उस को मनन करने की शक्ति नहीं रखता उसे (अतपस्क) कहा है, यह शक्ति अनन्त जन्म पर्यन्त तपश्चर्या करने से आती है। (शुश्रूषा) का अर्थ श्रवणेच्छा—वा सेवा दोनों हैं। क्योंकि जिस को सुनने की इच्छा नहीं है उस को कहना ही व्यर्थ है, और जो इस तत्व को जानने के हेतु—गुरु महात्मा की सेवा नहीं करता उस को इस का समझना भी कठिन है। अर्थात् जो मनुष्य सुनने की इच्छा रख कर—ऐसा करने को भी तैय्यार हो—उस को यह गीताशास्त्र सुनाना योग्य है। परन्तु उस को यह शास्त्र नहीं सुनाना चाहिये जो भगवन्त को विषम वा निर्दयी कह कर उस के अवतार चरित्रों की निन्दा करता है ॥

इन सब दोषों से रहित लोगों को जो कोई इस गीताशास्त्र का उपदेश करे उस को जो फल मिलता है सो आगे कहते हैं ॥

यइमम्परमंगुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिंमयिपरांकृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयम् ॥६८॥

अर्थ—(इदम्) यह (परमम्) अतिशय (गुह्यम्) गूढ़ गीताशास्त्र (यः) जो कोई (मद्भक्तेषु) मेरे भक्तों को (अभिधास्यति) सुनाकर उन से उस का मनन करवावेगा, वह (मयि) मुझ में (पराम्, भक्तिम्) उत्कृष्ट भक्ति (कृत्वा) करके (असंशयम्) निःसन्देह (मामेव) मुझ ही को (एष्यति) प्राप्त होगा अर्थात् इस में संशय नहीं है कि वही मनुष्य मेरी उत्तमभक्ति करता है वा तदनन्तर मुझ ही को प्राप्त करलेता है॥

टीका–इस श्लोक के पहिले चरण में यह बताया है कि सब निगमों को मथन करके जो सार निकला है वही इस गीता में कहा है और दूसरे चरण में यह कहा है कि भगवद्भक्तों के सिवाय और किसी को यह सार बताना ठीक नहीं है। गीतार्थ का निरूपण जिन विशेष लक्षणों से युक्त होना चाहिये वे तीसरे चरण में दरसाये हैं, और चौथे चरण में उसका फल कह कर उस की सत्यता के विषय में प्रतिज्ञा की है। जिस का ज्ञान पक्क हो गया है उस भक्त के लिये यह उपदेश नहीं है, क्योंकि उस को ईश्वर प्राप्ति दुर्लभ नहीं है। और यह भी स्पष्ट हो चुका है कि स्वस्वरूप का अपरोक्षज्ञान हुए बिना ऐसी श्रेष्ठ भक्ति होना अशक्य है। अतएव उस मनुष्य के लिये भी यह उपदेश लागू नहीं होता तौ अब यह सिद्ध हुवा कि इस प्रकार गीतार्थ के निरूपण का उपाय ज्ञानी भक्त के हेतु बताया गया है, जिस को ज्ञान प्राप्त हो गया है। परन्तु उसे परिपक्क करने की आवश्यकता है, इस गीतार्थ का निरूपण जो अब तक हुवा है उस से बुद्धिमान् लोगों की पूरी खातरी हो जावेगी कि इस गीता में सगुणभक्ति वा सगुणभक्तों की श्रेष्ठता सब ठौर दिखाई गई है। उस से निर्गुणाभिमानी टीकाकारों का मत आप ही खंडन हो जाता है, यह भी यहां तक स्पष्ट हो चुका है कि सगुण भक्ति से मोक्ष मिलना अत्यन्त सुलभ है तौ गीता का निर्गुण पर अर्थ करने वालों का केवल दुरभिमान ही दीख पड़ता है॥

अब आगे श्रीकृष्ण जी अपने भक्ति की और भी प्रशंसा करते हैं॥

नचतस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मेप्रियकृत्तमः।
भविताનचमेतस्मा दन्यःप्रियतरोभुवि ॥६९॥

अर्थ–(तस्मात्) उसी कारण इस गीता शास्त्र का आख्यान करने वाले मेरे भक्तों की अपेक्षा (मनुष्येषु) मनुष्यों के बीच

में (कश्चित्) और कोई भी (मे) मेरा (प्रियकृत्तमः) अ-त्यंत प्रिय कर्म करने वाला व उस से मुझे परितोष देनेवाला (न) नहीं है (च) और (तस्मात्) उस भक्त से (अन्यः)दूसरा कोई (भुवि) इस संसार में (मे) मेरा (प्रियतरः) अधि-क प्यारा न वर्तमान है (च) और (न) न (भविता) कालां-तर में होगा ॥

टीका-(मनुष्येषु) तथा (भुवि) शब्दों से यह सूचना की है कि मनुष्य देह ही में स्वहित साधन बनता है और वह इसी संसार में हो सकता है। आहार, निन्द्रा, भय, मैथुन, इ-त्यादि पशुओं में भी होते हैं और जो मनुष्य इन ही में त-त्पर रहते हैं वे पशु से उत्तम नहीं अतएव स्वहित तत्पर म-नुष्यों के मध्य में भगवान् ने उसी भक्त को विशेष प्रिय कहा है जिस का वर्णन श्लोक ६८ में हुवा है ॥

आगे इस गीता शास्त्र के पठन करने का फल कहते हैं

अध्येष्यतेचयइमं धर्म्यंसंवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेनतेनाह मिष्टःस्यामितिमेमतिः ॥७०॥

अर्थ-(च) और (आवयोः) मेरे वा तेरे अर्थात् श्रीकृष्ण व अर्जुन के बीच का परस्पर (इमम्) इस (धर्म्यम्) धर्म सं-युक्त (संवादम्) संवाद को जो कोई (अध्येष्यते) जपरूप से पठन करैगा तो उस के विषय में (मे) मेरी यह (मतिः) संमति अर्थात् राय है कि (तेन) उस मनुष्य के द्वारा (ज्ञान यज्ञेन) सर्व यज्ञों में श्रेष्ठ जो ज्ञानयज्ञ है उस से (अहं इष्टः स्याम्) मैं पूजा गया हूं अर्थात् मैं यही समझूंगा कि वह म-नुष्य सर्वोत्तम ज्ञान यज्ञ के द्वारा मेरी अर्चना करता है ॥

टीका-इस गीतार्थ को न समझ के भी जो कोई केवल उस का पाठ मात्र भी जपरूप से करता है तो उस को सुन कर मेरी यह भावना होती है कि वह मनुष्य मेरा ही माहात्म्य

वा रूप प्रकाश कर रहा है। जैसे कोई किसी का नाम उच्चारण करे तौ उस नाम का मनुष्य यह जानता है कि मुझे पुकार रहा है, व सुन कर समीप भी आजाता है तैसे ही मैं भी गीता पठन करने वाले के समीप आ पहुंचता हूं। जैसे अञ्जालि इत्यादि से कोई भी मेरा नाम लेने के कारण मैं प्रसन्न होता हूं, तैसे गीता पठन करने वाले पर प्रसन्न होता हूं। गीतार्थ निरूपण का फल श्लोक ६९ में बताकर इस श्लोक में उस के पाठ करने का फल कहा है। वराई पेरने से गुड़ व शक्कर उत्पन्न होती है तौ यह कहने में कोई हरकत नहीं कि गुड़ व शक्कर पेरी गई इसी भाव से भगवान् कहते हैं कि जो कोई गीता का पाठ करै तौ मैं यह समझता हूं कि वह ज्ञानयज्ञ के द्वारा मेरा पूजन करता है। जैसे सुवर्ण के अलंकारों से भरा बंद संदूक कोई दाता किसी याचक को देदेवै तौ दाता तो अपनी ओर से वे अलंकार उस याचक को दे चुका परंतु वह याचक यद्यपि उस समय उस संदूक के महत्व को नहीं जानता, तथापि पीछे कभी उस संदूक को खोलकर उस में के अलंकार देखैहीगा, व उन का उपयोग करैगा। इसी न्याय के अनुसार भगवान् ने इस श्लोक में उपदेश किया है कि गीता के पाठ करने वालों को कालान्तर में उस के रहस्य जानने की इच्छा होवैहीगी और यह इच्छा होने पर वह गीतार्थ को समझ भी लेवैगा, व उस के महत्व को जानने लगैगा तदनंतर वह अर्थ सहित गीता का अभ्यास करैगा और वही उस का (ज्ञानयज्ञ) होगा ॥

इस गीता का अर्थ न समझ कर जो कोई दूसरे के मुख से उस का पाठ सुनैगा उस को जो श्रवण फल मिलैगा सो आगे कहते हैं ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि योनरः ।
सोऽपिमुक्तःशुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ७१

अर्थ–(यः) जो (नरः) मनुष्य (श्रद्धावान्) श्रद्धायुक्त होकर (च) और (अनसूयः) असूया अर्थात् दोष दृष्टि र-हित होकर (अपि) भी इस गीता को (शृणुयात्) सुनेगा (सः) वह (अपि) भी पापों से (मुक्तः) छूट कर (पुण्यकर्म-णाम्) अश्वमेधादि पुण्य कर्म करने वालों के (शुभान् लो-कान्) उत्तम लोकों को (प्राप्नुयात्) प्राप्त होगा ॥

टीका–इस श्लोक में कहे हुए फल को प्राप्त करने के हेतु श्रद्धा अर्थात् आस्तिक्य बुद्धि होनी चाहिये । और (असूया) निन्दा न होवे अर्थात् भगवंत के विषय में दोषरहित मन होकर पढ़ने वाले को इस प्रकार के दोष न लगावे कि वह व्यर्थ ज़ोर से या धीरे से पढ़ता है अथवा अशुद्ध व पद तोड़ २ के पढ़ता है ॥

अब आगे कृपालु भगवान् इस आशय से अर्जुन को प्रश्न करते हैं कि जो तूने मेरे किये हुए उपदेश को भली भांति न समझा हो तो फिर से उपदेश करूं ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतंपार्थ–त्वयैकाग्रेणचेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः–प्रणष्टस्तेधनंजय ! ॥ ७२ ॥

अर्थ–हे (पार्थ) अर्जुन ! (एकाग्रेण चेतसा) एकाग्र चित्त होकर (त्वया) तूने (एतत्) यह मेरा उपदेश (श्रुतम्) सुना है । (कच्चित्) क्या ? अर्थात्-खूब चित्त लगाकर सुन लिया है या नहीं? । और हे (धनञ्जय) अर्जुन ! जो (ते) तुझ को (अज्ञानसंमोहः) तत्व के अज्ञान से जो मोह उत्पन्न हुआ था सो तो (प्रणष्टः) नाश हुआ है (कच्चित्) क्या ? । अ-र्थात् तेरा मोह दूर हो गया कि नहीं, नहीं तो और उपदेश करूं इस का उत्तर अर्जुन आगे देता है ॥

अर्जुन उवाच ।

नष्टोमोहःस्मृतिर्लब्धा-त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ! ।

स्थितोऽस्मिगतसंदेहः-करिष्येवचनंतव ॥७३॥

अर्थ- हे (अच्युत) श्रीकृष्ण ! (त्वत्प्रसादात्) तुम्हारी कृपा से मेरा आत्म विषय का (मोहः) मोह (नष्टः) नाश हो गया है। और (मया) मुझे (स्मृतिः) आत्मस्मृति (लब्धा) प्राप्त हुई। अर्थात (मैं स्वयम् हूं) ऐसी स्वरूपानु-संधानरूपी स्मृति मुझे तुम्हारे ही प्रसाद से लाभ हुई, अतएव अब (स्थितः अस्मि) मैं यहीं स्थित हूं क्योंकि (गतसंदेहः) अधर्म के विषय में जो संदेह मुझे हुआ था सो दूर हो गया और अब मैं (तव वचनम्) तुम्हारी आज्ञा को पालन (करिष्ये) करूंगा अर्थात् जो कहो सो करने को तैय्यार हूं ॥

टीका—अज्ञान के आवरण से ऐसा मोह हो जाता है कि जो जड़ देह है, सोई अपन हैं, व यह मोहव्यतिरेक ज्ञान से नष्ट हो जाता है, तब समुझ पड़ता है कि अपन कौन हैं। तो प्रथम चरण में अर्जुन कहता है कि यह ज्ञान मुझे होगया है। और यही मुख्य लाभ है, यदि यह हो गया तो उस ज्ञान के केवल दृढ़ करने के हेतु अपनी ओर से परिश्रम ही करना बाकी रह जाता है सो अपने स्वाधीन है ॥

श्रीकृष्ण व अर्जुन के बीच में जो इस प्रकार का संवाद हुआ था सो संजय ने धृतराष्ट्र से कहा और उस के संबंध में जो उद्गार संजय ने निकाला सो आगे कहता है ॥

सञ्जय—उवाच ।

इत्यहंवासुदेवस्य पार्थस्यचमहात्मनः ।
संवादमिममश्रौष मद्भुतंरोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—हे धृतराष्ट्र ! (इति) इस प्रकार जो मैंने तुम से कहा सो (वासुदेवस्य) श्रीकृष्ण का (च) तथा (महात्मनः) महात्मा (पार्थस्य) अर्जुन का (इमम्) यह (अद्भुतम्) अलौकिक और (रोमहर्षणम्) रोमाञ्च करने वाला (संवादम्) संभाषण (अहम्) मैंने (अश्रौषम्) सुना है ॥

टीका—आत्मा का अर्थ वुद्धि है अर्थात् जिस की वुद्धि तीव्र होगई हो उसे महात्मा कहते हैं, जिस की वुद्धि को अपना आत्मा भगवत् दीखता है उसी की वुद्धि तीव्र वा बड़ी कही जाती है। और उसी को (वासुदेव) कहना चाहिये क्योंकि अध्याय ७ के श्लोक १९ (वासुदेवः सर्वमिति) इत्यादि में भगवान् ने ऐसा ही कहा है अतएव अर्जुन को (महात्मा) का विशेषण देकर संजय ने यह सूचना की है कि उस समय मुझे अर्जुन भी कृष्ण के समान वासुदेव दीखने लगा था। और इस संवाद के सुनने से संजय का मिथ्याभास रूपी द्वैत भी नष्ट सा हो गया था, यह वात अद्भुत शब्द से दरसाई है। अब आगे संजय कहता है कि यह अनुभव इस के पहिले प्रगट नहीं था—

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहंपरम् ।

योगंयोगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतःस्वयम्॥७५

अर्थ—(साक्षात्) साक्षात् (योगेश्वरात्) योगेश्वर (कृष्णात्) कृष्ण के (स्वयम्) निज मुखारविंद से (कथयतः) कहा हुआ (एतत्) इस (परमम्) उत्कृष्ट व (गुह्यम्) गूढ़ (योगम्) योग को (अहम्) मैंने (व्यासप्रसादात्) श्रीभगवान् व्यास जी की कृपा से (श्रुतवान्) सुना है ॥

टीका—भगवान् व्यास संजय के गुरु थे और उन हीं ने उस को दिव्य नेत्र दिव्य कान दिये थे, जिन के द्वारा वह महाभारत भूमि में श्रीकृष्ण व अर्जुन के वीच में जो वार्ता होती थी सो सब देखता सुनता था। व्यास जी ने उसे पूर्ण अद्वैत का उपदेश किया था तो भी यह सगुण तत्व उसमें और नहीं था जो उस ने श्रीकृष्ण के मुखारविंदसे अब सुना, अतएव उस ने उसे (गुह्य) कहा है। यह सञ्जय,पक्कज्ञानी था परंतु उस ने भी इस सगुण भक्ति की श्रेष्ठता क़बूल की थी तो फिर इतर लोगों की गणनाही क्या है। धृतराष्ट्र से ऐसीवार्ता

करते करते सञ्जय के अंग में अत्यानन्द के कारण रोमाञ्च उठते थे जिस का वर्णन वह आगे करता है ॥

राजन्संस्मृत्यसंस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोःपुण्यं हृष्यामिचमुहुर्मुहुः ॥७६॥

अर्थ–हे (राजन्) धृतराष्ट्र ! (केशवार्जुनयोः) श्रीकृष्ण वा अर्जुन का (इमम्) यह (अद्भुतम्) अलौकिक वा (पुण्यम्) पवित्र (संवादम्) संभाषण (संस्मृत्य, संस्मृत्य) स्मरण कर करके मैं (च) भी (मुहुः, मुहुः) पुनः पुनः (हृष्यामि) आनन्दित होता हूं ॥

अब आगे विश्वरूप की प्रशंसा करता है ॥

तच्चसंस्मृत्यसंस्मृत्य रूपमत्यद्भुतंहरेः ।
विस्मयोमेमहान्राजन् हृष्यामिचपुनःपुनः ॥७७॥

अर्थ–हे (राजन्) धृतराष्ट्र ! (हरेः) श्रीकृष्ण जी का (तत्) वह (अत्यद्भुतम्) अतिअद्भुत (रूपम्) विश्वरूप को (संस्मृत्यसंस्मृत्य) स्मरण कर करके (च) भी (मे) मुझ को (महान्) बड़ाभारी (विस्मयः) आश्चर्य होता है, वा उसी कारण मैं (पुनःपुनः) बारंबार (हृष्यामि) आनन्दित (च) भी होता हूं ॥

अब सञ्जय आगे धृतराष्ट्र से कहता है कि अब तुम अपने पुत्रों के राज्यादि की शंका छोड़ दो ॥

यत्रयोगेश्वरःकृष्णो यत्रपार्थोधनुर्धरः ।
तत्रश्रीर्विजयोभूति–र्ध्रुवानीतिर्मतिर्मम ॥ ७८॥

अर्थ=(यत्र) जिस के पक्ष पै (योगेश्वरः) योगियों के ईश्वर (कृष्ण) कृष्ण हैं । वा (यत्र) जिस के पक्ष पै (धनुर्धरः) गाण्डीव धनुषधारी (पार्थः) अर्जुन है (तत्र) वहीं पर (श्रीः) राज्यलक्ष्मी है, वहीं पर (विजयः) विजय है, वहीं पर (भूतिः) वैभव वा उत्तरोत्तर वृद्धि है और वहीं पर (ध्रुवा) पक्की वा शाश्वत (नीतिः) नीति (न्याय) है यही (मम) मेरा (मतिः) निश्चय मत है ॥

अतएव हे राजन् ! अब भी तुम पुत्रों सहित श्रीकृष्ण की शरण जाकर पांडवों को प्रसन्न करो उन को अपना सर्वस्व समर्पण करके अपने पुत्रों की प्राणरक्षा करो ॥

भगवद्भक्तियुक्तस्य तत्प्रसादात्मबोधतः ।
सुखंबंधविमुक्तिःस्या–दितिगीतार्थसंग्रहः॥

नीचे भगवद्भक्ति की श्रेष्ठता इसी गीता के प्रमाणों से सिद्ध करते हैं, श्रीमद्भागवत के भी प्रमाण दिये हैं ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकंशरणंव्रज ।
अहंत्वांसर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामिमाशुचः ॥
भागवते—उद्धवं प्रति कृष्णवाक्यम्–
आज्ञायैवंगुणान्दोषान्मयादिष्टानपिस्वकान्।
धर्मान्संत्यज्ययःसर्वान्मांभजेतससत्तमः॥
तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनांप्रतिचोदनाम् ।
प्रवृत्तंचनिवृत्तंच श्रोतव्यंश्रुतमेवच ॥
मामेकमेवशरणमात्मानंसर्वदेहिनाम् ।
याहिसर्वात्मभावेन मयास्याह्यकुतोभयः॥

आशय–मैंने वेदों में जो धर्म बताये हैं उन को भी छोड़ देवै, केवल मुझको भजे, इससे यह नहीं जानना कि कोई अज्ञान से या नास्तिकपन से अपने वर्णाश्रम धर्म छोड़ देवै। वा भगवद्भजन करे, सो उत्तम है। भगवान् का कहना है कि धर्मों को त्यागने से नरक पातादि दोषों को जानकर भी यह निश्चय समझो कि ये सब मेरे ध्यान में बाधक होंगे, मेरी भक्ति ही से सब काम सिद्ध होंगे। इस दृढ़ता से सर्व धर्म त्यागदेवे अर्थात् भक्ति विरुद्ध सर्व धर्मों को छोड़ केवल मेरी शरण गहो॥

पुरुषःसपरःपार्थ भक्त्यालभ्यस्त्वनन्यया ।
भक्त्यात्वनन्ययाशक्यमहमेवंविधोऽर्जुन !

इत्यादि वाक्यों से भक्ति ही से मोक्ष की सूचना की है, और सुझाया है कि एकांत भक्ति ही से मेरे प्रसाद द्वारा ज्ञान प्राप्त होकर वही ज्ञानयुक्त भक्ति मोक्ष का हेतु है ॥

"तेषांसततयुक्तानां भजतांप्रीतिपूर्वकम् ।
ददामिबुद्धियोगन्तं येनमामुपयान्तिते ॥
"मद्भक्तएतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते" ।

इन वचनों से भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि ज्ञान का व्यापार भक्ति के अन्तर्गत है। कोई शंका करै कि ज्ञान ही भक्ति है, सो निम्न लिखित वचनों से दोनों में भेद प्रतीत होता है।

"समःसर्वेषुभूतेषु मद्भक्तिंलभतेपराम्" ।
भक्त्यामामभिजानाति यावान्यश्चास्मितत्त्वतः॥

इसप्रकार भक्ति की उत्तमता बताने के हेतु अनेक वाक्य गीता और श्रीमद्भागवतादि में हैं, जिन से सिद्ध होता है कि ज्ञान कोई पृथक् वस्तु नहीं है, वलिक भक्ति ही के अंतर्गत है श्रीधर स्वामी जी ने अपने टीका में एक ठौर यह श्लोक लिखा है जिस से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण जी ने अपनी भक्ति को वेदों से भी श्रेष्ठ कहा है ॥

समाहृत्यस्वयोगंतु समस्तोपनिषद्रसम् ।
सख्येमुख्यतमांभक्तिं मुक्तौचपुनरादिशत्॥

अंत में श्रीधर जी का वाक्य है कि—

तेनैवदत्तयाभक्त्या तद्गीताविवृतिःकृता ।
सएवपरमानंदस्तयाप्रीणातुमाधवः ॥

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सर्वगीतार्थ
संग्रहयोगो नामाष्टादशोऽध्यायःसमाप्तः।
समाप्तं चेदं ज्ञानामृतनामकं गीताभाष्यम् ॥

गीताभाष्यस्य शुद्धिपत्रम् ॥

पृष्ठ	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
७	४	नौदितम्	नोदितम्
७	१४	सागर	सागरं
७	१५	समाद्य	समासाद्य
८	९	सद	सद्
११	५	परम	परमं
१२	१०	चातुवर्णयषु	चातुर्वर्ण्येषु
१२	८	श्रत्वा	श्रुत्वा
१७	७	क्लदेय	क्लेदय
२	८	रणभमि	रणभूमि
३	२	द्रपद	द्रुपद
३	२०	द्विजोम	द्विजोत्तम
७	८	दुपदो	द्रुपदो
७	१८	सुघाषौ	सुघोषौ
९	१८	उपाच	उवाच
१९	१९	पणा	पूर्णां
१९	२२	श्रष्ठ	श्रेष्ठ
२१	१	वड	वडे
"	४	दोषयक्त	दोषयुक्त
२९	१६	सृष्टि	सृष्टि के
३२	१४	शोतो	शीतो
३५	७	बिय	विषय
३५	१४	मिटने	मिलने
३९	१९	कार्ड	कोई
३९	२८	तएक्ष	लक्ष
४२	१७	सद्रप	सद्रूप
४६	१५	देव	देवं
४८	२	नैवं	नैतं
४८	११	हिर्भ्रुवो	हिभ्रुवो
५१	२	सासुनामरणका	सोमुनोमरणको

पृष्ठ	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
५१	१९	शृणाति	शृणोति
५२	१४	हाव	होवै
५२	२८	वशीभत	वशीभूत
५५	२६	अर्चीत्ति	अर्चीर्त्ति
५६	६	लाड्ढ	लाहू
"	७	दाढ	दाहू
५८	१९	भलना	भूलना
५९	७	ज्ञानयाग	ज्ञानयोग
६५	१	भागों की	भोगों की
६५	४	नाची	नीची
६५	७	अपक्षा	अपेक्षा
६५	२२	गभवास	गर्भवास
६६	२६	ननिधीयते	नविधीयते
६८	५	आत्मा	आत्मा
"	१८	माक्ष	मोक्ष
६९	१८	नित्यवत्व	नित्यसत्व
७०	७	द्राही	द्रोही
७२	१४	कने	करने
७३	१	भाग	भोग
७४	२०	हने	होने
७४	२२	भगदर्पण	भगवदर्पण
७६	५	दूरयाहि	दूरेयाहि
७९	२०	विशफल	विशषफल
८४	१	इमलाक	इसलोक
८५	४	चलाताहै	चलाजाताहै
८६	६	भागताहै	भोगताहै
९६	२४	(संमोहात्)	(संमोहः)
९७	१४	दषोंका	दोषोंका
९८	२४	ब्रश्य	वश्य
१००	१५	चरा	परा
१११	२०	याग	योग

पृष्ठ	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
११७	३	कम के	कर्म के
१२३	१९	घिनची	घिनौची
१२५	५	वतमान	वर्तमान
१३०	१९	क्रिया	क्रियावा
१४०	६	तयान	तयाने
,,	१०	द्वप	द्वेप
१४४	१०	पदमा	पादमा
१४६	१५	भद	भेद
१४८	७	काष्ठशष	काष्ठ शेष
,,	१४	तत्वरूपी	सत्वरूपी
,,	२३	भाग	भोग
,,	२५	नहा	नहीं
१४९	२८	विमाह	विमोह
१५२	४	शास्त्राचाय	शास्त्राचार्य
१५७	६	पाद	पद
१५९	१०	देवकोदेश	देवकोउपदेश
१६२	५	युगयुगे	युगे युगे
१६६	२६	जय	लय
१७०	१७	मेंजीवहोवेतवअविद्याजीव	मेंलीनहोवेतबअ-विद्याजावे
१७३	२८	संयुक्तः	सयुक्तः
१९०	२६	कल्मपाः	कल्मषाः
२०३	४	जिर्णोः	जिष्णोः
२०८	८	इक	एक
२०९	७	दृष्यन्ते	दृष्यन्ते
२१४	८	भी	भीतौ
२१७	४	भाग	भोग
२१८	२६	देहादि	देखा
२२२	७	आत्मा जान पड़ता,	आत्मा नहीं जान पड़ता
,,	२४	से क्रिया का,	की क्रिया को
२२८	११	षाढुं	सोढुं

पृष्ठ	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
२४३	१४	जिस की	जिस को
२५३	२	नात्मा	नात्मानं
२६५	१२	वैराग्य के विनाकेवल	वैराग्य के बल विना
२६६	६	दुष्प्राय	दुष्प्राप
२६६	२६	संशय	संशयं
२६९	१७	लोग	लोक
२७०	१०	पाकर	न पाकर
२८०	१६	के	केवल
२८५	२३	त्किंचद्स्ति	त्किंचिद्स्ति
२९८	२९	अभगे	अभागे
३०५	१४	वपुम	वपुर्मे
३०६	१०	मयारूप से	मायारूप से
३१०	५	मर्ग	मार्ग
३११	३	जिज्ञसा	जिज्ञासा
"	९	हा	हो
"	१४	प्रप्त	प्राप्त
३१७	१०	जड़भाग भासित होना	जड़भाग का भास
३१८	११	जा निर्मान	जो निर्माण
३१९	१७	सब	सबै
३२२	२१	मानिलः	मानिनः
"	२८	सगणरूप	सगुणरूप
३२९	१२	नास्थिता	नास्थितो
"	१३	आमित्ये	ओमित्ये
"	१६	विषों	विषयों
३३०	२	प्रप्त	प्राप्त
"	१५	मुमुक्षणां	मुमुक्षूणां
३३२	३	यनी	यानी
"	"	पर्मा	परमां
"	२७	परस्याने	परस्यान्ते
३३४	२	तेऽहारात्र	तेऽहोरात्र
३३५	२२	संड	सूंड

पृष्ठ	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
३३६	२२	विनश्यन्ति	विनश्यति
३४१	४	पूर्यमाणं	पूर्यमाण
३४१	२७	रात्रिः	रात्रिं
३४५	३	स्थिति	स्थित
३५२	११	आश्रय	आश्रयं
३६५	२१	मोघाशा	मोघाशा
३६६	२७	१ २ ३	१, २, ३,
३६७	१५	भजन प्रकार का,	भजन का प्रकार
३७०	८	सवश्वर	सर्वेश्वर
३७९	१२	गुणरूप	गुनरूप
३८०	७	पहार	परिहार
३८२	१	सुपेष्यमि	सुपेष्यन्ति
३९३	१०	लोकमि	लोकः
३९३	१९	(लोकम्)	(लोकः)
३९३	२४	पद्मनाम	पद्मनाभ
४२१	१	ज्ञानेन	ज्ञातेन
४२८	५	के	उसके
४२९	१९	मालयम्बरंधरम्	माल्यांबरधरम्
४३०	१	भवेद्युग	भवेद्युग
४३०	२५	(हृष्टरामा)	हृष्टरोमा
४३०	१२	वस्तया	वस्तदा
४३७	२	लोका	लोकाः
४५०	११	प्रभाव	प्रभावः
४६३	१४	वालोंका	वालों को
४६६	१४	यहां	यही
४७९	४	त्रयोदशो	त्रयोदशे
४८०	२०	विंत्र	प्रतिविंब
४८१	१४	मोक्षज्ञान	ज्ञान मोक्ष
४९७	९	श्लोकतक	श्लोक ११ तक
५११	७	कृत्नं	कृत्स्नं
५१७	५	गर्भ	गर्भं

पृष्ठ	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
५१७	१६	भाग्यस्थान	भोग्यस्थान
५३२	२०	अश्नते	अश्नुते
५४३	१२	श्रोष्वं	श्रोष्वँ
५६३	५	जानति	जानाति
५६७	२७	अभिजातऽसिपो	अभिजातोऽसिपा
५७३	६	नष्टत्मानः	नष्टात्मानः
"	"	मलग	मलिन
"	७	बाल	बाले
"	८	हिंन	हिंसक
५७४	९	शतर्वद्धा	शतैर्वद्धा
५८८	२०	विधिहोन	विधिहीन
६०४	७	त्यागा	त्यागो
६०५	१६	काम	काम्य
६०७	१८	विद्यायत	विद्यायुक्त
६०९	२७	प्राक्तानि	प्रोक्तानि
६१२	१०	श्लाका	श्लोका
६१४	१५	नहन्यते	नहन्ति
६१८	२	परसे	परमात्मासे
६२०	४	लोभ	लोभी
६२४	२	प्राच्य	प्रोच्य
६२८	२६	कृमल	कृकल
६४१	१	नत्यजत्	नत्यजेत्
६४४	२१	ज्ञाननिष्ठ	ज्ञाननिष्ठा
६४९	२०	स्वरूप	अरूप
६५३	७	चम	चप
६५४	२९	मिथ्यव	मिथ्यैव
६६२	७	मिद्धा	सिद्धि
६६३	२	इच्छारखताहै	इच्छानहींरखता
"	२०	यद्गम	यद्दं
६६६	२८	श्लाका	श्लोका

॥ पुस्तकों का सूचीपत्र ॥

अष्टादश १८ स्मृति (धर्मशास्त्र) भाषाटीका सहित ६) पाणिनीय अष्टाध्यायी संस्कृत भाषावृत्ति सोदाहरण २) भगवद्गीता सभाष्य २॥) ईशोपनिषद् सभाष्य ॥) ब्राह्मणसर्वस्व ६ भाग एकत्र ३॥) पृथक् २॥) रु० प्रतिभाग गणरत्नमहोदधि (व्याकरण गणपाठ श्लोकबद्ध संस्कृत व्याख्या सहित)–१) धातुपाठ साधन सूत्रों सहित ।) धार्मिकपाठ भाषाटीका तथा उदाहरणों सहित ॥) दर्शपौर्णमासपद्धति श्रौत विषय भाषाटीका १) इष्टि-संग्रह पद्धति श्रौत विषय भा० टी० ॥) स्मार्तकर्म पद्धति भाषा टीका ।) त्रिकालसंध्या भाषाटीका)॥ काली-मतपंच भाषाटीका –) पञ्चमहायज्ञ विधि भाषाटीका सहित पृ० =) शिवस्तोत्र भाषाटीका सहित)। हरिस्तोत्र भाषा टीका)। भर्तृहरिनीतिशतक भा० टी० ≈) शृंगारशतक भाषाटीका ≈) भर्तृहरिवैराग्य शतक भा० टी० ≈) मानवगृह्यसूत्र भाषा टीका० ॥) आश्वलायनगृह्यसूत्र भाषाटीका ।) पतिव्रतामाहात्म्य (सावित्र्युपाख्यान) भाषाटीका सहित पृ० ≈॥ यमयमीसूक्त [भाई बहिन संवाद] संस्कृत भाषाटीका सहित पृ० =) मांसभक्षण खण्डन युक्ति प्रमाण सहित १ भाग –) आर्यमत निराकरण प्रश्नावली ।) देवीमाहात्म्य युक्तिप्रमाणयुक्त =) सतीधर्मसंग्रह भाषाटीका सहित ।) सत्यार्थप्रकाश समीक्षा [द०स०की १४० अशुद्धि] पृ० =) युक्तिप्रकाश भाषा (दयानन्दीय युक्ति खण्डन) –) ७॥ सनातनहिन्दूधर्म व्याख्यानदर्पण २॥–) इसमें सब ५६ व्याख्यान छप रहे हैं। यज्ञपरिभाषासूत्र भाषाटीका सहित ॥) विदेशी चीनी से हानि)॥ २) रु० सैकड़ा। वन्देमातरम्)। १) रु० सैकड़ा। धर्मरक्षा और भारतविजय)। भोजनविधि सटीक)॥

पता–पं० भीमसेन शर्म्मा ब्रह्मप्रेस–इटावा ॥

जिला मरासी पो० महावरा
मु० चुरवारा पं० श्री मिश्र
मुरली धर गौड़ ब्राह्मण का
प्राप्त हो